डॉ० मलिक मोहम्मद
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०,
डी० लिट्०, एफ० आर० एस० एम० (लंदन)

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन

डॉ० मलिक मोहम्मद

एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०,
डी० लिट्०, एफ० आर० एस० एस० (लंदन)

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

प्राक्कथन

भारतीय भक्ति-आंदोलन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण विस्तृत इतिहास है। भारतीय भाषाओं में मध्य युग में जो विपुल भक्ति-साहित्य निर्मित हुआ है वह भक्ति-आंदोलन की महती देन है। वैदिक काल से लेकर भक्ति-आंदोलन के काल तक भक्ति-भावना का विकास कई अवस्थाओं में हुआ है। आज वैष्णव भक्ति का जो स्वरूप है, वह बहुत-कुछ उस वैष्णव भक्ति-आंदोलन का परिणाम है, जिसका नेतृत्व तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्त आलवारों ने ईसा की छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक किया था। आलवारोत्तर काल में अर्थात् मध्य युगमें वैष्णव भक्ति-आंदोलन उत्तरोत्तर प्रबल होकर एक व्यापक जन-आंदोलन बन गया। वैष्णव-भक्ति आंदोलन के प्रेरक आकर्षक तत्त्वों ने ही मध्य युग में भक्ति-आंदोलन को लोकप्रिय और देशव्यापी रूप प्रदान कर भक्तिमय वातावरण का सृजन किया, जिसके फलस्वरूप हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में मध्य युग में विशाल वैष्णव भक्ति-साहित्य का प्रणयन हुआ। हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य के प्रेरणा-स्रोतों पर सम्यक् प्रकाश डालने के लिए हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के व्यापक रूप का परिचय अत्यन्त आवश्यक है। चूंकि हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का पूर्वापर सम्बन्ध दक्षिण में उदित वैष्णव भक्ति-आंदोलन से है, अतः हिन्दी के वैष्णवभक्ति-साहित्य के उचित मूल्यांकन के लिए एक विस्तृत कलेवर में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। अब तक प्रकाशित हिन्दी-ग्रंथों में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का सम्पूर्ण (अखण्डित) चित्र सामने नहीं आया है। कारण यह रहा है कि यद्यपि विद्वानों ने सर्व-सम्मति से वैष्णव भक्ति-आंदोलन का प्रारम्भ दक्षिण के आलवार भक्तों से माना है, तो भी आवश्यक मात्रा में तमिल के आलवार सन्तों के भक्ति-साहित्य के उचित मूल्यांकन के अभाव में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का संतुलित इतिहास सामने आ नहीं सका है। अतः हिन्दी के वैष्णव भक्ति-साहित्य के सम्यक् अध्ययन के लिए वैष्णव भक्ति-आंदोलन का संतुलित इतिहास अपेक्षित रह गया। प्रस्तुत लेखक की यह निश्चित मान्यता है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य का अध्ययन तभी सर्वांगीण हो सकता है, जब कि अन्य भारतीय भाषाओं के भक्ति-साहित्यों के सन्दर्भ में उसका अनुशीलन और मूल्यांकन किया जाए। हिन्दी के मध्ययुगीन

Rs. 30.00

वैष्णव भक्ति-साहित्य के सम्बन्ध में तो यह व्यापक दृष्टिकोण बहुत ही अनिवार्य है।

वैष्णव भक्ति-भावना के उद्भव से लेकर विकास के विभिन्न सोपानों एवं अवस्थाओं का परिचय देते हुए मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक और लोकप्रिय रूप का एक पूर्ण चित्र हिन्दी तथा तमिल भक्ति-साहित्यों के आधार पर देना ही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है। हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का तमिल-प्रदेश के आलवारों से संचालित वैष्णव भक्ति-आंदोलन के साथ पूर्वापर सम्बन्ध होने के कारण से तो तमिल और हिन्दी भक्ति-साहित्यों के आधार पर वैष्णव भक्ति-आंदोलन का अध्ययन श्रेयस्कर और महत्त्वपूर्ण समझा गया है। प्रस्तुत लेखक का मत है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य के प्रेरणा-स्रोतों पर तटस्थ और व्यापक दृष्टिकोण से प्रकाश डालकर वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के इतिहास को विस्तृत पटल पर सन्तुलित रूप में प्रदर्शित करने की आवश्यकता रह गई है। नवीन सामग्री का निर्वाह करके पूर्व स्थापित मतों का पुनरनुशीलन कर संतुलित रूप में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का समग्र रूप उपस्थित करने वाला अध्ययन अपेक्षित रह गया है, जो हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य के सही मूल्यांकन के लिए परमावश्यक है। प्रस्तुत अध्ययन इस दिशा में एक नवीन प्रयास मात्र है।

लेखक ने इस ग्रन्थ के प्रणयन के लगभग सात-आठ वर्ष पूर्व '१६वीं शती के हिन्दी कृष्णभक्ति-साहित्य पर आलवारों का प्रभाव' शीर्षक पर एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर हिन्दी में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। लेखक का शोध प्रबन्ध 'आलवारों का तमिल-प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य' के नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसका हिन्दी जगत् ने बड़ा स्वागत किया है। उक्त ग्रंथ में पहली बार हिन्दी जगत् को तमिल-प्रदेश के आलवार भक्तों के 'प्रबन्धम्' का विस्तृत परिचय देकर दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के व्यापक रूप की ओर संकेत मात्र किया गया है। तभी से प्रस्तुत लेखक को तमिल तथा हिन्दी भक्ति-साहित्य के आधार पर उपलब्ध नवीन सामग्री का समावेश कर संतुलित और व्यापक दृष्टिकोण से वैष्णव भक्ति-आंदोलन का विस्तृत अध्ययन हिन्दी जगत् को देने की प्रेरणा हुई। इस प्रेरणा के फलस्वरूप पिछले पांच वर्षों के निरन्तर परिश्रम और अनवरत अध्ययन के उपरान्त प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार हो सका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को दस अध्यायों में विभक्त किया गया है। 'विषय का सीमा-निर्धारण' शीर्षक प्रथम अध्याय में वैष्णव भक्ति-भावना के क्रमिक विकास की अनेक अवस्थाओं की ओर संकेत करके वैष्णव भक्ति-आंदोलन के समय तक की वैष्णव भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है और 'आंदोलन' शब्द को सार्थक सिद्ध किया गया है। वैष्णव भक्ति-आंदोलन के विभिन्न सोपानों का परिचय देकर मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आंदोलन के लोकप्रिय रूप की चर्चा की गई है और नवीन उपलब्ध सामग्री के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत अध्ययन की सीमा और उपलब्धि की ओर संकेत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में वैदिक युग से लेकर भक्ति-आन्दोलन तक के काल में

वैष्णव भक्ति-भावना के क्रमिक विकास के विभिन्न सोपानों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसी अध्याय में प्राचीन तमिल भक्ति-साहित्य के आधार पर तमिल-प्रदेश की वैष्णव भक्ति-धारा का अनुशीलन कर वैष्णव भक्ति-भावना के विकास में तथा गोपालकृष्ण और राधा के व्यक्तित्व-विकास में तमिल-प्रदेश के महत्त्वपूर्ण योगदान का शोधपरक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने वाली सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का परिचय देकर वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को व्यापक जन-आन्दोलन का रूप प्रदान करने वाले प्रेरक तत्त्वों की समीक्षा की गई है। इस वैष्णव भक्ति-आंदोलन का नेतृत्व करने वाले आलवारों के विशिष्ट योगदान पर भी प्रकाश डाला गया है। वैष्णव भक्त आलवारों तथा शैव सन्त नायनमारों की कृतियों का भी परिचय दिया गया है, जिनकी भक्ति-आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण देन रही है।

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आंदोलन के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत के रूप में आलवार कृत 'प्रबन्धम्' का अध्ययन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। सामान्य रूप से मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्त्वों की चर्चा करके मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति काव्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' विशिष्ट तत्त्वों का अनुशीलन किया गया है। वैष्णव भक्ति-आंदोलन के संदर्भ में प्रबन्धम् के व्यापक प्रभाव को प्रकाश में लाने की दृष्टि से विविध वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों तथा विविध क्षेत्रों पर पड़े प्रबन्धम् के प्रभाव की ओर संकेत किया गया है।

पंचम अध्याय में आलवारोत्तर काल में तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का सम्यक् परिचय दिया गया है। आलवारों के बाद के आचार्य युग में आलवारों की विचारधारा का अनुसरण कर श्री सम्प्रदाय तथा विशिष्टाद्वैती विचारधारा को पुष्ट करने वाले तमिल-प्रदेश के श्री वैष्णव आचार्यों की परम्परा का विस्तृत परिचय देकर, आलवारोत्तर काल के तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक रूप को दर्शाया गया है।

षष्ठ अध्याय में मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के दूसरे प्रमुख स्रोत श्रीमद्भागवत का अध्ययन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से किया गया है। 'भागवत' के रचना-काल तथा रचना-स्थल की चर्चा करते हुए विचार-साम्य की दृष्टि से 'प्रबन्धम्' से 'भागवत' की तुलना की गई है और 'भागवत' के वर्तमान रूप को 'प्रबन्धम्' से प्रभावित मानने की ओर संकेत किया गया है। सामान्य रूप से मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों की चर्चा करके, विशेष रूप से मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले भागवत के विशिष्ट तत्त्वों का विवेचन किया गया है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के सन्दर्भ में भागवत के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए विविध वैष्णव सम्प्रदायों और विविध भारतीय भाषाओं के वैष्णव भक्ति-साहित्य पर पड़े 'भागवत' के व्यापक प्रभाव का सम्यक् विवरण दिया गया है।

सप्तम अध्याय में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन की पृष्ठभूमि

प्रस्तुत की गई है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की चर्चा करने के उपरान्त हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने में दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के योगदान पर प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का नेतृत्व कर उसे व्यापक जन-आंदोलन का रूप देने में तथा दक्षिण और उत्तर के वैष्णव भक्ति-आंदोलनों के बीच सेतु का कार्य करने में श्री रामानन्द के महत्त्वपूर्ण योगदान का परिचय दिया गया है। हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलनों के तीन सोपानों की चर्चा करके मधुर भक्ति की लोकप्रियता की आधार-भूमि प्रस्तुत की गई है।

अष्टम अध्याय में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के विविध क्षेत्रों पर पड़े व्यापक प्रभाव का अध्ययन किया गया है। प्रमुखतः विविध कलाओं के विकास में और हिन्दी में विपुल मात्रा में वैष्णव भक्ति-काव्य के निर्माण को प्रोत्साहन देने में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है। वैष्णव भक्ति-आंदोलन के फलस्वरूप निर्मित हिन्दी वैष्णव भक्ति-काव्य की राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति-धाराओं के प्रमुख कवियों और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। वैष्णव भक्ति-आंदोलन को व्यापक रूप देने में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव संप्रदायों के महान् योगदान की ओर संकेत किया गया है।

नवम अध्याय में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन पर पड़े श्री संप्रदाय के प्रभाव कोस्पष्ट करने का प्रयत्न हुआ है। आलवारों की विचारधारा की आधार-भूमि पर स्थापित श्री सम्प्रदाय और विशिष्टाद्वैतवादी विचारधारा ने सामान्य रूप से हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन पर जो प्रभाव डाला है, उसको हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य के माध्यम से प्रदर्शित कराने का प्रयास इस अध्याय में हुआ है। 'उपसंहार' शीर्षक दशम अध्याय में प्रस्तुत अध्ययन के फलस्वरूप उपलब्ध नवीन मान्यताओं की ओर संकेत करने के साथ ही साथ भावात्मक एकता के क्षेत्र में तथा भारतीय संस्कृति को वैष्णव भक्ति-आंदोलन की महती देन पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के लिए लेखक को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने का श्रेय लेखक के पूर्व ग्रंथ को और हिन्दी के विद्वान् स्नेही आचार्यों को है। उत्तर प्रदेश सरकार तथा विहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने लेखक के पूर्व ग्रंथ को पुरस्कृत करके और अखिल भारतीय तमिल लेखक-संघ ने भावात्मक एकता की दिशा में लेखक की उपलब्धि पर लेखक को सम्मानित कर उसे प्रोत्साहन दिया है। तमिल तथा हिन्दी साहित्य के सभी अधिकारी विद्वान् तथा विशेषज्ञों से लेखक को प्रस्तुत शोध-ग्रंथ के प्रणयन में परामर्श और निर्देशन प्राप्त हुआ है। उन सबके प्रति लेखक हृदय से आभारी है।

शोध-कार्य-काल में लेखक ने अनेक प्रमुख केन्द्रों की यात्रा कर विस्तृत सामग्री का संकलन किया है। विशेष रूप से मद्रास के दो प्रमुख पुस्तकालयों (कन्निमारा तथा मद्रास विश्वविद्यालय) से तथा केरल, अलीगढ़, इलाहाबाद

और आगरा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों से लेखक के प्रस्तुत अध्ययन की सामग्री संकलित हुई है। उन पुस्तकालयों के अध्यक्षों का लेखक आभारी है, जिन्होंने लेखक को सामग्री-संकलन में काफी मदद पहुंचाई है। तमिल, हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के जिन-जिन ग्रंथों से लेखक ने सहायता ली है, उनमें से बहुतों के नाम पाद-टिप्पणी में दिए गए हैं और अन्य प्रमुख विद्वानों और उनके ग्रंथों के नाम परिशिष्ट में दिए गए हैं। इस अवसर पर लेखक उन सभी विद्वानों का सादर कृतज्ञतापूर्ण स्मरण करता है जिनके ग्रंथों से लेखक ने अपने अध्ययन में प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त की है।

लेखक की अपनी कुछ सीमाएं भी रही हैं। मूलत: लेखक तमिल-भाषी है। उसे हिन्दी-प्रदेश में लगभग दस वर्ष रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। फिर भी अहिन्दी भाषी होने के कारण अपने विचारों की सूक्ष्म और सशक्त अभिव्यक्ति के लिए कहीं-कहीं उसे कठिनाई का अनुभव हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन में लेखक ने तटस्थ शोधपरक दृष्टिकोण को ही प्राथमिकता दी है। विशेषकर 'भागवत' के वर्तमान रूप को 'प्रबन्धम्' से प्रभावित मानने में लेखक का तटस्थ शोधपरक दृष्टिकोण ही परिलक्षित है। भक्तों की मान्यता को चोट पहुंचाना, किसी साहित्य को छोटा या बड़ा दिखाना लेखक का उद्देश्य कदापि नहीं रहा है। यह आवश्यक भी नहीं कि लेखक के निष्कर्ष सर्वमान्य हों। लेखक के इस अध्ययन के द्वारा भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन का संतुलित और पूर्ण चित्र प्रकाश में आएगा। लेखक के द्वारा तमिल तथा हिन्दी-साहित्य के आधार पर वैष्णव भक्ति-आंदोलन का अध्ययन प्रस्तुत होने के कारण तमिल तथा हिन्दी भक्ति-साहित्य पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से दोनों में उपलब्ध भावात्मक एकता के दर्शन किए जा सकेंगे। इस प्रकार दक्षिण की प्रमुख भाषा तमिल और उत्तर की प्रमुख भाषा हिन्दी के भक्ति-साहित्य को निकट लाने की दृष्टि से यह प्रयास उचित ही माना जाएगा।

प्रस्तुत ग्रंथ अनेक दृष्टियों से मौलिक है। वैष्णव भक्ति-भावना के क्रमिक विकास की विविध अवस्थाओं का परिचय देकर तमिल-प्रदेश के योगदान पर लेखक ने जो मान्यताएं व्यक्त की हैं, वे मौलिक हैं। पूरे ग्रंथ में शोधपरक दृष्टिकोण को रखा गया है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आंदोलन के दो प्रमुख प्रेरणा-स्रोतों के रूप में 'प्रबन्धम्' तथा 'भागवत' के तत्त्वों का परिचय देकर दोनों ग्रंथों में उपलब्ध विचार-साम्य को प्रदर्शित करने का जो कार्य इस प्रबन्ध में हुआ है, वह एकदम मौलिक प्रयत्न ही है। वास्तव में तमिल या हिन्दी में वैष्णव भक्ति-आंदोलन के संतुलित और पूर्ण चित्र को देने का प्रयास अब तक नहीं हुआ है। अत: इस दिशा में लेखक का यह अध्ययन मौलिक प्रयास है। हिन्दी-प्रदेश के भक्ति-आंदोलन के तीन विकास-सोपानों का परिचय देकर उनकी आधारभूमि की जो चर्चा नवीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर की गई है, वह भी मौलिक दृष्टिकोण है।

प्रस्तुत अध्ययन तमिल तथा हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्यों में लेखक की

विशेष रुचि का परिणाम है। वैष्णव भावना ने लेखक को बहुत ही प्रभावित किया है और उसके वैयक्तिक जीवन-आदर्शों को भी प्रभावित किया है। यही इस अध्ययन के प्रणयन में लेखक की आस्था का रहस्य है। वैष्णव भावना के विषय में नरसी मेहता के 'वैष्णव जण तो तेणें कहिए, जे पीर पराई जाणें रे'। शब्दों में व्यक्त व्यापक उदार दृष्टिकोण तथा सेवा-भाव को ही लेखक ने जीवन का आदर्श माना है।

—मलिक मोहम्मद

रीडर, हिन्दी विभाग,
केरल विश्वविद्यालय
एर्नाकुलम्, कोचीन

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

विषय का सीमा-निर्धारण

भारतीय धर्म-साधना में भक्ति-मार्ग का अपना विशिष्ट धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व रहा है। यही वह मार्ग है जिसने सर्वप्रथम व्यापक रूप से समाज के संपूर्ण अंग को प्रभावित किया और एक बहुत ही लंबी अवधि तक उसका पथ-प्रदर्शन करते हुए स्थायी मोड़ दिया। इसे साहित्यकारों, समाजसेवियों और धर्माधिकारियों का समान रूप से सहयोग प्राप्त होता रहा है। भारतीय संस्कृति को जितना अधिक इस भक्ति-मार्ग ने प्रभावित किया है, उतना कोई दूसरा स्रोत कर नहीं सका।

भक्ति-भावना के उद्भव और विकास का इतिहास काफी लंबा है। वैष्णव भक्ति-भावना उद्भव की स्थिति से लेकर विकास के विभिन्न सोपानों एवं अवस्थाओं को पारकर वर्तमान रूप को प्राप्त कर सकी है। वैदिक युग के कर्म-मार्ग की अनुपयुक्तता और उपनिषद्-युग के ज्ञान-मार्ग की दुरूहता के समक्ष परवर्ती युग के भक्ति-मार्ग की उपयुक्तता एवं सरलता ने बहुमत प्राप्त किया और भक्ति-साधना को लोकप्रिय बना दिया। वैसे वैष्णव भक्ति का उद्भव कुछ विद्वान् वैदिक युग से मानते हैं। परन्तु जिस भावमूलक भक्ति का स्वरूप अब हमारे सामने है, उसके दर्शन वेदों में नहीं होते। वैदिक युग प्रधानतः यज्ञीय-कर्म-काण्ड का युग था। उपनिषद्-काल में आकर ही हमें भक्ति-भावना का स्पष्ट रूप मिलता है। भक्ति-भावना के विकास में उपनिषदों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सभी परवर्ती चिंतकों ने उपनिषदों से ही अपना कदम बढ़ाया है। फिर रामायण, महाभारत तथा गीता के युग तक आकर वैष्णव भक्ति-भावना का काफी विकास हो जाता है। इस प्रकार वेद, उपनिषद्, महाकाव्य, गीता, प्रबन्धम्, भागवत आदि वैष्णव भक्ति-भावना के विकास के विभिन्न सोपान हैं।

धर्म-साधना की दृष्टि से वैदिक युग से लेकर ब्राह्मण-ग्रंथों के युग तक धर्म-साधना की दो पद्धतियां कर्म और ज्ञान प्रचलित हो चुकी थीं। किन्तु वैदिक युग के ज्ञान और कर्म में से ब्राह्मण-ग्रंथों ने यज्ञीय कर्मकाण्ड को पराकाष्ठा की सीमा पर पहुंचा दिया था, और स्थिति यह हो गई थी कि यज्ञ और यज्ञ के पुरोहित के प्रभाव-मण्डल में स्वयं यज्ञ के देवता का तिरोधान होता जा रहा था। अवशेष रह गया केवल नाम। धर्म के क्षेत्र में केवल पुरोहितों का बोलबाला रह गया और उनकी

'तानाशाही' को चुनौती देते हुए उपनिषत्कारों ने तत्त्वान्वेषण का क्रम जारी रखा। यह निर्विवाद है कि आचार-पक्ष धर्म का वह पक्ष है जो लोक की वस्तु है जिसे बहुमत का सहारा लेना पड़ता है, परन्तु वैदिक पुरोहितों ने लोक-जिज्ञासा का कोई उत्तर न देकर केवल अपनी दक्षिणाओं को बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया था। परिणामस्वरूप उपनिषत्कारों ने चिंतन-पक्ष को, जिसका बीज ऋग्वेद में भी विद्यमान था, संभाला। पर केवल इतने से काम नहीं चल सकता था, क्योंकि साध्य के साथ साधन की भी आवश्यकता थी।

वेद तथा उपनिषदों के परवर्ती युग में आर्यों की धर्म-साधना युग की बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि अनुपयुक्त भी सिद्ध हुई। अनुपयुक्तता का प्रधान कारण आर्थिक होने के साथ ही साथ सामाजिक भी था। यज्ञ इत्यादि कर्म सामान्य जन के लिए आर्थिक दृष्टि से कठिन होने के साथ ही साथ सामान्यजन के लिए उसमें स्थान भी नहीं था। इस परवर्ती युग में आर्यों का सम्पर्क अनार्यों से हुआ और अनार्यों की संख्या भी भारतीय आर्यों से कम नहीं थी। इन अनार्यों के आर्यकरण की समस्या अवश्य ही जटिल रूप में उपस्थित हुई होगी, जब अनार्यों को भी आर्य वर्ग में सम्मिलित किया जाने लगा। यह स्मरणीय है कि उत्तर वैदिक युग तक आते-आते ज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मण पुरोहितों के एकाधिकार को भारी आघात लगता है, दार्शनिक क्षत्रियों की अवतारणा से। भारतीय इतिहास की यह प्रथम घटना है, जब क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को ज्ञान देना आरम्भ किया। अब धर्मोपदेश या सत्यान्वेषण केवल ब्राह्मणों के गुरुकुलों या शिक्षा-परिषदों तक सीमित न होकर क्षत्रिय राजाओं के आश्रय में होने वाले विद्वत् सम्मेलनों तक पहुंचता है। स्पष्ट है कि एक ओर तो अत्यधिक आडम्बरयुक्त एवं व्ययसाध्य होने के कारण याज्ञिक कर्म-काण्डों की उपेक्षा आरम्भ हो चुकी थी और दूसरी ओर अनार्यों के आर्यकरण की समस्या भी उपस्थित थी, जिससे ब्राह्मण एकाधिकार खतरे में था। इसी समय ब्राह्मणों की तरह क्षत्रियों ने भी धर्मोपदेश और सत्यान्वेषण में भाग लेना आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण मध्यदेश का सांस्कृतिक पर्यावरण कुछ ऐसा हो गया जिसमें उत्तर वैदिक या ब्राह्मण धर्म नहीं खप सकता था। इसी पृष्ठभूमि में भागवत, जैन तथा बौद्ध संप्रदायों या धर्मों की नींव पड़ी थी। पहला भागवत धर्म प्राचीन ब्राह्मण धर्म के एक अंग के रूप में विकसित हुआ, जब कि बौद्ध और जैन धर्म दोनों अब्राह्मण या अधिक उपयुक्त शब्दों में ब्राह्मण-विरोधी सिद्ध हुए।

भागवत संप्रदाय में प्राचीन वैदिक देवताओं तथा उनकी परम्परित कथाओं को ही कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ अपनाया गया, और उन्हीं मूर्तियों को नये ढंग से संवारा गया। आर्य और द्राविड़ (अनार्य) संस्कृतियों के सम्मिलन के परिणामस्वरूप प्राचीन आर्य तथा अनार्य द्राविड़ (तमिल) देवताओं में बहुत हद तक एकीकरण या समीकरण होने लगा था। (इस तथ्य की विस्तृत चर्चा आगे करेंगे)। तब भी भागवत धर्म में ब्राह्मणों का एकाधिपत्य बना रहा और सर्व-सामान्य के लिए धार्मिक क्षेत्र में कोई अधिकार नहीं था। वर्णाश्रम व्यवस्था के

कारण केवल धर्म का ठेका उच्च वर्ण के अल्पसंख्यकों के हाथ में ही रहा। जब जैन और बौद्ध धर्म ब्राह्मण के विरोध में जन-साधारण के बहुमत को लेकर चलते थे और फिर जव वे भी आचरण के क्षेत्र में पतित होने लगे तो एक नई स्थिति उत्पन्न हुई। इसी युग में धार्मिक क्षेत्र में भागवत धर्म को जन-साधारण के लिए उपयुक्त तथा धर्म के साधन-पक्ष को सर्वसुलभ और आकर्षक बनाने के साथ ही व्यापक क्षेत्र में सुधार लाने की मांग हुई। इसी युग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही दक्षिण (अर्थात् तमिल-प्रदेश) के आलवार और नायनमारों ने भक्ति-आन्दोलन-रूपी समाज सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन आरम्भ किया। आलवारों ने और नायनमारों ने धर्म के साधन-पक्ष भक्ति-मार्ग को सर्वसुलभ बनाने के साथ ही शास्त्रों की भक्ति को भावमूलक रूप प्रदान किया। भक्ति-भावना के इतिहास में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

'आंदोलन' शब्द की यथार्थता

आलवारों के द्वारा भक्ति-मार्ग को जो नया रूप दिया गया, उसीको हमने 'वैष्णव भक्ति-आंदोलन' का नाम दिया है, और वहीं से वैष्णव भक्ति-आंदोलन का प्रारम्भ भी माना है। यह 'भक्ति-आंदोलन' शब्द बहुत ही उचित और समीचीन भी है। कई विद्वानों ने तथा इतिहासकारों ने भक्ति के इस नवीन मार्ग को 'आंदोलन' (मूवमेंट) या धर्म-सुधार (रिलीजस रिफार्म) का नाम दिया है। अंग्रेज़ी शब्द 'मूवमेंट' का अर्थ है कुछ व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों द्वारा किसी विशेष उद्देश्य की उपलब्धि के लिए किया जाने वाला प्रयत्न। इसके अन्यान्य अर्थों से भी यह व्यंजित होता है कि किसी विशेष प्रकार की गति-विधि या क्रियाशीलता से ही इस शब्द का सम्बन्ध है। 'आन्दोलन' शब्द भी लगभग यही अर्थ देता है। 'सुधार' या 'रिफार्मेशन' शब्द के साथ 'क्रांति' (रेवोल्यूशन) शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, जो धार्मिक गतिविधियों की ओर संकेत करनेवाला है। बौद्ध-जैन धर्मों के प्रवर्तक महात्माओं ने जिस नई धार्मिक चेतना को प्रचारित किया, उसे इतिहास में 'बौद्धिक क्रांति' की संज्ञा दी गई है। आलवार भक्तों ने वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में नवीन तत्त्वों का समावेश करके भक्ति-मार्ग को जो नवीन मोड़ दिया था उसको 'आन्दोलन' शब्द से अभिहित करना ही अधिक उचित है। 'पुनरुत्थान' या 'पुनर्जागरण' शब्दों से भी 'आंदोलन' शब्द का अर्थ निकलता है। परन्तु 'आंदोलन' शब्द ही कहीं अधिक समीचीन है, क्योंकि धार्मिक आन्दोलन अपने को युग की आवश्यकता के अनुसार पूर्व प्रचलित धर्म-पद्धति में सहिष्णु परिवर्तन एवं परिवर्द्धन तक ही सीमित रखता है, जब कि धार्मिक क्रांति पुरानी व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना लेकर आमूल परिवर्तन के लिए खड़ी होती है। प्राचीनता और नवीनता में सामंजस्य स्थापित करके चलनेवाली गतिविधियों को 'आन्दोलन' और दोनों में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सामंजस्य न मानकर विरोधात्मक तत्त्वों पर आधारित संगठित प्रयास को 'क्रांति' की कोटि में रख सकते हैं। परिवर्तन दोनों का लक्ष्य रहता है, परन्तु जहां 'आन्दोलन' में

सुधार की भावना अधिक रहती है, वहां 'क्रांति' में आमूल परिवर्तन की भावना ऊपर उठती है, जिसका अनुगमन सुधार स्वतः ही करता जाता है।

'आन्दोलन' शब्द की सार्थकता आलवारों से संचालित 'भक्ति-आन्दोलन' में भक्ति-भावना के विकास के इतिहास की दृष्टि से ठीक ही घटित होती है। आलवार भक्तों ने परम्परागत शास्त्रसम्मत भक्ति-भावना में सुधार किया, न कि उसका आमूल परिवर्तन किया। वैदिक भक्ति-धारा तथा द्राविड़ भक्ति-धारा का उन्होंने समन्वय किया। वेद, उपनिषद्, गीता से विचारों को ग्रहण कर, उनमें युगानुकूल दूसरे तत्त्वों का भी समावेश करके भक्ति-धर्म को लोक-धर्म का व्यापक रूप प्रदान किया। आलवारों से पूर्व वैष्णव भक्ति कुछ धार्मिक ठेकेदारों की चहारदीवारी में बन्दिनी थी। उसे उनके हाथों से छुड़ाकर आलवारों ने सबके लिए सुलभ और साध्य बना दिया। सामाजिक स्तर पर वैष्णव भक्ति का द्वार सभी जातियों के लिए खोलकर आलवार भक्तों ने वैष्णव भक्ति को पहली बार लोक-धर्म या जन-धर्म बना दिया। यही नहीं, यज्ञादि कर्मों में सीमित रहनेवाली शास्त्रीय वैष्णव भक्ति को भावात्मक (भावमूलक) रूप देकर सर्वसाधारण के लिए उसे सरल और सुलभ बनाने के साथ भक्ति को केवल अनुभूति का साधन घोषित किया। संस्कृत ग्रंथों में वर्णित तथा केवल कुछ ही लोगों की समझ में आनेवाली वैष्णव भक्ति को विशाल जन-समूह तक पहुंचाने के लिए आलवार भक्तों ने पहली बार जन-भाषा तमिल में भक्ति-गीत रचे। यह भक्ति-भावना के विकास के इतिहास में एकदम महत्त्वपूर्ण घटना है।

आलवार भक्तों का भक्ति-आन्दोलन यथार्थ में जन-आन्दोलन था। क्योंकि ये पद-रचना करके सामान्य कवियों की तरह अपने घरों में पड़े नहीं थे, बल्कि खुले क्षेत्र में घूम-घूमकर इन्होंने जन-साधारण के बीच भक्ति का प्रचार कर एक नवीन जन-जागरण के ऐसे वातावरण का सृजन किया, जिसमें भक्ति का स्वर सबसे ऊंचा था। भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व करनेवाले आलवार भक्तों ने स्वयं अपने जीवन-आदर्शों के बल पर वैष्णव भक्ति के नवीन रूप को जनता-जनार्दन के सम्मुख रखा। कहना चाहिए कि उन्होंने भक्ति का राष्ट्रीयकरण (नेशनला-इज़ेशन) कर दिया, जिससे उस पर केवल कुछ ही लोगों का एकाधिकार न होकर, सबका समान रूप से अधिकार हो गया। आलवारों के संचालित भक्ति-मार्ग को जन-आन्दोलन की संज्ञा देने का एक दूसरा कारण यह भी है कि उन्होंने भक्ति-भावना के उदार तत्त्वों के साथ संगीत का भी सहारा लेकर उसे सार्व-जनीन और सार्वभौमिक तो बना दिया साथहीउसे गा-गाकर आत्म-विभोर होने की अनुभूति की चीज़ भी बना दिया। सारांश यह है कि आलवारों का वैष्णव भक्ति-आंदोलन सच्चे अर्थ में व्यापक जन-आंदोलन था।

स्थायित्व की दृष्टि से भी आन्दोलन और क्रान्ति में बहुत बड़ा अन्तर है। 'आन्दोलन' निरन्तर चलनेवाला हो सकता है, जबकि क्रांति बहुधा अल्पकालीन ही होती है। किसी परम्परागत या रूढ़िगत मत या व्यवस्था में आमूल परिवर्तन ला देने के बाद क्रांति का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है और वहीं उसकी गतिशीलता

समाप्त हो जाती है। परन्तु आन्दोलन हर नई परिस्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए और प्रगति में सामंजस्य स्थापित करने का अनवरत प्रयत्न करता रहता है। अतः वह दीर्घकालीन ही नहीं, अधिकांशतः नित्य होता है। इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि आलवारों से प्रारम्भ होनेवाला वैष्णव भक्ति-आन्दोलन परवर्ती युग में भी चला और दक्षिण से उत्तर तथा विभिन्न भागों में फैलकर अन्त तक आन्दोलन ही रहा। मध्य युग में नवीन परिस्थितियों में युगानुकूल नवीन तत्त्वों का समावेश कर वह वैष्णव भक्ति-आन्दोलन, सदा आन्दोलन ही बना रहा। इस प्रकार आलवारों ने भक्ति-मार्ग को जो नवीन मोड़ दिया, उसे 'आन्दोलन' कहना ही उचित है। ब्राह्मणकालीन याज्ञिक कर्मकाण्डों द्वारा उत्पन्न आर्थिक-सामाजिक समस्याओं का समाधान करते हुए नवोदित सामाजिक परिस्थितियों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए, परम्परागत भक्ति के प्रति विद्रोह न करके आलवारों ने उसे सबके लिए सुलभ आकर्षक रूप देकर वैष्णव भक्ति को सुदृढ़ आधार-भूमि प्रदान की। अतः इसको बौद्ध-जैन धर्मों की तरह 'क्रान्ति' न कहकर सुधारवादी भक्तिपरक जन-आन्दोलन ही कहना उचित है।

कुछ विद्वानों ने भक्ति-आन्दोलन का प्रारम्भ उपनिषत्काल से ही माना है, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि आलवार भक्तों के काल से ही यथार्थ में पूर्ण रूप से वैष्णव भक्ति को 'आन्दोलन' का रूप प्राप्त होता है। अतः भारतीय वैष्णव भक्ति आंदोलन का प्रारम्भ आलवार भक्तों से ही मानना संगत है।

आलवार भक्तों का समय ईसा की पांचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक है। आलवारों के द्वारा प्रेरित होनेवाला भक्ति-आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था कि आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के आविर्भाव ने पुनः प्राचीन युगीन समस्याओं को वैष्णवों के सामने उपस्थित किया। इस बार वैष्णवों से उनके साकार ब्रह्म को छीन लेने का प्रयत्न हुआ और उस अपहरण का आधार श्रुतियों को बताया गया। शंकराचार्य के देशव्यापी प्रभाव को चुनौती देकर आलवारों से सुधार पानेवाले नवीन आकर्षक भक्ति-मार्ग को देशव्यापी बनाने के लिए आलवारोत्तर काल में वैष्णव-आचार्यों ने विशेषकर रामानुजाचार्य ने आलवार-भक्ति का (संस्कृत के माध्यम से) शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रयत्न में अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में भक्ति-मार्ग को प्रतिष्ठित कर उसे लोकप्रिय बना दिया।

मध्ययुग का प्रारम्भ हम दसवीं शताब्दी से मानते हैं। उसकी अवधि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक है। आलवारोत्तर काल ही भक्ति-साहित्य के इतिहास में 'मध्यकाल' कहलाता है। मध्य युग में दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन पराकाष्ठा पर पहुंचा था, जब कि उत्तर भारत पराधीनता की ज़ंजीरों में जकड़कर पतित धार्मिक अवस्था में था। वहां भी सुधार की आवश्यकता हुई। जब परिस्थितियां तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में बहुत ही विकट हो गईं,

तब उन्होंने एक व्यापक जन-आंदोलन को जन्म दिया। मध्ययुगीन उत्तर भारत (हिन्दी-प्रदेश) की परिस्थितियों में विशेषकर हिन्दू-धर्म की स्थिति में जो बीमारियां थीं, उनको ठीक करने की सारी औषधियां, दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में थीं। यही प्रमुख कारण है कि दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का स्वाभाविक रूप से उत्तर में स्वागत हुआ। उत्तर में दक्षिण के इस सर्व सुलभ, सार्वजनीन, सार्वभौमिक उदार वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का व्यापक रूप देने के लिए जन-भाषा हिन्दी के माध्यम से भक्ति-मार्ग का प्रचार करने की आवश्यकता थी। यह कार्य स्वामी रामानन्द ने किया। इस प्रकार रामानन्द ने उत्तर में (हिन्दी-प्रदेश में) वैष्णव भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया और दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के सभी आकर्षक तत्त्वों का समावेश अपने युग की आवश्यकता के अनुसार किया। तब भक्ति-आन्दोलन 'बिजली की चमक' के समान समस्त उत्तर भारत में फैल गया। इसको देखकर विदेशी विद्वान् आश्चर्यचकित हो जाते हैं और इस आन्दोलन की पूर्व पीठिका का सही विवरण प्राप्त न करने के कारण गलत अनुमान कर बैठे हैं। स्वामी रामानन्द ही उत्तर और दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के सेतु हैं। इस प्रकार वैष्णव भक्ति-आंदोलन देशव्यापी बन गया। उत्तर में मुसलमान शासन तथा भारत में इस्लाम का आगमन केवल संयोग की बात थी। परवर्ती युग में भक्ति-आंदोलन को व्यापक रूप देने में तथा उसे लोकप्रिय बनाने में उसका थोड़ा-बहुत हाथ रहा। परन्तु इतना निश्चित है कि उत्तर में (हिन्दी-प्रदेश में) मुसलमान शासकों की कट्टर धार्मिक नीति या इस्लाम के प्रचार के अभाव में भी दक्षिण का वैष्णव भक्ति-आंदोलन स्वाभाविक रूप से मध्ययुग में उत्तर में आ पहुंचता। हां, उत्तर की राजनीतिक परिस्थितियों ने वैष्णव भक्ति-आंदोलन के लिए अभीप्सित अनुकूल वातावरण का सर्जन अवश्य किया।

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आंदोलन देशव्यापी रहा। यही कारण है कि सभी भारतीय भाषाओं का मध्ययुगीन साहित्य भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। मध्ययुग में व्यापक भक्ति-आंदोलन के द्वारा उत्पन्न भक्तिमय वातावरण के कारण ही समस्त भारतीय भाषाओं में विपुल मात्रा में भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ। भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन साहित्य में यह भावात्मक एकता बहुत ही स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। यह भक्ति-आंदोलन की महती देन है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बांधकर अनेकता में एकतावाली भारतीय संस्कृति के मूलभूत तथ्य को मध्ययुग में वैष्णव भक्ति-आंदोलन ने सुदृढ़ किया।

अध्ययन की दिशा

दक्षिण अर्थात् तमिल-प्रदेश में ईसा की पांचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक सशक्त रूप में लोकप्रिय रहने वाला भक्ति-आन्दोलन वैष्णव भक्त आलवार और शैव सन्त नायनमारों की देन है। परवर्ती युग में कई कारणों से तमिल-

प्रदेश का वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ही वैष्णव आचार्यों के माध्यम से तमिल-प्रदेश की सीमा को पारकर नाना भागों में प्रसारित हो सका और हिन्दी-प्रदेश में सशक्त रूप में प्रचार पा सका । उसकी तुलना में तमिल-प्रदेश के शैव भक्तों का शैव-भक्ति-आन्दोलन कुछ कारणों से तमिल-प्रदेश में ही सीमित रह गया । चूंकि हिन्दी का अधिकांश भक्ति-साहित्य वैष्णव भक्ति-साहित्य है और वह वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की देन है, अतः हमने अध्ययन को आकर्षक और अधिक उपयोगी वनाने के हेतु वैष्णव भक्ति-आन्दोलन तक ही सीमित रखा है । इस योजना के कारण प्रस्तुत अध्ययन में तमिल तथा हिन्दी के वैष्णव-भक्ति-साहित्यों का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सका है । एक प्रकार से दक्षिण से उत्पन्न होकर परवर्ती युग में उत्तर में प्रसारित होने वाले वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के इतिहास का अधिकांश भाग तमिल तथा हिन्दी वैष्णव-भक्ति-साहित्यों के भीतर ही दृष्टिगोचर है । यही कारण है कि वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन के क्रमिक विकास को दर्शाने की दृष्टि से इस ग्रंथ में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन तमिल और हिन्दी-साहित्यों के आधार पर किया गया है ।

भक्ति-आन्दोलन के महत्त्व ने साहित्य, धर्म, दर्शन और इतिहास के पण्डितों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और १९वीं शताब्दी से ही इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किए जाने लगे । इन कार्यों में विशेष उल्लेखनीय वे हैं जो भक्ति-आन्दोलन या भागवत सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हैं अथवा स्थान विशेष में पल्लवित वैष्णव धर्म की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं । प्रथम कोटि के ग्रन्थों में विशेष महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय दो ग्रंथ हैं—डा० भण्डारकर की पुस्तक 'वैष्णवइज़्म, शैवइज़्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स' तथा डा० हेमचन्द्र राय चौधरी की पुस्तक 'मेटिरियल फार द स्टडी आफ अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट' । डा० भण्डारकर तथा डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने साहित्य एवं पुरातात्त्विक सामग्री की छानबीन कर यह निष्कर्ष निकाला कि भक्ति-आन्दोलन पूर्णतया भारतीय मनीषियों की देन है । डा० भण्डारकर के अनुसार पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में वैष्णव धर्म एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों को आधार बनाकर धर्म-सुधार-आन्दोलन के रूप में एकान्तिक धर्म के नाम से खड़ा हुआ । उस समय 'गीता' की रचना हुई और शीघ्र ही इसने एक सम्प्रदाय का रूप धारण किया जिसे पांचरात्र या भागवत धर्म कहा जाने लगा । सात्त्वत वंश वालों ने इसे बढ़ावा दिया । पहली शती ई० तक इस सम्प्रदाय में बालगोपाल का अभाव रहा । उसके पश्चात् आभीरों ने बाल गोपाल की कथाओं का समावेश किया और आठवीं शताब्दी तक यह सम्प्रदाय इसी रूप में चलता रहा । तब शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ, जिससे भक्ति-आन्दोलन में गतिरोध ग्रा जाने की आशंका हुई, किन्तु ११वीं शती में रामानुजाचार्य ने उसे संभाला और उसे नया रूप प्रदान किया । उत्तर में निम्बार्काचार्य ने उनका अनुकरण किया और बाल गोपाल की उपासना को प्राधान्य दिया । तेरहवीं शती में मध्वाचार्य ने भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाया । उत्तर भारत में रामानन्द ने उसके विकास को गतिशील किया और भागवत धर्म में रामोपासना

का प्रचार किया। १५वीं शती में कबीर ने भक्ति-आन्दोलन के विकास में महत्त्व-पूर्ण योग दिया और १६वीं शती में वल्लभाचार्य ने और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णोपासना को आगे बढ़ाया।

जब भागवत धर्म सम्बन्धी चरित्रों का समीकरण कर भक्ति-आन्दोलन का श्रृंखलाबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया तब अनेक भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने इस विषय पर ऐतिहासिक आधार पर लिखना प्रारम्भ कर दिया और डा० भण्डारकर के मतों का खण्डन-मण्डन हुआ। डा० चौधरी ने इस विषय पर और प्रकाश डाला है। उन्होंने भक्ति-आन्दोलन के प्राचीन इतिहास के अध्ययन की सामग्री की पूरी छानबीन करके उन समस्याओं का निराकरण कर दिया जो डा० भण्डारकर के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना के बाद रह गई थीं। डा० चौधरी के मतानुसार चौथी शती ई० पू० तक मथुरा में ही भागवतों की संख्या अधिक थी और दूसरी शती ई० पू० में भागवत धर्म भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश में पहुंचा। अब अनेक विदेशी भी उसे स्वीकार करने लगे। प्रथम शती ई० पू० तक वह महाराष्ट्र में भी पहुंचा, जहां से वह तमिल-प्रदेश में गया और फिर वहां से नई गति एवं नया कलेवर लेकर सारे हिन्दू जगत् में फैल गया। गुप्तों के उदय के पश्चात् तो भागवत धर्म का प्राधान्य स्थापित हो गया। लेकिन उस युग में रामावत सम्प्रदाय का कोई अभिलेख नहीं मिलता। गुप्तों के पतन के बाद भागवत धर्म उत्तर में धीमा पड़ गया। नवीं शताब्दी में भागवतों का पुन: प्राधान्य स्थापित हो गया।

डा० भण्डारकर और डा० चौधरी के इन दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने भी ऐसे कुछ ग्रंथों का प्रणयन किया जो स्थान विशेष में पल्लवित वैष्णव धर्म पर अथवा किसी वैष्णव आचार्य पर प्रकाश डालते हैं। इस कोटि में आने वाले कुछ ग्रंथों में दक्षिण के कुछ विद्वानों ने केवल दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। परन्तु समग्र रूप से भक्ति-आंदोलन पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथ उपर्युक्त दो विद्वानों के ही विशेष रूप से थे, दूसरे अधिकतर प्रदेश-विशेष के भक्ति-आंदोलन पर प्रकाश डालने वाले थे। हिन्दी में भी इस विषय पर कुछ कार्य हुआ। भक्ति-आंदोलन पर प्रकाश डालने वाले केवल दो ही ग्रंथ प्रमुख हैं: पं० बलदेव उपाध्याय का 'भागवत धर्म' और पं० परशुराम चतुर्वेदी का 'वैष्णव-धर्म'। फिर डा० मुंशीराम शर्मा का 'भक्ति का विकास' भी प्रकाश में आया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों में भी भक्ति-आंदोलन के विषय में यत्र-तत्र विवरण दिए गए हैं। इनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' तथा 'मध्यकालीन धर्म-साधना', पं० परशुराम चतुर्वेदी की पुस्तक 'भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना', डा० रामकुमार वर्मा की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' आदि उल्लेखनीय हैं। विविध संप्रदायों पर भी विद्वान् लेखकों ने हिन्दी में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। फिर भी इन विद्वानों के ग्रंथों

में भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन का पूर्ण चित्र संतुलित रूप में आ नहीं सका। भक्ति-साहित्य पर लिखने वाले सभी हिन्दी विद्वानों ने वैष्णव भक्ति-आंदोलन के उन्नायक आलवार भक्तों का संक्षिप्त परिचय (गलत या सही रूप में) अवश्य दिया है। परन्तु इन ग्रंथों में वैष्णव भक्ति-आंदोलन के पूर्ण चित्र को संतुलित रूप में देखने में तमिल-प्रदेश के आलवारों के सम्बन्ध में और बहुत कुछ कहने की आवश्यकता रह गई थी। चूंकि इन विद्वानों की पहुंच तमिल-प्रदेश के आलवारों के तमिल 'प्रबन्धम्' तक नहीं थी और तमिल-प्रदेश (दक्षिण) के विद्वानों की पहुंच हिन्दी भक्ति-साहित्य तक विशेष नहीं थी, अतः इन दोनों क्षेत्रों के विद्वानों के ग्रंथों में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का संतुलित पूर्ण चित्र उपस्थित किया नहीं जा सका। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखनकाल में हिन्दी में एक ग्रन्थ भक्ति-आन्दोलन पर प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ डा० रतिभानुसिंह 'नाहर' का है। इस ग्रंथ में भक्ति-आंदोलन पर और भी प्रकाश डाला गया है। इस प्रशंसनीय ग्रंथ में भक्ति-आंदोलन का समग्र चित्र देने का प्रयत्न हुआ है, पर आधार अधिकतर ऐतिहासिक है और संतुलित दृष्टि से वैष्णव भक्ति-आंदोलन के विषय में दक्षिण के आलवार भक्तों से सम्बन्धित सामग्री कम दी जा सकी है। अतः साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनों दृष्टिकोणों को समान महत्त्व देकर, विशेषकर साहित्यिक आधार पर वैष्णव भक्ति-आंदोलन के इतिहास को संतुलित रूप में, नवीन सामग्री का समावेश करके शोधपरक दृष्टि से प्रस्तुत करने की आवश्यकता रह गई है। प्रस्तुत अध्ययन इस आवश्यकता की पूर्ति का एक प्रयास मात्र है। प्रस्तुत लेखक का सौभाग्य है कि उसकी मातृभाषा तमिल है और उसे तमिल, हिन्दी और अंग्रेज़ी पर समान अधिकार है। अतः इन तीनों में उपलब्ध सामग्री की तटस्थ रूप से छान-बीन कर वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन तमिल और हिन्दी-साहित्य के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में हुआ है।

प्रस्तुत अध्ययन के सार-रूप में जो तथ्य निकलता है, उसको एक रूपक में इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है: भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन एक विशाल वृक्ष है और आलवार भक्त उस वृक्ष की जड़ें हैं। जड़ें प्रत्यक्ष रूप से दीख नहीं पड़ती हैं, जो ज़मीन के अंदर चली गई हैं। परन्तु वृक्ष को जीवित रखने के लिए जड़ें ही आहार देती हैं। इस प्रकार वृक्ष रूपी वैष्णव भक्ति-आंदोलन का पोषण आलवार 'प्रबन्धम्' से होता रहा है। वृक्ष की दूर तक फैली हुई विविध शाखाएं विभिन्न भक्ति-संप्रदाय हैं। इन संप्रदायों को पोषित करने के लिए जड़ों से संगठित आहार मध्य भाग (स्थाणु) के द्वारा ही पहुंचता है। यही मध्य भाग है श्री संप्रदाय और भागवत। जिस प्रकार शाखाएं क्रमशः ऊंचाई की ओर बढ़ती हैं और चारों ओर फैलती जाती हैं, उसी प्रकार वैष्णव भक्ति-आंदोलन दक्षिण भारत से क्रमशः उत्तर की ओर प्रसारित हुआ और चारों ओर प्रचारित हुआ। फिर इन शाखाओं में लगे फलों के रूप में असंख्य वैष्णव भक्त कवि हैं, जो विविध संप्रदायों में हुए हैं। उस भक्ति-आन्दोलन रूपी वृक्ष की शीतल छाया में मध्य

युग मध्याह्न के प्रखर ताप से बचकर आत्म शान्ति पाते हुए फलों का रसास्वादन करने वाले हैं मध्ययुगीन तथा परवर्ती भक्त जन। इस वृक्ष के रूपक में जड़ों का जो महत्त्व है, वही भारतीय भक्ति-आंदोलन में आलवार भक्तों का है। अधिक क्या कहें। इस रूपक से भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन का एक संपूर्ण चित्र जो दृष्टिगोचर होता है, उसीका निरूपण ही आगे के अध्यायों में सविस्तार करने का प्रयत्न हुआ है।

द्वितीय अध्याय

वैष्णव भक्ति का उद्भव और विकास

(भक्ति-भावना से भक्ति-आन्दोलन तक)

वैष्णव-भक्ति का जो वर्तमान स्वरूप है, वह बहुत कुछ दक्षिण के वैष्णव-भक्ति-आंदोलन की देन है। वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास में तमिल-प्रदेश की अपनी धार्मिक परंपरा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वैष्णव-भक्ति-आंदोलन के पूर्व वैष्णव-भक्ति का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह भी एक प्रकार से वैदिक युग से चली आने वाली वेद, उपनिषद् आदि से प्रभावित भक्ति-परंपरा के साथ तमिल-प्रदेश की द्राविड़-संस्कृति में परिपोषित भक्ति-परंपरा के मिल जाने के परिणामस्वरूप ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव-भक्ति की दोनों धाराएं ईसा की पहली शताब्दी के बहुत पूर्व से ही समानान्तर रूप से चली आ रही थीं और लगभग ईसा की पहली शताब्दी से ये दोनों धाराएं स्थान-स्थान पर एक दूसरी का स्पर्श और आलिंगन करती दिखाई देती हैं और ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी तक दोनों धाराएं पूर्ण रूप से मिलकर एक हो जाती हैं। इस तथ्य को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला जाए और तमिल-प्रदेश की भक्ति-परंपरा का भी परिचय देकर दोनों धाराओं के सम्मिलित होने पर निकलने वाली वैष्णव भक्ति-धारा का अनुशीलन किया जाए।

वैष्णव भक्ति की विकास-परंपरा में दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस आंदोलन के प्रमुख कर्णधार और उन्नायक आलवार भक्तों का समय सामान्य रूप से पांचवीं-छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक माना जाता है। चूंकि आलवार संत तमिल-प्रदेश के थे, अतः उन पर तमिल-प्रदेश की सभी पूर्ववर्ती भक्तिपरक और धार्मिक परंपराओं के प्रभाव का पड़ना स्वाभाविक ही है। आलवार-भक्तों ने परंपरा से चली आनेवाली वैष्णव भक्ति का परिष्कार कर उसे ऐसा नवीन और आकर्षक रूप दिया, जिससे वैष्णव भक्ति को प्रबल आंदोलन का रूप प्राप्त हो सका। अतः आलवारों से प्रेरित वैष्णव भक्ति-आंदोलन के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए यह भी देखना बहुत आवश्यक है कि भक्ति-आंदोलन के उन्नायक आलवारों पर किन-किन पूर्व परंपराओं का प्रभाव पड़ा है और आलवार-साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि क्या थी? इस दृष्टि से यहां वैष्णव भक्ति-भावना के उद्भव-काल से वैष्णव भक्ति

आंदोलन तक के इतिहास पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक हो गया है।

वैदिक भक्ति-परंपरा में वैष्णव भक्ति का विकास

वेद में विष्णु

साहित्यिक विरासत के रूप में ऋग्वेद संहिता ही भारत का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य है। आर्यों के सभी समूहों के आदि ग्रंथों में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि का नैसर्गिक शक्तियों के देवताओं के रूप में वर्णन है। ऋग्वेद के पूर्व आर्यों की किसी भी शाखा में विष्णु का उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद भी अपने वर्तमान उपलब्ध रूप में, किसी एक व्यक्ति या काल की रचना नहीं है, अपितु काल-क्रम में अनेक कण्ठों द्वारा परंपरा से प्रवाहित मन्त्र-साहित्य है।

ऋग्वेद में विष्णु-स्तुतिपरक मन्त्र केवल चार हैं। इनके अतिरिक्त केवल एक अन्य मन्त्र में इन्द्र और विष्णु की एक साथ स्तुति की गई है। समस्त वेद में विष्णु का केवल एक सौ बार नामोल्लेख है, जब कि इन्द्र, अग्नि, उषा, बृहस्पति, वरुण आदि के अनेक स्तुतिपरक मन्त्र हैं। ये देवता ही समय-समय पर विभिन्न मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं।[१] ऋग्वेद के स्तुतिपरक मन्त्र-विस्तार को देखने पर विष्णु एक निम्न कोटि के देवता के रूप में ही प्रस्तुत किए गए मालूम पड़ते हैं। ऋग्वेद में प्रयुक्त विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र मूल मान लिए जाएं तो ऋग्वेद में वर्णित चिह्नों से वे सूर्य के ही अन्यतम प्रकार सिद्ध होते हैं। यास्क के शब्दों में रश्मियों से व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों से संसार को व्याप्त करने के कारण ही सूर्य 'विष्णु' के नाम से अभिहित होता है।[२]

ऋग्वेद में विष्णु शब्द का प्रयोग अनेकार्थ और विपुल है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि वह सर्वत्र एक दिव्य, महान् और व्यापक शक्ति का प्रतीक है।[३] विष्णु का वर्णन वेद में इन्द्र के सहायक[४] देवता के रूप में भी हुआ है और इन दोनों के पराक्रम का वर्णन एक साथ समान भाव से भी किया गया है।

वैदिक विष्णु जो आरम्भ में गौण देवता हैं, ब्राह्मण-युग में आकर महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों में विष्णु की शक्ति का भी उत्तरोत्तर विकास वर्णित किया गया है। ब्राह्मण युग कर्म-प्रधान युग था और कर्म का प्रमुख अंग था यज्ञ। यज्ञ ही सबसे बढ़कर पावन और श्रेयस्कर कर्म समझा गया था। अतः इस युग में विष्णु यज्ञ-रूप बन जाते हैं। (यज्ञो वै विष्णुः)। शतपथब्राह्मण में यज्ञ-निष्ठा, की दृष्टि से विष्णु को अग्रणी ठहराया गया है और विष्णु के अलौकिक दिव्य शक्तिपूर्ण चमत्कारों का भी कथा के रूप में वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में

---

१. 'इंडियन फिलासफी', डा० राधाकृष्णन्, खण्ड १

२. 'यास्क-निरुक्त', १२।१९

३. 'आस्पेक्ट्स आव् अरली वैष्णविज़्म', जे० गोंडा, पृष्ठ ३
इस ग्रंथ के लेखक ने विष्णु के विविध रूपों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है।

४. *Vishnu in Vedas* (Volume of Studies in Indology presented to Mr. Kane) R. N. Dandeker, pp. 90

विष्णु की व्यापकता इस बात की द्योतक है कि देवताओं में इन्द्र की जैसी प्रधानता ऋचाओं में थी, वैसी ही प्रधानता धीरे-धीरे विष्णु को प्राप्त होने लगी थी और एक प्रकार से इन्द्र का स्थान विष्णु ने ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। विष्णु शब्द के देवता अभिधान का यह क्रमिक विकास ही समझना चाहिए।[१] कुछ विद्वानों ने तो विष्णु के अवतारों की सूची भी ब्राह्मण ग्रंथों में ढूंढ़ निकाली है।[२]

वेद में भक्ति

वैदिक साहित्य में भक्ति-भावना के स्वरूप पर विचार करें तो पता चलेगा कि वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में प्रत्यक्ष रूप से अनुराग[३]-सूचक भक्ति शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है और भक्ति शब्द द्वारा साक्षात् उपासना का भी लक्ष्य नहीं कराया गया है। लेकिन अनेक भारतीय इतिहासकारों और अन्य विद्वानों ने भक्ति का मूल वेद में ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है। 'भारतीय भक्ति-संप्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद है' तक की घोषणा की गई है, परन्तु जहां तक ऋग्वैदिक काल का सम्बन्ध है, 'ऋग्वेद' की ऋचाएं वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त हैं। जिन विद्वानों ने ऋग्वेद में भक्ति के तत्त्व प्रमाणित करने की चेष्टाएं की हैं, उन्होंने ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें किसी देवता को माता-पिता का सखा[४] आदि सम्बन्धों से युक्त किया गया है अथवा कुछ ऐसी ऋचाएं ली गई हैं जिनमें देवता विषयक रागात्मक तत्त्वों की झलक मिलती है।[५] ऐसी भी ऋचाओं का उल्लेख किया गया है, जिनमें 'स्तुति' और 'नाम स्मरण' की बात की गई है। इस प्रकार अनेक विद्वानों ने नवधा-भक्ति के मूल तत्त्वों का मूल 'ऋग्वेद' में ढूंढ़ने का प्रयास किया है। ऐसे विद्वानों ने ऋग्वेद में मिलने वाले कुछ शब्दों को ही अपने अनुमान के आधार बनाए हैं। वास्तव में शब्द-साम्य अमहत्त्व-पूर्ण है। प्रमाणस्वरूप वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'श्रद्धा' और 'भक्ति' शब्दों के प्रयोगों को लें तो पता चलेगा कि ये शब्द 'श्रद्धा' और 'भक्ति' के वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं।[६] 'भज' धातु के जितने भी प्रयोग वैदिक साहित्य में हुए हैं, वे 'भक्ति' के परवर्ती अर्थ के रूप में कदापि नहीं हैं। अनुराग वा अनुरक्ति के अर्थ में कहीं भी इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं किया गया है। 'भक्ति' शब्द का प्रेममूलक अर्थ केवल पाणिनि तथा यास्क के समय से ही लिया जाने लगा।[७]

---

१. 'शतपथब्राह्मण' में विष्णु के पराक्रम की कथा—१४।१।१

२. 'भागवत संप्रदाय', बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ८२

३. "सा परानुरक्तिरीश्वरे⋯"

४. "सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥"—ऋ० ४।१७।१७

५. 'ऋग्वेद'—१०।४०।२

६. 'इण्डिया हिस्टारिकल क्वार्टर्ली', १९३०

७. 'भज' और 'भक्त' शब्द की व्याख्या के लिए देखें—
Journal of Royal Asiatic Society. 1910, pp. 861-62 & J. R. A. S. 1911, pp. 194, 727-38.

ऋग्वैदिक देवताओं और उनके उपासकों के बीच रागात्मक या भावात्मक सम्बन्धों पर विचार करें तो पता चलेगा कि यद्यपि ऋग्वैदिक आर्य अपने देवताओं को शक्तिशाली, पराक्रमी आदि के साथ दयावान् और कल्याणमय मानते रहे और ऐसी अवस्था में उनके प्रति 'श्रद्धा' का भाव रखते थे, तो भी जिस 'रागात्मक सम्बन्ध' की अपेक्षा भक्ति में की जाती है, उसका नितान्त अभाव है। इतिहासकारों और साहित्याचार्यों ने 'ऋग्वेद' में जिस भक्ति-भावना का दर्शन किया है वह समस्त मानव जाति के प्रारम्भिक धर्मों में किसी न किसी रूप में उपलब्ध है और यदि भक्ति के सामान्य अर्थ को लिया जाए, न कि उस भक्ति-विशेष को जो उपनिषत् काल से आरम्भ होकर मध्यकाल तक अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुंचती है और जिसमें प्रेम और निष्काम भाव का ही प्राधान्य है, तो उसे ऋग्वेद में भी मानने में कोई आपत्ति नहीं है। चूंकि वैष्णव भक्ति के मूलाधार विष्णु ही हैं, अतः भक्ति की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए 'वैदिक विष्णु' को भी 'मध्यकालीन विष्णु' की दृष्टि से देखने की चेष्टा कुछ विद्वानों ने की है।[1] वैष्णव भक्ति को प्राचीनतम सिद्ध करने के पीछे, वेद को अन्तिम प्रमाण मानने का कुछ विद्वानों का स्वाभाविक आग्रह ही दिखाई देता है। वेद काल से लेकर मध्य युग तक विष्णु की जो स्थिति है, उसे देखकर उनकी कई विकास-अवस्थाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते।

उपनिषदों में वैष्णव भक्ति

'ऋग्वेद' में प्रमुखतः दो प्रकार के विषय हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड का विकास ब्राह्मणों में और ज्ञान-काण्ड का विकास उपनिषदों में हुआ है। ब्राह्मणों ने कर्मकाण्डों के विस्तार में सराहनीय योग दिया है और आरण्यकों ने ज्ञान के पूर्ण विकास के लिए ऋग्वैदिक अंकुर को सुरक्षित रखा है। ये आरण्यक ही उपनिषदों से पहले की कड़ी हैं।

उपनिषदों की संख्या अनंत है,[2] उपनिषत्कार भी अगणित हैं और रचना-काल भी लम्बी अवधि का है।

'ऋग्वेद युग' ही अकेले एक सहस्र वर्षों की चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करता है और जहां उसमें यज्ञीय कर्मकाण्डों के प्रतिपादक ऋचा-निर्माताओं का ऊंचा स्वर था, वहीं कालान्तर में कुछ ऐसे भी ऋषि हुए जिन्होंने सत्यान्वेषण की जिज्ञासा प्रकट की। इसी जिज्ञासा का प्रतिफल है, 'उपनिषद्'। उपनिषत्कारों में कुछ कट्टर ज्ञानवादी हैं और वैदिक कर्मकाण्डों के इतने असहिष्णु विरोधी हैं कि अनेक स्थलों पर इन्होंने वेद की उपेक्षा तक की है। कुछ ऐसी भी उपनिषदें हैं

---

१. 'विष्णुगोपा अदाभ्यः' ('ऋग्वेद' १।२२।१८) अर्थात् 'विष्णु अजेय गोप हैं'—के आधार पर वैदिक विष्णु, को 'मध्यकालीन विष्णु' के रूप में देखने की चेष्टा हुई है। द्रष्टव्य—'भागवत संप्रदाय'—बलदेव उपाध्याय, पृ० ७८-७९।

२. प्रमुख उपनिषदों में 'छान्दोग्य', 'बृहदारण्यक', 'कठ', 'ईश', 'श्वेताश्वतर', 'तैत्तिरीय', 'मुण्डक', 'माण्डूक्य' तथा 'केन' उपनिषदों के नाम लिए जाते हैं।

जिन्होंने मधुर उपासना के लिए थोड़ी-बहुत जगह दे रखी है, पर निश्चित रूप से उनकी रचना बहुत बाद में हुई—कम से कम महाभारत युग के ठीक पूर्ववर्ती युग में।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी कोटि की है। 'मुण्डक'[2] उपनिषद् में एक स्थान पर यज्ञीय कर्मकाण्ड को श्रेयस्कर माननेवालों को मूढ़ तक घोषित किया गया है और स्वर में स्वर मिलाते हुए 'बृहदारण्यक'[3] में देवों को आहुति देनेवालों की तुलना उन पशुओं से की गई है जो अपने स्वामी के लाभ के लिए कार्य करते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि उपनिषद् युग तक आते-आते आर्यों ने धर्म के बाह्य उपकरणों को अधिकाधिक विकसित कर लिया था, जिसमें प्रवृत्ति-मार्ग का प्राधान्य था, साथ ही निवृत्ति मार्ग मूलक तप और ज्ञान के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार होने लगी थी।

ब्रह्म-सान्निध्य के लिए ज्ञान की उपादेयता स्वीकार करते हुए भी ऋषियों को भक्ति की अनिवार्यता प्रतीत हुई और श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वप्रथम भक्ति का महत्त्व सूचित किया गया है :

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२३)

इसी उपनिषद् में 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' कहकर शरणागति भाव की ओर भी स्पष्ट संकेत किया गया है। भक्ति का जो रूप भक्ति विषयक 'महाभारत' और 'गीता' में मिलता है, वह उपनिषदों की भक्ति से पर्याप्त साम्य रखता है। उपनिषदों की भक्ति में आडम्बर नहीं है, बल्कि अन्तस्साधना पर अधिक बल है। उसमें सत्यान्वेषण की जिज्ञासा है और उनमें सर्वोपरि है गुरु का महत्त्व, जिसके बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु के महत्त्व को सभी धर्म सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है, यह निर्विवाद सत्य है, और जहां उपनिषदों ने गुरु के महत्त्व को बढ़ाया है, वहीं वे सगुण पूजा को अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करके भक्ति-भावना का सुदृढ़ीकरण ही करती हैं।[4] 'कठोपनिषद्' के कुछ मन्त्र निश्चित रूप से भक्ति-भावना को उत्प्रेरित करते हैं।[5] इन्हीं भावनाओं को 'मुण्डक' द्वारा बल मिलता है और उपासक और उपास्य के निकट सम्बन्धों की भूमिका सृजित होने लगती है।[6] पर इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान श्वेताश्वतर उपनिषद् का है जिसने सगुणोपासना का मार्ग अप्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् (६।१८) से हमें सगुण ब्रह्म की झलक मिल जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में भी उस सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता परमात्मा की

---

१. 'भक्ति आन्दोलन का अध्ययन'—डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० २९-३०
२. 'मुण्डक' उपनिषद्, १।२।७
३. 'बृहदारण्यक' १।४।१०
४. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन'—डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० ३३
५. 'कठोपनिषद्' १।३।१५, २।२।९-११, १।३।१, २।२।३ आदि
६. 'मुण्डकोपनिषद्' १।१।६, ३।२।८, ३।१।३, २।१।१ आदि

कल्पना की जाने लगी थी जो अव्यक्त के साथ व्यक्त भी है। उसकी उदारता, दयालुता आदि की भी कल्पना की गई थी, जिससे भक्ति का अंकुर पल्लवित होने का अवसर मिला। बस, यहीं से हम भक्ति का उद्भव मान सकते हैं।[१]

उपनिषदों की भक्ति-भावना के विषय में डा० रतिभानुसिंह ने लिखा है कि "अनेक उपनिषदों में लोकमत को मान्यता प्रदान करने की चेष्टा की गई है। यद्यपि हमें तत्कालीन लोकमत का स्पष्ट विवरण अलग से नहीं मिलता, तो भी इतना सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उपनिषद्-युग तक आते-आते मध्यदेश में आर्यों और अनार्यों का सम्मिश्रण और निकट का सम्पर्क स्थापित हो चुका था और उनका सांस्कृतिक जीवन परस्पर प्रभावित होता जा रहा था और यह जीवन निश्चय ही सर्वत्र और सर्वथा शास्त्रोक्त विधि से अनुशासित नहीं रहा होगा। साथ ही स्थानीय देवी-देवताओं से लोक-जीवन का अपेक्षाकृत निकट का सम्बन्ध रहा होगा जिसमें भावनाओं और संवेगों का अंश अधिक होता है। शास्त्र-प्रणेताओं को लोकमत के साथ निश्चय ही कहीं-कहीं चलना पड़ा है। यही कारण है कि कुछ उपनिषदों में ईश्वर के व्यक्त और अव्यक्त एवं उदार रूप की ओर संकेत किया गया है।"[२]

प्रस्तुत लेखक का विचार भी डा० रतिभानुसिंह के उपर्युक्त विचार से मेल खाता है। प्रस्तुत लेखक के विचार में उपनिषत् काल में आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों का संपर्क शुरू हुआ होगा और द्राविड़ अर्थात् तमिल की प्राचीन भक्ति-परम्परा से परवर्ती उपनिषदों का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। भक्ति-भावना के उद्भव पर प्रकाश डालने वाले विद्वानों ने भी भक्ति-भावना को पूर्णतः द्रविड़ों की देन माना है। भारतीय धर्म-साधना पर लिखते हुए अपने विशिष्ट ग्रन्थ 'हिन्दू एवं बौद्ध धर्म' में सर चार्ल्स इलियट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि भारतीय धार्मिक भावना का आदि स्रोत वह पुरातन द्राविड़ीय सभ्यता है जिसके साथ आर्यों का सम्पर्क एवं समन्वय भारत में आने के पश्चात् स्थापित हुआ। श्री दिनकर भी अपने ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं—

"वैष्णव मत में भक्ति की जो प्रधानता है, वह मुख्यतः द्रविड़ों की देन है। आर्यों की प्रारंभिक धर्म-भावना कर्मकाण्ड और यज्ञ तक ही सीमित थी। उनके प्रारंभिक साहित्य से उनकी भावुकता का तो प्रमाण मिलता है, किन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता कि ये भक्त भी थे। भक्ति असल में आर्यों के पूर्व ही इस देश में थोड़ी-बहुत विकसित हो चुकी थी और आर्यों का ध्यान उसकी ओर तब गया जब वे कर्मकाण्ड से कुछ थकने-से लगे।"[३]

भक्ति-भावना के विकास के इतिहास में उपनिषदों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी परवर्ती चिंतकों ने उपनिषदों से ही अपना कदम बढ़ाया है। भक्ताचार्यों को भी यहीं से आगे बढ़ना पड़ा है। हमारे परवर्ती भक्ति-साहित्य में

---

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', पृ० ३४
२. वही, पृ० ३४
३. 'संस्कृति के चार अध्याय' (द्वि० सं०), श्री रामधारीसिंह 'दिनकर', पृ० २८

'पंच' तथा 'रात्र' शब्द के आधार पर 'पांचरात्र' नाम की अनेक कल्पनाएं की गई हैं। 'नारद पांचरात्र' ने 'रात्र' शब्द को अपनी कल्पना का आधार बनाया और इसका अर्थ ज्ञान लेते हुए १—परम तत्त्व, २—मुक्ति, ३—भुक्ति, ४—योग तथा ५—विषय (संसार) का निरूपण करने के कारण इसका नाम पांचरात्र पड़ना बताया है।[१] 'अहिर्बुध्न्य संहिता' ने भी 'नारद पांचरात्र' के मत का समर्थन किया है।[२]

अधिकांश पांचरात्र संहिताओं ने तत्त्व एवं आचार-मीमांसा में से आचार-पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। इनके प्रतिपाद्य विषय चार हैं—ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। अधिकांश संहिताओं में 'ज्ञान' और 'योग' के लिए कम महत्त्व दिया गया है और क्रिया और चर्या को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संहिताकारों ने भागवतों के लिए उपासनापद्धति और तत्सम्बन्धी उपकरणों की योजना करने के उद्देश्य से ही इनकी रचना की है।

पांचरात्रिकों ने परब्रह्म को 'नारायण' नाम से अभिहित किया है और परब्रह्म के दोनों रूप सगुण और निर्गुण स्वीकृत किए हैं। 'अहि० सं०' में उसे सभी द्वन्द्वों से मुक्त, सभी उपाधियों से वर्जित, सभी कारणों का कारण, 'षड्गुण्यरूप' (ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज से युक्त) कहा गया है। भगवान् की शक्ति की सामान्य संज्ञा लक्ष्मी है। शक्ति भगवान् की आत्मभूता है—उनके स्वरूप से भिन्न नहीं है। वह किसी कारण से कहीं उन्मेष प्राप्त करती है और जगत् के रचना-व्यापार में प्रवृत्त होती है।[३] सृष्टि के प्रारम्भ में लक्ष्मी के दो रूप हो जाते हैं—१—क्रिया शक्ति, २—भूत शक्ति। जगत् उत्पन्न करने की भगवदिच्छा को, उत्पादन के संकल्प को, क्रिया शक्ति और जगत् की परिणति को 'भूतशक्ति' कहते हैं।[४] बात यह है कि संहिताओं ने औपनिषदिक शक्ति को लक्ष्मी रूप में स्वीकार करके और नारायण से उसका पृथक् अस्तित्व मानकर सगुणोपासना के लिए मार्ग प्रदर्शित किया है।

संहिताओं ने महाभारत के व्यूह-सिद्धान्त को और अधिक विस्तृत किया है और इनमें कुछ नये सिद्धान्त भी जोड़ दिए हैं। भगवान् के (पूर्व चर्चित) छः गुणों में से किन्हीं दो गुणों की प्रधानता से प्रत्येक व्यूह की सृष्टि होती है। व्यूहों की उत्पत्ति के विषय में 'महाभारत' का मत संहिताओं को भी मान्य है। ये सभी वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति मानती हैं। व्यूहों के कार्यों के सम्बन्ध में संहिताओं में मतैक्य नहीं है। अवतारवाद को बहुत अधिक आगे बढ़ाने वाले पांचरात्रिकों ने व्यूहों के बाद व्यूहान्तर की भी कल्पनाएं की हैं। उन्होंने व्यूहों तथा विभवों के अतिरिक्त भगवान् के अन्य अव-

---

१. 'नारद पांचरात्र', १।४५।५३

२. *The Philosophy of the Pancharatras, By* Baladev Upadhyaya *in 'Prabuddha Bharata'*, Vol. LVII of 1952, pp. 289-295.

३. 'अहिर्बुध्न्य संहिता', ५।४

४. वही, ३।२१

तारों की भी कल्पना की है। इन संहिताओं ने भगवान् विष्णु की मूर्तियों को भी पांचरात्र विधि से पवित्र किए जाने पर उनको अवतार रूप में स्वीकार किया है। इसीको अर्चावतार कहा जाता है। इसी प्रकार प्राणियों के हृदय में निवास करने वाले विष्णु को भी इन्होंने अन्तर्यामी रूप दिया है।

पांचरात्रिकों को भगवान् का दयालु एवं करुणामय रूप सदा ध्यान में रहता है। अत: उन्होंने भगवान् की अनुग्रह-शक्ति की महान् एवं भव्य कल्पना की है। प्राय: सभी संहिताएं भगवान् की इस अनुग्रह-शक्ति का वर्णन करती हैं, जिससे जीवों पर भगवान् की नैसर्गिक कृपा होती है और तब जीवों के शुभ एवं अशुभ कर्म समत्व को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में जब भक्त के हृदय में भगवान् की अनुग्रह-शक्ति का निक्षेप हो जाता है तब उसके शुभ अशुभ कर्म स्वत: अपने व्यापार स्थगित करके उदासीन हो जाते हैं। भगवान् की अनुग्रह-शक्ति को उद्‌बुद्ध करने का भक्तों के पास एक मात्र उपाय है, शरणागति, प्रपत्ति, जिसकी शास्त्रीय संज्ञा 'न्यास' है। भगवान् की शरणागति या प्रपत्ति के विना मुक्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

अधिकांश संहिताएं मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-निर्माण, मूर्ति की सात्त्वत विधि द्वारा स्थापना आदि की विस्तृत पद्धति का विवेचन करती हैं। अवतारों की सुदृढ़ स्थापना के बाद और विशेषतया भागवतों या पांचरात्रिकों के अर्चावतार की कल्पना के सुदृढ़ीकरण के बाद तो मन्दिरों और मूर्तियों का महत्त्व बढ़ गया। पांचरात्रिकों के साहित्य ने मन्दिर-निर्माण को और भी अधिक बढ़ावा दिया। भगवान् के विभग और अन्तर्यामी रूप की अपेक्षा उनका अर्चावतार कहीं अधिक साध्य और आकर्षक सिद्ध हुआ। जब अर्चावतार को व्यावहारिक महत्त्व दे दिया गया तो पूजा-विधियों की विस्तृत व्यवस्था करनी पड़ी। यहां यह भी कह देना आवश्यक है कि पांचरात्रिकों की तरह वैखानसों ने भी अपनी संहिताओं में पूजा-विधि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, पर दोनों की विधियों में पर्याप्त अन्तर बताया जाता है।

पांचरात्र संहिताओं के सामान्य प्रतिपाद्य विषय का परिचय प्राप्त करने के उपरान्त वैष्णव भक्ति के विकास में उनके योगदान के महत्त्व पर विचार करना आवश्यक है। इन संहिताओं ने वैष्णवों के धार्मिक जीवन-दर्शन को बहुत अधिक प्रभावित किया है, इसमें सन्देह नहीं।[१] कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों ने पांचरात्र संहिताओं को बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव में आकर वेद विरोधी तत्त्वों से युक्त होने की बात कही है। पर वास्तविकता यह है कि इन संहिताओं ने वेद सम्मत विचारों को तो ग्रहण किया, पर साथ ही नवीन परिस्थितियों की मांग के अनुसार भक्ति-मार्ग को सरल और सुलभ बनाने का प्रयत्न किया।

यहां पर एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। विद्वानों ने पांचरात्र संहिताओं का रचना-काल ईसा की पहली दूसरी

१. *Prabuddha Bharata*, Vol. LVII of 1952—*The Philosophy of Pancharatras*, pp. 289

शताब्दी से सातवीं-आठवीं शताब्दी तक माना है। चूंकि अधिकांश संहिताओं की रचना दक्षिण भारत में हुई है, अतः ये उस समय की धार्मिक स्थिति का बोध कराती हैं। तत्कालीन तमिल भक्ति साहित्य में वर्णित धार्मिक स्थिति भी इन संहिताओं की रचना की आधार-भूमि की ओर संकेत करती है। उस समय तमिल-प्रदेश में बहुत बड़ी संख्या में मन्दिरों का निर्माण हो चुका था। प्राचीन तमिल भक्ति-साहित्य में उस समय के मन्दिरों का विस्तृत परिचय मिलता है और उनमें व्यवस्थित पूजा-पद्धति का भी उल्लेख मिल जाता है। ईसा की दूसरी शताब्दी की तमिल-कृति 'परिपाडल' में उन सभी तत्त्वों का विवरण मिलता है, जिनका वर्णन पांचरात्र संहिताओं में मिलता है। 'परिपाडल' में जो विचार व्यक्त किए गए हैं, वे पांचरात्र संहिताओं के लिए भावभूमि तैयार करते हुए दिखाई देते हैं। यही संभावना दीखती है कि 'परिपाडल' के रचयिताओं ने महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' से विचार ग्रहण किए हों और तमिल-प्रदेश की भक्ति-परम्परा में मान्य सिद्धान्तों के साथ उनका समन्वय करा दिया हो। तमिल-प्रदेश की भक्ति-परम्परा में भक्ति का वही सरल रूप उस समय या उससे पहले भी उपलब्ध था, जो पांचरात्र संहिताओं में प्रतिपादित है।

नारायण के साथ उनकी शक्ति के रूप में 'लक्ष्मी' को मानने की जो बात संहिताओं में है, उसके मूल में तमिल-प्रदेश की परम्परागत धार्मिक भावना का आधार ही है। साथ ही व्यूहों की कल्पना के पीछे भी लगभग यही तथ्य है। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दियों की तमिल की भक्तिपरक कृतियों में तत्कालीन मन्दिरों और उनमें स्थित आराध्य देवों की मूर्तियों का जो वर्णन मिलता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यूह की कल्पना उस समय की धार्मिक भावना के बिलकुल अनुकूल थी। अतः यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि पांचरात्र संहिताएं, उन तमिल-कृतियों के बाद की रचनाएं हैं और दोनों का बहुत अधिक सम्बन्ध है।[1]

तमिल की भक्ति-परम्परा में वैष्णव भक्ति

तमिल की एक बड़ी ही प्राचीन भक्ति-परंपरा है। यह कहना कठिन है कि तमिल जनता में कब से धार्मिक भावना अथवा भक्ति-भावना का विकास-स्रोत

---

1. "With this we reach a condition in our knowledge of the Pancharatra which distinctly implies (i) that the formal text books of the Pancharatra were written and got into vogue perhaps later than the age of the Tamil classics. After an elaborate examination of the question Prof. Schrader came to the conclusion that perhaps the earliest of these are referable to about A. D. 300. We seem to have here in these Tamil classics a view of Pancharatra, perhaps less formal, but none the less distinctly Pancharatraic in character, assimilable to the exposition of the Pancharatra as found in the Narayaniya section of the Mahabharata ....."*The Narayaniya in Tamil Literature.* Dr. S. Krishnaswamy Iyenger—*Gangamatha--The Commemoration volume*, 1937, pp. 28-29

प्रारम्भ हुआ था। तमिल के अति प्राचीन ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण भक्ति के उस प्रारम्भिक काल पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है।

भारतीय धर्म-साधना पर लिखते हुए अपने विशिष्ट ग्रन्थ 'हिन्दू एवं बौद्ध धर्म' में सर चार्ल्स इलियट ने स्पष्टतः कहा है कि भारतीय धार्मिक भावना का आदि स्रोत वह पुरातन द्राविड़ीय सभ्यता है जिसके साथ आर्यों का सम्पर्क एवं समन्वय भारत में आने के पश्चात् स्थापित हुआ। डा० राधाकृष्णन् 'हिन्दू धर्म' पर लिखते हुए स्पष्टतः व्यक्त करते हैं कि भारत में प्रचलित हिन्दू धर्म वस्तुतः प्रागैतिहासिक सिन्धु सभ्यता का वह विकसित रूप है जो उस काल से आज तक आन्तरिक एवं बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप यथायोग्य परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के पश्चात् एक समन्वित रूप में उपस्थित है।

श्री दिनकर अपने ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं कि "द्रविड़ जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत की सभ्यता का आरम्भ इसी जाति ने किया था।"[१]

"वैष्णव मत में भक्ति की जो प्रधानता है, वह मुख्यतः द्रविड़ों की देन है। आर्यों की प्रारम्भिक धर्म-भावना, कर्मकाण्ड और यश तक ही सीमित थी। उनके प्रारम्भिक साहित्य से उनकी भावुकता का तो प्रमाण मिलता ही है, किन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता कि ये भक्त भी थे। भक्ति असल में आर्यों के पूर्व ही इस देश में थोड़ी-बहुत विकसित हो चुकी थी और आर्यों का ध्यान उसकी ओर तब गया जब वे कर्मकाण्ड से कुछ थकने-से लगे। आगे चलकर जब इस देश में भक्ति की बाढ़ उमड़ी तब उसकी प्रधान धारा भी दक्षिण से आई।"[२]

दक्षिण में जिस समाज में भक्ति-भावना का उद्गम माना जाता है, वह तमिलों का समाज था। वह आर्येतर जाति थी और उसके रस्म-रिवाज और धार्मिक विश्वास आदि अवैदिक थे। पुरातत्त्ववेत्ता तथा भूतत्त्वअन्वेषक अपनी गवेषणाओं के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तमिल-प्रदेश की भौगोलिक स्थिति बड़ी प्राचीनता को लिए हुए है।[३] तमिल-संस्कृति बहुत ही प्राचीन है और उसकी धार्मिक भावना भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी स्वयं तमिल जनता।

भक्ति से सम्बन्धित 'पूजा' तथा 'शिव' शब्द भी मूलतः तमिल भाषा के ही बताए जाते हैं। 'शिव' शब्द का मूल वस्तुतः तमिल भाषा का 'शिवप्पु' है जिसका अर्थ है 'लालवर्ण'। (डा० ग्रियर्सन भी इस मत से सहमत हैं।) तमिल में 'आण' कहते हैं, पुरुष को। माना जाता है कि 'शिवप्पु' और 'आण' के मिलने से 'शिवप्पन अतएव 'शिवन्' बना। यहीं से संस्कृत के 'शिव' शब्द की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शिव की ईश्वरीय भावना पुरातत्त्व के आधार पर द्राविड़ीय

---

१. 'संस्कृति के चार अध्याय' (द्वि० सं०), श्री रामधारीसिंह 'दिनकर', पृष्ठ २८

२. वही, पृष्ठ ७२,

३. (a) *The Stone Age in India*, P. T. S. Iyengar. pp. 3
(b) *Origin and Spread of Tamils—V. R. R. Dikshitar. p.* 1 *and footnote*, pp. 55-56.

मानी गई, उसी प्रकार 'शिव' शब्द भी तमिल से जो द्राविड़ कुल की ही प्रधानतम भाषा है, उत्पन्न हुई है। 'पूजा' शब्द दो अक्षरों से बना है—'पू' तथा 'जा'। ये दोनों तमिल भाषा के विशिष्ट अर्थबोधक शब्द हैं। पू शब्द का अर्थ है 'पुष्प' तथा 'जा' अथवा शै शब्द का अर्थ है करना। पू तथा शै तमिल, का 'पूशै' अथवा 'पूजा' शब्द बना। (डा० सुनीतिकुमार चटर्जी इस मत से पूर्णतः सहमत हैं।) 'पूजा' वस्तुतः अपने आराध्य देव पर पुष्प चढ़ाने के कर्म को ही सूचित करता है। 'पूजा' वस्तुतः भक्त-हृदय के उद्‌गारों की ही अभिव्यक्ति है। अतः 'पूजा' भक्ति का प्रधान साधन है। यह शब्द स्वयं द्राविड़ीय होने के कारण यह मानना असंगत नहीं होगा कि उस पूजा तथा भक्ति की उत्पत्ति ही मूलतः द्रविड़ सभ्यता से हुई है।[1]

प्राचीन तमिलों का अर्थ क्या था? वे किन-किन देवताओं की पूजा करते थे? इन बातों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। विद्वानों ने अनेक अनुमान लगाये हैं और उपलब्ध प्राचीन तमिल ग्रन्थों के आधार पर उस समय के धार्मिक समाज का चित्र खींचा है।

प्रारम्भ में तमिल लोग भूत-प्रेतों, वृक्षों और नागों की पूजा करते थे। तन्त्र-मन्त्र में विश्वास करते थे और पशु-बलि द्वारा अपने देवताओं को तृप्त करने का प्रयत्न करते थे। धीरे-धीरे उनमें संस्कारों का विकास हुआ और संस्कारों में विकास के साथ-साथ उनके धार्मिक विश्वासों में भी परिवर्तन हुए। भूत-प्रेतों की पूजा का स्थान एक परम शक्तिमान् परमेश्वर ने ले लिया। सम्भव है, इस विश्वास के मूल में भी किसी अव्यक्त परम शक्ति का भय रहा हो। पर ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, भय कम होता गया और उसका स्थान प्रेम एवं भक्ति ने ले लिया। इस तरह (बहुत प्राचीन काल में ही) तमिल लोगों के हृदय में भगवान् की भावना जाग्रत् हुई थी और वे आए दिन की युद्ध-भावना और क्रूरता को त्यागकर शान्ति की ओर उन्मुख हुए।

"उत्पन्न द्रविडे साहं"[2] यह उत्तर भारत में एक सर्वविदित लोकोक्ति है। पर यह दक्षिण के उस 'भक्ति-आन्दोलन' की ओर संकेत करती है, जिसमें प्रकट रूप से आलवार और नायनमार तथा अन्य सन्तों ने अपने-अपने दिव्य अनुभूतिमय गीतों से जनता को मन्त्र-मुग्ध किया था। परन्तु इससे अनेक शताब्दियों के पहले ही तमिल-साहित्य में उनके प्रारम्भिक काल में भक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी तथा देवी-देवताओं की उपासना पद्धतियों का पूर्ण विकास हो चुका था। तमिल के सहस्रों वर्षों के महान् इतिहास में यह भक्ति-धारा उत्तरोत्तर पुष्टि पाकर कैसे बड़े प्रवाह के रूप में बहने लगी—इसका थोड़ा-सा परिचय उपलब्ध लिपिबद्ध आधार पर यहां देने का प्रयास किया गया है।

तमिल साहित्य के इतिहास में ईसा-पूर्व ५०० वर्ष से लेकर ईसा की दूसरी

---

१. 'हिन्दी प्रचार समाचार' (मई १९५६) नामक पत्रिका में भक्ति द्राविड़ ऊपजी' लेख, डा० शंकर राजु नायडू, पृ० ७

२. 'भागवत-माहात्म्य' १।४८

शताब्दी तक का काल संघकाल[१] कहलाता है। तीसरी शताब्दी से लेकर पांचवीं शताब्दी तक के काल को संघोत्तर काल अथवा बौद्ध-जैन-काल कहा जाता है। इस काल को 'भक्ति-पूर्व-काल' भी कहते हैं। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल अर्थात् आलवार और नायनमारों का काल 'भक्ति-काल' कहलाता है।

संघ काल की प्रकृति-पूजा

संघ काल के अन्तर्गत साधारणतः संघ-पूर्व काल को भी लिया जाता है। संघ-पूर्व काल का एक मात्र ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' उपलब्ध है। यह एक लक्षण ग्रन्थ है। इस लक्षण ग्रन्थ से बहुत पहले ही उसके लक्ष्य-साहित्य के आविर्भाव का पता चल जाता है। स्वयं 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता ने स्वीकार किया है कि उन्होंने अपने जो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं, वे पूर्ववर्ती साहित्यकारों द्वारा संकेतित अथवा प्रवर्तित सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं।[२] तोलकाप्पियम् की पूर्वकालीन प्राचीन अवस्था का द्योतक तमिल साहित्य अब उपलब्ध नहीं। अतः तत्कालीन समाज की भक्ति की कौन-कौनसी धारणाएं मान्यताएं थीं, उनका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। परन्तु तोलकाप्पियम् तथा संघ काल की रचनाओं से तमिल जनता के विभिन्न देवताओं और उनकी उपासना-पद्धतियों और भक्ति सम्बन्धी मान्यताओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है :

संघ काल के साहित्य से पता चलता है कि प्राचीन तमिल लोग प्रकृति-सौन्दर्य में रम जाते थे और अत्यन्त स्वच्छ मन से किसी भी जटिल चिन्तन से अस्त-व्यस्त न होकर अपना जीवन बिताते थे। प्रधानतः इस काल की रचनाओं के वर्ण्य विषय दो हैं—प्रेम और वीरता। प्रमाण स्वरूप दो कविता संग्रह हैं—एट्टुतोकै[३] (आठ विभिन्न कविता-संग्रह) तथा पत्तु पाट्टु[४] (दस वर्ण्य काव्यों का संग्रह)। तमिल काव्य-शास्त्र के अनुसार कविता में गाए जाने के योग्य दो ही विषय हैं—एक 'अहम्' (आन्तरिक या मानसिक) तथा दूसरा 'पुरम्' (बाह्य)। भक्ति, प्रेम आदि हृदय सम्बन्धी विषय 'अहम्' के अन्तर्गत तथा युद्ध, शासन-विज्ञान, नीति-शास्त्र आदि 'पुरम्' के अन्तर्गत माने जाते थे। 'पुरम्' में भक्ति की उपासना-पद्धति को स्थान प्राप्त था। प्राकृतिक आनन्द में मग्न एक

---

१. कई तमिल विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में तमिल-देश में साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन देने तथा प्रत्येक रचना को साहित्यिक कसौटी पर परखने के लिए तत्कालीन राजाओं के तत्त्वावधान में एक कवि-परिषद् की स्थापना हुआ करती थी, जिसको 'संघम्' की संज्ञा दी जाती थी।

२. *Tolkappiam : Porul Puraturai*, Sutras, 77 and 78

३. 'नटिने', 'कुरुन्तोकै', 'पट्टिटप्पतु', 'परिपाडल', 'कलितोकै', 'नेडुंत्तोकै', 'अहनानूरु' और 'पुरुनानूरु'।

४. 'तिरुमुरुक्ट्रुपडै', 'पोरुनर-आट्रुपडै', 'शिरुपाणाट्प्पडै', 'पेरुंब्राणाट् रुपडै', 'मुल्लैपाट्टु', मदुरैकांची', 'नेडुनलवाडै', 'कुरिंजिपाट्टु पट्टिटणप्पालै, 'मलैपडु कडाम'

निश्चित जीवन दर्शाने वाली संघकालीन कविताओं में प्रकृति की असीम शक्तियों तथा अज्ञात विशेषताओं के प्रति जो श्रद्धा-भाव या वन्दना-भाव देखने को मिलता है, उस भाव विशेष को स्वाभाविक धर्म भी कहा जा सकता है। इस काल के साहित्य में वृक्ष, वन, पहाड़ आदि वस्तुओं में रहने वाले मंगलकारी और मंगलदायी देवताओंकी कल्पनाएं यत्र-तत्र मिलती हैं। इन देवी-देवताओंकोसन्तुष्ट करने के लिए प्रार्थनाएँ होती थीं और बलिदान भी होता था। प्राचीन तमिल लोग विघ्न-बाधाओं को दूर करने की प्रार्थना कर सूर्य की भी पूजा करते थे। चन्द्र की भी पूजा होती थी, जिसे 'पिरै तोलुदल' कहते थे। 'परिपाडल' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि भगवान् के जिस रूप की कल्पना मन में की जाती है, भक्त के लिए उनका वही रूप उपास्य अथवा प्रिय हो जाता है।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि संघकाल के साहित्य पर दृष्टि डालते समय, उस काल की पूर्व प्रचलित प्रकृति-पूजा-प्रणाली का भी परिचय मिलता है।

तमिलों के विभिन्न देवी-देवता

'तोलकाप्पियम्' तत्कालीन तमिलों के प्रमुख देवताओं का परिचय देता है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में तमिल-प्रदेश के जलवायु और अवस्थाके अनुसार चार भू-भागों में विभाजित होने का उल्लेख है। प्रत्येक भाग को 'तिणै' कहते थे। इन चारों 'तिणै' के नाम थे[३]—कुरिंजि (पहाड़ी क्षेत्र), मुल्लै (वन-भूमि), मरुदम (उपजाऊ खेत), नेयदल (समुद्रवर्ती क्षेत्र)। प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येक प्रकार के लोग रहते थे जो वहां की प्रकृति और अवस्था के अनुसार अपनी सभ्यता विकसित करते थे इन भूखण्डों के लिए अलग-अलग देवता भी स्वीकार किए गए थे।[४] मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता 'मायोन' अर्थात् श्याम रंग वाले 'तिरुमाल' कुरिंज के देवता 'शेयोन्' अर्थात् गोरे रंग वाले 'मुरुगन' थे। गांव की निकटवर्ती खेती भूमि 'मरुदम' के अधिपति वर्षा भेजने वाले 'इन्द्र देव' थे। समुद्रवर्ती भाग के देवता 'वरुण' देव माने जाते थे। इन चारों भू—भाग के अतिरिक्त तोलकाप्पियम्' में एक पांचवीं भूमि का भी उल्लेख है।[५] यह 'पालै' (मरुभूमि) है और उसकी अधिष्ठात्री देवी कोट्रवै थी। तमिल विद्वान् श्री कल्याण सुन्दर मुदालियार का कहना है कि तमिल-प्रदेश के पांच भू-भागों में द्राविड़ लोगों की मौलिक कल्पना के अनुसार ही पांच देवताओं का अस्तित्व धीरे-धीरे साकार हुआ और इन देवताओं के साथ आर्य

---

१. *Tolkappiam-Porul, Ahatinai 5, Nachinarkinyanar's commentary and Kalitogai*, Palai Kali, 16

२. 'परिपाडल' ४, ११।५६

३. *Polkappiam—Peruladhikaram, Ahatinai* Sutra 5,

४. इस प्रकार के भू-विभाजन तथा प्रत्येक विभाग के प्रत्येक अधिदेवता मानने का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। —'कृष्ण यजु:संहिता', काण्ड पृ० ३, ४।

५. 'तोलकाप्पियम्', 'पौरुल', 'अहत्तिणै' ३०.

देवताओं का सम्बन्ध बहुत पीछे से जुड़ गया था। इस प्रकार तोलकाप्पियम् काल में पांच प्रमुख देवताओं का परिचय मिलता है। इन देवताओं के अलग-अलग मन्दिर होते थे। इसका भी उल्लेख मिलता है। तमिल जनता के बीच उपर्युक्त पांच देवताओं में मायोन (तिरुमाल), मुरुगन और कोट्रवै सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इन्द्र और वरुण को केवल गौण स्थान प्राप्त था, जिसका प्रमाण हमें संघ-साहित्य तथा बाद के शिलालेखों में मिलता है।[1] तोलकाप्पियम् में शिव का विशेष उल्लेख नहीं है।

'तोलकाप्पियम्' में वर्णित तमिल-प्रदेश के देवी-देवताओं की आराधना, स्वरूप इत्यादि को देखने से पता चलता है कि इन दोनों कालों के बीच में (लगभग ईसा से पूर्व तीन शताब्दी और ईसा के अनन्तर दो शताब्दी के काल में) द्रविड़ और आर्य संस्कृतियों का एकीकरण हुआ होगा। क्योंकि तोलकाप्पियम् के बाद की रचनाओं में, विशेष रूप से संघ-काल की रचनाओं में वैदिक देवी देवताओं की आराधना भी देखने को मिलती है।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृतिक आनन्द मात्र से युक्त यह स्वाभाविक भक्ति क्रमशः वैदिक उपासना पद्धति से सम्मिलित होकर एक भक्ति परिपाक के रूप में परिवर्द्धित हुई। तत्पश्चात् तमिलों के देवता-मण्डल में परिवर्तन हुआ और नये देवता भी उसमें लिये गए। दोनों संस्कृतियों के मिलन के सम्बन्ध में दक्षिण में प्रचलित इतिवृत्तों के अनुसार वैदिक संस्कृति का दक्षिणापथ में आगमन अगस्त्य मुनि के द्वारा हुआ। कहा जाता है कि ये अगस्त्य मुनि दुर्गम विन्ध्य पर्वत को लांघकर और गहन वनों को पार कर सुदूर दक्षिणापथ में आर्य संस्कृति का प्रचार करने अपनी मंडली के साथ आए। तमिल इतिवृत्त के अनुसार अगस्त्य ऋषि ने तमिल-प्रदेश में आने पर शिवजी से उपदेश पाकर तमिल भाषा का अध्ययन किया। वे 'पोदियमलै'[3] पर शिष्यों के साथ निवास करने लगे। उन्होंने तमिल में एक बृहद् व्याकरण भी लिखा था, ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह व्याकरण 'अगात्तियम' अब उपलब्ध नहीं है। उन्होंने तमिल की अभिवृद्धि के लिए तमिल संघों की स्थापना भी की थी। इनके बारह प्रधान शिष्यों में तिरणदूमाग्नि' नामक ऋषि भी थे। कुछ लोग 'तिरणदूमाग्नि' मुनि को और 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता तोलकाप्पियर को एक ही व्यक्ति मानते हैं। परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं। 'तोलकाप्पियर' के काल का अभी तक निर्णय न हो सका। कुछ भी हो, इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि तोलकाप्पियम् के बाद की संघकालीन कृतियों में वैदिक संस्कृति की झलक भी मिलती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दो संस्कृतियों का मिलन हुआ और दोनों की भक्ति परम्पराओं का भी सम्मिलन हुआ। यह एकीकरण (Fusion) ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी तक पूर्ण हो चुका था जिसका प्रमाण हमें संघोत्तरकालीन रचनाओं में मिलता है।

१. 'तमिल नूलकलिलवौद्धम्', पृष्ठ ११-१२
२. 'आलवारकल काल निलै', मु० राघव अय्यंगार पृ० २-३
३. 'शिलप्पधिकारम्', ३-१, १४

इस परवर्ती काल की रचनाओं में वैदिक देवताओं और उनके अतिरिक्त तमिल देवताओं और उनकी आराधना-प्रणाली का भी उल्लेख है। कुछ द्रविड़ देवता भी आर्य-देवता-मण्डल में लिए गए।

मुल्लै या वन-भूमि के लोगों के उपास्य देव 'मायोन' को सबसे अधिक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस देवता ने कालान्तर में अन्य भू-भागों पर भी अपना प्रभाव डाला। 'मायोन' शब्द का अर्थ है—'नील मेघ द्युति युक्त भगवान्' 'तिरुमाल' इनका दूसरा नाम था। ये 'आयर' कहलाने वाले ग्वाल लोगों के अधि-देवता थे। 'आयर' लोगों के देवता 'मायोन' बाल देवता थे। इस देवता का एकीकरण वैदिक विष्णु से कालान्तर में हो गया।[१] इस विषय की चर्चा यथा-स्थान विस्तार से की जाएगी।

संघकाल में आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों में सम्मिलित होने पर भी द्रविड़ (तमिल) देवताओं और आचरणों का भिन्नत्व स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है।

कुरिंजि या पर्वत-भूमि के लोगों के देवता 'शैयोन' अथवा 'मुरुगुन' थे। 'मुरु-गुन' को तमिल लोगों की विशिष्ट अद्भुत सौंदर्यमय कल्पना-सृष्टि मान सकते हैं। 'मुरुगन' शब्द सुगन्ध, दिव्य, तेज, बालकपन, सौंदर्ययुक्त देवता की ओर लक्ष्य करता है। ये लाल वर्ण से चमकने वाला शरीर जिसमें नित नूतन यौवन की सुषमा बसती है, और अनुपम शक्तियुक्त देवता माने जाते हैं। ये प्रेम के देवता भी माने गए हैं। अविवाहित कन्याएं योग्य वर को पाने के लिए इस देवता की पूजा करती थीं। भाला इनका आयुध है। इनके वीर स्वरूप के सूचक दण्डा-युधन, दण्डपाणि, वेलन, वेलायुधन, वेलवन आदि नाम भी तमिल-प्रदेश में प्रच-लित हैं। 'संघम्' साहित्य के 'पत्तुपाट्टु' नामक काव्य-संग्रह में सम्मिलित 'तिरु-मुरुगाट्रुपडै' नामक काव्य में मुरुगदेव की पूजा-प्रणाली, उनके छः रमणीय निवास-स्थान तथा अन्य महिमाओं का विस्तार से वर्णन है। 'परिपाडल' नामक दूसरे कविता-संग्रह में उपलब्ध पद्यों में आठ मुरुगन की स्तुति में प्रस्तुत किए गए हैं। पहले इनकी पूजा 'कुरवर' नामक पर्वतवासी लोगों के बीच में बड़ी धूम-धाम से हुआ करती थी। 'कुरवर' शिकारी लोग थे। 'मुरुगन' भी शिकारी माने गए हैं। पर्वतवासी अपने प्रिय देवता के सामने मधु, मांस, भात आदि चढ़ाकर भैंस-बकरे की बलि भी देते थे। इस पूजा का संयोजक पुजारी होता था जिसको पर्वतवासी अपना गुरु मानते थे। पूजा के समय पुजारी रक्त वर्ण 'कांदल' पुष्प कान में पहनकर डमरू हिलाकर गरजने वाले शब्दों में भयंकर ताण्डव नृत्य करता था। 'तोलकाप्पियम्' में इस तांडव नृत्य को 'कांदल' कहा गया है। नृत्य

---

१. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु भारत में आकर द्रविड़ों के एक आकाश देव से मिल गए, जिनका रंग द्रविड़ों के अनुसार नीला अथवा श्याम था। तमिल भाषा में आकाश को 'विन' भी कहते हैं जिसका 'विष्णु' शब्द से निकट का सम्बन्ध हो सकता है।

'दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, श्री रामधारीसिंह, 'दिनकर' पृ० ६० से उद्धृत

के बीच पुजारी आवेश में आकर मुरुगदेव का माध्यम बनकर भविष्यवाणी भी दिया करता था। पूजा के समय पहाड़ी नर-नारी भी प्रार्थना गीत गाकर 'कुरवै' नामक नृत्य करते थे। कहा जाता है कि मुरुगदेव भी भक्तों के बीच पर्वत की कन्याओं से हाथ मिलाकर स्वयं आनन्दपूर्वक नाच उठते थे और उनको अभीप्ट वरदान देते थे। लोगों का विश्वास था कि मुरुगन, द्राविड़ स्त्री देवता कोट्रवै के पुत्र थे और युद्ध के अधिदेवता थे। इस प्रकार प्रारम्भ में मुरुगन को केवल पर्वतवासी वन्य नृत्य और पशुबलि आदि से पूजते थे। परन्तु बाद में अन्य वैदिक देवताओं की तरह इनके लिए भी मन्दिर बने और ये वैदिक ढंग से मन्दिरों में आराध्य देव हो गए। इन्हीं को संस्कृत में स्कन्ध, कार्तिकेय, सुब्रह्मण्य आदि नामों से पुकारा जाता है। मूलतः ये द्राविड़ अथवा तमिल देवता थे।[१] इनसे सम्बन्धित तमिल जनता के बीच में प्रचलित कथाएं आर्य लोगों की कथाओं में मिल-जुल गईं। फिर भी आर्य-सुब्रह्मण्यम् या कार्तिकेय और तमिल के मुरुगन में थोड़ा बहुत अन्तर रह ही गया। सुब्रह्मण्यम् के सम्बन्ध में अन्तर यह है कि आर्यों के कार्तिकेय ब्रह्मचारी माने जाते हैं और तमिलों के मुरुगन विवाहित। इनके दो पत्नियां थीं, जिनके नाम हैं—वल्ली और देवयानी। कहा जाता है कि वल्ली शिकारी जाति की थी, जिस पर मुग्ध होकर मुरुगदेव ने उससे विवाह कर लिया। तमिल-प्रदेश में यह कथा बहुत प्रचलित है और इसका आध्यात्मिक अर्थ भी लिया जाता है। मुरुगदेव के मन्दिर अधिकांशतः पर्वतीय प्रदेशों में पाए जाते हैं, जो उनके पर्वतीय प्रदेश के देवता होने की ओर संकेत करते हैं।

मरुदम अर्थात् उपजाऊ भूमि के देवता का वर्णन इस प्रकार मिलता है— "वह मेघों का अधिपति है। उसका आयुध वज्र है। जब भूमि गर्मी से सन्तप्त होती है, तब वह मेघों को भेजकर पानी बरसाता है। वह कई अप्सराओं से घिरा रहता है। उसका प्रिय भोज्य पदार्थ पोंगल (एक प्रकार की भात से बनी खिचड़ी), है।" आजकल भी तमिल-प्रदेश में पोंगल त्योहार (मकर संक्रान्ति) के अवसर पर इस देवता की पूजा होती है। इस देवता का वाहन ऐरावती नामक गौर वर्ण का हाथी है। कहा जाता है कि पुराने समय में इन्द्र के लिए अलग-अलग मन्दिर भी विद्यमान थे। 'शिलप्पधिकारम्' में इन्द्र के वज्रायुध के लिए एक अलग मन्दिर होने का भी उल्लेख है।[२] इसी ग्रंथ में 'इन्द्रविला' (इन्द्रोत्सव) का भी वर्णन मिलता है जिसको तमिल जनता मेघों के स्वामी इन्द्र को अच्छी

१. "The paucity, however, of Morugan temples and worship in North India and even in Central India and the great veneration and revernece shown to this deity in the Tamil land makes it possible that after all Skanda was a Tamil Deity and Later on, perhaps in the centuries before Christ the Murugan Cult developed all over India and mystic Legend of Skanda's being sen of Lord Siva himself was skillfully woven by the Sanskrit Writers and given an air of plausibility."

Aryan Path by V. R. R. Dikshitar Vol. 23 pp. 72-80.

२. 'शिलप्पधिकारम्'—कादै ६,१२

फसल मिल जाने के कारण (धन्यवाद रूप में) प्रसन्न करने के लिए मनाती थी। इस ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि यह त्यौहार २८ दिन तक चलता था और पूर्णिमा के दिन इन्द्र की प्रतिमा के अभिषेक के बाद उसका विसर्जन होता था।

नेयदल अथवा समुद्रवर्ती प्रदेश के देवता 'वरुण' थे। मछुए लोग बड़ी धूम-धाम से इस देवता की पूजा करते थे। तिमिंगिल मछली का दांत इस देवता का आयुध था। कहा जाता है कि एक पंडिय राजा ने समुद्र के अधिदेवता वरुण के लिए उत्सव की प्रथा भी चलाई,[1] तंजाऊर में इन्द्र और वरुण के लिए भी मन्दिर थे, इसका पता शिलालेखों से चलता है।[2] तमिलों के ये इन्द्र और वरुण आर्य देवताओं से भिन्न थे या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। हो सकता है कि द्रविड़ों के उपर्युक्त दोनों देवता आर्यों के इन्द्र और वरुण से मिल गए हों। इन दोनों देवताओं का स्थान अन्य देवताओं की अपेक्षा गौण है। जिस प्रकार मुरुगन के मन्दिर आज भी पर्वतीय प्रदेशों में विद्यमान हैं, उसी प्रकार इन्द्र और वरुण के मंदिर आज उपजाऊ और समुद्रवर्ती प्रान्तों में विद्यमान नहीं हैं।

पालै अथवा मरुभूमि की अधिष्ठात्री देवी कोट्रवै थी। यह युद्ध में विजय प्रदान करने वाली मानी गई है। अतः युद्ध में विजय पाने पर इस देवी को धन्यवाद देने के लिए उसकी पूजा करते थे।[3] इस देवी के उपासक 'मरवर' या 'कल्लर' लोग थे जो आखेट आदि क्रूर कृत्यों से अपनी जीविका चलाते थे और इस देवता को प्रसन्न करने के लिए पशुओं तथा मनुष्यों की भी बलि चढ़ाते थे। मदिरा, मांस इस देवता के प्रिय भोज्य थे। वास्तव में पालै प्रदेश के लोग जैसे भयंकर और क्रूर स्वभाव के थे, उनके देवता भी वैसे ही क्रूर और भयंकर थे। 'शिलप्पधिकारम्' में उसको तीन आंखों वाली कहा गया है। उसके पैरों पर पायल होती थी और महिषासुर के सिर पर रखे बताए जाते हैं। 'मणिमेखलै' में उल्लेख मिलता है कि इस देवी के पुजारी 'भैरव' कहलाते थे जो तांत्रिक मंत्रों का उच्चारण कर उसकी पूजा करते थे। वह चिर-यौवना बताई गई है। उसके अनेक मन्दिर निर्मित थे। कन्याकुमारी के मन्दिर में जिस देवी की मूर्ति है, इस देवी की बताई जाती है। इसका उल्लेख विदेशी यात्री पिलिनि ने किया और 'पेरिफ्लस' में भी उल्लेख है।[4] कहा जाता है कि एक बार मदुरा में इस देवी के मन्दिर के फाटक अपने आप बन्द हो गए। पांड्य राजा ने इसे देवी का प्रकोप समझकर, उसको प्रसन्न करने के लिए दो ग्रामों की आय का महसूल इस देवी की पूजा के लिए शाश्वत रूप में निश्चित कर दिया।[5] कोट्रवै अथवा कालिका द्रविड़

---

१. 'पुरम्', ९, १०

२. *South Indian Inscrihtions*,Vol. I. PP. 414.

३. तोलकाप्पियम्—पोरुल, सूत्र, ५९

४. *Cultural Heritage of India*, Vol. IV (First Edition) *Skanda Cult in South India*. V. R. R, Dikshitar, PP. 252-257.

५. 'शिलप्पधिकारम् २३, ११३-१२५.

लोगों की कल्पना-प्रसूत मानी जाती है, यद्यपि बाद में आर्यों की दुर्गा, पार्वती आदि देवियों के अंश भी उसमें आ गए।

शिव भी पहाड़ी प्रदेश के देवता माने गए हैं। महेन्द्रगिरि (पश्चिम घाट का एक पर्वत) पर इनका निवास-स्थान था। ये मनुष्यों के जीवन और मरण के स्वामी माने जाते थे। ये सत्य के साक्षात् स्वरूप थे।[1] जो सत्य मार्ग से दूर जाते, ये उनको दण्ड देने के लिए उनका सत्यानाश कर देते थे। 'शिव' द्रविड़ लोगों के सबसे प्राचीन देवता माने जाते हैं। इनको पहाड़ी प्रदेश के अधिदेवता 'शेयोन' या 'मुरुगन' का पिता माना गया है। तमिल पुराणों में लिखा है कि तमिल भाषा का निर्माण शिवजी ने किया था और बाद में उसके व्यापक प्रचार के लिए अगस्त्य मुनि को तमिल भाषा का ज्ञान दिया था। प्राचीन तमिल-संघों के स्थापक शिव और 'मुरुगन' को माना जाता है। कहा जाता है कि संघ-साहित्य के सर्जन में उन्होंने सक्रिय योग दिया था। इस काल के कुछ ऐसे गीत मिलते हैं जो 'इरैयनार पाट्टु अथवा, 'शिव' द्वारा रचित गीत कहलाते हैं। संघ-साहित्य से पता चलता है कि उस समय शिव से सम्बन्धित बहुत-सी कथाएं लोक में प्रचलित थीं, जिनमें त्रिपुर-दाह, कैलाश पर्वत को उठाने वाले रावण का गर्व-भंग, अमृत-मंथन के समय हलाहल पान आदि कथाएं बहुत प्रचलित थीं। परन्तु संघ-साहित्य में शिव की पूजा का अधिक विवरण न मिलने से अनुमान किया जा सकता है कि उस समय शिव-पूजा कम होती थी।[2] बाद में तो नायनमारों ने शिव को अपना आराध्य देव मानकर उच्च कोटि के भक्ति-साहित्य का निर्माण कर दिया।

शिव की कल्पना और उनका प्रतीक रूप लिंग-पूजा द्राविड़ लोक-मानस की अपनी भाव-सृष्टियां हैं। मोहनजोदड़ो में प्राप्त शिव-लिंगों से इस कथन की पुष्टि होती है। लिंग-पूजा आर्यों के आगमन के पूर्व ही प्रचलित थी। ऋग्वेद में लिंग-पूजा का खण्डन है, जो आर्यों के आने के पूर्व द्राविड़ों के बीच लिंग-पूजा के बहुत प्रचलित होने की ओर संकेत करता है।[3] जब आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ, तब वेदों के 'रुद्र' और द्राविड़ों के 'शिव' में एकता मानी जाने लगी। चूंकि 'शिव' द्राविड़ों के प्रमुख देवता थे, इसलिए उनकी अवहेलना के लिए उनकी पुराणों में अनेक कथाएं गढ़ी गईं।[4] किन्तु तमिल 'शिव' और वैदिक 'रुद्र' में कुछ अन्तर भी रह गया। अन्तर यह है कि जहां वैदिक 'रुद्र' बिजली और वर्षा के साथ आंधी और तूफानों के अधिपति थे, वहां तमिल 'शिव' संहार के देवता होने पर भी मंगदलायी समझे जाते थे। तमिल 'शिव' प्रेम और कल्याण के देवता माने जाते थे। हो सकता है कि वैदिक रुद्र में द्रविड़ शिव के भी गुण पहले से ही विद्यमान हों।[5]

---

१. परिपाडल, ५,३३

२. *Tamilar Salbhu*, Dr. Vidhyanandan, pp. 127

३. *The Dravidian Element in Indian culture*, (Dr. Gilbert Seater) Transla t-ion in Tamil, pp. 99

४. 'संस्कृति के चार अध्याय', श्री 'दिनकर', पृष्ठ ५५

५: *Linguistic Survey of India*, Vol. iv. pp. 279.

संघकाल की कृति 'परिपाडल'[1] में १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र और २ अश्विनी आदि वैदिक देवता-मंडल के देवताओं का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इन देवताओं की पूजा या वन्दना किस-किस प्रकार की होती थी, इसका पता नहीं चलता। ब्रह्मा की पूजा, शिव-विष्णु की आराधना की तरह अधिक प्रचार को पा नहीं सकी। दक्षिण में केवल एक मन्दिर तथा उत्तर भारत में पुष्कर तीर्थ में एक आज भी विद्यमान है। कामदेव को पूजने की प्रथा अविवाहित कन्याओं के बीच विद्यमान थी। इसका ध्वज मकर माना गया है। 'शिलप्पधिकारम्' में उसे वसन्त ऋतु का देव कहा गया है। तत्कालीन समाज में इसके लिए उत्सव भी मनाए गए थे जिसको 'विलविला' कहते थे। ये नव दम्पतियों से पूजे जाते थे। कामदेव का कोई मन्दिर तमिलनाडु में अब विद्यमान नहीं है।

संघोत्तर काल की रचनाओं से पता चलता है कि बलदेव के लिए भी मन्दिर थे। मदुरै ज़िले के कुछ मन्दिरों में विष्णु सहित बलराम के विग्रह मिलते हैं। 'शिलप्पधिकारम्', 'मणिमेखलै' तथा 'पुरुनानूरु' में बलदेव का उल्लेख है।[2] 'शिलप्पधिकारम्' के अनुसार चोल राजाओं की प्रधान नगरी कावेरी पूपंट्टिनम् में षण्मुख वाले अरुण वर्ण 'शेयोन' (मुरुगन) श्वेत शंख-सा रंग वाले 'बलदेव' नीलमणि जैसे प्रकार युक्त 'तिरुमाल', 'मुक्तमाला' तथा विजयी छत्र सहित इन्द्र देव इन सभी के लिए अलग-अलग मन्दिर थे।

वैदिक देवताओं की तरह अनेक छोटे-मोटे प्राकृतिक तत्त्व भी देव-भावना से पूज्य संघ-साहित्य में मिलते हैं। भूत-प्रेत, वायु, सूर्य, चन्द्र, नगर, वृक्ष, नदी, पहाड़ आदि के स्थानीय देवताओं (local Gods) के लिए स्थान-स्थान पर पूजा होती थी। अल्प बुद्धि ग्रामीण जनता जिसके लिए सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की कल्पना कठिन थी, छोटे-मोटे अनेक ग्राम देवताओं में भय के कारण विश्वास रखती थी।[3] मारियम्मा (शीतला) देवी की पूजा होती थी। ऐसी पत्नियों के जो अपने पातिव्रत के लिए प्रसिद्ध हुई थीं, तथा ऐसे पुरुषों के जिन्होंने अपार वीरता का प्रदर्शन कर प्राण-त्याग भी कर दिया था सम्मान के लिए शिलाओं (नडुकल)[4] की स्थापना होती थी और उन शिलाओं में मृतकों के स्मारक चित्र तथा लेख भी अंकित कर पूजन पद्धति चलती थी। 'शिलप्पधिकारम्' नामक संघोत्तर कालीन महाकाव्य की नायिका 'कण्णकि' ऐसी पत्नी थी जिसने अपने आदर्श पातिव्रत द्वारा पतिहत्या का बदला लिया था। कहा जाता है कि चैंगुट्टवन नामक चेर राजा 'कण्णकी' के स्मारक बनाने के लिए हिमालय से

---

१. 'परिपाडल' ३, ६-८ तथा ७, ४-८

२. *Annamalia University Journal*, Vol. 8, pp. 213-211 '*Palan Thamilar Kadavul Vali Padu*, Prof. E. S. Vardarjnar.

३. *Village gods of South India*, R.R. Henry Whitehead

४. *An Essay on the Origin of Temples in south India*, Dr. Venkitaramaya pp. 4-5

शिला लेकर आया था और उसने उस शिला में पत्नी देवी के रूप में मूर्ति बनवा कर उसे एक मन्दिर में स्थापित किया था।

इस प्रारम्भिक काल की एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि विभिन्न देवताओं के लिए तमिल प्रदेश में मन्दिर निर्मित होते थे जहां उन देवताओं की पूजादि होती थी।[1] तमिल प्रदेश में वर्तमान अनगिनत मन्दिरों को देखने से स्पष्ट होता है कि मन्दिर-निर्माण बहुत पुराने काल में ही प्रारम्भ हो चुका था और मन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ धार्मिक वातावरण का भी सूत्रपात हो चुका था।[2] मन्दिरों का निर्माण और उनकी रक्षा करना राजाओं के कर्तव्यों में से समझा जाता था।[3] ठीक ही तमिल प्रदेश को मन्दिरों का प्रदेश कहा गया है।

ऊपर हमने प्राचीन काल की तमिल प्रदेश की धार्मिक स्थिति का परिचय दिया है। उपर्युक्त विवेचन से पता चलेगा कि आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के सम्मिलन के पूर्णतः घटित होने पर भी तमिल-प्रदेश की धार्मिक भावना या भक्ति-भावना वैविध्य को लेकर है। द्रविड़ देवताओं और आचरणों का भिन्नत्व सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। प्रारम्भ में विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न पूजा परिपाटियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु इन आचरणों के व्यवहार-पक्ष के साथ-साथ, तत्कालीन साहित्य में उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन का पक्ष भी स्पष्ट दीख पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि तमिलों के प्राकृतिक धर्म सम्बन्धित आचरण उनके उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन से भिन्नता लिए हुए हैं। आस्थामय विश्वास सम्बन्धी व्यावहारिक आचरण और उस धर्म के ऊंचे स्तर के विचार—दोनों के बीच बड़ी गहरी खाई पड़ गई मालूम पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि संघकालीन कवियों ने जीवन की शाश्वत मान्यताओं तथा शिष्टाचार के ऊंचे आदर्शों पर भी स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। संघकाल की कुछ रचनाओं में कवियों ने उच्च कोटि के भक्ति-भाव भी व्यक्त किए हैं। एक सर्वशक्तिमान् भगवान् की कल्पना कर उससे भक्तिपूर्ण सम्बन्ध रखने की बात यत्र-तत्र संघ-साहित्य में देखने को मिलती है।

तमिलप्रदेश में तिरुमालधर्म (वैष्णवधर्म) की प्राचीनता

यह पहले कहा जा चुका है कि 'संघम्' पूर्वकाल की उपलब्ध रचना 'तोलकाप्पियम्' में तमिलप्रदेश के पांच भू-भागों और उनके अधिदेवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन पांच देवताओं (मायोन, शेयोन, इन्द्र, वरुण, कोट्रवै) में

---

१. तमिल प्रदेश के प्राचीन मन्दिरों और उनमें स्थित देव-मूर्तियों का विस्तृत परिचय प्राप्त करने के लिए द्रष्टव्य है
"Some aspects of religion as revealed by early monuments and literature of the south"
—Sri K. R, Srinivasan, *published by the University of* Madras, 1960

२. *Origin of south Indian Temples*, Dr. Vankitaramaya.

३. तोलकाप्पियम्—अहत्तिणै सूत्र ३०, इलंपूरनार की टीका

मायोन या तिरुमाल का स्थान सबसे ऊंचा था। 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता ने भी विभिन्न भू-भागों तथा उनके अधिदेवताओं का उल्लेख करते समय सबसे पहले मुल्लैप्रदेश (वनभूमि) के देवता तिरुमाल का ही नाम लिया है।[१] बाद के प्रसिद्ध कवि सेक्किलार ने भी अपने ग्रन्थ 'पेरियपुराण' के विभिन्न देवताओं में 'तिरुमाल' के महत्त्वपूर्ण स्थान का समर्थन करते हुए उनका वनभूमि के देवता के रूप में उल्लेख किया है।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि वनभूमि (मुल्लैप्रदेश में जन्म लेकर तिरुमाल-धर्म धीरे-धीरे अन्य भू-भागों में भी फैलने लगा। मुल्लै अथवा वन-भूमि में गोचारण के व्यवसाय में संलग्न 'आयर' कहलाने वाले ग्वाले लोग रहते थे। उनके इष्ट देवता मायोन (बाद के साहित्य में कण्णन) का पालन-पोषण भी, कथाओं के अनुसार आयर कुल में ही हुआ था। 'मायोन' शब्द का अर्थ है—श्याम रंग वाला। कदाचित् इस रंग का सम्बन्ध 'आयर लोगों' की निवास-भूमि मुल्लै के वन-प्रदेशों में आकाशवीथि में एकत्रित होने वाले मेघों से हो सकता है जिसके रंग में 'आयर' लोग रमे होंगे और अपने इष्ट देवता के वर्ण की कल्पना इस प्रकार की होगी—

'तिरुमाल' शब्द भी 'मायोन' के लिए प्रयुक्त होता है, जो देवताओं के विशिष्ट स्थान को सूचित करने के लिए व्यवहृत होने लगा था। तोलकाप्पियम् 'तिरुमाल' का मानवजाति के रक्षक के रूप में उल्लेख करता है।[३] 'तोलकाप्पियम्' जैसा कि पहले कहा गया है कि एक लक्षण-ग्रन्थ है। उसके रचयिता ने 'पुवै निलै' नामक कविता का लक्षण देते समय श्रेष्ठ राजा की तुलना तिरुमाल से कर 'तिरुमाल' की स्तुति बहुत ही प्रशंसात्मक शब्दों में की है। यहां यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि तोलकाप्पियनार ने ऐसे शब्दों का प्रयोग 'तिरुमाल' के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के लिए नहीं किया है। इससे तिरुमाल के महत्त्व का पता चलता है।

मुल्लैप्रदेश के वासी अपने देवता तिरुमाल की उपासना में, विशेष रूप से उसके प्रारम्भिक जीवन की बाल-लीलाओं में बहुत रम जाते थे। आयर कुल की नारियां उस दिव्य-पुरुष की रम्य लीलाओं के स्मरण में अपने हृदय को खो देती थीं, जिसका बालकपन भी उन्हीं की वनभूमि में घटा था। इस देवता के बालकपन से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएं तमिल-जनता की कल्पना के अनुसार जन्म लेने लगीं। 'मायोन' के प्रति उन आयर रमणियों के प्रेम को लक्ष्य करके ही शायद तोलकाप्पियनार ने लिखा है कि इन रमणियों के हृदय में वैसा ही गहरा प्रेम अपने इष्ट देवता के प्रति था, जैसा उनको अपने पतियों के प्रति होता था।[४] पता चलता है कि तोलकाप्पियम् काल (ईसा-पूर्व पांचवीं शताब्दी का काल) से ही 'तिरुमाल' या 'मायोन' की प्रेम-कथाएं जन-मानस को पर्याप्त मात्रा में आकर्षित

---

१. 'तोलकाप्पियम्-अहम', सूत्र ५ और ३०

२. *Periya Puranam—Thirukurri putandar Puranam*, stanza 18.

३. तोलकाप्पियम्—पोरुल,' सूत्र,' ६०

४. वही, ८३, ८४

आकर्षित कर चुकी थीं और संघकाल में 'तिरुमाल' सम्बन्धी इन कथाओं का खूब प्रचार हुआ।

संघ-साहित्य के प्रति आलवारों का ऋण

इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं कि वैष्णव-भक्त-आलवारों का काल तमिल-साहित्य के संघकाल के पश्चात् ही निश्चित रूप से पड़ता है, क्योंकि आलवारों की रचनाओं में संघकाल की साहित्यिक परम्पराओं तथा विचार-धाराओं तक का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। आलवारों की रचनाओं की साहित्यिक पृष्ठ-भूमि संघ-साहित्य में देखने को मिल जाती है। कुछ आलवारों ने तो संघ-साहित्य के प्रति अपने आभार को प्रकट भी किया है। यह स्वाभाविक ही है। क्योंकि किसी कवि के काव्य का सम्बन्ध उसके पूर्ववर्ती और समसामयिक युग से बहुत होता है। प्रत्येक कवि अपने युग के प्रभावों से किसी अंश में प्रभावित होता है और फिर अपनी कृति से अपने युग तथा अपने परवर्ती युग को प्रभावित करता है। इसलिए उस कवि के अध्ययन के लिए उसके पूर्व और समकालीन युग का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में ही उस कवि के काव्य की आलोचना बड़ी सावधानी तथा सहानुभूति से होनी चाहिए।

आलवारों की रचनाओं की साहित्यिक पृष्ठभूमि में संघ-साहित्य है। संघ-काल तमिल-साहित्य का स्वर्णयुग है, क्योंकि इस काल में रचे गए तमिल-काव्यों का साहित्यिक महत्त्व सर्वश्रेष्ठ है। इस काल की रचनाओं में तत्कालीन तमिल जनता के जीवन-दर्शन और आचार के सम्बन्ध में बहुत-से विवरण भरे पड़े हैं। यह कहा जा चुका है कि इस काल के प्रारम्भ में ही उत्तर से वैदिक संस्कृति का आगमन तमिलप्रदेश में हुआ और तमिल-संस्कृति से उसका सम्मिश्रण हुआ। इस काल की रचनाओं में दोनों संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। धार्मिक भावना के क्षेत्र में एक ओर तमिलसंस्कृति से और दूसरी ओर वैदिकसंस्कृति के भाव-प्रसूत विचार हैं। इस काल की रचनाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह देखने को मिलती है कि जनता में धार्मिक भावना का उदय पहले से ही हो चुका था। साथ ही उनमें धार्मिक सहिष्णुता भी दीख पड़ती है और धार्मिक संघर्ष का नाम तक नहीं है। परन्तु बाद में यह बात नहीं रह गई थी।

इस संघकाल की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस काल में तिरुमाल-धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म बहुत प्रचार को पा रहा था और तिरुमाल सम्बन्धी (वैदिक-परम्परा-प्रसूत तथा तमिल मानस में उत्पन्न) कथाएं बहुत प्रच-लित थीं। स्मरण रहे कि तमिल भूमि में 'मायोन' या तिरुमाल की कल्पना (पहले-से) पृथक् रूप से जाग उठी थी। संघकाल के साहित्य से ज्ञात होता है कि वैष्णव-धर्म विशेषकर भागवत मत एवं अवतारवाद की प्रतिष्ठा, तथा विष्णु-नारायण-वासुदेव-कृष्ण और 'तिरुमाल' या 'मायोन' का एकीकरण पूर्ण और पुष्ट हो रहा था। आलवारों ने इस युग के साहित्य से बहुत कुछ लिया। अतः आलवार-पूर्व

इस साहित्य में वर्णित वैष्णव-भक्ति के रूप पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

संघ-साहित्य में वैष्णव-भक्ति

संघकाल की रचनाएं तीन संग्रहों में मिलती हैं :

१. एट्टुतोकै (आठ कविता-संग्रह),

२. पत्तुपाट्टु (दस वर्णन-काव्यों का संग्रह), और

३. पदिनेण कील कणक्कु (अठारह लघु कविता संग्रह)[१]

नटिट्णै

"एट्टुतोकै कृतियों में नटिट्णै सबसे प्राचीन मानी गई है। इसमें तिरुमाल (विष्णु) का वर्णन मिलता है। इसमें तिरुमाल की महत्ता और उनके रंग की तुलना पर्वत से की गई है। इसमें 'भारतम्' के रचयिता पेरुन्देवनार की एक कविता ऐंगुरुनूर आदि कविता-संग्रहों में भी मंगलाचरण लिखे हैं। पेरुन्देवनार ने शैव-वैष्णव-भेद से दूर रहकर धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। अन्य कविता-संग्रहों में जहां उन्होंने शिव और मुरुगन की स्तुति की है, वहां उन्होंने 'नट्टिणै' में तिरुमाल की स्तुति की है।

इस कविता में कवि ने 'तिरुमाल' के विश्वरूप के दर्शन कराए हैं। इनका विश्वरूप वर्णन सात पंक्तियों में है। कवि ने समस्त विश्व को तिरुमालमय (विष्णुमय) देखा है। इस विश्व-तल को तिरुमाल के चरणों के रूप में समुद्र को तिरुमाल के वस्त्र के रूप में, दिशाओं को करों के रूप में, सूर्य-चन्द्र को तिरुमाल के दो नयनों के रूप में कवि ने देखा है। इस प्रकार समस्त विश्व में तिरुमाल की आभा को कवि ने व्याप्त पाया है। कवि के लिए विश्व ही तिरुमाल है, तिरुमाल ही विश्व है। 'नटिट्णै' की यह मंगलाचरण कविता उस काव्य-मन्दिर के द्वार के रूप में दीख पड़ती है।

'नट्टिणै' में मंगलाचरण के अतिरिक्त एक सौ पचहत्तर कवियों की चार-सौ कविताएं संगृहीत हैं। इन विभिन्न कवियों के नाम ज्ञात नहीं हैं। इन कविताओं की रचनाओं में आठ स्त्रियां भी थीं। कपिलर तथा उल्लोचनार नामक दो कवियों की कविताएं इस संग्रह में सर्वाधिक संख्या में हैं। इसकी एक कविता में किसी एक कवि ने प्रकृति के सौंदर्य में ही तिरुमाल के दर्शन किए हैं। काले रंगीन पर्वत को और उससे कलकल-निनाद करके बहने वाली निर्मल निर्झरिणी को देखकर कवि को तिरुमाल (और उसके भाई बलराम) का स्मरण हो आता है। संघकालीन कवियों ने प्रकृति में ही तिरुमाल को देखा है। काया-पुष्प (पुष्प विशेष) में, नील गगन में, नील लहर वाले समुद्र में, कौए के रंग में सर्वत्र कवि

---

१. 'एट्टतुतोकै' और 'पतुपाट्टु' में सम्मिलित काव्यों के नाम पहले दिए गए हैं। 'पदिनेण कील 'कणवकु' संग्रह में सम्मिलित काव्य इस प्रकार हैं : 'तिलक्कुरल', 'तिरिक्टुकम्', 'नान्मणिकटिकं', 'शिरुपंचमूलम', 'नालडियार', 'कारनार्पदु', 'कलवलि', 'नापंटु', 'इनियवे', 'नार्पदु', 'इन्ना नार्पदु', 'ऐंतिणै, पलमौली', 'मुदुमौली', 'कांची', आदि अठारह लघु काव्य।

को विष्णु की व्याप्ति का परिचय मिलता है। कवि ने समस्त विश्व को विष्णु-मय देखा है।[1] नटिट्रणै के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन जनता तिरुमाल (विष्णु) की महत्ता, महिमा और तिरुमाल से सम्बन्धित कथाओं से पूर्णतः परिचित थी।

पदिट्टुपत्तु

पदिट्टुपत्तु के रचयिता काप्पियट्रु काप्पियनार ने अपने आश्रयदाता नार-मुडिचेरल नामक चेर राजा को विष्णु-भक्त कहा है। इसमें कहा गया है कि उक्त चेर राजा ने उस तिरुमाल (विष्णु) की उपासना में अपनी प्रजा को लगाया था, जिस तिरुमाल ने वाराह अवतार लेकर समस्त पृथ्वी की रक्षा भी की। इसमें उल्लेख है कि तिरुमाल-भक्त, शीतल जल में स्नान कर, निराहार व्रत रखकर तिरुमाल के मन्दिर में प्रवेश करते थे और तिरुमाल की महिमा गाकर, तुलसी मालाधारी तिरुमाल के चरण कमलों पर पुष्पांजलि अर्पित कर आनन्द से नृत्य करते थे। विद्वानों का अभिप्राय है कि इसमें जिस मन्दिर का उल्लेख है वह तिरु-वनन्तपुरम् (श्यानन्दूरपुरी) में स्थित शेषशायी विष्णु का है।[2]

कपिलर नामक प्रसिद्ध कवि ने लिखा है कि चेल्वकङ्गो नामक राजा ने तिरुमाल के प्रति अपनी अपार भक्ति के उपलक्ष्य में उनकी पूजा की व्यवस्था के लिए ओहन्दूर नामक गांव का राजस्व शाश्वत रूप में दे रखा था। इससे ज्ञात होता है कि तमिलप्रदेश के चेर-राज्य में तिरुमाल-उपासना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी।

नक्कीर नामक कवि ने 'पुरनारु' की एक कविता में बलराम का वर्णन करते हुए लिखा है कि समुद्र में उत्पन्न धवल रंगीन शंख के समान उनकी देह की कांति है और उनके ध्वज पर ताड़ वृक्ष का चिह्न अंकित है।[3] आगे कवि ने बलराम के अनुज कण्णन को, जिनका तन नीलमणि की आभा से युक्त है और जिनका गरुड़ध्वज महान् विजय का द्योतक है, समस्त विश्व की सारी शक्ति और ख्याति का निधान कहा है।[4]

मारोक्कत्तु नप्पसलैयार नामक कवि ने कण्णन (कृष्ण) की एक ऐसी कथा का उल्लेख किया है जो अन्य ग्रंथों में नहीं मिलती। सुर और असुरों के बीच जब युद्ध हुआ तो दिन को भी अंधकारयुक्त बनाने के लिए असुरों ने सूर्य को छिपा दिया। सूर्य का प्रकाश न पाकर सारी पृथ्वी अन्धकार से आच्छादित हो गई और मनुष्य भयभीत हो गए। उस समय नील वर्ण देहधारी कण्णन ('विष्णु' का तमिल नाम) ने मनुष्यों के दुःख निवारणार्थ सूर्य को लाकर आकाश में खड़ा कर दिया। इससे ज्ञात होता है कि इस कवि के समय में यह कथा प्रचलित हुई

---

१. 'तमिलुम वैणवमुमम, एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ६
२. वही, पृ० ८
३. 'पुरम्', ५५-३-४
४. वही, ५७-१-३

थी।[1] प्रलयकाल में जल-प्लावन के समय विष्णु के वट-पत्र पर शयन करने की कथा भी वर्णित है।[2]

परिपाडल

संघकालीन कृतियों में 'परिपाडल' एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका महत्त्व तमिल प्रदेश की वैष्णव भक्ति-परम्परा में अत्यधिक है। इस ग्रंथ ने परवर्ती बहुत से तमिल वैष्णव भक्त-कवियों को विशेषतया आलवार भक्तों को प्रभावित किया है। अतः इस एक कृति का विस्तृत अध्ययन यहां अपेक्षित है।

परिपाडल के रचना-काल के विषय में अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह ईसा की दूसरी शताब्दी की कृति है।[3] प्रसिद्ध तमिल विद्वान् मरैमलै अडिकल ने अनेक प्रमाण देकर यह स्पष्ट किया है कि 'परिपाडल' निश्चित रूप से ईसा की तीसरी शताब्दी से पहले की है।[4] परिपाडल के रचनाकाल में तिरुमालिरींचोलै मलै में तिरुमाल (विष्णु) की उपासना कृष्ण और बलदेव के युगल रूप में होती थी और वे शब्द और अर्थ के समान अभिन्न माने जाते थे।[5] ऐसा जान पड़ता है कि संघ और पूर्व-संघकाल में बलदेव की उपासना होती थी और उनके लिए मन्दिर भी निर्मित थे। परन्तु परवर्ती काल में 'तिरुमालिरींचोलै मलै' के मन्दिर के इतिहास में बलदेव की उपासना का उल्लेख नहीं मिलता।[6] तिरुमालिरींचोलै-मलै की कीर्ति का संकेत करने वाले आलवार भक्तों के गीतों में भी बलदेव का उल्लेख नहीं मिलता। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि परिपाडल आलवारों के पूर्व की रचना है और उसका रचना-काल ईसा की दूसरी शताब्दी है।

'परिपाडल' में संकलित कुछ कविताएं विष्णु की स्तुति में रची गई हैं। 'पाडल' शब्द से तात्पर्य 'गीत' है। कदाचित् इस संग्रह में संगृहीत कविताएं उस समय गीत-रूप में गाई जाती थीं। परिपाडल कविता-संग्रह में संगृहीत ७० कविताओं में से तिरुमाल (विष्णु) से सम्बन्धित ८ कही गई हैं, जिनमें केवल ७ ही अब उपलब्ध हैं। परिपाडल में अब उपलब्ध विष्णु सम्बन्धी लम्बे स्तुति-गीतों के रचयिता चार कवियों के नाम इस प्रकार हैं :

१. इलमपेवरुलुदियार
२. कडुवन इलवेयिनार

---

१. वही, १७४-१-५

२. वही, १९१-१

३. श्री के० एस० श्रीनिवास पिल्लै, डा० एस० कृष्ण स्वामी अय्यंगार, डा० एम० वरदराजनार डा० राजमाणिक्कनार आदि विद्वानों ने 'पत्तुपाट्टु' और 'एट्टुतोकै' संघ कृतियों का काल ईसा की दूसरी शताब्दी माना है।

४. माणिक्कवाचकर कालमुम वरलारुम—खण्ड १ मरैमलै अडिकल, पृ० २२९

५. परिपाडल, १५ : ११-१४

६. स्थल पुराण, तिरुमालिरींचोलै मलै पृ० ८३

३. कीरान्तैयार, और

४. नेल्ललुनियार।

उपर्युक्त कवियों ने विष्णु के विभिन्न अवतारों की ओर संकेत किया है। कडुवन इलवेयिनार विष्णु के ५ अवतारों का उल्लेख करते हैं।

१. वराह[1] २. वामन[2] ३. कृष्ण[3] (कण्णन) ४. नृसिंह[4] और ५. बलदेव[5]।

ब्रह्मा की उत्पत्ति तिरुमाल की नाभि-कमल से मानी गई है।[6] कहा गया है कि आग में गर्मी, कुसुम में सुगन्ध, मणि-रत्न में ज्योति, सूर्य में प्रकाश और चांदनी में शीतलता की तरह वे (तिरुमाल) इन सब के सार स्वरूप हैं। प्रकृति के कण-कण में इस प्रकार परब्रह्म का आरोप बहुत ही आकर्षक है।[7] इन कवियों ने विष्णु के विविध अवतारों का उल्लेख कर उनके विविध रूपों का वर्णन विस्तार से किया है, जिसका संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाता है :

"सहस्र फणी शेषनाग विष्णु के सिर की रक्षा करता है। उनके सिर का किरीट सूर्य प्रकाश से ज्योतिर्मय नील रंगीन पर्वत के समान है। उनके शरीर का वर्ण नील रंगीन समुद्र या नील कमल या श्याम वर्ण के मेघ का-सा है।"

सभी कवियों ने विष्णु के नेत्रों को 'कमल, दल-लोचन ही कहा है। नेल्ल-लुनियार ने विष्णु के चरण, हाथ, मुंह और नेत्र सबकी तुलना कमल-दल से की है।[8] सभी कवियों ने लिखा है कि विष्णु की छाती पर 'तिरुमकल' (लक्ष्मी) शोभायमान हैं।[9] विष्णु के चरणारविन्दों की स्तुति तो सभी कवियों ने की है। कहा गया है कि त्रिकाल (भूत, वर्तमान और भविष्य) की उत्पत्ति उनके चरणों से ही है।[10] उनके चरणों की वन्दना करने वाले सदैव सच्चे मार्ग पर ही चलेंगे।[11]

---

१. परिपाडल, ४ : २२-२४

२. वही, ४ : १०-२१

३. वही, ३ : ३-२०

४. वही, ३ : ३१ व ३ : ८३

५. वही, ४ : ३८-४०

६. वही, ३ : ११-१३

७. *Treatment of nature in Saugam Litrateure*— Dr. M. Varadarajnar, pp. 410

८. 'परिपाडल', १३। ५०-५१

९. साधारणतया विष्णु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उनके चरणारविन्दों की वन्दना की जाती है। पर 'परिपाडल' में विष्णु की छाती की वन्दना भी है। इसका कारण यह बताया गया है कि 'तिरुमकल' (लक्ष्मी) की कृपा (जो विष्णु की छाती पर शोभायमान हैं) प्राप्त करने पर ही 'तिरुमल' की कृपा प्राप्त हो सकती है। उस समय के वैष्णवों की यही धारणा थी। कद्दुरैकोबे पृ० ३५

१०. 'परिपाडल' १३ : ४६-४७

११. वही, १३ : ४८

विष्णु के गले में तुलसी-माला शोभायमान है।[१] विष्णु की पताका गरुड़-ध्वज है और उनके पांच आयुधों में चक्र प्रमुख है।[२]

परिपाडल में तीन प्रमुख वैष्णव मन्दिरों का उल्लेख मिलता है—इरुन्तैयूर, कुलवैय और तिरुमालिरींचोलै पाले। ये तीनों पर्वत पर ही स्थित हैं, जो कि तमिल देवता तिरुमाल (मायोन) की कल्पना के अनुकूल है। इरुन्तैयूर मदुरै नगर के समीप वैगै नदी के निकट एक वैष्णव तीर्थ स्थान है। विद्वानों के अनुसार यह 'आलकर कोयिल' ही है।[३] तिरुमालिरींचोलै मलै और कुलवेद अब भी प्रमुख वैष्णव केन्द्र हैं।

परिपाडल से ज्ञात होता है कि ये कवि विष्णु के पांच रूपों—परब्रह्म रूप, व्यूह रूप, विभव रूप, अन्तर्यामी रूप और अर्चावतार रूप से भली-भांति परिचित थे।[४] परिपाडल युग में पांचरात्र-आगामी पूर्व का रूप परिलक्षित होता है। बहुत संभव है कि 'परिपाडल' से ही पांचरात्र साहित्य को आधारभूमि मिली हो। इतना तो निश्चित है कि परिपाडल युग में तमिल लोगों को पांचरात्रों की रूप रेखा मिल गई थी।[५]

चूंकि तमिलप्रदेश की भक्ति-परंपरा में वैष्णव भक्ति के विकास-क्रम को भली भांति समझने के लिए परिपाडल का विशिष्ट अध्ययन अपेक्षित है, अतः हम यहां परिपाडल के पांच स्तुति-गीतों का भाषानुवाद प्रस्तुत करना अपेक्षित समझते हैं:

विष्णु स्तुति-गीत : १

"हे विष्णु! सहस्रफणी शेषनाग तुम्हारे मस्तक पर अंलकृत है। लक्ष्मी तुम्हारी छाती पर आसीन है। स्वच्छ शंख के तुल्य शरीर, गजयुक्त पताका, हलायुध और मुरली को धारण किए तुम बलदेव के तुल्य हो।

"कमल के समान शरीर, नीलोत्पल के समान नेत्र, लक्ष्मी के निवास-योग्य वक्षस्थल और उसमें शोभायमान कौस्तुभमणि तथा पीताम्बर को तुम धारण करते हो। गरुड़ की पताका में धारण करने वाले, तुम्हारी महिमा गाने में वेद भी अवाक् हैं।

"युद्धलोलुपों को ध्वस्त करने वाले हे विजयशील! तुम काम और ब्रह्मा के जनक हो। हे सर्वाभरणभूषित! तुम्हारी महिमा को समझने में मंत्रद्रष्टा ऋषिगण भी असमर्थ हैं। अतः तुम्हारी अनिर्वचनीय गुण-गरिमा का वर्णन हम कैसे कर सकेंगे?

---

१. परिपाडल, ४। ५८ इसी कारण से ही वैष्णव भक्त तुलसी के प्रति श्रद्धा रखते हैं—*History of the Tamils*, P. T. Srinivasa Iyengar, pp. 76

२. 'परिपाडल' २ : ४६

३. 'तमिलुम वैणवमुम', एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० २६

४. *History* of *Tamil Litrature*, E.S. Varadaraja Iyengar, pp. 229-230

५. *History of Tirupati*. Vol. I. pp. 199
Dr. S. Krishnaswamy Iyengar

" लक्ष्मी और मरु (गन्धवान् हरित किसलय) को वक्षस्थल में धारण करने वाले वैकुण्ठनाथ ! तुम्हारी पुण्यगाथा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए संभव नहीं। तुम्हारे प्रति अटूट श्रद्धा होने के कारण टूटी-फूटी वाणी में हम अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त करते हैं। हे नाथ, हमारी इस भावांजलि को स्वीकार करो।

"ब्रह्मज्ञानियों का धर्म और भक्तों की भक्ति तुम हो। सन्मार्ग से भ्रष्ट जनों को सुधारने वाले तुम हो और दुश्मनों को दण्ड भी तुम ही देते हो। आकाश में दृष्टिगोचर सूर्य और चन्द्र तुम हो। पंचमुख परमेश्वर और उसका संहार-कार्य भी तुम्हीं हो। वेद, ब्रह्मा और ब्रह्मा का सृष्टि-कार्य तुम हो। मेघ, आकाश, भूमि और हिमालय तुम हो। समस्त उत्कृष्ट तत्त्वों का आधार भी तुम ही हो। तुम्हारे समान या तुमसे बड़ा इस विश्व में और कोई नहीं। तुम निरुपम हो। सुवर्ण वर्ण के चक्र को दक्षिण हस्त में धारण करने वाले तुम्हीं समस्त प्राणि-जगत् का आदि कारण हो तुम्हारी महिमा अनन्त है।

"तुम्हारे समान तुम्हीं हो। सुवर्ण-निर्मित परिधान, गरुड़-पताका, धवल शंख, शत्रुनायक चक्रायुध, नीलमणि सदृश सुन्दर शरीर, अपरिमित यश और शोभनवक्षस्थल, ये तुम्हारी विशेषताएं हैं। तुम्हारा स्तवन हम करते हैं। हम अपने बन्धु-बान्धव सहित तुमसे शाश्वत भक्ति की याचना करते हैं। हम पर अनुग्रह करो।

स्तुति-गीत : २

" हे परम धाम ! प्रलय काल में भूलोक और स्वर्गलोक का नाश हुआ। साथ ही सूर्य, चन्द्र और आकाश का विलय हुआ। आकाश, वायु, अग्नि, अप् और पृथ्वी का पुनः सर्जन तुमने ही क्रमशः किया। सहस्रों वर्ष तक वराह रूप धारण कर, पानी में डूबकर, पृथ्वी को ऊपर लाए हो। इसी कारण इस कल्प का नाम वराह कल्प हुआ। यह नाम तुम्हारे उस कर्तव्य का ही स्मारक है। तुम्हारे अनेकों कार्यों में से यह एक है। पुरातन काल में तुम्हारे द्वारा किए गए अनेक कल्प हैं जिन्हें कोई नहीं जानते हैं। हे सृष्टि के आदि कारण ! हम तुम्हारी वन्दना करते हैं।

" हे भक्त वत्सल ! तुम्हारे वक्षस्थल का आभूषण इन्द्रधनुष के समान है। उसके मध्यगत मुक्ताभरण चन्द्रमा के तुल्य हैं। शशि में शश के समान लक्ष्मी तुम्हारे वक्षस्थल पर शोभायमान है।"

"तुम्हारे शरीर की कान्ति नीलमणि के, नेत्र कमल के, बल सूर्य के, क्षमा पृथ्वी के और करुणा जलधर मेघ के तुल्य हैं। तुम्हारे गुणगानों का गान वेद में इसी प्रकार किया गया है। तुम अंतर्यामी के रूप में सर्वत्र विद्यमान हो।

" हे प्रशस्त गुणाकर ! हमारी बुद्धि का परिष्कार हो जाए और हम सन्मार्ग में प्रवृत्त हों। हम पर दया करो।"

स्तुति-गीत : ३

"हे भगवान् ! भक्तों की जरा-मरण व्याधि का निवारण तुम्हारे चरणामृत से होता है। तुम्हारी शरीर-कान्ति उज्ज्वल नीलमणि के तुल्य है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, यजमान, मंगलादि ग्रह, असुर, द्वादश आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, अश्विनी कुमार, यम तथा यम के अनुचर, सत्ताईस लोक और इन लोकों के निवासियों का आदिकारण तुम्हीं हो। वेद तुम्हारी महिमा इसी प्रकार गाते हैं, अतः हम भी वैसे ही कहते हैं। कमलोद्भव ब्रह्मा और उनके पिता तुम ही हो। तुम्हारे चरणों की पूजा न करने वाला कोई नहीं है। तुम सप्त लोकों को नापने वाले हो। सृष्टिकाल में वराहावतार लेकर जलान्तर-गत भूदेवी को तुमने डाढ़ों से उठाया है। मेघ की वर्षा के कारण गिरने वाले पानी को तुमने हंस का रूप धारणकर अपने पक्ष से रोका। इससे देव और मुनि-गण तुम्हारा यशोगान करते हैं। पूर्वजों का अनुकरण करते हुए हम भी तुम्हारी स्तुति करते हैं।

"तुम्हीं वेदकर्ता हो। आगम, मन, चित्त और अहंकार से तुम जाने नहीं जाते हो। शशिकला के उपभोक्ता देवादिदेव तुम ही हो। तुम्हारे स्वरूप का गान सामवेद इस प्रकार करता है कि अग्नि में ज्वाला, सुमन में सौरभ, पाषाण में मणि, वाणी में ओज, वेदों में उपनिषद्, पंचभूतों में आकाश, सूर्य में उष्ण और चन्द्र में शैत्य तुम हो। सभी वस्तुओं में तुम्हीं व्यापक हो। तुम सर्वगामी होने से सदा सर्वत्र रहते हो। लोककल्याणार्थ तुमने सभी प्रकार के जन्म लिए हैं। किन्तु तुम्हारा जन्मदाता कोई नहीं है।

"पंचभूत, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच तन्मात्राएं, मन, चित्त, अन्तः-करण, मूल प्रकृति और पुरुष इन पच्चीस तत्त्वों को चारों युगों में अनुसंधान करने का श्रेय तुम्हीं को प्राप्त है।"

"लोहिताक्ष वासुदेव ! श्यामाक्ष संकर्षण ! सुवर्णकाय प्रद्युम्न ! हरितदेही अनिरुद्ध ! गोपवधुओं के साथ रास-क्रीड़ा करते समय तुम बारंबारदाएं-बाएं होते रहे। घट-नृत्य के समय तुमने घट उठा लिया। हे हलायुध ! तुम चक्रवर्ती हो और सबका रक्षण तुम्हीं करते हो। किन्तु हम लोगों के लिए तुम अज्ञात तत्त्व बने हुए हो। तुम भक्तों के हृदय में सदा निवास करते हो। तुम सनातन पुरुष हो, विराट् हो, क्रान्तदर्शी कवि हो, गायक शिखामणि हो, वनमालाधारी हो और शंख और पीताम्बरधारी लक्ष्मीपति हो। हे चक्रधर ! तुम्हारे चक्र की छाया में संसार सुखी है। तुम्हारा करुणा-कटाक्ष हमें प्राप्त हो।"

स्तुति गीत : ४

"हे विष्णु ! माया से पृथक् होकर, मैत्री-करुणा, मुदिता और उपेक्षा का सतत अभ्यास करनेवाले यम-नियमादि अष्टांगयोग के अनुयायी ऋषियों ने तुम्हारी महिमा की विशद व्याख्या की है। यह कोई विस्मय की बात नहीं है

कि तुम्हारी महिमा अनन्त है। योगाभ्यास से पराङ्मुख हम लोग मनमाना और त्रुटिपूर्ण ढंग से तुम्हारा यशोगान करते हैं। हमारी अज्ञानता और अकुशलता देखकर तुम्हारा हंसना उचित है। लेकिन तुम्हारे उपहास से निरुत्साहित होकर तुम्हारी भक्ति के मार्ग से हम हटेंगे नहीं। तुम्हारे शरीर की शोभा नील वर्ण, निस्तरंग सागर और जलधर मेघ के तुल्य है। श्यामवर्ण के तुम सुवर्ण के वस्त्र-परिधान से बहुत ही शोभित होते हो।

"तुम निर्सगत: लोहित नेत्रवाले हो, आर्त प्रह्लाद के आह्वान पर तुमने खंभे से प्रकट होकर हिरण्य के वक्षस्थल को विदीर्ण किया। जलमग्न भूमि को ऊपर लाने का तुम्हारा कृत्य मेरु पर्वत के समान है। तुम्हारा उष्ण और प्रकाश सूर्य के, शीत और कोमलता चन्द्र के, करुणा और दानशीलता मेघ के, रूप और नाम आकाश के, गमनागमन वायु के पास देखे जाते हैं। अत: गोचरभूत समस्त गुणों और क्रियाओं का केन्द्र तुम्हीं हो। प्राकृतिक सूर्यादि शक्तियां सृष्टिकाल में तुम्हीं से अभिव्यक्त होती हैं और प्रलयकाल में तुममें ही विलीन हो जाती हैं।

"क्रोध, करुणा, पक्षपात और तटस्थता आदि गुणों के धारण करने वालों के साथ तुम्हारा अनुरूप व्यवहार होता है। तुम स्वयं तटस्थ हो। तुम्हारा न कोई मित्र है न शत्रु। जीवों के शत्रु-मित्र गुणों के कारण ही तुममें शत्रु-मित्र भावना प्रतीत होती है। यह तुम्हारा सहज भाव नहीं है। भक्तों के हृदय में भासित रूप ही तुम्हारा यथार्थ रूप है। नीलमणि के तुल्य सुरभित तुलसीमाला, सुवर्णवर्ण का श्रीवत्स और नीलोत्पलवत् नेत्रों को धारण किए तुम अतीव मनोज्ञ मालूम होते हो। तुम्हारी महिमा असीम है।

"तुम्हारे मोक्षधाम से भी श्रेष्ठ तुम्हारा चरणारविन्द है। ऐश्वर्य भाव से पूर्ण तुम अनेक नैसर्गिक कल्याण-गुणों को धारण किए हुए हो। हम तुम्हारे यथार्थ गुणों को नहीं जानते।

"वट और कदम्ब वृक्ष, नदी और पर्वत आदि स्थानों में विभिन्न रूपों में विद्यमान अनेक नामधारी तुम हो। तुम सर्वत्र व्याप्त हो। भक्तों के भक्तिपूर्ण सम्पुटकरों में तुम शान्त रूप से आसीन हो। हमें भक्ति में प्रेरित कर हमारे सुकृत्यों की रक्षा तुम्हीं करते हो। हम पर करुणा करो।"

स्तुति गीत : ५

"रमणीय पीताम्बर, मणिमण्डित किरीट, सुरभित माला, गरुड़युक्त पताका और चन्द्र की दानशीलता को धारण किए हुए तुम्हारी शोभा निरुपम है। सूर्य और चन्द्र को दोनों ओर धारण करने वाले मेघ के समान शंख और चक्र को धारण करने वाले तुम्हारे पाणिपद्म सहित वक्षस्थल की वन्दना करने वाले भक्त को वैकुण्ठ प्राप्त होता है। रसना आदि इन्द्रिय तुम हो। शब्द-स्पर्शादि के उपभोक्ता भी तुम ही हो। शब्द से ज्ञात आकाश, शब्द-स्पर्श से ज्ञात वायु, शब्द-स्पर्श-रूप से ज्ञात तेज, और शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से ज्ञात पृथ्वी तुम हो। अत: मूल प्रकृति, धर्म, अनादिकाल, आकाश, वायु और तेज से युक्त तीनों सप्त-

लोक के प्राणी तुम्हारे उदर में हैं। तुम क्षीरसागर के मध्य सहस्रफणि आदिशेष पर दीर्घ निद्रा करने वाले हो। ऋतु का उल्लंघन करने वाले दुश्मनों का प्राणापहरण कर उनके वक्षस्थल पर हूल चलाते हो। वेद तुम्हारा यशोगान करते हैं। जलधर मेघ, नीलवर्ण सुमन, सागर, अंधकार और नीलमणि इन पांचों के समान तुम्हारी शरीर-कान्ति है। तुम्हारी वाणी शंख-ध्वनि और वेद-घोष के समान है। क्रोधकालीन तुम्हारा उद्घोष मेघ-गर्जना के तुल्य है। तुम्हारा स्तुति-पाठक शाश्वत मुक्ति पाता है। तुम्हारा चित्त प्राणियों के परिपालन में ही रमता है। पूर्व जन्म-सुकृत के कारण इस जन्म में तुम्हारे कल्याणगुणों का हम चिन्तन करते हैं। उत्तरोत्तर अनवरत भक्ति करने की प्रेरणा देकर हमें तुम अनुगृहीत करो।"

परिपाडल के उपर्युक्त विष्णुपरक स्तुति-गीतों के अवलोकन से यह स्पष्ट होगा कि परवर्ती वैष्णव भक्ति-साहित्य पर उसका कितना प्रभाव पड़ा होगा। परिपाडल के बहुत-से विचारों का प्रभाव आलवार भक्तों पर पड़ा है जिनको हम वैष्णव भक्ति-आंदोलन के उन्नायक समझते हैं। आलवार कृत 'प्रबन्धम्' का 'परिपाडल' के प्रति बड़ा ऋण है।

कलितोकै

कलितोकै में बालकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन है। कंस के द्वारा भेजे गए केशी नामक घोड़े को मारने की कथा है। कवि चोलन नल्लिरुत्तिनार ने इस घटना को अपार वीरता के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है। द्रौपदी की करुण पुकार पर उपस्थित होकर उसके स्त्रीत्व की रक्षा कर दुःशासन के गर्व को भंग करने वाले कृष्ण (कन्नन) की महिमा गाई गई है।[1] समस्त विश्व को तीन पदों में लांघने की विष्णु की कथा भी है। कलितोकै के अध्ययन से विदित होता है कि उस समय तिरुमाल-धर्म को राज्याश्रय भी प्राप्त था। इसमें पवित्र जीवन बिताने वाले वैष्णव संन्यासी लोगों का उल्लेख है जो प्रतिदिन पत्थर पर पीटकर धोए हुए काषाय वस्त्र पहना करते थे और जिनका नाम 'भगवर' या 'मुक्कोर भगवर' विख्यात था। धार्मिक विषयों में इनसे सलाह लेने की परिपाटी भी थी।

संघकालीन कविता-संग्रहों में दूसरा संग्रह 'पतुपाट्टु' है, जिसमें १० वर्णन-काव्यों का समावेश है। यह प्रथम संग्रह की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना जाता है। इसमें संगृहीत कविताओं का काल ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व पड़ता है।

इसमें 'पेरुनपाणाट्रुपडै' के रचयिता ने अपने आश्रयदाता को तिरुमाल वंशोत्पन्न कहा है।[2] इस कविता में कवि ने कांची नगर की प्राचीनता का वर्णन करते समय लिखा है कि कांची उस तरह प्राचीन और महिमायुक्त है, जिस तरह ब्रह्मदेव को धारण करने वाला तिरुमाल की नाभि से उदित कमल। इस कांची नगर के समीप तिरुवेहा में शेषशायी तिरुमाल के एक मन्दिर होने का भी उल्लेख है।

१. 'मुल्लैकली,' १, ८१-१२०
२. 'पेरुनपाणाट्रुपडै,' २९-३१

'मुल्लैपाट्टु' (अर्थात् 'वन-गीत') के रचयिता नप्पूदनार ने वामनावतार का स्मरण कर तिरुमाल की व्यापकता और श्यामलता की तुलना समुद्र-जल को ग्रहण कर उत्पन्न तथा ऊंचे आकाश में मंडराने वाले काले मेघों से की है। यह कविता मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता 'मायोन' अथवा 'तिरुमाल' की स्तुति कर प्रारम्भ होती है। महाबली से तीन चरण की भूमि मांगकर तीनों लोकों को लांघने वाले तिरुमाल की कथा उस समय बहुत ही लोकप्रिय रही होगी। अतः 'मदुरैकांची' में 'ओण विषा' का वर्णन है। कहा गया है कि महाबली के गर्व का दमन करने वाले तिरुमाल की महिमा गाने के लिए मदुरै नगर में 'ओण' उत्सव प्रतिवर्ष सात दिन तक बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था।

संघकाल का तीसरा काव्य-संग्रह 'पदिनेणकीलकणक्कु' है। वस्तुतः यह अठारह सूक्ति-ग्रंथों का सामूहिक नाम है। विश्वविख्यात महाकवि तिरुवल्लुवर द्वारा रचित 'तिरुक्कुरल' इनमें प्रमुख है। तिरुवल्लुवर किस धर्म के अनुयायी थे, इसका निर्णय अभी तक नहीं किया जा सका है। इस ग्रंथ में जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव एवं ईसाई विद्वान् अपने-अपने धर्म के विचारों को पाकर यह प्रमाणित करने के निरन्तर प्रयत्न में सदियों से लगे हुए हैं कि तिरुवल्लुवर तत्तम् धर्मावलम्बी थे और उन्हींके धार्मिक सिद्धान्त 'तिरुक्कुरल' में प्रतिपादित किए गए हैं। यद्यपि इस महान् कवि ने अपने इष्टदेव के रूप में विष्णु या तिरुमाल का नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया है, तो भी उनके भगवान् के श्रेष्ठ गुणों के अनेक वर्णन तिरुमाल को लक्ष्य करके ही किए गए मालूम पड़ते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक विचार इसमें मिल जाते हैं। दो स्थानों में 'अडियलन्दान'[3] (लोक को नापने वाला) तथा 'दामरै कन्नन'[4] (कमल दल लोचन कन्नन) इन दो प्रयोगों से यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि अपने समय में प्रचलित 'तिरुमाल' तत्त्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

'पदिनेणकीलकणक्कु' में सम्मिलित 'तिरिकडुकम' नामक काव्य में तिरुमाल की अनेक लीलाओं में से तीन चरण से समस्त विश्व को लांघने, कुरुन्द पेड़ के रूप में उपस्थित राक्षस को मारने, शकट तोड़ने आदि लीलाओं का वर्णन है। इसके रचयिता नल्लादनार थे। इस ग्रंथ के मंगलाचरण से विदित होता है कि ये वैष्णव थे।

'नानमणिकड़िकै' के रचयिता विलम्बीनागनार भी वैष्णव थे। इसमें मंगलाचरण के दो पद्य हैं जिनमें 'मायोन' अर्थात् 'कन्नन' की स्तुति है। कवि का कहना है कि चन्द्र 'मायोन' के मुख के समान है। किरण युक्त सूर्य तिरुमाल के चक्र के समान है। सुन्दर कमल के दल उनके नयनों के समान है। 'पूवैं' के नवीन पुष्प

---

१. 'पेरुनपाणाट्रुपडै', ४०३-४०५
२. वही, ३७१-३७३
३. 'तिरुक्कुरल', दोहा ६१०
४. वही, ११०३

उनके शरीर के रंग के समान हैं।[1] इस प्रकार कवि ने उपमान को उपमेय से भी श्रेष्ठ बताया है। मंगलाचरण के द्वितीय पद्य में 'कन्नन' (कृष्ण) की अन्य कुछ लीलाओं का उल्लेख है।

'इनियदु नार्पदु' के रचयिता पूदंचेंदनार थे। इन्होंने भी कृष्ण की अनेक लीलाओं का उल्लेख किया है। विद्वानों के अनुसार ये भी वैष्णव थे।

संघोत्तरकाल (तीसरी और चौथी शताब्दी) में पांच श्रेष्ठ काव्यों का निर्माण हुआ जो 'पंच बृहद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे हैं—शिलप्पधिकारम्, मणिमेखलै, जीवक चिन्तामणि, वलयापति और कुण्डलकेशी। इन बृहत् काव्यों के अतिरिक्त इस काल में रचित पांच लघु काव्य भी विख्यात हैं। ये हैं—नीलकेशी, शूलामणि, यशोदरकाव्यम्, नागकुमारकाव्यम् तथा उदयमान कदै। 'शिलप्पधिकारम्' (नूपुर-काव्य) के रचयिता इलंगौ यद्यपि बौद्ध मुनि थे, तो भी उन्होंने अपने समय के अन्य प्रसिद्ध लोकप्रिय धर्मों के, विशेष रूप से तिरुमाल धर्म के विचारों का अच्छा परिचय दिया है। इस काव्य का नायक कोवलन अपनी धर्मपत्नी कण्णकी को मदुरै नगर के बाहर स्थित 'आयर' (ग्वालों) के ग्राम में छोड़ जाता है। मदुरै में जब निरपराध कोवलन की हत्या होती है, तो आयरों के उस ग्राम में अपकुशन दीख पड़ते हैं। इसपर आयर ग्वालिनें अपने इष्टदेव कन्नन (कृष्ण) से अमंगल दूर करने के लिए प्रार्थना कर 'कुरवै' नामक नृत्य करती हैं। यह प्रसंग 'आयिच्चयर कुरवै' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में ग्वालिनें गाती हैं: "मेरु की मथानी और वासुकी सर्प को रस्सी बनाकर, हे कन्नन! उस दिन तुमने समुद्र का मंथन कर डाला था। मथने वाले वे ही हाथ (बाद में) यशोदा की मथानी की रस्सी से बांधे गए। हे नृसिंह, हे भ्रान्तिरहित! यह तुम्हारी कैसी माया है?" 'कुरवै कुतू' की कथा उस समय के तमिल-समाज में सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा मालूम पड़ती है, जिसमें कन्नन (कृष्ण) ने बलराम और नप्पिन्नै ('राधा' का तमिल नाम) के साथ 'कुरवै' नामक नृत्य किया था। कवि ने इस प्रसंग के वर्णन में ग्वालिनों के मुख से कुरवै नृत्य करते समय कन्नन की विभिन्न बाल-लीलाओं का गायन कराया है।

'शिलप्पधिकारम्' से ज्ञात होता है कि उस समय तिरुवेंकटम्, तिरुप्पति, तिरुमालिरुंचोलै आदि स्थानों में 'तिरुमाल' के मन्दिर वर्तमान थे और इन मन्दिरों में तिरुमाल की उपासना-प्रणाली भी थी। काविरिपूंपटिटनम में स्थित मन्दिरों की सूची देते समय कवि बलराम और कन्नन (कृष्ण) के अलग-अलग मन्दिर होने का भी उल्लेख करता है।[2] इस काव्य के अन्त में एक जगह कहा गया है कि राजा चेरन चेंयुट्टुवन वीर-पत्नी कण्णकी की प्रतिमा बनाने के निमित्त शिला लेने के लिए हिमगिरि गए। जाते समय 'आडकमाडकम' नामक स्थान में स्थित विष्णु-मन्दिर के उन्होंने दर्शन किए।

पंच बृहत्-काव्यों में दूसरा महान् काव्य है—'मणिमेखलै'। इसके रचयिता

१. 'तिरुकोइल' (जिल्द ३, संख्या ४), 'तिरुमाल वलिपाडु' लेख, श्री पी० श्री० आचार्य
२. 'शिलप्पधिकारम्', १७१-१७२

शीत्तलै चात्तनार (मस्तक-व्रणी चातनार) थे। इस ग्रंथ के प्रणयन से उनका उद्देश्य यद्यपि बौद्ध-धर्म के विचारों का प्रतिपादन ही था, तो भी उन्होंने वैष्णव धर्म के श्रेष्ठ विचारों की ओर भी प्रसंगवश संकेत किया है। इस काव्य में कन्नन (कृष्ण) की अनेक कथाओं का भी वर्णन आता है। कन्नन द्वारा नप्पिन्नै तथा बलराम सहित किए गए कुरवै नृत्य का भी उल्लेख कवि ने किया है।[1]

'शूलामणि' नामक जैन-काव्य में उसके कथा-नायक से सम्बन्धित कुछ कथाएं 'कन्नन' से सम्बन्धित कथाओं से मिलती-जुलती हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि चूंकि इस काल में तिरुमाल-धर्म अधिक प्रचार को पा रहा था और जनता ने तिरुमाल के विभिन्न अवतारों की कथाओं को बड़े चाव से स्वीकार किया था, इसलिए इस काल के जैन-बौद्ध-काव्य में भी उन कथाओं का रूपान्तर से समावेश यत्र-तत्र हुआ है।

तिरुमाल के कन्नन (कृष्ण) अवतार की भांति रामावतार की कथाएं भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थीं। इसके प्रमाण संघ-साहित्य में मिल जाते हैं। यद्यपि तमिल में सम्पूर्ण 'रामायण' की कथा को लेकर महाकाव्य रचने वाले 'कवि चक्रवर्ती' के नाम से प्रसिद्ध कंबन (११वीं शती) थे, तो भी कुछ विद्वानों का मत है कि उससे पूर्व (कदाचित् संघकाल में ही) 'वेण्बा' छन्द में निर्मित एक रामायण-काव्य भी विद्यमान था।[2] प्रो० एस० वैयापुरि पिल्लै का कथन है—"बहुत ही प्राचीन काल में इन रामायण-कथाओं का प्रचार समस्त तमिलप्रदेश में हो चुका था। 'पुरनानूरु' तथा 'अहनानूरु' नामक संघकालीन कृतियों में, जिनकी रचना ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुई थी, रामायण की कथाओं का उल्लेख है। इसके पश्चात् 'वेण्बा छन्द' में रचित एक सम्पूर्ण रामायण का भी प्रणयन हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तिरुमाल' के रामावतार की कथाएं बहुत प्राचीन काल से ही तमिल-जनता को प्रभावित करती आई हैं। तमिलप्रदेश में उत्पन्न तत्सम्बन्धी कथाएं भी मूल-कथा में ली गई थीं।[3]

'अहनानूरु' और 'नेडून्तोकै' नामक संग्रहों में 'रामायण' की कुछ कथाएं मिलती हैं। इसमें एक जगह कहा गया है कि रावण से युद्ध कर सीता को लिवा लाने के निमित्त जब राम पाण्ड्यदेश के दक्षिण कोने में एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे अपने दूसरे सहयोगियों के साथ विचार-विनिमय में रत थे, तब उस वृक्ष पर निवास करने वाले अनेक पक्षी कलरव में रत थे। इस कारण कुछ समय के लिए सभा के कार्यक्रम को चालू करने में प्रतिरोध हो गया। उन पक्षियों के शान्त हो जाने पर वे पुनः विचार में प्रवृत्त हुए।[4] (यह प्रसंग वाल्मीकीय रामायण में नहीं है।)

'पुरनानूरु' की एक कविता में रामायण के एक प्रसंग की ओर संकेत है।

---

१. 'मणिमेखलै', १६, ६५-६६
२. 'कंबन कण्ड तमिलकम्', स्वामी चिदंबरनार, पृ० २०
३. 'कम्बन काव्यम्', प्रो० एस० वैयापुरि पिल्लै, पृ० १५२-१५३
४. 'अहनानूरु', ७०

एक बार एक कवि को एक राजा ने पुरस्कारस्वरूप बहुत-से मूल्यवान् आभूषण दिए। चूंकि कवि को यह मालूम नहीं था कि किस आभरण को कहां पहनना चाहिए, इसलिए उस कवि की तुलना उन वानरों से की गई जो रावण द्वारा अपहृत सीता के हाथ से फेंके गए आभूषणों को लेकर इस भ्रम में पड़े हुए थे कि उन्हें कहां पहनना चाहिए।[१]

'एट्टुतोकै' काव्य-संग्रह में सम्मिलित 'परिपाडल' में एक जगह कहा गया है कि 'तिरुपरंकुंट्म्' नामक स्थान में स्थित तिरुमाल-मन्दिर के चित्र-मण्डप में अहिल्याशाप-विमोचन का चित्र अंकित किया गया था और मन्दिर में आने वाले भक्त उसके दर्शन कर उसकी अत्यन्त प्रशंसा कर जाते थे।

'शिलप्पधिकारम्' नामक काव्य-ग्रंथ के 'आयच्चियर कुरवै' प्रसंग में यद्यपि 'कन्नन' (कृष्णावतार) की लीलाओं का विस्तार से वर्णन है, तथापि कवि ने रामावतार की ओर भी संकेत किया है। कवि का कहना है कि उस कान से क्या प्रयोजन है कि जिसने तिरुमाल के रामावतार की कथा न सुनी हो। आगे कवि कहता है कि तिरुमाल के चरण, जिन्होंने तीन लोकों को नापा था, वे ही रामावतार में वन-यात्रा के समय पीड़ित होकर रक्तिम हो गए।[२]

'मणिमेखलै' में रामावतार की कुछ कथाएं मिलती हैं। इसमें रावण के अन्यायपूर्ण कृत्य के लिए उसे दण्ड देने के निमित्त लंका में पहुंचने के लिए रामेश्वरम् में सेतु बनाते समय वानरों द्वारा बड़े-बड़े पत्थरों को लेकर जाने का वर्णन है।[३] एक अन्य जगह राम की जीत और रावण की पराजय का भी उल्लेख है।[४]

उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह है कि संघ-काल में ही (ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अथवा उसके कुछ पूर्व ही) तमिल प्रदेश में तिरुमाल (विष्णु) के विभिन्न अवतारों की कथाएं प्रचार पा चुकी थीं, साथ ही संघ साहित्य में हमें आलवार साहित्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि देखने को मिल जाती है।

मन्दिरों में तिरुमाल की उपासना

तमिल प्रदेश के मन्दिरों का इतिहास बहुत ही प्राचीन है।[५] इन मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियां रहती थीं और निश्चित प्रणाली के अनुसार उनकी उपासना भी होती थी। यद्यपि प्रारम्भ में तिरुमाल मुल्लै प्रदेश के अधिदेवता के रूप में ही माने गए थे, तो भी संघकाल में उनका प्रभाव अन्य भूभागों पर भी पड़ा। इनके मन्दिरों में तिरुवरंगम्, तिरुपति, तिरुमालिरुंचोलै, तिरवेहा आदि स्थानों

१. 'पुरनानूरु', ३७८
२. 'शिलप्पधिकारम्' (मदुरैकाण्डम्), आयचियर, कुरवै, ३५
३. 'मणिमेखलै', १७-१०-४
४. वही, ५३-५४
५. *Origin of South Indian Temple*—Dr. Venkitarammya

में स्थित तिरुमाल मन्दिरों का उल्लेख संघ साहित्य में कई जगह मिलता है।[१]

तिरुवरंगम (श्रीरंगम्) के मन्दिर के अर्चावतार तिरुमाल का वर्णन 'शिलप्पधिकारम्' में इस प्रकार मिलता है : "शेषनाग पर शयन करने वाले नील वर्णयुक्त तिरुमाल स्वर्ण-पर्वत को आच्छादित करने वाले नील मेघों के समान है।"[२] इस रचना में तिरुवेंकट के मन्दिर में विराजमान अर्चावतार तिरुमाल का वर्णन इस प्रकार मिलता है : "इस मन्दिर के तिरुमाल के कर कमल भय उत्पन्न करने वाले चक्र तथा धवल रंगीन शंख को धारण किए हुए हैं।"[३]

'परिपाडल' में तिरुमालिरुंचोलै के मन्दिर में विराजमान कमल-दल-लोचन और श्याम वर्ण देहधारी उस तिरुमाल के अर्चावतार रूप का वर्णन मिलता है, जो मानवमात्र के दुःखों का हरण करता है।[४] 'पेरुम्पाणाट्रुपडै' नामक रचना में कांचीपुरम् के समीप तिरुवेहा नामक स्थान में स्थित तिरुमाल मन्दिर का उल्लेख मिलता है।[५] ऐसा ज्ञात होता है कि संघकाल में बलराम और नप्पिन्नै सहित 'कन्नन' के विग्रह की पूजा होती थी। इस प्रकार के मन्दिर पुकार और मदुरै में थे।[६] उनको 'वैल्लैनगर कोट्टम' कहते थे। 'परिपाडल' की पन्द्रहवीं कविता से ज्ञात होता है कि बलराम सहित 'कन्नन' की मूर्तियां सेवित थीं। 'कन्नन' और बलराम को साथ मानने की परिपाटी में बाद में परिवर्तन आ गया और केवल कन्नन की मूर्तियां सेवित होने लगीं।

संघकाल के उत्तरार्द्ध (संघोत्तर काल में भी) तमिल प्रदेश के मन्दिरों में संस्कृत आगमों द्वारा निर्धारित विधियों के अनुसार उपासना होने लगी थी। 'शिलप्पधिकारम्' और 'परिपाडल' से ज्ञात होता है कि उन मन्दिरों में पांचरात्र और वैखानस आगमों की विधियों के अनुसार पूजादि होती थी। तिरु-माल-मन्दिर के प्रांगण में खड़े स्तम्भ गरुडांकित ध्वज शोभित था। 'मणिमेखलै' में एक स्थान में 'कडलवन्नन पुराणम्' का उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान हो सकता है कि 'कडलवन्नन पुराणम्' का उल्लेख 'विष्णु पुराण' के लिए ही हुआ और 'विष्णु पुराण' उस समय विद्यमान था। 'परिपाडल' में विभिन्न स्थलों में स्थित तिरुमाल-मन्दिरों तथा उनमें वर्तमान तिरुमाल के अर्चावतार स्वरूप का वर्णन मिलता है। इनमें तिरुमाल के किसी न किसी अवतार की कल्पना अवश्य थी।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि यद्यपि आरम्भ में तमिल-भूमि में मायोन या तिरुमाल की कल्पना मुल्लै प्रदेश के अधिदेवता के रूप में पृथक् से

---

१. आलवार भक्तों ने इन विभिन्न तिरुमाल मन्दिरों में विराजमान, 'तिरुमाल' के 'अर्चावतार' रूपों का वर्णन अपने काव्यों में किया है।
२. 'शिलप्पधिकारम्' २, ३५-४०
३. वही, २, ४१-४५
४. 'परिपाडल', १५
५. 'पेरुम्पाणाट्रुपडै' ३७१-३७४
६. 'शिलप्पधिकारम्', ५, १७१-१७२

थी, तो भी संघ-काल में उत्तर से आने वाली वैदिक भक्ति-परम्परा से प्रभावित होकर, तिरुमाल-धर्म तमिलप्रदेश में बहुत अधिक प्रचार को पाने लगा। तिरु-माल के अनेकानेक मन्दिर उस काल में तमिल-प्रदेश के नाना भागों में निर्मित थे जिनमें तिरुमाल की उपासना होती थी। संघ-साहित्य इसके प्रमाण प्रस्तुत करता है कि तिरुमाल से सम्बन्धित तमिल-लोक-मानस से उत्पन्न कथाएं वैदिक परम्परा-प्रसूत विष्णु के विभिन्न अवतारों की कथाओं से मिलकर जनता को आकर्षित करने लगी थीं। इस प्रकार संघकाल में तिरुमाल-धर्म (वैष्णव धर्म) तमिलप्रदेश में एक प्रधान धर्म हो चला था।

गोपाल कृष्ण और राधा के विकास में तमिल की देन

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य में गोपाल कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व के विविध रूपों को लेकर अनेक वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित हुए हैं। वैष्णव भक्ति के संस्कृत वाङ्मय में गोपाल कृष्ण और राधा का समावेश बहुत बाद में हुआ है। लेकिन उसके बहुत पहले ही गोपाल कृष्ण का लोकरंजक रूप तमिल की वैष्णव भक्ति-परम्परा में स्वीकृत हो चुका था। परवर्ती वैष्णव भक्ति-साहित्य में कृष्ण का लोकरंजक रूप ही अधिक चर्चित हुआ है। अतः यहां गोपाल कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व के विकास पर विचार करने की आवश्यकता है।

महाभारत में कृष्ण एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ क्षत्रिय योद्धा के रूप में दर्शाए गए हैं। वे पाण्डवों का सन्धि-संदेश ले जाने वाले शान्ति-दूत हैं। उनके ज्ञान, विज्ञान-प्रखर बुद्धि की प्रभा से समस्त क्षेत्र आलोकित है। महा-भारत में श्री कृष्ण के शौर्य-वीर्य का पूर्ण दिग्दर्शन है। महाभारत की समाप्ति पर वे कुशल नियोजक के रूप में राजसूय यज्ञ में लगे दिखाई पड़ते हैं। अन्त में हमारे सामने उनका वह रूप ही आता है जो एक दूरदर्शितापूर्ण विचारक का माना जाता है। उनकी महत्ता के दो कारण बताए गए हैं:

१. सभा पर्व में कहा गया है कि वे अपने प्रखर ज्ञान और श्रेष्ठतम बल के कारण ही अनन्य गौरव के पात्र हैं।

२. गीता में कर्मयोग की प्रधानता की स्थापना करने वाले एक कर्मनिष्ठ व्यक्ति और उपदेशक के रूप में ही कृष्ण दीख पड़ते हैं।

पहले हम बता चुके हैं (वैदिक-भक्ति-परम्परा का परिचय देते समय) कि जब सात्वतों में वासुदेव की पूजा प्रधान हो गई तो महाभारत के युग में वासुदेव और नारायण को एक ही समझा जाने लगा। वहां तक आकर वासुदेव कृष्ण, विष्णु और नारायण एक हो चुके थे। पर उस समय तक गोपाल कृष्ण का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार के किसी देवता का नाम न तो महा-भारत के नारायणीयोपाख्यान में आता है और न पातंजल महाभाष्य में।

परन्तु श्रीमद्भागवत जैसे बाद के ग्रन्थों में कृष्ण का जो रूप विशेष रूप से मिलता है, वह गोपाल कृष्ण का है। परवर्ती साहित्य में मिलने वाला बाल-

कृष्ण-रूप महाभारत के कूटनीतिज्ञ और गीता के उपदेशक कृष्ण के रूप से बिल्कुल भिन्न है। श्रीमद्‌भागवत के आधार पर परवर्ती साहित्य ग्रन्थों में कृष्ण का रूप, प्रेमभक्ति के आलम्बन के रूप में एवं गोप-गोपियों के सर्वस्व राधा-वल्लभ, नटनागर एवं गोपाल कृष्ण ही अधिक ग्राह्य हुए। आश्चर्य की बात है कि महाभारत के उपदेशक कृष्ण श्रीमद्‌भागवत में गोपाल कृष्ण के रूप में कितने भिन्न जान पड़ते हैं ?

डा० भाण्डारकर का कहना है कि ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी तक के किसी भी भागवत धर्म-सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं है और न उनका कोई परिचय ही उपलब्ध होता है। इसके विरुद्ध ईसा के अनन्तर आने वाली शताब्दियों की ऐसी सामग्रियां गोपाल कृष्ण की अनेक कथाओं से भरी पड़ी हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि उक्त दोनों समयों के बीच में कोई न कोई नवीन बात अवश्य हुई होगी।

ईसा के पूर्व के किसी संस्कृत ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण का वर्णन न मिलना और ईसा के पश्चात् के ग्रन्थों में गोपाल कृष्ण की लीलाओं का विस्तार से विवरण प्राप्त होना विद्वानों के बीच अनेक भ्रान्तियों एवं कल्पनाओं को जन्म देता आया है। पाश्चात्य विद्वान् जो हर चीज़ का सम्बन्ध योरुप से मानने वाले हैं, बाल कृष्ण की लीला सम्बन्धी कथाओं को ईसा मसीह की जीवन-कथा से प्रभावित मान बैठे हैं। डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण भाग में आबाद हो गया था। इन ईसाइयों की भक्ति-भावना का पूरा-पूरा प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ा और क्राइस्ट से क्रिस्टो और फिर कृष्ण उनका उपास्य बन गया। वैष्णवों की दास्य भक्ति, प्रसाद, पूतना-स्तन्य पान आदि को ग्रियर्सन महोदय ईसाइयत की देन बताते हैं। उनका कहना है कि पूतना बाइबिल का 'वर्जिन' है। प्रसाद लवफीस्ट है—इत्यादि। इस प्रकार वे ईसा के पश्चात् बाल कृष्ण की कथाओं का जन्म सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वेबर और केण्डी का भी कथन है कि बाल कृष्ण की कथा ईसा मसीह की कथा का भारतीय रूप है।

कुछ भारतीय विद्वान् 'गोपाल कृष्ण' के रूप का अस्तित्व प्रारम्भ से सिद्ध करने के उद्देश्य से केवल 'गोपाल' शब्द का आधार लेकर गोपाल कृष्ण को प्राचीन ग्रन्थों में ढूंढ़ते हैं और यह बताने की चेष्टा करते हैं कि गोपाल कृष्ण का रूप पहले से ही बीज रूप में विद्यमान था। वे कृष्ण के 'गोविन्द' नाम का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से जोड़ते हैं। 'गोविन्द' एक पुराना नाम है और उसका उल्लेख श्रीमद्‌भागवत और महाभारत—दोनों में हुआ है। परन्तु महाभारत में 'गोविन्द' शब्द का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से नहीं लगाया गया है। आदि पर्व में गोविन्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि भगवान् का नाम 'गोविन्द' इसलिए है कि उन्होंने 'वाराहावतार' में 'गौ' अर्थात् 'पृथ्वी' की रक्षा की थी। शान्ति पर्व में भी इसी प्रकार की व्याख्या की गई है। डा० भाण्डारकर ने गोविन्द की उत्पत्ति गोविन्द से बताई है, जो ऋग्वेद में इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेद में हमें ऐसे मन्त्र[1] अवश्य मिलते हैं जिनमें गौ, वृष्णि, राधा, ब्रज, गोप, रोहिणी और अर्जुन आदि नाम आए हैं। परन्तु गोपाल कृष्ण से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।[2]

बाल कृष्ण के आविर्भाव के विषय में भाण्डारकर आदि कुछ विद्वानों का मत है कि बाल कृष्ण की कथा सीरिया से चलकर आई हुई घुमक्कड़ आभीर जाति के बाल-देवता की कथा है। आभीरों के बाल-देवता श्रीकृष्ण की कथा का सबसे पुराना उल्लेख हरिवंश पुराण में पाया जाता है। भाण्डारकर ने इस ग्रन्थ का काल तीसरी शताब्दी के अनन्तर माना है, क्योंकि उसमें 'दीनार' शब्द (लेटिन Denarious) का उल्लेख है।[3] भाण्डारकर के अनुसार आभीर ही सम्भवतः बाल-देवता की जन्म-कथा और पूजा अपने साथ ले आए। कुछ कथाएं तो उनके द्वारा लाई गई थीं और कुछ उनके भारत जाने के बाद विकसित हुईं। भाण्डारकर आगे लिखते हैं कि यह सम्भव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी ले आए हों और सम्भवतः यही नाम वासुदेव कृष्ण के साथ भारतवर्ष में बाल-देवता के एकीकरण का कारण हुआ हो।

महाभारत के 'मौशल पर्व' अध्याय ७ में आभीरों के सम्बन्ध में एक कथा आती है जिसके अनुसार अर्जुन वृष्णि वंश के समाप्त हो जाने पर उस वंश की स्त्रियों को जब द्वारका से कुरुक्षेत्र ले जा रहे थे, तो आभीरों ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया। आभीर लुटेरे और म्लेच्छ बताए गए हैं जो पंचनद देश में रहते थे। विष्णु-पुराण में आभीरों को कोकण और सौराष्ट्र के निवासी बताया गया है। पहले तो आभीर चरवाहे थे फिर वे पंचनद से मथुरा, सौराष्ट्र और काठियावाड़ तक फैल गए। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वान् अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा अब यह सिद्ध कर चुके हैं कि आभीर जाति कहीं बाहर से नहीं आई थी और ईसा के पूर्व भी वह जाति भारतवर्ष में विद्यमान थी। गोपाल कृष्ण तथा बाल कृष्ण वाली कथाओं का समावेश वासुदेव के साथ इन आभीरों द्वारा किया गया।

परन्तु प्रस्तुत लेखक को गोपाल कृष्ण की कथाओं की उत्पत्ति के विषय में वस्तुस्थिति ऊपर दिए गए विद्वानों के विभिन्न अनुमानों से भिन्न मालूम पड़ती है। तमिल-साहित्य के संघपूर्व काल की रचना तोलकाप्पियम (ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी) और संघकाल की रचनाओं में (ईसा की दूसरी शताब्दी तक) तमिलप्रदेश के पांच भिन्न भू-भागों और उनके अधिदेवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। मुल्लै-प्रदेश (वन-भूमि) में गोचारण के व्यवसाय में संलग्न 'आयर' कहलाने वाले ग्वाला लोग रहते थे और उनके देवता 'मायोन'

१. (अ) ता वां वास्तून्यष्मसि गमध्यै। यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ 'ऋग्वेद', १।१५४।६
(ब) दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठत। 'ऋग्वेद', १। ३२।११
(स) त्वमेतदाधारयः कृष्णासु रोहिणीषु। 'ऋग्वेद', ८।९३।१३

२. 'सूर और उनका साहित्य', डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १२५

३. *Vaishnavism, Shaivism and other Minor Religious Sects.*
—Dr. R. G. Bhandarkar, p. 37

थे। संघ-साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि ये 'मायोन' 'आयर' लोगों के बाल-देवता थे। उस समय इस बाल-देवता से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएं जनता के बीच में प्रचलित थीं, जिनका वर्णन संघ-साहित्य में मिलता है। यह भी ज्ञात होता है कि उस समय 'आयर' कहलाने वाले लोग अपने बाल-देवता की लीला वाली कथाओं का अभिनय नाटकादि में करते थे। 'आयर' लोगों के बीच में ऐसे अनेक नृत्यों की परिपाटी थी, जो उनके अनुसार उनके बाल-देवताओं ने अपने बाल्य-जीवन में किए थे।

हम ऊपर कह आए हैं कि ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व ही आर्यों का दक्षिण में अर्थात् प्राचीन तमिल प्रदेश में आगमन हुआ। महाभारत द्वारा प्रचारित भागवत धर्म का भी दक्षिण की ओर गमन हुआ। नासिक में प्राप्त 'नानाघाट' के शिलालेख से स्पष्ट है कि ईसा से पूर्व ही भागवत धर्म दक्षिण में पहुंचा। कृष्णा ज़िले के 'चायना' नामक शिलालेख से भी यही प्रकट होता है।[१] अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा के पूर्व तथा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में तमिल-प्रदेश में वैदिक संस्कृति से भिन्न एक तमिल-संस्कृति विद्यमान थी और उनका समाज काफी सभ्य था। ईसा-पूर्व की शताब्दी में उत्तर से जाने वाली वैदिक-संस्कृति और तमिल-प्रदेश की द्राविड़ संस्कृतियों में मिलन हुआ। उत्तर से आने वाले अपने साथ वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और गीता के विचारों को लेते आए। (स्मरण रहे कि उनके वासुदेव-कृष्ण में बालकृष्ण का रूप नहीं था।) यह मान्य बात है कि जब दो संस्कृतियों का मिलन होता है तब बहुत-सी बातों में समन्वय और आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है।[२] परिणाम-स्वरूप तमिल-प्रदेश के (वैदिक परम्परा से भिन्न) देवताओं और अनेक वैदिक देवताओं में एकीकरण हो गया। तमिल-प्रदेश के मायोन, मुरुगन, कोट्वै, शिवन आदि देवताओं को वैदिक देवताओं से मिला लिया गया। मुल्लै-प्रदेश के देवता 'मायोन' (जो बाल-देवता थे) का वैदिक देवता विष्णु से बहुत कुछ साम्य था। इसलिए मायोन और विष्णु-कृष्ण का एकीकरण संगत और स्वाभाविक था। यहां कह देना आवश्यक है कि उत्तर से आने वाले लोगों के देवता महाभारत और गीता के वासुदेव-कृष्ण का ही जिसमें गोपाल कृष्ण का अंश नहीं था, एकीकरण तमिल प्रदेश के 'मायोन' (बाल-देवता) से हुआ। दूसरे शब्दों में तमिल-प्रदेश के 'आयर' कहलाने वाले ग्वाला लोगों के इष्टदेवता 'मायोन' का एकीकरण 'महाभारत' के

---

१. *Early History of the Vaishnava Sects*—Hemachandra Ray Choudhuri, p. 108,

२. This expansion of Indo-Aryan civilization was naturally accompanied by a considerable mixture of races and cultures and the assimilation of many aspects of the thought and practice of non-Aryan culture with which it came into contact; as a result the vedic gods and religion underwent several changes and a new composite religious and philosophical background was created."

—*Development of Religion in South India.*
Sri. K. A. Nilakantha Shastri, p. 17.

कृष्ण से हुआ, क्योंकि दोनों में अनेक बातों में साम्य था।

यह कहा जा चुका है कि मुल्लै प्रदेश में 'आयर' लोगों के बीच 'मायोन' के बाल्य-जीवन से सम्बन्धित अनेक कथाएं प्रचलित थीं। महाभारत के कृष्ण का 'आयर' लोगों के बाल-देवता से एकीकरण होने पर 'मायोन' की बाल-लीला सम्बन्धी बहुत-सी कथाएं महाभारत के कृष्ण की कथाओं से मिल गईं, और उसी प्रकार महाभारत के कृष्ण की कथाएं 'मायोन' की कथाओं से मिल गईं।[1] इस घटना के पश्चात् की तमिल-रचनाओं में मायोन के विषय में महाभारत आदि की कथाओं का प्रचुर मात्रा में प्राप्त होना भी उक्त स्थिति को पुष्ट करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों संस्कृतियों के मिलन के बाद ही वर्तमान कृष्ण के जीवन का उत्तरार्द्ध महाभारत के कृष्ण का है, और पूर्वार्द्ध बहुत अंश में तमिल के देवता 'मायोन' का है।[2] दोनों संस्कृतियों के सम्मिलन के फलस्वरूप दोनों के देवताओं में होने वाले एकीकरण से तमिल के 'मायोन' में महाभारत के वासुदेव कृष्ण का अंश आ मिला और महाभारत के कृष्ण के साथ 'मायोन' का बाल-रूप जुड़ गया। तमिल-साहित्य में 'मायोन' के स्थान पर ईसा के पश्चात् की कृतियों में 'कन्नन' शब्द का प्रयोग होना भी इसी स्थिति को पुष्ट करता है। प्रस्तुत लेखक का विचार है कि 'कन्नन' शब्द तमिल में 'कृष्ण' (कन्हैया) से आया होगा। कृष्ण का रंग श्याम वर्ण बताया गया है। तमिल का 'मायोन' शब्द काले अथवा नीले रंग को सूचित करता है।[3] आर्य लोग तमिलों (द्रविड़ों) को काले रंग वाले कहते थे। अतः तमिलों के देवता 'मायोन' के रंग को कृष्ण द्वारा अपनाना भी कृष्ण-मायोन के एकीकरण को पुष्ट करता है।[4]

लेखक की समझ में विद्वानों ने 'आभीर' जाति का जो उल्लेख किया है, वास्तव

---

१. प्रसिद्ध तमिल विद्वान् एम० राघव अय्यंगार का मत है कि आज तमिल-प्रदेश में प्रचलित महाभारत और भारत की कथाएं स्पष्ट रूप से बहुत बाद की हैं। तमिल-भूमि में उत्पन्न कन्नन कथाएं जिनका विवरण प्राचीन तमिल साहित्य में मिलता है, तमिल-प्रदेश में आज प्रचलित महाभारत और भागवत की कृष्ण कथाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं—"आराचि तोकुति।"

—एम० राघव अय्यंगार, पृ० ५५

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी कथन है कि "यह बात सर्वसम्मत है कि कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है।"

—'सूर साहित्य', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११, सं० १९५६

३. "यह भी द्रष्टव्य है : डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु भारत में आकर द्राविड़ों के एक आकाश-देव से मिल गए जिनका रग द्राविड़ों के अनुसार आकाश के ही सदृश नीला अथवा श्याम था। तमिल भाषा में आकाण को 'विन्' भी कहते हैं जिसका 'विष्णु' शब्द से निकट का सम्बन्ध हो सकता है।

—'संस्कृति के चार अध्याय', श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ०६०

४. "आर्यों ने द्राविड़ों से ही कृष्ण (कन्नन) सम्बन्धी कथाओं का परिचय प्राप्त किया होगा।"

Tamilar Salbu—Dr. S.Vindhyanandan, p. 128 (Ceylon University, 1954)

में वह तमिल-प्रदेश की 'आयर' जाति थी। 'आयर' ग्वाले होते थे। पुराणों में उन्हीं को 'आभीर' कहा गया है। आज 'अहीर' शब्द 'आभीर' शब्द के ही बिगड़े हुए रूप में मिलता है। 'अहीर' शब्द ग्वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है। कौतूहल का विषय है कि 'आयर' शब्द आज भी ग्वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है। तमिल में 'अ' का अर्थ है 'गाय'।

कृष्ण के बाल-जीवन से सम्बन्धित अनेकानेक कथाओं की जन्म-भूमि तमिल-प्रदेश है। कृष्ण की बाल-लीलाओं से सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथाएं जो ईसा के अनन्तर के संस्कृत-ग्रन्थों में मिलती हैं, वे पहले से ही तमिल-प्रदेश में प्रचलित थीं, भले ही वे कुछ भिन्न रूप में हों। ऐसी कथाएं भी कृष्ण के सम्बन्ध में आज भी तमिल-प्रदेश में प्रचलित हैं जो संस्कृत-साहित्य में कहीं भी देखने को नहीं मिलतीं।

श्री भगवानसिंह सूर्यवंशी ने अपनी पुस्तक 'दी अभिरास' में विस्तारपूर्वक 'आभीर' लोगों के इतिहास और उनकी संस्कृति पर विचार किया है और बहुत ही खोजपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। उन्होंने कई विद्वानों के विचार भी दिए हैं। तमिल-प्रदेश के 'आयर' लोगों से जब आर्यों का संपर्क हुआ, तब आर्य उनको 'म्लेच्छ' कहते थे।[१] 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग विदेशी अथवा 'संस्कृत न बोलने-वाला' अथवा 'अनार्य' के अर्थ में हुआ है।[२] आभीर लोग संस्कृतेतर भाषा बोलने वाले थे और उनके रीति-रिवाज आर्यों से भिन्न थे।[३] शुरू में वे आर्यों से लड़ते थे और बाद में उनको वैष्णव धर्म में लिया गया। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी भी 'आभीर' शब्द की उत्पत्ति 'आयर' शब्द से मानते हैं।[४] श्री कनक सबै भी दोनों शब्दों को एक ही मानते हैं।[५] 'संघ-साहित्य' में 'आयर' लोगों के रीति-रिवाजों और उनके आचार-विचारों के जो विवरण मिलते हैं, उन्हींके आधार पर 'अभीर-गोपों' का वर्णन 'हरिवंश' और 'भागवत' पुराण में दिया गया है। ये रचनाएं निश्चित रूप से संघकाल के बहुत बाद की हैं।[६]

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'आभीर' वास्तव में तमिल-प्रदेश के ही 'आयर' थे, जिसका विवरण संघ-साहित्य में विस्तार से मिलता है।

राधा का विकास

संस्कृत साहित्य में गोपाल कृष्ण की प्रधान प्रेयसी राधा का वर्णन बहुत बाद में मिलता है। महाभारत, हरिवंश पुराण, ब्रह्म पुराण, विष्णु पुराण आदि प्राचीन

---

१. *'Foreign Elements in the Hindu Population'*,—D. R. Bhandarkar.
—Indian Antiquary. Vol. XL. p. 16

२. Monier Williams, *A Sanskrit-English Dict*. p. 837.

३. *Kavyadarsha of Dandin*, Edited by Rangachari Reddi, p. 35.

४. *Materials for the Study of Early History of the Vaishnava Sect*
—Dr. Hemachandra Ray Choudhari, p. 91

५. *Tamils 1800 Years Ago*, V. Kanakasabhai Pillai, p. 57.

६. *The Abhiras : Their History & Culture*—Bhagwansingh Suryavanshi, p. 17.

संस्कृत-ग्रन्थों में राधा का उल्लेख नहीं है। भास के नाटकों में जहां कृष्ण की चर्चा है, वहां राधा का नाम नहीं आता। सभी प्राचीन ग्रन्थों में कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन है, गोपियों का वर्णन है, परन्तु राधा का कहीं उल्लेख नहीं है। सबसे पहले हाल की 'गाहा सतसई' में राधा का उल्लेख मिलता है। हाल (सातवाहन) ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करता था और उसने अपने समय में सामान्य लोक में प्रचलित प्राकृत गाथाओं का संकलन कराया था। और ये गाथाएं गोप-गोपियों की प्रेम-लीलाओं पर लिखी गई थीं। परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि गाथाओं का वर्तमान रूप छठी शताब्दी का है, और राधा का नाम इनमें छठी शताब्दी में आया। वैसे चौथी शताब्दी और उसके पश्चात् कुछ शिलालेखों में कृष्ण-लीला के अंकन मिलते हैं, जिनमें एक विशेष गोपी को कृष्ण के साथ उत्कीर्ण किया गया है। मन्दसौर के प्रसिद्ध स्तम्भों में भी यह अंकन मिलता है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि पांचवीं शताब्दी के लगभग राधा का स्वरूप निर्धारित हो गया था और कृष्ण-लीला में राधा को पूरा महत्त्व दिया जाने लगा था। ८वीं शती में 'वेणीसंहार' नाटक (भट्ट नायक कृत) लिया गया। उसमें प्रारम्भ में नान्दी पाठ में राधा का प्रथम बार कृष्ण की प्रियतमा के रूप में निश्चित रूप से उल्लेख मिलता है।

भागवत पुराण में कृष्ण की एक विशिष्ट गोपी की चर्चा है।[१] किन्तु उस गोपी का नाम राधा है, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी एक विशेष गोपी का महत्त्व बढ़ रहा था, लेकिन उसका नाम राधा बाद में पड़ा। परवर्ती संस्कृत-साहित्य में तो राधा का प्रचुर उल्लेख है और उसके बाद तो जयदेव और जयदेव के बाद विद्यापति, चण्डीदास और सूरदास का काव्य राधापरक है ही।

राधा के आविर्भाव के विषय में' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—
"जिस प्रकार वासुदेव और द्वारिकावासी कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति से उठकर परम देवत्व के आसन पर पहुंचे हैं, राधा में इस प्रकार के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का कोई लक्षण नहीं पाया जाता। गोपियों में तो यह है ही नहीं, फिर मजे की बात यह है कि भागवत, हरिवंश पुराण और विष्णु पुराण आदि प्राचीन ग्रंथ जो गोपाल-कृष्ण की कथाओं के उत्स हैं, उनमें भी राधा का नामोल्लेख नहीं पाया जाता।...यह भी देखा जाता है कि राधा की भक्ति का नया स्वरूप दक्षिण से आता है। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर दो तरह के अनुमान किए जा सकते हैं :

"१. राधा आभीर जाति की प्रेम-देवी रही होगी, जिसका सम्बन्ध बाल-कृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में केवल बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा। इसलिए आर्य ग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है। पीछे से

---

१. अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दे प्रीतो यामनयद् रहः॥ १०-३०-२८

जब बालकृष्ण की प्रधानता हो गई तो इस बालक-देवता की सारी बातें अहीरों से ली गई होंगी। इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी।

" २. दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि राधा इसी देश की किसी आर्य-पूर्व जाति की प्रेम-देवी रही होगी। बाद में आर्यों में इनकी प्रधानता हो गई होगी और कृष्ण के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा। "[१]

प्राचीन तमिल-साहित्य में उपलब्ध 'मायोन' अथवा 'कन्नन' (कृष्ण) से सम्बन्धित कथाओं को देखने से पता चलेगा कि डा० साहब का उपर्युक्त अनुमान सत्य की कोटि में आता है। तमिल में 'मायोन' से सम्बन्धित कथाओं में 'कन्नन' (कृष्ण) के साथ उसकी प्रधान प्रेमिका 'नप्पिन्नै' का भी वैसा वर्णन मिलता है, जैसा बाद के संस्कृत-साहित्य में कृष्ण और राधा का। तमिल में जहां कहीं भी 'कन्नन' का वर्णन मिलता है, वहां अवश्य नप्पिन्नै का उल्लेख मिलता है। उनकी प्रेम-लीलाओं की कथाएं प्रारम्भ से ही जनता के बीच में प्रचलित थीं। जब दो संस्कृतियों में (वैदिक और तमिल) सम्मिलन हुआ और 'मायोन' की बाल-लीलाओं के वासुदेव कृष्ण के साथ मिलने पर गोपाल कृष्ण का रूप स्थिर हुआ, तब 'मायोन' की प्रेमिका 'नप्पिन्नै' और उन दोनों की प्रेम-क्रीड़ाओं का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक स्त्री की कल्पना हुई होगी और उसका नाम बाद में 'राधा' पड़ा होगा। कृष्ण और राधा की जो प्रेम-लीलाओं की कथाएं बाद में संस्कृत के ग्रंथों में प्राप्त होती हैं, वही 'कन्नन' और 'नप्पिन्नै' की कथाओं के रूप में प्राचीन तमिल-साहित्य में और बाद में आलवार-साहित्य में मिलती हैं। केवल व्यक्तियों के नाम में अन्तर है। व्यक्तित्व बहुत कुछ समान है। कुछ लोग 'राधा' शब्द को लेकर राधा का अस्तित्व वेद तक में ढूंढ़ते हैं और अनेक कल्पनाएं कर बैठे हैं। नाम से व्यक्तित्व का विकास ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। जहां तक राधा' के व्यक्तित्व से सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि राधा के विकास में तमिल के 'मायोन' अथवा 'कन्नन' की प्रियतमा 'नप्पिन्नै' का सम्बन्ध अवश्य था। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि चूंकि तमिल में 'राधा' शब्द नहीं मिलता, इसलिए राधा का सम्बन्ध 'नप्पिन्नै' से कैसे बैठ सकता है? इसके उत्तर में यह कहना पर्याप्त है कि जिस प्रकार तमिल में कृष्ण के लिए अन्य शब्द आज भी प्रचलित हैं, उसी प्रकार उस समय 'नप्पिन्नै' शब्द आज की 'राधा' के लिए प्रयुक्त था।[२] 'शिलप्पधिकारम्' (ईसा की दूसरी शताब्दी) में उल्लेख मिलता है कि कन्नन-मन्दिरों में कन्नन और नप्पिन्नै की युगल-मूर्ति विद्यमान रहती थी।[३]

सभी विद्वान् यह मानते हैं कि आज राधा और गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व

---

१. 'सूर साहित्य' (संशोधित संस्करण), डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १६-१७

२. "We venture to conjecture that Nappinnai is the Tamil name of Radha" —V. R. R. Dikshitar; "Krishna in Early Tamil Literature" in *Indian Culutre*, Vol. IV (1937-38), p. 269.

३. 'शिलप्पधिकारम्', ५।१७१।१७२

का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसके विकास में पुराणों का बड़ा हाथ है। राधा और कृष्ण की कथाएं पुराणों में ही अधिक वर्णित हैं। 'पुराण' शब्द का अर्थ है 'पुराना'। इसलिए पुराण-ग्रन्थों से मतलब उन ग्रन्थों से है जिसमें प्राचीन आख्यायिकाएं संगृहीत हों।[१] जो बातें और कथाएं लोक में बहुत प्रचलित और प्रसारित होती हैं, वे ही पुराणों में रचयिता की कल्पना का भी सहारा लेकर स्थान पाती हैं। तत्कालीन लोक में प्रसिद्ध रूढ़ियों और प्रथाओं का वर्णन पुराणों में हुआ है। ये पुराण विभिन्न कालों की रचनाएं हैं।' पुराणों की श्लोक-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि इसलिए होती गई है। इनका संकलन भी विभिन्न कालों में हुआ।

जो लोक-विश्वास और लोक-कथाएंऔर परम्पराएं बहुत प्रचार को पाती हैं, उनको पुराणों में समय-समय पर स्थान अवश्य मिला है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में यहां तक कहा गया है कि जनता में जो रीति-रिवाज है, उसको वेद-वाक्य से भी अधिक मान्यता देनी चाहिए।[२]

अत: अनेक पुराणों में मिलने वाली कथाओं का स्रोत लोक-कथाओं में ही देखने को मिलता है, जो स्वयं किसी न किसी प्रथा अथवा रूढ़ि पर आधारित होता है।[३]

उपलब्ध पुराणों में एक-दो को छोड़कर बहुत-से पुराणों की रचना ईसा के पश्चात् हुई है। ब्रह्मवैवर्तपुराणको तो कुछ विद्वान् सोलहवीं शतीकी रचना मानते हैं, जिसमें राधाकृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं अथवा शृंगारिक चेष्टाओं का वर्णन है। इन पुराणों में वर्णित कथाओं को देखने से ऐसा लगता है कि बहुत से पुराणों की रचना दक्षिण में हुई है, और दक्षिण में विशेषकर तमिल-प्रदेश की प्रथाओं, लोक-कथाओं आदि का परिवर्तित चित्र इनमें मिल जाता है, उनका स्रोत ई० पू० अथवा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में में तमिल-समाज में प्रचलित कथाओं में दीख पड़ता है, जिसके प्रमाण उस समय के तमिल-साहित्य में मिलते हैं। 'कन्नन' और 'नप्पिन्नै' (कृष्ण और राधा) से सम्बन्धित ऐसी कथाएं भी आज तमिल-प्रदेश में प्रचलित हैं जो पुराणों में नहीं मिलतीं। (इनका विवरण आगे दिया जाएगा)।

राधा-कृष्ण सम्बन्धी कथाओं की जन्म-भूमि दक्षिण (तमिल-प्रदेश) को मानने का एक और प्रमाण यह है कि इन कथाओं का भी समावेश दक्षिण में

---

१. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (छठा सं०), डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १६३

२. तथापि कुशलप्रश्नं सांप्रतं समयोचितम्।
लौकिको व्यवहारोऽपि वेदेभ्यो बलवांस्तथा।।

—'ब्रह्मवैवर्तपुराण', कृष्ण-जन्म खण्ड,१२६।४२

३. "The Brahma Vaivarta Purana reads more like a treatises on erotics than a religious scripture and it frequently refers to the authority of popular customs as of greater validity than Vedas." *Vishnuite Myths and Legends*, Dr. Banikanta Kakati, (Gauhati University), p. 77.

उपलब्ध महाभारत के संस्करणों तक में मिल जाता है।[१] श्रीमद्भागवत, जिसको विद्वान् समस्त हिन्दी कृष्ण-काव्य का आधार स्तम्भ मानते हैं, अनेक विद्वानों के अनुसार ८-९वीं शताब्दी के बाद की रचना है।[२] इसमें वर्णित गोपाल कृष्ण की कथाएं तमिल-समाज में प्रचलित 'कन्नन' सम्बन्धी कथाओं से बहुत मिलती-जुलती हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि श्रीमद्भागवत की रचना दक्षिण में हुई थी। विद्वानों का मत है कि श्रीमद्भागवत की रचना दक्षिण के मलावार-प्रदेश (तमिलनाडु का पश्चिम भाग) में हुई थी, क्योंकि उसमें वर्णित वृक्ष पुष्प आदि वृन्दावन में नहीं मिलते, बल्कि मलावार में मिलते हैं।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में जो कथाएं तमिल लोक में प्रचलित थीं, वे ही कथाएं कुछ परिवर्तन के साथ पुराणों में देखने को मिलती हैं। बाद में वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुकूल इन पुराणों में घटा-बढ़ी की और उनमें वर्णित बातों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की।

प्रस्तुत लेखक, गोपाल कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व के विकास में तमिल की देन के आधार के रूप में प्राचीन तमिल-साहित्य में मिलने वाले जिन विवरणों तथा कथाओं को मानने के लिए बाध्य होता है, उनमें प्रमुख कुछ का परिचय नीचे दिया जाता है :

प्राचीन तमिल साहित्य में 'मायोन' कन्नन के विषय में इस प्रकार का वर्णन मिलता है—'मुल्लै प्रदेश के अधिदेवता' 'मायोन' का रंग 'श्याम' है।[४] वह आयर कहलाने वाले ग्वालों का अधिपति था। उसकी सम्पत्ति गोधन थी। वह वन-भूमि में गायों को चराने जाता था और वह गीत गाया करता था और 'कुलल' (बांसुरी) बजाता था। तमिल की वनभूमि में बांस की कमी नहीं थी, अतः उससे अच्छी बांसुरियां बनाई जाती थीं। वह बांसुरी बजाकर न केवल पशुओं को ही आकर्षित करता था, बल्कि ग्वालिनों को भी। प्रेम-क्रीड़ाओं के लिए वन भूमि में बहुत सुविधाएं होती थीं। क्योंकि उस प्रदेश के वासी केवल गोचारण करते थे और उनके पास उन क्रीड़ाओं के लिए अवकाश था। 'मायोन' की रुचि गीत के साथ नृत्यों में भी थी। वह ग्वाल रमणियों के साथ नृत्य भी करता था।

'आयर' जाति के लोगों के बीच में कई प्रकार के रीति-रिवाज थे, जिनको वैष्णव पुराणों में कल्पना प्रसूत अतिरंजित सामग्री के साथ प्रस्तुत किया गया

१. The Southern recension of the Mahabharata contain smany interpolations .....". *Vaishnavism, Shaivism* etc., —Dr. R. G. Bhandarkar : (foot note) p. 50.

२. "Among the puranas, the Bhagawata was composed somewhere in South India about ihe beginning of the 10th century."
—*History of South India*—Prof. K. A. Nilakantha Shastri, (2nd Edition), p. 332.

३. (अ) 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
(आ) 'सूर और उनका साहित्य', डा० हरबंशलाल शर्मा, पृष्ठ १४०

४. 'मुल्लैपाट्टु' १० । १२

है। गोपियों के साथ कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन भी आयर जाति के रीति-रिवाजों पर ही आधारित है। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में रहने वाले तमिल-प्रदेश के इन 'आयर' लोगों के बीच उन्मुक्त प्रेम की धारा प्रवाहित रहती थी और सामाजिक बन्धन भी कम थे। 'आयर' स्त्रियों के इस उन्मुक्त प्रेम को लेकर ही बहुत-सी कल्पनाएं पुराणों में की गई हैं।[1]

---

१. "The love play of Krishna with the cowherdesses indicates the custom of promiscuity in Abhira society.. ...Being forest dwellers, the Abhiras loved nature. The free morals of the gopis, found free expression against the sylvan back-ground and they did not feel shy in offering their love to youth and beauty.. ...The fact that Krishna enjoyed the women of the Abhiras in the knowledge of their husbands and parents shows lax···morals of a nomadic society,"

—*The Abhiras : Their history & Culture*, p, 62.

तृतीय अध्याय

तमिल-प्रदेश का वैष्णव भक्ति-आन्दोलन

(छठी से नवीं शताब्दी तक)

कन्नन की पत्नियों में 'नप्पिन्नै' का तमिल कृतियों में विशेष उल्लेख है। वह कन्नन की प्रधान प्रेमिका थी और 'आयर' कुलोत्पन्ना थी। उसे कुछ कृतियों में 'पिन्नै' अथवा नीला कहा गया है। बाद के ग्रन्थों में जहां कन्नन को विष्णु का अवतार माना जाता है, वहां नप्पिन्नै को लक्ष्मी का अवतार माना जाता है। कन्नन ने नप्पिन्नै को तत्कालीन तमिल-प्रथा के आधार पर प्राप्त किया था। इस प्रथा के अनुसार पहले कुमारी कन्याएं अपनी इच्छा से वीर युवकों को पति के रूप में स्वयं वरण करती थीं। इसे 'एरुतलुबुदल' अथवा 'वृष-वशीकरण' कहते हैं।[1] यह वीरता की परीक्षा के लिए प्रथा थी। एक घेरे के अन्दर कुछ बलवान् सांडों को वन्द कर दिया जाता था। फिर बाजे बजाकर तथा दूसरे उपायों से उन्हें भड़काया जाता था। फिर सांडों को क्षिप्रता से बाहर आने दिया जाता था। रास्ते में वीर युवक रहते थे। उनका काम था, अपने बाहुबल से सांडों को वश में लाना। जो इस काम को पूरा कर लेते थे, वे वीर समझे जाते थे और उन्हींके गले में कुमारियां जयमाला डालकर अपने लिए वर चुन लेती थीं। प्राचीन तमिल-कृतियों में और बाद के आलवार साहित्य में अनेक स्थलों में इस कथा का वर्णन है कि बलवान् भुजाओं के बल पर श्रीकृष्ण (कन्नन) ने सात वृषभों को वश में कर कन्याशुल्क के रूप में गोप बाला नप्पिन्नै को प्रिया के रूप में प्राप्त किया था।[2]

आयर लोगों के बीच कई प्रकार के खेल-कूद और आमोद-प्रमोद के साधन थे जिनका विवरण संघ-साहित्य में मिलता है। 'आभीर' लोगों के जिन रीति-रिवाजों का उल्लेख श्री सूर्यवंशी ने अपनी पुस्तक 'दी अभिरास' में की है, उन सबका परिचय संघ-साहित्य में हमें उपलब्ध आयर सम्बन्धी विवरणों से मिल जाता है।

---

१. यह प्रथा आज भी तमिल-प्रदेश के गांवों में किसी अंश में प्रचलित बताई जाती है—
"It seemed in a way a test for a man to be fit husband for a lady. The rearing of bulls and letting them loose with some prize for the captor have become a regular social and popular amusement which persists even to this day in the Tamil Districts."
Indian Culture, V.R.R. Dikshitar : Vol. IV, pp. 270-271.

२. 'भागवत पुराण' में ऐसा ही प्रसंग आया है।—'भागवत पुराण', १०।५८।३१-३२

निश्चित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उनमें पर्याप्त मतभेद है। जो मत अधिक समीचीन तथा तर्कपुष्ट दीख पड़ता हैं, उसीको यहां लिया गया है। अधिकांश विद्वान् आलवारों का काल सामान्य रूप से चौथी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक मानते हैं।

आलवारों का क्रम और संख्या

हमारे सामने एक अन्य कठिनाई और भी उपस्थित है। वह यह कि वस्तुतः आलवारों का क्रम किस प्रकार निर्धारित था और उनकी संख्या क्या थी? आलवारों की संख्या साधारणतः १२ मानी जाती है। श्री रामानुजाचार्य के शिष्य श्री पिल्लान ने गुरु के आदेश पर 'दिव्य प्रबन्धम्' के पदों पर टीका तथा उनका सम्पादन करते समय एक संस्कृत श्लोक[1] द्वारा आलवारों के नामों की गणना कर उनका समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इस श्लोक में दिए हुए क्रम के अनुसार आलवारों का क्रम इस प्रकार है:

१. भूतत्तनालवार
२. पोयगै आलवार
३. पेयालवार
४. पेरियालवार
५. तिरुमलिसई आलवार
६. कुलशेखरालवार
७. तिरुप्पान आलवार
८. तोंडरडीपोडी आलवार
९. तिरुमंगै आलवार
१०. मधुर कवि आलवार
११. नम्मालवार

ये नाम संख्या में केवल ११ ही आते हैं और आंडाल को इनमें सम्मिलित नहीं किया गया है। श्री रामानुजाचार्य के एक दूसरे शिष्य श्रीरंगमवासी अमुदन ने 'दिव्य प्रबन्धम्' का सम्पादन करते समय आलवारों के नाम एक भिन्न क्रम से गिनाए हैं और उनकी सूची में मधुर कवि आलवार का नाम नहीं है। इसलिए डॉ० कृष्णस्वामी अय्यंगार ने विभिन्न क्रमों तथा सूचियों की पारस्परिक तुलना करके निष्कर्ष निकाला है कि उनमें दीख पड़ने वाली भिन्नता केवल श्लोक-रचना की कठिनाई अथवा लिखने के विशिष्ट उद्देश्य के कारण ही आ गई है।[2] अब, श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने आलवारों का जो क्रम तथा नामों की सूची दी है, उसे कोई अन्य अधिक प्रामाणिक आधार न मिल सकने के कारण सर्वसम्मत समझा जाता है। वह इस प्रकार है[3]:

१. भूतं सरश्च महदाह्व भट्टनाथ, श्रीभक्तिसार कुलशेखर योगिवाहन्।
भक्तांघ्रिरेणु परकाल मतीन्दु मिश्रान् श्री मत्पारांकुश मुनि प्रणतोसिनित्यम्।

२. *Early History of Vaishnavism in South India*, pp. 37-38.

३. डा० आर० जी० भण्डारकर ने भी इसीको उद्धृत किया है।—'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलिजियस सेक्ट्स', पृ० ६६

तमिल नाम	संस्कृत नाम
१. पोयगै आलवार	१. सरोयोगी
२. भूतत्तालवार	२. भूतयोगी
३. पेयालवार	३. महाद्योगी या भ्रांत योगी
४. तिरुमलिसई आलवार	४. भक्तिसार
५. नम्मालवार	५. शठकोप
६. मधुरकवि आलवार	६. मधुरकवि
७. कुलशेखरालवार	७. कुलशेखर
८. पेरियालवार	८. विष्णुचित्त
९. आंडाल	९. गोदा
१०. तोंडरडीपोडी आलवार	१०. भक्तांघ्रिरेणु
११. तिरुप्पाण आलवार	११. यांगीवाहन
१२. तिरुमंगै आलवार	१२. परकाल

इस क्रम के आधार पर प्रथम चार-चार को प्राचीन, बाद के पांच को मध्य तथा शेष तीन को अन्तिम काल के मानने की परिपाटी भी चली आती है। ये सभी आलवार तमिल भाषी थे और इनकी रचनाओं में इनके तमिल नाम ही मिलते हैं। अतः ये तमिल-प्रदेश में अपने तमिल नामों से अधिक प्रसिद्ध हैं।

नालायिर दिव्य प्रबन्धम्

आलवारों की रचनाएं उनके जीवन-काल में संगृहीत नहीं हुई थीं। इनकी रचनाओं के जो नाम आज मिलते हैं, वे आलवारों के अपने दिए हुए नहीं मालूम पड़ते। इनके पद शताब्दियों तक केवल मौखिक रूप में जीवित रहे। इसलिए सम्भव है कि बहुत-से पद नष्ट हो गए हों। नवीं शताब्दी के अन्त में श्री नाथमुनि ने बड़े परिश्रम से इन पदों का संकलन किया और पदकर्त्ता, विषय अथवा छन्द के आधार पर अलग-अलग नाम दिए। आलवारों की रचनाओं के संग्रह का नाम तभी से 'दिव्य प्रबन्धम्' अथवा 'अरुलिचेयल' अर्थात 'अनुग्रहपूर्ण दान' पड़ा। श्री रामानुजाचार्य के समय में उनके एक शिष्य श्री रंगमवासी अमुदन ने गुरु रामानुज-आचार्य की स्तुति में तमिल भाषा में एक सौ पद रचे थे, जिनको भी 'रामानुज नूट्टान्तादि' के नाम से 'दिव्य प्रबन्धम्' में समाविष्ट किया गया है। इस पूरे संग्रह के पदों की संख्या ४,००० के लगभग हैं। अतः सुविधा के लिए इस पद-संग्रह को 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' अर्थात् 'चार सहस्र पावन पद' की संज्ञा दी गई है।

अब आलवारों से जीवन-वृत्त पर संक्षेप में प्रकाश डालकर उनकी रचनाओं और उनके वर्ण्य विषय का परिचय दिया जाता है।

पोयगै आलवार (सरोयोगी)

आलवार भक्तों की परम्परा में प्रथम तीन आलवारों को 'मुदलालवार' कहा

जाता है। इन तीनों में भी पोयगै आलवार को 'आदिकवि' कहते हैं।[१] इनका जीवन-वृत्त तिमिराछन्न है। कहा जाता है कि इनका जन्म तमिल-प्रदेश में कांचीपुरम् के उत्तर भाग में स्थित 'तिरुवेहा' के एक तालाब में कमल पुष्प पर हुआ था। इनको विष्णु के शंख का अवतार भी माना जाता है। इनका जन्म तालाब के फूल से होने के कारण इनका नाम 'पोयगै' (तालाब) आलवार पड़ा। 'गुरु-परम्परा' ग्रंथों के अनुसार इनका जन्म ४२० ई० पू० में हुआ था। परन्तु आधुनिक विद्वानों को यह मान्य नहीं है। प्रो० ई० एस० वरदराज अय्यर[२] के मतानुसार इनका समय छठी शती के प्रारंभ में मानना चाहिए। सामान्य रूप से इनका समय चौथी या पांचवीं शताब्दी माना जा सकता है।

पोयगै आलवार के जीवन की घटनाओं का पता नहीं चलता। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इनके स्वभाव-चरित्र आदि के विषय में कुछ जाना जा सकता है। पोयगै आलवार बचपन से ही विष्णु के अनन्य उपासक थे। एक पद में उन्होंने लिखा है कि इनके प्रारम्भिक जीवन का वातावरण भक्तिमय था। अतः अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने बचपन में विष्णु कथाएं सुनी होंगी और इनका मन गोपाल कृष्ण की लीलाओं में रमा होगा। पोयगै आलवार के समकालीन कांचीपुरम् के राजा भी वैष्णव भक्त थे[३] और एक पद में इन्होंने लिखा है—"मेरा मुंह केवल उस चक्रधारी विष्णु की ही स्तुति करेगा। मेरे कान केवल उन्हींकी गुण-गाथाओं को सुनेंगे। मेरे हाथ केवल उन्हींको नमस्कार करेंगे और किसीको नहीं।"[४] इससे पोयगै आलवार के उत्कृष्ट वैष्णव भक्त होने का पता चलता है। इन्हें योग इत्यादि का भी विशेष ज्ञान था।[५] पंचेन्द्रियों को वश में कर सर्वदा भगवान् के ध्यान में रहने वाले भक्तों की इन्होंने स्तुति की है। एक पद में इन्होंने लिखा है कि मैं किसी पराई वस्तु की कामना नहीं करूंगा। दुष्टों की संगति में नहीं जाऊंगा और साधु-सन्तों की सेवा में ही सर्वदा रहूंगा।

ये श्रेष्ठ ज्ञानी थे। वेद-उपनिषद् का भी इन्हें विशेष ज्ञान था। घूम-घूमकर वैष्णव भक्ति का प्रचार करते थे और स्थायी रूप से एक स्थान में न रहे। इन्होंने दूसरे धर्मों का खण्डन नहीं किया है और इनमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना दीख पड़ती है जो कि अन्य कुछ आलवारों में नहीं। इनका जीवन बहुत ही सादा था और भक्ति करना ही इनके जीवन का एकमात्र ध्येय था। नम्मालवार और तिरुमंगै आलवार जैसे परवर्ती आलवारों ने इनकी भक्ति-भावना की बड़ी स्तुति की है।

रचनाएं

पोयगै आलवार के एक सौ पद 'मुखल तिरुवंतादि' के नाम से मिलते हैं। ये

---

१. 'द्राविड़ मुनिवरकल', एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ४
२. *A History of Tamil Literature*,—Prof. E.S. Varadaraja Iyer, p. 254.
३. 'मूवर एट्रिय मोली विलक्कु', श्री पी० श्री० आचार्य, पृ० ३७
४. 'मुदल तिरुवंतादि', पद ११
५. 'मूवर एट्रिय मोली विलक्कु', श्री पी० श्री० आचार्य, पृ० ३६

'अन्तादि' छन्द में रचित हैं और 'दिव्य प्रबन्धम्' के 'इयर्पा' विभाग में संगृहीत हैं। ये स्फुट पद हैं। इनमें कोई कथा वर्णित नहीं है। पद मुख्यत: भक्ति, उपदेश आदि से सम्बन्धित हैं। इन्होंने अपने एक पद में भक्ति को सबसे सरल मार्ग बताया है। "भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका नाम है। भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें, उसी ढंग से चक्रधर विष्णु उनका उपास्य बन जाता है।"[1]

कुछ पदों में विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख है और भगवद्गुण, लीला इत्यादि का वर्णन है। कवि का मन विशेष रूप से कृष्ण की बाल लीलाओं में रमा है। तिरुवरंगम् तिरुवेंकटम् आदि तमिल प्रदेश के विष्णु स्थलों में विराजमान विष्णु के अर्चावतार रूपों की भी स्तुति है।

भूतत्तालवार (भूतयोगी)

भूतत्तालवार का जन्म 'गुरु-परम्परा' ग्रंथों के अनुसार 'तिरुकडन मल्लै' (वर्तमान महाबलीपुरम्) में मादवी पुष्प पर हुआ था। इनकी रचना में भी इनके जन्मस्थान 'मामल्लै' का उल्लेख मिलता है। इन्हें विष्णु की गदा का अवतार माना जाता है। उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। ये पोयगै आलवार के समकालीन माने जाते हैं। सामान्यत: इनको चौथी या पांचवीं शती में जीवित मान सकते हैं। श्री राघव अय्यंगार ने इनका जीवन-काल पांचवीं शती के उत्तरार्द्ध में माना है।[2]

कहा जाता है कि ये बाल्यावस्था से ही सन्त, पवित्र, निष्कलंक, ज्ञान के अपूर्व भण्डार और श्रेष्ठ भगवत्-अनुरागी थे। इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन्होंने वेद, उपनिषदों को अवश्य पढ़ा था। ये भी पोयगै आलवार की तरह घूम-घूमकर भगवद्भक्ति का प्रचार करते थे और लोगों को उपदेश देते थे। एक स्थान पर स्थायी रूप से न रहे। कहा जाता है कि ये सिद्ध महात्मा थे। इनका जीवन अत्यन्त सादा था और इन्होंने अपना सारा जीवन भगवद्भजन में बिताया। नम्मालवार ने इनकी बड़ी स्तुति की है। भूतत्तालवार ने अपने एक पद में तमिल भाषा के प्रति अपने अपार प्रेम का परिचय दिया है। भूत का अर्थ पंचभूत संचालित जीवन है और भूतत्तालवार का विश्वास था कि अपना भौतिक अस्तित्व भगवान् पर ही पूर्णतया आधारित है।

रचनाएं

भूतत्तालवार के सौ पद 'तिरुवंतादि' छन्द में रचित मिलते हैं और 'इरंटाम' तिरुवंतादि के नाम से प्रबन्धम् के इयर्पा विभाग में संगृहीत हैं। ये स्फुट पद हैं। इनमें किसी कथा का निर्वाह नहीं है। कवि के समाधिमय क्षणों में मानस से निकले हुए अनुभूतिपूर्ण उद्‌गार भावमयी भाषा में अभिव्यक्त हुए हैं। भगवद्-गुण, भक्ति की महिमा, शरणागति आदि वर्ण्य विषय हैं। कवि ने विष्णु के अनेक अवतारों का स्मरण किया है। कृष्ण की बाल लीलाओं की ओर भी संकेत है।

१. 'मुदल तिरुवंतादि', पद ६४

२. 'आलवारकल कालनिलै', प्रो० एम० राघव अय्यंगार, पृ० ३६

अनेक वैष्णव मन्दिरों की स्तुति की गई है। पर्वतीय क्षेत्रों का वर्णन करते समय प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है।

रहस्यवाद की सुन्दर झलक कहीं-कहीं दीख पड़ती है। इनकी रचना का प्रथम पद बहुत प्रसिद्ध है—'प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की बाती लगाकर स्नेह-द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान का दीप जलाया।"[१]

पैयालवार (महाद्योगी या भ्रान्त योगी)

कहा जाता है कि पैयालवार वर्तमान मद्रास नगर के अन्तर्गत 'मैलापुर' नामक स्थान में किसी कुएं के लाल कमल पुष्प से प्रकट हुए। चूंकि इन आलवारों के जन्म-परिवार इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं, इसलिए इनकी दैवी उत्पत्ति की कल्पना जन-मानस ने की होगी। मद्रास में पैयालवार के नाम से एक मन्दिर भी है। श्री सम्प्रदाय वाले इन्हें विष्णु के खड्ग का अवतार मानते हैं। कहते हैं कि भगवद्भक्ति के परमावेश में द्रवित होकर ये रोते, हंसते, गाते, नाचते और चिल्लाते थे। अतः लोगों ने इन्हें पागल समझकर इनका नाम 'पैयालवार' रख दिया था।

इनका जीवन-काल भी विवाद का विषय रहा है। साधारणतया इनको पोयगै आलवार और भूतत्तालवार का समकालीन माना जाता है। ये परम वैष्णव भक्त थे और जीवन-भर वैष्णव भक्ति का प्रचार करते रहे। ये एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहते थे, और सदा भ्रमण कर लोगों को उपदेश देकर उनके अज्ञान-अन्धकार को दूर करते थे। इनका जीवन अत्यन्त सादा था और धन, कीर्ति आदि का मोह किंचित् भी नहीं था।

पोयगै आलवार, भूतत्तालवार और पैयालवार—इन तीनों को 'मुनित्रय' भी कहते हैं। साम्प्रदायिक मतानुसार ये तीनों अयोनिज थे और भगवान् द्वारा भक्ति-प्रचार के लिए भेजे गए थे और इनका जन्म एक ही महीने में हुआ था। इस प्रकार इन्हें समकालीन ठहराने का प्रयत्न किया गया है। ये तीनों आलवार पूर्व-परिचित नहीं थे। इनके एक-दूसरे से परिचित होने के सम्बन्ध में एक घटना बहुत ही प्रसिद्ध है। एक दिन पोयगै आलवार भक्ति-प्रचार करते हुए 'तिरुकोइ-लूर' नामक स्थान में आ पहुंचे। शाम हो गई थी। भारी वर्षा होने लगी और अन्धेरा भी छा गया था। भीगते-भीगते पोयगै आलवार आए और वर्षा से अपने को बचाने के लिए और रात गुज़ारने के लिए स्थान ढूंढने लगे। आखिर उन्हें एक छोटी-सी कुटिया के बरामदे में सोने के लिए जगह मिल गई और ये विश्राम करने लगे। थोड़ी देर के बाद एक दूसरा व्यक्ति वहां आ पहुंचा और उसने पोयगै आलवार से अपने लिए जगह मांगी। यह व्यक्ति भूतत्तालवार थे। पोयगै आलवार ने यह कहकर कि यहां एक आदमी लेट सकता है, दो बैठ सकते हैं, भूतत्तालवार को भी बैठने की जगह दी और दोनों आध्यात्मिक चर्चा करते रहे।

१. 'इरंटाम तिरुवंतादि', पद १

इतने में वहां एक तीसरे आदमी का भी आना हुआ जिसने भी वर्षा से अपने को बचाने के लिए उन दोनों से थोड़ी जगह मांगी। ये पैयालवार थे जो कहीं से वहां आ पहुंचे। पोयगै और भूतत्तालवार ने यह कहकर कि यहां एक आदमी लेटसकता है, दो बैठ सकते हैं, तीन खड़े हो सकते हैं, पैयालवार को भी जगह दी। अब तीनों खड़े होकर भगवद्गुणगान करने लगे कि अचानक उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों उनके बीच में कोई अन्य व्यक्ति भी उपस्थित हुआ है। वे तीनों भक्त अपने मध्य साक्षात् भगवान् को पाकर प्रसन्न हुए। भगवान् ने उनसे कोई वर मांगने को कहा। बस, अन्धे को आंख के अलावा और क्या चाहिए ? तीनों भक्तों ने भगवान् से यही प्रार्थना की कि हम सदैव आपका ही गुणगान करते रहें और आप ही का स्मरण हमें सर्वदा रहे, आप यही वरदान दे दें। कहते हैं कि उस समय दिव्यालोक-सा वहां छा गया। उस समय तीनों आलवार आनन्दावेश में थे और उनके मुंह से कविता फूट निकली। तीनों ने सौ-सौ पद गाए। इस घटना की पुष्टि पोयगै आलवार के एक पद[1] से होती है। इस घटना में आलवारों के सिद्धांतों का मूल है। इससे इनकी विशाल हृदयता का परिचय मिलता है।

कहा जाता है, पैयालवार ने ही तिरुमलिसई आलवार को, जो पहले कट्टर शैव भक्त थे, शास्त्रीय वाद-विवाद में परास्त किया और उनको परम वैष्णव भक्त बना दिया। इस सम्बन्ध में एक कथा भी प्रसिद्ध है। इससे ज्ञात होता है कि पैयालवार बड़े ज्ञानी थे।

रचनाएं

पैयालवार के सौ पद 'मूंट्राम तिरुवंतादि' के नाम से प्रबन्धम् में संगृहीत हैं। ये 'तिरुवंतादि' छन्द विशेष में रचित स्फुट पद हैं। किसी कथा का आधार नहीं लिया गया है। इनमें भक्त हृदय के वे उद्गार अभिव्यक्त हुए हैं जो कठोर से कठोर हृदय को भी द्रवित करने वाले हैं। भगवद्गुण, भक्ति की महिमा, शरणागति आदि के विषय में वर्णित हैं। इनसे कवि के वेद, उपनिषद्, गीता आदि के ज्ञान का परिचय मिलता है। एक पद में कवि ने कहा है—"वह ईश्वर है, पृथ्वी, आकाश, आठों दिशाओं, वेद-वेदान्त सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य यह है कि उसका निवास है मेरे हृदय में।" इन्होंने भक्ति को सबसे सरल मार्ग बताया है। विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख भी है। कृष्ण की बाल-लीलाओं की ओर संकेत है। कहीं-कहीं प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है।

तिरुमलिसई आलवार (भक्तिसार)

तिरुमलिसई आलवार का जन्म कांचीपुरम् के पास स्थित 'तिरुमलिसई' (महीसपुर) नामक ग्राम में हुआ था। सम्प्रदाय में इनको विष्णु के चक्र का अवतार माना जाता है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है, जिसके अनुसार ये भार्गव मुनि तथा कनकांगी नामक अप्सरा के संयोग से उत्पन्न हुए थे और माता के परित्याग कर देने पर 'तिरुवालन' नाम के एक

१. 'मुदल तिरुवंतादि', पद ८६

व्याध ने उस नवजात शिशु का पालन-पोषण किया था। इनके समय का निर्णय करना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि ये पल्लव राजाओं के शासन-काल में ही जीवित थे। श्री राघव अय्यंगार इनका जीवन-काल छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में मानते हैं। तिरुमलिसई के कुछ पदों में स्वचरित सम्बन्धी कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक जगह इन्होंने अपने को निम्न जाति का बताया है।

कहा जाता है कि बाल्यावस्था में ये कभी किसी स्त्री का स्तन पान नहीं करते थे। अत: एक वृद्ध पुरुष यह समझकर कि यह कोई असाधारण बालक है, इन्हें गाय का दूध पिलाने लगा और आलवार के दुग्ध पान करने के पश्चात् पात्र में शेष बचने वाले दूध को वह खुद पीता था और अपनी पत्नी को भी पिलाता था। कुछ दिनों के पश्चात् उस वृद्ध पुरुष को एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'कणिकन्नन' रखा गया। आगे चलकर 'कणिकन्नन' तिरुमलिसई का प्रधान शिष्य बन गया।

यह प्रसिद्ध है कि तिरुमलिसई प्रारम्भ में कट्टर शैव थे और इनका नाम 'शिववाक्य' था।[1] इन्होंने शैवधर्म पर कुछ ग्रन्थ भी रचे थे और शैवधर्म का प्रचार किया था।[2] पैयालवार और इनमें शास्त्रीय वाद-विवाद हुआ था और अन्त में शिववाक्य पराजित होकर पैयालवार के शिष्य बन गए और अपना नाम 'तिरुमलिसई' रखा था। तत्पश्चात् ये शैव, जैन और बौद्ध धर्मों के कट्टर विरोधी बन गए और वैष्णव धर्म के पक्के समर्थक हो गए। इनकी रचनाओं में अन्य धर्मों का खण्डन मिलता है। एक स्थान पर इन्होंने लिखा है—"श्रमण या जैन मूर्ख हैं, बौद्ध भ्रम-जाल में पड़े हैं, शैव निर्दोष अज्ञानी हैं। विष्णु की पूजा नहीं करने वाले निम्न श्रेणी के हैं।"[3] इससे इनके कट्टर वैष्णव भक्त होने का पता चलता है।

तिरुमलिसई के पदों को देखने से विदित होता है कि इन्होंने महाभारत, रामायण, विष्णु पुराण आदि ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था। ये संस्कृत और तमिल के बड़े विद्वान् थे। अनुमान किया जा सकता है कि पैयालवार के सम्पर्क में आने के पहले तिरुमलिसई ने जैन, बौद्ध आचार्यों के यहां रहकर विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया होगा। तभी इन्होंने स्वयं अपने को इन शास्त्रों में विद्वान् कहा है। इनको सांख्य, न्याय, वैशेषिक, पतंजलि के योग-दर्शन का भी ज्ञान था। इनकी रचनाओं में श्री वैष्णव संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल स्रोत देखने को मिलता है। इनकी रचना में ही प्रथम बार आलवार साहित्य में पांचरात्र धर्म के व्यूहवाद का वर्णन मिलता है।[4]

तिरुमलिसई सिद्ध योगी थे। इनकी योग-शक्ति के सम्बन्ध में कई किम्व-दन्तियां प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चूंकि तिरुमलिसई शैव धर्म को छोड़कर

१. 'आलवारकल कालनिलै', श्री एम० राघव अय्यंगार, पृ० ३९

२. *Bhaktisara*, Sri Saila, *Vedant Kesari*, Vol. 31, p. 189.

३. 'नानमुखन तिरुवन्तादि', पद ६

४. *Journal of Indian History*, Madras, Vol. 21. (1942) p. 83—Dr. K. C. Varadachari.

वैष्णव बन गए थे, इसलिए शिवजी ने विष्णु की उपासना में लीन आलवार की परीक्षा लेनी चाही। शिवजी ने स्वयं प्रकट होकर तिरुमलिसई से वर मांगने को कहा। तिरुमलिसई ने यद्यपि कुछ मांगना नहीं चाहा तो भी शिवजी के बार-बार आग्रह करने पर उनसे पूछा कि आप मुझे मोक्ष दिला सकते हैं और मेरी आयु को बढ़ा सकते हैं ? शिवजी ने इन दोनों कार्यों में अपने को असमर्थ बताकर और कुछ मांगने को कहा। इसपर तिरुमलिसई हंस पड़े। शिवजी इसको अपनी अवहेलना समझकर क्रुद्ध हुए और उन्होंने तिरुमलिसई को भस्म कर देना चाहा। परन्तु तिरुमलिसई की दृढ़ भक्ति-भावना और योग-शक्ति को देखकर उनकी प्रशंसा की और 'भक्ति-सार' नाम उनको दिया। कहा जाता है कि तिरुमलिसई आलवार ने अपनी योग-शक्ति से 'शुक्तिसार' नामक प्रसिद्ध सिद्ध योगी तथा अन्य अनेकों मतवादियों को पराजित किया।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार तिरुमलिसई ने एक वृद्धा स्त्री को, जो उनकी सेवा करती थी, युवती बना दिया और उस स्त्री के सौंदर्य पर मोहित तत्कालीन पल्लव राजा ने उससे विवाह कर लिया। कुछ समय के पश्चात् राजा ने उस स्त्री के सौंदर्य को और भी बढ़ता देखकर उसका रहस्य पूछा। राजा ने पुनः यौवन को प्राप्त करने की इच्छा से 'कणिकन्नन' से, जो तिरुमलिसई आलवार का शिष्य था और जो राजा के यहां भिक्षा मांगने जाता था, अपनी इच्छा प्रकट की और तिरुमलिसई को बुला लाने को कहा। 'कणिकन्नन' के यह कहने पर कि तिरुमलिसई राजा के प्रलोभनों में नहीं आएंगे, राजा क्रुद्ध हुआ और कणिकन्नन को देश निकाले का दण्ड दिया। कणिकन्नन ने तिरुमलिसई के पास आकर सारा वृत्तान्त सुनाया तो तिरुमलिसई भी उसके साथ निकलने को तैयार हो गए। फिर इन्होंने मन्दिर के अन्दर जाकर प्रार्थना की—"हे वात्सल्यमय भगवान्! कणिकन्नन इस नगरी को छोड़कर जा रहा है और उसके साथ मुझे भी जाना होगा। इसलिए आप भी आदि शेष रूपी शय्या को समेटकर मेरे साथ चलने की कृपा करें।" कणिकन्नन सहित तिरुमलिसई आलवार के नगर के बाहर जाने पर नगर में अन्धकार छा गया। इस दुर्व्यवस्था को देखकर राजा तिरुमलिसई और कणिकन्नन के पास आया और क्षमा मांगने लगा। तिरुमलिसई ने अब राजा पर दया कर, भगवान् से अपने लौटने की प्रार्थना की और भगवान् ने भी ऐसा ही किया। पुनः वे अपने निवास-स्थान को आ पहुंचे। उस स्थान पर स्थित मन्दिर आज भी 'यथोक्तकारी' के नाम से प्रसिद्ध है।[१]

कहते हैं कि एक बार तिरुमलिसई कुम्भकोणम् नामक नगर में स्थित विष्णु मन्दिर के दर्शनार्थ गए थे। वहां कुछ ब्राह्मण वेद पाठ कर रहे थे। तिरुमलिसई को देखकर उन्हें नीच जाति वाला वेद वाक्य के श्रवण का अनधिकारी समझकर ब्राह्मणों ने वेद पाठ बन्द कर दिया। तिरुमलिसई उनके अभिप्राय को समझकर वहां से उठकर अन्यत्र चले गए। जब ब्राह्मणों ने पुनः वेद पाठ शुरू करना चाहा, तब किसीको भी याद नहीं आया कि उन्होंने कहां वेद पाठ बन्द किया था। उसे

१. 'तोंडकुलमै तोलकुलम', श्री पी० श्री० आचार्य, पृ० ५४-५५

तिरुमलिसई का अपमान करने का फल समझकर, वे तिरुमलिसई के पास आकर क्षमा मांगने लगे। तिरुमलिसई ने उन्हें वेद का वह वाक्य बताया, जहां से उन्हें प्रारम्भ करना था। यह भी कहते हैं कि श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों में तिलक लगाने के लिए श्री चूर्ण का प्रयोग इन्होंने ही पहले-पहल किया था।[1] गुरु-परम्परा ग्रन्थों के अनुसार ये सैकड़ों वर्ष जीवित रहे।

रचनाएं

तिरुमलिसई आलवार की दो रचनाएं 'प्रबन्धम्' में संगृहीत मिलता है—'नानमुखन तिरुवन्तादि' तथा 'तिरुचन्दविरुत्तम'। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने कई रचनाएं की थीं और उनसे संतुष्ट न होकर उन्हें कावेरी नदी में डाल दिया और कई रचनाएं सरिता के प्रवाह में वह गईं और केवल 'नान मुखन तिरुवन्तादि' तथा 'तिरुचन्दविरुत्तम' प्रवाह के साथ न बहकर अपने-आप किनारे की ओर लौट आईं।

'नानमुखन तिरुवन्तादि' आलवार की रचनाओं में सबसे पहले रचित मालूम पड़ती है। इसमें अन्तादि छन्द में रचित १०० पद एकत्रित हैं। इसमें विष्णु को परमात्मा मानकर शिव और ब्रह्मा को उनकी कृति बताया गया है। भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता, भगवान् के वात्सल्य, प्रेम आदि विशिष्ट गुणों का वर्णन है। सभी पद भक्ति तथा उपदेशपरक हैं। विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख है। पर कृष्णावतार में कवि की आस्था है। संसार की सारहीनता, भगवद्ध्यान करने में आनन्द, शरणागति आदि विषय भी वर्णित हैं। कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णन की सुन्दर छटा है।

तिरुचन्दविरुत्तम में १२० पद हैं। पद विविध रागों में हैं। इसका पूर्वार्द्ध वैष्णव धर्म के उपदेशों से सम्बन्धित है। वेद, उपनिषदों का सार दिया मिलता है। 'नानमुखन तिरुवंतादि' की अपेक्षा इसमें दर्शन के गूढ़ तत्त्वों का विवेचन है। उत्तरार्द्ध के कुछ पदों में एक विरहिणी नायिका के रूप में भगवान से मिलने के लिए आतुरता प्रकट की गई है। आलवार साहित्य में प्रथम बार नायक-नायिका के बीच विरह-मिलन के रूप में भगवान् और भक्त के बीच मिलन-आतुरता तिरुमलिसई की रचना से वर्णित हुई है।

नम्मालवार (शठकोप)

आलवर-गोष्ठी में नम्मालवार का स्थान सर्वोपरि है।[2] दक्षिण के समस्त वैष्णव भक्ति-साहित्य के इतिहास में नम्मालवार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।[3] नम्मालवार शठकोप, परांकुश, वकुलाभरण, मारन आदि नाम से भी प्रसिद्ध है। कहते हैं कि शैशवावस्था में 'शठ' नामक वायु पर, जो मनुष्यों को पीड़ित

१. *History of Tamil Language and Literature,* Prof. S. Vaiyapuri Pillai, p. 120.
२. *The Holy lives of Alvars or Dravida Saints*—A. Govindacharya, p. 191.
३. *Studies in Tamil Literature and History*—V. R. R. Dikshitar, p. 105.

करता है, अपना कोप प्रदर्शित कर इन्होंने भगाया था। अतः इनका नाम 'शठकोप' पड़ा। 'वकुल' नामक पुष्प को धारण करने से 'वकुलाभरण' तथा अन्य मताव-लंबियों को अपने तर्क रूपी अंकुश से परास्त करने से 'परांकुश' नाम इनको मिले।[1]

नम्मालवार का जन्म पांडिय देश में तिरुनेलवेली ज़िले में ताम्रवर्णी नदी के किनारे पर स्थित तिरुकुरुहर (वर्तमान आलवार तिरुनगरी) में हुआ था। जिस तरह अन्य आलवारों को विष्णु के आयुध विशेष या आभूषण विशेष का अवतार माना जाता है, उसी प्रकार नम्मालवार को विष्वक्सेन का अवतार माना जाता है। इनको 'अवयवी' तथा शेष आलवारों को 'अवयव' भी कहते हैं। इनका जीवन-काल बहुत-से विवाद का विषय रहा है। यह पांचवीं शती से नवीं शती तक दोलायमान है। गुरु-परम्परा ग्रन्थों के अनुसार इनका जन्म कलियुग प्रारम्भ के ४३ वें वर्ष में अर्थात् आज से ५००० वर्ष पूर्व हुआ था। यह मत विश्वसनीय नहीं हो सकता। आधुनिक विद्वानों में डॉ० कृष्ण स्वामी अय्यंगार इनका जीवन-काल छठी शताब्दी में मानते हैं।[2] श्री टी० ए० गोपीनाथ राव ने अनामलाई के शिलालेख के आधार पर, इनका काल नवीं शताब्दी बताया है।[3] श्री वी० आर० आर० दीक्षितार ने वैलवीकुडी दान-पत्र के आधार पर इनका समय सातवीं शताब्दी माना है।[4] यही मत अधिक समीचीन मालूम पड़ता है।

नम्मालवार के पिता का नाम करिमारन तथा माता का नाम उदयनंगै था। इनके पिता पाण्डेय राज के यहां उच्च पदाधिकारी थे और आगे चलकर वलुदिव-लैनाडू नामक एक छोटे राज्य के अधीन हो गए। बहुत समय तक कोई सन्तान न होने पर करिमारन ने पत्नी सहित तीर्थाटन कर श्री विष्णु भगवान् से पुत्र-सौभाग्य प्रदान करने की प्रार्थना की। कहा जाता है कि उसपर विष्णु भगवान् ने स्वयं उनके पुत्र रूप से अवतार लेने का वायदा किया था। जनश्रुति के अनुसार बालक नम्मालवार ने जन्म लेने के उपरान्त १० दिनों तक न तो अपनी आंखें खोलीं और न अपनी माता का दूध पिया, और न रोया ही था। अतएव इनके माता-पिता, बारहवें दिन इन्हें स्थानीय विष्णु मन्दिर में किसी इमली के वृक्ष के कोटर में छोड़ आए। वहां पर नम्मालवार १६ वर्ष तक योग मुद्रा धारण किए पड़े रहे और कहते हैं कि विष्णु भगवान् ने इनका पालन-पोषण किया था।

योग-मुद्रा से इनके जागने के सम्बन्ध में एक विचित्र घटना बताई जाती है। कहा जाता है कि मधुर कवि नामक एक विद्वान् ब्राह्मण उत्तर भारत के विभिन्न तीर्थों में घूमते हुए जब अयोध्या पहुंचे, तब उन्होंने दक्षिण दिशा में एक विचित्र ज्योति-स्तम्भ देखा। उन्हें ऐसा लगा कि वह ज्योति-स्तम्भ उनका आमन्त्रण कर रहा है। इस सार्थक निमन्त्रण से आकर्षित होकर मधुर कवि हज़ारों मील दक्षिण की ओर, उस ज्योति की दिशा में चले। कई पुण्य क्षेत्रों को पार करते हुए, अन्त में

१. 'श्रीभगवद् विषयम्', ए० रंगनाथ मुदालियार, पृ० १८-१९
२. *Early History of Vaishnavism in South India.*
३. *History of Sri Vaishnavas*, pp. 18-21.
४. *Studies in Tamil Literature and History*, pp. 104-105.

ताम्रवर्णी नदी के किनारे पर स्थित मन्दिर के इमली वृक्ष के पास पहुंचे। अब उन्हें स्पष्ट हो गया कि वह ज्योति योग-निष्ठावस्था में विराजमान नम्मालवार के शरीर से ही स्फुरित हो रही है। इन्होंने कौतूहलवश एक पत्थर उठाकर नम्मालवार के सामने पटक दिया। उसकी आवाज सुनते ही 'नम्मालवार' की आंखें खुल गईं और दोनों के बीच आध्यात्मिक चर्चा होने लगी। युवक नम्मालवार की ज्ञान-राशि से वृद्ध ब्राह्मण विद्वान मधुर कवि इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने नम्मालवार को निज गुरु के रूप में अपनाया। तत्पश्चात् मधुर कवि ने अपने आचार्य के मुख से निकलते जाने वालों पदों को यथाक्रम लिपिबद्ध किया। ये ही सब नम्मालवार की रचनाओं के नाम से संगृहीत हुए हैं।[१]

यद्यपि सभी गुरु-परम्परा ग्रंथ एक ही स्वर से घोषित करते हैं कि नम्मालवार ने इमली के पेड़ के कोटर में रहते हुए आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था और दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध न था, तथापि नम्मालवार की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि ये समाज में अवश्य रहे थे और मनुष्य-जीवन की समस्याओं का सामना इन्हें भी करना पड़ा था। अतः इनकी रचनाओं में तत्कालीन समाज का चित्रण मिलता है। कुछ पदों में तमिल-प्रदेश के अनेक स्थलों का ऐसा वर्णन है जो उन स्थलों को बिना देखे सम्भव ही न था। इनकी रचनाओं में इनके पूर्व के तमिल साहित्य में प्राप्त होने वाली सभी साहित्यिक परम्पराओं का निर्वाह हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि इन्होंने तमिल साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। ये संस्कृत के भी बड़े विद्वान थे। क्योंकि इनकी रचनाओं में वेद, उपनिषद् तथा गीता के सार का समावेश हुआ है।

नम्मालवार की अन्य जीवन-घटनाओं का पता नहीं चलता। ये अविवाहित ही रहे और सांसारिक वस्तुओं में इनका मोह न था। कहा जाता है कि ये केवल ३५ वर्ष तक ही जीवित रहे।

रचनाएं

नम्मालवार के निम्नलिखित चार ग्रन्थ 'दिव्य प्रबन्धम् में समाविष्ट हैं :

१. तिरुविरुत्तम
२. तिरुवाचिरियम
३. पेरिय तिरुवन्तादि और
४. तिरुवायमोली

'तिरुवायमोली' नम्मालवार का सबसे बड़ा ग्रन्थ है और यह 'दिव्य प्रबन्धम्' का पूरा चौथा भाग बन गया है।

'तिरुविरुत्तम' को ऋग्वेद का सार कहा जाता है। इसमें १०० पद हैं। इसमें भगवान् के प्रति प्रेम और तन्मय भाव के सम्बन्ध में विस्तार से कहा गया है। कवि ने स्वयं को विरहिणी नायिका के रूप में और भगवान को प्रियतम नायक के रूप में मानकर माधुर्य भाव से भक्ति-भावना प्रकट की है। नायिका का प्रियतम से मिलने के लिए आतुर होना, समस्त प्रकृति को अपने प्रतिकूल पाना, विह्वल होना,

१. *Nammalvar*.—G. A. Natesan, Madras, pp. 22-23.

नायक की प्रतीक्षा करते-करते क्षीण होना, मेघ, पक्षी द्वारा सन्देश भेजना, अन्त में मरने तक को तैयार हो जाना आदि बातों का विशद वर्णन है। कथा में प्रबन्धात्मकता की छटा है। ऊपर से देखने पर यह एक लौकिक प्रेमकाव्य मालूम पड़ेगा, परन्तु इसमें कवि ने विरहिणी नायिका के रूप में भगवान के प्रति अपनी स्थिति का ही वर्णन किया है। यह मधुर भक्ति का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह रहस्यानुभूतियों का भण्डार है। कवि ने तमिल के संघकाल के काव्यों में प्राप्त होनेवाली लौकिक प्रेम-सम्बन्धी सभी साहित्यिक परम्पराओं को लेकर उनका उपयोग इस प्रकार कर दिया है।

'तिरुवाचिरियम' में ७ पद हैं तथा 'पेरिय तिरुवन्तादि' में ८७ पद हैं। इनको क्रमशः यजु और अथर्व वेदों का सार कहा जाता है। इनमें कोई कथा वर्णित नहीं है। सभी पद भक्ति तथा उपदेशपरक हैं। इनमें भगवद्स्वरूप, गुण, विभूति, भक्ति तत्त्व, शरणागति तत्त्व आदि की चर्चा है।

'तिरुवायमोली' नम्मालवार के ग्रन्थों में ही नहीं, बल्कि समस्त आलवार साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'तिरुवायमोली' का अर्थ है—संत-महात्मा के मुख से निकली हुई दिव्य वाणी। 'वायमोली' शब्द प्राचीन तमिल साहित्य में 'वेद' के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] इसमें १,१०२ पद हैं, जो विभिन्न राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। 'तिरुवायमोली' को सामवेद का सार कहा जाता है। इसके स्फुट पद दशकों में बंटे हैं और प्रत्येक ग्यारहवें पद में फल-श्रुति है। इसमें भक्ति, उपदेश, शरणागति, गुरु-महिमा आदि विषय वर्णित हैं। उच्चकोटि के दार्शनिक विचार भी अभिव्यक्त हुए हैं। माधुर्य और सख्य भाव से भक्ति का विवेचन हुआ है। इसमें भी अनेक दशको में नायक-नायिका के माध्यम से जीवात्मा-परमात्मा सम्बन्ध की रोचक व्याख्या हुई है।

प्रसिद्धि

तमिल के भक्ति-साहित्य में नम्मालवार को जो स्थान प्राप्त हुआ है, वह शायद ही अन्य किसी कवि को मिला हो। इन्हें दिव्य कवि भी कहते हैं।[2] इनके पदों में व्याप्त उच्च कोटि के दार्शनिक विचार ही श्री वैष्णव मत के मूल स्रोत हैं। इस कारण इन्हें 'श्री वैष्णव कुल पति' भी कहा जाता है।[3] तमिल प्रदेश के अनेक वैष्णव मन्दिरों में श्री विष्णु की दिव्य पादुका श्री शठकोप के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिसे भक्त लोग अपने सिर पर धारण करते हैं। इनके नाम पर अनेक प्रशस्ति ग्रन्थ लिखे गए हैं। जिनमें मधुर कवि कृत 'कण्णिनुल चिरुत्ताम्पु' 'आचार्य हृदय,' 'पादुकासहस्रम्' 'द्राविड़ उपदेश रत्नावली,' 'शठकोपरन्तादि,' 'आलवार अनुभूति,' 'दिव्यसूरिचरितम्' मुख्य हैं। इनमें नम्मालवार की बड़ी स्तुति की गई है।

कहते हैं कि तमिल के कवि चक्रवर्ती के नाम से विख्यात कम्बर द्वारा रचित

१. 'ज्ञान शिखरम्', पी० श्री० आचार्य, पृ० ६६

२. शठरिपुरेक एव कमलापति दिव्य कविः—'दिव्यसूरि कथामृतम्', श्री पी० बी० अण्णंगराचार्य, पृ० १२

३. वही, पृ० १२

'रामायणम्' को भगवान् श्री रंगनाथ ने तभी स्वीकार किया, जब उन्होंने नम्मालवार की प्रशंसा में 'शठकोपरन्तादि' की रचना की। कवि कम्बर का कहना है—"क्या विश्व के समस्त काव्य-संग्रह नम्मालवार के एक शब्द की बराबरी कर सकते हैं ? क्या खद्योत अंशुमाली के सामने चमक सकते हैं ?" इत्यादि। प्रसिद्ध है कि जब कम्बर ने भगवान् श्री रंगनाथ के सामने शठकोपरन्तादि के पदों को गाकर सुनाया था तो भगवद्विग्रह में से आवाज़ निकली—"ये ही हमारे आलवार (नम्मालवार) हैं।" तभी से इनका नाम 'नम्मालवार' हो गया।

इन्हें दक्षिण का समस्त वैष्णव जगत् 'वकुल भूषण भास्कर' कहकर पुकारता है। ब्रह्माण्ड पुराण, भविष्यत् पुराण, मार्कण्डेय पुराण आदि में नम्मालवार (शठकोपाचार्य) सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। ये 'तमिल वेद प्रणेता' अथवा 'तमिल वेद व्यास' के नाम से भी प्रसिद्ध है।[1] जिस इमली वृक्ष के कोटर में रहकर नम्मालवार ने ज्ञानोदय प्राप्त किया था, वह आज भी आलवार तिरुनगरी में विद्यमान हैं और भक्त उसके दर्शन कर आते हैं।[2]

नम्मालवार रचनाएं 'द्राविड़-वेद-सागर' के नाम से प्रसिद्ध हैं।[3] कहा जाता है कि रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखते समय अपने सन्देहों का समाधान नम्मालवार की रचनाओं को देखकर ही किया था।[4] वेदान्तदेशिकाचार्य ने भी वेद-रहस्यों को नम्मालवार की रचनाओं को पढ़कर ही समझा था।

नम्मालवार की 'तिरुवायमोली' पर अनेक भाष्य अथवा टीका-ग्रन्थ लिखे गए हैं। तेलुगू और कन्नड़ भाषाओं से इसका अनुवाद हो चुका है। संस्कृत में 'सहस्र गीति' के नाम से यह श्लोकों में अनूदित है। जहां तक 'तिरुवायमोली' के साहित्यिक महत्त्व का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि इसने परवर्ती भक्ति-साहित्य को बहुत प्रभावित किया। इसके उच्च आदर्श को परवर्ती कवियों ने अपने सामने रखा है। अनेक वैयाकरणों ने नम्मालवार के पदों को ही श्रेष्ठ उदाहरणों के रूप में उध्धृत किया है।

मधुर कवि आलवार (मधुर कवि)

मधुर कवि तथा नम्मालवार—दोनों की जीवनियां एक-दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध रखती हैं। मधुर कवि आलवार का जन्म तिरुकुरुहूर के समीपवर्ती ग्राम तिरुकोइलूर में एक अग्र शिखी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। श्री वैष्णव सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु के वाहन गरुड़ का अवतार माना जाता है। गुरु-परम्परा ग्रन्थों से भी इनके जीवन-वृत्त पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। मधुर कवि ने बचपन में वेद तथा अन्य शास्त्रों का नियमवत् अध्ययन किया था। संस्कृत तथा तमिल—

१. 'ज्ञान शिखरम्', श्री पी० श्री० आचार्य, पृ० ९५

२. वही, पृ० ९४

३. वही, पृ० १००

४. "It is 'Tiruvoymoli' that has shaped the furniture of Sri Ramanuja's capacious mind and heart."—*Vedanta Kesari*, R. S. Desikan. May, 1961, p. 47.

दोनों भाषाओं में पाण्डित्य प्राप्त किया था। बचपन से गीत रचना करते थे और सुमधुर कंठ से गाते थे। कदाचित् इनकी मधुर ध्वनि से प्रभावित होकर लोगों ने इन्हें 'मधुर कवि' के नाम से पुकारा होगा। इनके असली नाम का पता नहीं चलता।

कहते हैं, मधुर कवि श्रेष्ठ भक्त थे। इन्होंने विद्या के साथ प्रेम और भक्ति को भी महत्त्व दिया था और ये साधु-सन्तों की संगति किया करते थे। परन्तु किसीमें भी अपने गुरु होने की योग्यता न देखकर अन्त में ये सद्गुरु की खोज में अकेले ही निकल पड़े। इन्होंने दक्षिण और उत्तर के विभिन्न तीर्थस्थानों के दर्शन किए, पर कहीं भी सद्गुरु प्राप्त नहीं हुआ। कहा जाता है कि जब ये अनेक तीर्थों में घूमते हुए आखिर अयोध्या पहुंचे, तब इन्होंने दक्षिण दिशा में आकाश में एक ज्योति-पुंज को देखा। उस तेज पुंज का पता लगाने की तीव्र इच्छा से उसे लक्ष्य कर दक्षिण दिशा में लम्बे मार्ग को पारकर अन्त में तिरुकुरुहूर आ पहुंचे, जहां नम्मालवार इमली वृक्ष के कोटर में समाधिस्थ थे। समाधि अवस्था से जगाने के उद्देश्य से मधुर कवि ने नम्मालवार से यह प्रश्न किया कि यदि सत् पदार्थ (सूक्ष्म चेतना शक्ति) असत् (जड़ प्रकृति) के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है तो वह क्या खाएगा और कहां विश्राम करेगा? नम्मालवार ने अब आंखें खोलीं और उत्तर दिया कि वह उसीका आहार करेगा तथा वहीं पर विश्राम भी करेगा। इस सूक्ष्म उत्तर का आशय समझकर मधुर कवि इतने प्रभावित हुए कि नम्मालवार का शिष्यत्व ग्रहण किया।[1] जिस सद्गुरु की खोज में ये निकले थे, उन्हें नम्मालवारके रूप में पाकर इन्होंने अपने जीवन को धन्य समझा और गुरु की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। उस ज़माने में एक वयोवृद्ध ब्राह्मण का निम्न जाति के एक युवक को गुरु मानना क्रान्तिकारी घटना थी। नम्मालवार इनके लिए गुरु ही नहीं, माता-पिता तथा ईश्वर तक थे। प्रसिद्ध है कि मधुर कवि ने शेष जीवन गुरु-सेवा में ही अर्पित किया था। कहा जाता है कि १६ वर्ष ये गुरु की सेवा में रत रहे और उनके मुख से निःसृत पदों को लिपिबद्ध करते रहे। जब नम्मालवार ने अपने ३५ वें वर्ष में इहलोकलीला समाप्त की, तब इन्हें गुरु के वियोग में अत्यधिक दुःख हुआ। गुरु के पदों को साधारण जनता में प्रचार करना ही अपने जीवन का एक मात्र ध्येय समझा। गुरु के स्मरणार्थ इन्होंने उनके जन्म-स्थान तिरुकुरुहूर में उनकी एक शिला (मूर्ति) स्थापित की। गुरु की महिमा गाते हुए विभिन्न स्थानों में जाकर उनके उत्कृष्ट पदों का महत्त्व साधारण जनता को बताया और जनता में भक्ति भावना जगा दी। गुरु नम्मालवार को इन्होंने ईश्वर तुल्य समझा था और उनके पदों को 'देव वाणी' और उनको देव कवि कहकर स्मरण किया। कहा जाता है कि प्रसिद्ध तमिल संघ (कवि-मण्डल) में जाकर इन्होंने नम्मालवार के एक-एक पद में व्याप्त महान गूढ़ रहस्य को समझाया और नम्मालवार के श्रेष्ठ कवित्व का भी परिचय दिया।[2]

---

१. 'द्राविड़ मुनिवरकल', श्री राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ६६

२. *Vedanta Kesari*, Vol. 32—*Madhura Kavi*, Sri Saila, p. 34.

मधुर कवि आयु में अपने गुरु नम्मालवार से बड़े थे। गुरु के गोलोकवास के पश्चात् भी ये १५ वर्ष तक जीवित रहे। कहा जाता है कि इन्होंने आलवारों में सबसे लम्बी आयु प्राप्त की थी और १७१ वर्ष की अवस्था में अपने गांव तिरु-कोइलूर में गुरु का स्मरण करते हुए अपनी इहलोकलीला समाप्त की। चूंकि मधुर कवि अपने को नम्मालवार का दास मानते थे, इसलिए नम्मालवार की पादुका को 'मधुर कवि' नाम प्राप्त है।

रचनाएं

मधुर कवि आलवार की एक मात्र रचना 'कण्णिनुल चिरुतांबु' उपलब्ध है जो 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत है। इसमें केवल ग्यारह पद हैं, जिनमें गुरु नम्मालवार की महिमा गाई गई है। गुरु को इन्होंने ईश्वर तुल्य समझकर उनकी स्तुति प्रस्तुत की है। श्रेष्ठ गुरु की आवश्यकता, गुरु के लक्षण, भक्ति की आवश्यकता आदि विषयों की भी चर्चा की है। कहा जाता है कि कवि चक्रवर्ती कम्बर ने शठकोपाचार्य (नम्मालवार) की प्रशस्ति में 'शठकोपरन्तादि' नामक ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा 'कण्णिनुल चिरतांबु' से ही प्राप्त की थी।'[1]

'तिरुवायमोली' के पाठ का आरम्भ 'कण्णिनुल चिरुतांबु' के पठन के बाद ही होता है।

कुलशेखरालवार (कुलशेखर)

चेरवंशीय राजा कुलशेखर का आलवार भक्तों में एक प्रमुख स्थान है, जिन-की तमिल वैष्णव भक्ति साहित्य को देन बहुत ही श्लाघनीय है। 'केरलोत्पत्ति' नामक ग्रन्थ में केरल प्रान्त के चेरवंशीय शासकों की वंशावली दी गई है। ये शासक 'पेरुमाल' नाम से भी प्रसिद्ध थे। अतः कुलशेखरालवार को 'कुलशेखर पेरुमाल' भी कहते हैं। कहा जाता है कि राजा दृढ़व्रत की पुत्र प्राप्ति के हेतु अपार तपस्या के फलस्वरूप उनके पुत्र-रत्न के रूप में कुलशेखर का जन्म हुआ। दृढ़व्रत ने अपने पुत्ररत्न को अपने कुल का 'शेखर' मानकर उनका नाम कुलशेखर रख दिया था। गुरु-परम्परा ग्रन्थों में कुलशेखरालवार को विष्णु के वक्षस्थल की कौस्तुभ मणि का अवतार माना जाता है।

कुलशेखरालवार के जीवन-काल के विषय में अनेक मत हैं। डॉ० भाण्डार कर इनका समय १२वीं शतीं में मानते हैं।[2] उनका तर्क है कि चूंकि कुलशेराल-वार मुख्यतया रामोपासक थे और रामोपासना १२वीं शती में ही विकास को प्राप्त हुई, इसलिए उनका काल १२ वीं शती के आस-पास मानना ही उचित है। परन्तु वस्तुस्थिति भिन्न है। कुलशेरालवार जितने रामभक्त थे, उतनें ही कृष्ण-भक्त भी थे। कुलशेखर के पहले के आलवारों ने भी रामोपासना की थी। डॉ० कृष्ण स्वामी अय्यंगार ने कुलशेखर का जीवन-काल सातवीं शताब्दी माना है।[3]

---

१. 'भक्ति-पूंक्का', श्री एतिराजुलु नायुड्, पृ० ५८

२. *Vaishnavism, Shaivism and other minor Religious Sects.*

३. *History of Tirupati*,—Dr. S. Krishnaswamy Iyengar, Vol. I, p. 166.

कुलशेखरालवार की रचनाओं में उपलब्ध अन्त:साक्ष्य तथा शिलालेखों[1] के आधार पर कहा जा सकता है कि ये आठवीं शताब्दी में जीवित थे।[2] अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है। कुलशेखरालवार ने अपने को क्षत्रिय कुल[3] का तथा 'कोंगु'[4] देश का राजा बताया है और अपनी राजधानी 'कोल्ली'[5] (वर्तमान क्वलौन) का उल्लेख किया है। अपनी रचना 'मुकुन्दमाला' में इन्होंने 'द्विजन्मवरर' तथा 'पद्मसरर' नामक अपने दो मित्रों का परिचय दिया है।[6]

राज परिवार में उत्पन्न होने के कारण कुलशेखर की शिक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध हुआ था। विभिन्न शास्त्रों और नाना कलाओं में इन्होंने विद्वत्ता अर्जित की। संस्कृत तथा तमिल दोनों भाषाओं में समान रूप से पांडित्य प्राप्त किया। क्षत्रिय होने के कारण ये शस्त्र विद्या में भी निपुण सिद्ध हुए। इन्होंने पास के छोटे राज्यों को जीतकर एक बड़ा शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। कहा जाता है कि पुत्र की योग्यता से पूर्णतः सन्तुष्ट होकर राजा दृढ़व्रत ने कुलशेखर का राजतिलक कराकर स्वयं वनवास ले लिया। बचपन से ही कुलशेखर ने भगवत्-कथाएं सुनी थीं ओर इनकी मन भक्ति की ओर झुका हुआ था। इनके यहां वैष्णव भक्तों का बड़ा आदर-सत्कार होता था और भगवद्चर्चा भी होती थी। सिंहासनारूढ़ होने के कुछ काल ही के पश्चात् राजा कुलशेखर का मन शासन-सम्बन्धी कार्यों से ऊब गया। कहा जाता है कि एक दिन इन्होंने स्वप्न में भगवान् के दर्शन किए तथा तत्पश्चात् इनका मन भक्ति को छोड़कर किसी दूसरे कार्य में नहीं लगा। राज्य को त्यागकर श्रीरंगम् की भक्ति-गोष्ठी में जा मिलने की इन्हें तीव्र इच्छा हुई।

कुलशेखरालवार की तीव्र भक्ति-भावना को लक्ष्य करने वाली अनेक जन-श्रुतियां प्रचलित हैं। जब से राजा कुलशेखर का मन शासन-सम्बन्धी कार्यों में नहीं लगा, तब से अमात्य तथा राज परिवार के लोगों को बड़ी चिन्ता हुई। कहा जाता है कि हर बार जब ये राज्य त्यागकर श्रीरंगम् जाने की तैयारी करते, तब अमात्य इनके पास किसी एक नये वैष्णव भक्त को भेज देते और उस वैष्णव भक्त का आदर-सत्कार करने के लिए कुलशेखर रुक जाते थे। इस प्रकार इनकी श्रीरंगम्-यात्रा स्थगित होती जाती थी। यह तो कहा जा चुका है कि कुलशेखर के यहां वैष्णव भक्तों का बड़ा सम्मान था। भक्तों के प्रति राजा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई श्रद्धा को देखकर अमात्य तथा राज-परिवार के लोगों को ईर्ष्या हुई और उन लोगों ने राजा के मन में भक्तों के प्रति अविश्वास पैदा करने के लिए

१. नवीं शती के एक शिलालेख में कुलशेखरालवार के एक पद की कुछ पंक्तियां उद्धृत हुई हैं—जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका जीवनकाल अवश्य उससे पूर्व था।
२. 'आलवारकल कालनिलै', श्री राघव अय्यंगार, पृ० १६१
३. 'पेरुमाल तिरुमोली', ८ : ३
४. वही, ३ : ९
५. वही, ६ : १०
६. 'मुकुन्दमाला', श्लोक ४० (प्रकाशक श्री वी० वी० के० रंगाचारी, काकीनाडा)

एक उपाय ढूंढा। उन्होंने एक मूल्यवान् रत्नमाला को छिपाकर उसके चोरी हो जाने की बात कुलशेखर से कही और चोरी का अपराध वैष्णव भक्तों पर लगाया। राजा का दृढ़ विश्वास था कि वैष्णव भक्त ऐसा अपराध नहीं कर सकता था। कहा जाता है कि राजा ने एक घड़े में विषधर को डालकर लाने को कहा और यह कहकर कि अगर किसी वैष्णव भक्त ने चोरी का अपराध किया हो तो यह सर्प मुझे मार डाले, नहीं तो मुझे कुछ न करे, उस घड़े के अन्दर हाथ डाले। विषधर ने राजा को कुछ नहीं किया और इस प्रकार भक्तों की निष्कलंकता स्थापित की। इस घटना से अमात्य लोगों का बड़ा अपमान हुआ और उन लोगों ने राजा से क्षमा मांगी।

कुलशेखर की राम-भक्ति को लक्ष्य करने वाली अनेक जनश्रुतियां प्रचलित हैं, जिनमें प्रमुख दो-एक को यहां दिया जाता है। एक बार जब ये कथावाचक से रामायण का व्याख्यान सुन रहे थे और उसमें सीता की रक्षा के लिए लक्ष्मण को नियुक्त कर अकेले ही श्री रामचन्द्र का खरदूषण की विपुल सेना से युद्ध करने का प्रसंग[1] आया, तब कुलशेखर ने तन्मय होकर, राम की सहायता के लिए अपनी समग्र सेनाओं को प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी। कथावाचक के यह कहने पर ही कि राम अकेले ही सबको मारकर सीता सहित विजयी होकर लौटे, कुलशेखर ने अपनी सेना को वापस बुलाया। एक अन्य अवसर पर जब कथावाचक ने कहा कि रावण ने सीता का हरण किया, इन्होंने श्रीलंका पर चढ़ाई कर सीता जी को लाने की आज्ञा सेनापति को दी और स्वयं समुद्र तट तक जाकर समुद्र में उतरने लगे। कथावाचक के यह कहने पर कि श्री रामचन्द्र रावण को मारकर सीता जी सहित लौटे, ये राज महल की ओर वापस आए।

अन्त में जब कुलशेखर श्रीरंगम् के विशालकाय मन्दिर के प्रांगण में भगवान् की भक्त-मण्डलियों में सम्मिलित होकर नृत्य, भजनादि से द्रवित अपने जीवन बिताने की तीव्र उत्कंठा[2] का संवरण न कर सके, तब राज्य, ऐश्वर्य को त्यागकर पुण्य क्षेत्रों के दर्शन के लिए निकल पड़े। श्रीरंगम्, तिरुपति आदि वैष्णव स्थलों के दर्शन इन्होंने किए। दिव्यसूरिचरितम्[3] में कहा गया है कि इन्होंने अपनी पुत्री ईला का विवाह भगवान् श्री रंगनाथ के साथ कराया। तमिल जनता के बीच में कुलशेखर-सम्बन्धी प्रसिद्धियां ही बहुत अधिक प्रचलित हैं। परम्परा ग्रन्थों के अनुसार इन्होंने अपनी तीव्र भक्ति-भावना को पदों में अभिव्यक्त कर अपने ६७ वें वर्ष में अपनी इहलीला समाप्त की। इनके पद भक्त हृदय को बहुत ही द्रवित करने वाले हैं। कुलशेखर ने अपने एक पद[4] में भगवान् से यह प्रार्थना की है कि

१. चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति॥ —'वाल्मीकीय रामायण', ३-२४-२३

२. पेरुमाल तिरुमोली, १ : ६

३. इसे विद्वान् अप्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।

४. 'पेरुमाल तिरुमोली', ४ : ६

अगले जन्म में वे इन्हें कम-से-कम वह सीढ़ी बना दें जिसपर चढ़कर भक्त भगवान् के दर्शन के लिए देवालय में प्रवेश करते हैं। आज भी वैष्णव मन्दिरों की सबसे ऊंची सीढ़ी को 'कुलशेखर सोपान' कहते हैं।

रचनाएं

कुलशेखरालवार के नाम से दो रचनाएं मिलती हैं। एक तमिल भाषा में है और दूसरी संस्कृत में है। इनकी तमिल रचता 'पेरुमाल तिरुमोली' कहलाती है, जिसमें १०५ पद हैं। केवल ये ही तमिल पद दिव्य प्रबन्धम् में संगृहीत हैं। इनकी संस्कृत रचना मुकुन्दमाला के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें ४० श्लोक हैं।

श्री के० रामपिशारठी, मुकुन्दमाला[1] को कुलशेखरालवार कृत नहीं मानते। उनका तर्क यह है कि चूंकि कुलशेखर के नाम से एक से अधिक राजा केरल में हुए थे, इसलिए यह कहना कठिन है कि यह किस कुलशेखर की रचना है। मुकुन्द-माला को तमिल कुलशेखरालवार की रचना न मानने के सम्बन्ध में श्री पिशारठी का कथन है कि चूंकि तमिल कुलशेखरालवार मुख्यतः रामभक्त थे और मुकुन्द-माला के रचयिता ने केवल कृष्ण की ही स्तुति की है, इसलिए यह रचना तमिल आलवार की नहीं हो सकती। पर मुकुन्दमाला का आद्योपान्त अध्ययन करने से पता चलता है कि उसमें कृष्ण की वन्दना ही नहीं, बल्कि राम-वन्दना भी है।[2] और हमारे आलवार जितने रामभक्त थे, उतने ही कृष्णभक्त भी। पेरुमाल तिरुमोली तथा मुकुन्दमाला में अनेक स्थलों पर भाव-साम्य दीख पड़ता है।

अतः मुकुन्दमाला के तमिल कुलशेखरालवार कृत होने में किंचित् भी सन्देह नहीं है। अतः श्री पिशारठी का मत अमान्य सिद्ध होता है।[3]

१. पेरुमाल तिरुमोली

इसके पद दशकों में विभाजित हैं। पद विभिन्न राग-रागिननियों में गाने योग्य हैं। प्रथम पांच दशकों के पद आत्म-निवेदनपरक हैं। इनमें श्रीरंगम् की भक्त मण्डली से सम्मिलित होकर नृत्य भजनादि करने की कवि की तीव्र उत्कण्ठा, सांसारिक जीवन के प्रति कवि की विमुखता, भगवान् के सम्मुख कवि की दीनता तथा अगले जन्म में श्री वेंकट गिरि में भगवान् कृष्ण की सेवा में प्रस्तुत किसी भी वस्तु के रूप में जन्म लेने की उनकी कामना आदि बातें भावमयी भाषा तथा हृदय को द्रवित करने वाली शैली में वर्णित हैं। छठे दशक में बाल गोपाल की विचित्र चेष्टाओं का विशद वर्णन है। सातवें दशक में कृष्ण की शिशु-लीलाओं के रसा-स्वादन से वंचित माता देवकी के करुण विलाप का वर्णन है। आठवें दशक में दाशरथी राम को पालने में कौशल्या के लोरी गाने का तथा दवें दशक में राम के

१. 'श्री मुकुन्दमाला', संपादक : श्री के० रामपिशारठी (भूमिका भाग), प्रकाशक : अन्नामलै विश्वविद्यालय

२. श्रीनाथ नारायण वासुदेव, श्रीकृष्ण भक्तप्रियचक्रपाणे।
श्रीपद्मनाभाच्युत कैटभारे, श्रीराम पद्माक्ष हरे मुरारे॥ —'श्री मुकुन्दमाला', ३६

३. "It is therefore clear that the views of Mr. Pisharoti are untenable and incorrect." Dr. K. C. Varadachari—*Journal of Sri Venkiteswara Oriental Research Institute*, Vol. III, Pt. II. p. 168.

वन-गमन पर दशरथ-विलाप का वर्णन है। अन्तिम दशक में सम्पूर्ण रामायण की कथा संक्षेप में दी गई है।

२. *मुकुन्दमाला*

यह कोमल-कान्त पदावली में रचित शेषशायी विष्णु को कवि की 'गीतांजलि' है। इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इनमें इसके ४० श्लोक तक मिलते हैं। इस छोटी-सी रचना में कवि ने अपार कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। यह संस्कृत का सबसे सुन्दर स्तोत्र काव्य है तथा टीकाकार राघवानन्द के अनुसार यह 'मुकुन्द अष्टाक्षर मंत्र' का सफल प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है।[1] १७ वीं शती के श्री राघवानन्द ने इसपर टीका लिखी है जो 'मुकुन्दमाला तात्पर्य दीपिका' नाम से प्रसिद्ध है। सांसारिक माया-मोह के जाल से मुक्त होकर सर्वदा भगवान् के गुण-गान में तल्लीन रहने का उपदेश दिया गया है। कवि ने कृष्ण भगवान् की विभिन्न लीलाओं की ओर भी संकेत किया है।

पेरियालवार (विष्णुचित्त)

आलवारों में 'पेरियालवार' का एक विशिष्ट स्थान है। 'विष्णुचित्त' इनका बचपन का नाम था। जाति के ये ब्राह्मण थे।[2] इनकी रचनाओं में इनके ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने तथा पांडिय राज्य के अन्तर्गत प्रसिद्ध श्री विल्लिपुत्तूर नामक गांव में इनका जन्म होने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर अपने समकालीन पांडिय राजा वल्लभदेव पांडियन का उल्लेख किया है। वल्लभदेव (शासनकाल: ईस्वी ७४०-७६७) ने उन्हें अपने ज्ञान-गुरु के रूप में अपनाया था।[3] अतः अधिकांश विद्वान् इनका जीवन-काल आठवीं शती में मानते हैं।[4] इन्हें उक्त राजा ने 'पट्टर पिरान' (श्रेष्ठ ब्राह्मण) की उपाधि भी प्रदान की थी।

गुरु-परंपरा-ग्रन्थों के अनुसार पैरियालवार के पिता का नाम मुकुन्दाचार्य था और माता का नाम पद्मा था। बचपन से ही विष्णुचित्त का चित्त विष्णु की उपासना में रम गया था। ये साधारण बालकों से विलक्षण प्रतीत होते थे और अपना अधिकांश समय भगवत्-ध्यान में व्यतीत करते थे। शास्त्राध्ययन इनका विशेष न हो सका। इन्होंने एक कथावाचक पौराणिक से कृष्ण-कथा-प्रसंग में यह श्लोक 'प्रसाद परमौ नाथौ मम गेहमुपागतौ। धन्योहमर्चयिष्यामीत्याह माल्योपजीवनः'[5] सुनकर यह निश्चय किया कि प्रतिदिन श्री भगवान् के श्रीचरणों में पुष्पमालाओं का समर्पण करना ही भगवन्मुखोल्लास को बढ़ाने वाला श्रेष्ठ

१. 'श्री मुकुन्दमाला' (भूमिका-भाग), श्री के० रामपिशारठी; प्रकाशक: अनामलै विश्वविद्यालय

२. श्री हेमचन्द्र राय चौधरी ने अपने ग्रन्थ 'अर्ली हिस्टरी आफ दी वैष्णव सेक्ट' (पृ० ११०) में गलती से इन्हें 'परया' जाति में उत्पन्न बताया है।

३. 'भगवानै वलर्त्त भक्तर,' श्री पी० श्री० आचार्य, पृ० ५९

४. 'आलवारकल कालनिलै,' श्री एम० राघव अय्यंगार, पृ० ६६

५. 'दिव्यसूरिकथामृतम्,' श्री पी० बी० अण्णंगराचार्य, पृ० १७

कार्य है। तत्पश्चात् इन्होंने एक सुन्दर बगीचा लगाया। नित्य नवीन सुमनों का चयन कर उनकी मालाएं गूंथकर स्थानीय विष्णु मन्दिर के 'वटपत्रशायी' के चरणों में अर्पित करते थे और अधिकांश समय मन्दिर में ही व्यतीत करते और विष्णुसहस्रनाम को गाया करते थे।

कहते हैं कि तत्कालीन पांडिय राजा वल्लभदेव ने शास्त्र-मर्मज्ञों की एक सभा बुलाई थी और यह घोषणा की थी कि जो विद्वान् उस सभा में आकर वैदिक प्रमाणों का निरूपण कर ठीक तरह से परब्रह्म को निर्धारित करेंगे उन्हें पुरस्कार और गौरव प्रदान किया जाएगा। एक दिन 'वटपत्रशायी' ने स्वप्न में प्रकट होकर पेरियालवार को आदेश दिया कि पांडिय राजा के दरबार में जहां विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि शास्त्रार्थ में भाग ले रहे हैं तुम भी सम्मिलित होकर शाश्वत आनन्द की उपलब्धि का मार्ग दिखाकर मेरे प्रेम और भक्ति का महत्त्व सर्वसाधारण को बता दो। विष्णुचित्त ने इस कठिन कार्य के लिए अपने को कम योग्य समझा। परन्तु भगवान् की आज्ञा का पालन करना तो था ही, अतः भगवान् पर भरोसा रखकर ये पांडिय राजधानी मदुरा में जाकर राजा द्वारा संगठित विद्वानों की गोष्ठी में शामिल हुए। इन्होंने विभिन्न धर्मावलम्बी पंडितों की उठाई गई समस्त शंकाओं का समाधान प्रस्तुत कर उन्हें शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया और यह साबित किया कि श्री लक्ष्मी नारायण ही पर देवता हैं जिनके चरणों में शरण लेना ही हितकर है और मोक्षदायक है। राजा ने विष्णुचित्त के अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर उन्हें विजयी घोषित किया। आलवार को द्रव्यादि के साथ 'पट्टर पिरान्' की उपाधि भी प्राप्त हुई। राजा ने आलवार को सम्मानित करने के लिए उन्हें हाथी पर बिठाकर नगर में एक जुलूस निकाला। कहा जाता है कि उस समय श्री विष्णुचित्त ने अपनी प्रतिष्ठा को भगवदनुग्रह का ही फल समझकर आकाश की ओर देखा तो साक्षात् विष्णु महालक्ष्मी के साथ गरुड़ारूढ़ होकर प्रकट हुए। विष्णुचित्त ने अपने उपास्य देव के दर्शन कर अपने जीवन को धन्य समझा। भगवान् की दिव्य मंगल शोभा को देखकर इनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। परन्तु उनके मन में एक विचित्र चिन्ता पैदा हुई कि भगवान् की यह सौंदर्य-राशि बिगड़ न जाए। उसके लिए इन्होंने प्रार्थना की कि वह अनुपम सौंदर्य सहस्रों-करोड़ों वर्ष शाश्वत रहे।[१] जहां दूसरे आलवारों ने भगवदनुग्रह की ही याचना की है, श्री विष्णुचित्त ने स्वयं भगवान् को भी असीम वात्सल्य से मंगल कामनाएं अर्पित कीं। इसी कारण इन्हें 'पेरियालवार' अर्थात् 'महान् आलवार' विरद प्राप्त हुआ।[२]

पांडिय राजधानी में प्राप्त धनराशि को लेकर पेरियालवार अपने निवास-स्थान श्री बिल्लिपूत्तूर को लौट आए और उस धन को अपने इष्टदेव की सेवा में अर्पित करने की इच्छा से 'वटपत्रशायी' के मन्दिर के 'गोपुर' को बनाने में लगा दिया। तत्पश्चात् भी ये पूर्ववत् सुमन-चयन कर मालाएं गूंथने और 'वटपत्रशायी'

१. 'तिरुपल्लांडु,' पद सं० १-१०
२. 'उपदेश रत्नमाला,' पृ० १८

के चरणों में अर्पित करने के दिव्य कार्य में लगे रहे। पुष्पांजलि के साथ गीतांजलि भी करते रहे। ये संस्कृत के भी बड़े पण्डित थे। कहा जाता है कि कल्पसूत्रों पर इन्होंने एक टीका लिखी।[1]

रचनाएं

पेरियालवार के पद 'तिरुपल्लांडु' तथा 'पेरियालवार तिरुमोली' नामक दो संग्रहों में मिलते हैं और ये पद 'दिव्य प्रबन्धम्' के प्रथम भाग में प्रारम्भ में दिए गए हैं। तिरुपल्लांडु में १२ पद हैं। इसमें पेरियालवार ने यह मंगल कामना की है कि भगवान् का अनुपम सौंदर्य करोड़ों वर्ष तक शाश्वत रहे। कवि ने इन पदों में विष्णु के विभिन्न अवतारों का भी स्मरण किया है तथा भक्तों को सदैव भगवत्सेवा में ही तल्लीन रहने का उपदेश दिया है। 'तिरुपल्लांडु' का धार्मिक महत्त्व अत्यधिक है। नित्य पाठ में इसको स्थान प्राप्त है तथा इसका पाठ श्री वैष्णवों के घरों में प्रतिदिन होता है।[2]

'पेरियालवार तिरुवायमोली' में आलवर के ४६१ पद संगृहीत हैं। बाल कृष्ण की मधुर लीलाओं में कवि का मन रम गया है। अतः कवि ने कृष्ण के शिशु-रूप और सारल्य से आकर्षित होकर हृदयद्रावक मार्मिकता के साथ बाल-कृष्ण की विविध चेष्टाओं का वर्णन कर वात्सल्य रस की ऐसी अद्भुत धारा प्रवाहित की है, जो समस्त तमिल साहित्य में कहीं भी देखने को नहीं मिलती। इसमें कृष्ण का जन्मोत्सव, गोकुल में हर्षोल्लास, कृष्ण को पालने में रखकर यशोदा का लोरी गाना, कृष्ण का चन्दामामा को बुलाना, कर्णवेध संस्कार, दृष्टिदोष, परिहार, माखन चोरी, गोपियों की यशोदा से शिकायतें, कृष्ण को गाय चराने वन भेजने पर यशोदा का विलाप, कृष्ण के अपार सौंदर्य पर गोपियों का मोहित होना, मुरली-माधुरी आदि अनेक प्रसंगों का सरस वर्णन है। शिशु के लौटने, मचलने, किलकने, रोने, हंसने आदि का कवि ने मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। शैशव काल की विभिन्न अवस्थाओं में शिशु की चेष्टाओं में होने वाले परिवर्तनों की मानो मनोवैज्ञानिक व्याख्या इसमें हुई है। वास्तव में सैकड़ों वर्षों से बच्चों को खिलाते, पिलाते, सुलाते और प्यार करते समय तमिल प्रदेश की माताएं जो मधुर लोकगीत गाया करती थीं, उनको साहित्यिक रूप देकर पेरियालवार ने तमिल साहित्य की महान सेवा की है। 'पिल्लै तमिल' कहलाने वाली इन गीतों की शैली के प्रणेता स्वयं पेरियालवार ही माने जाते हैं। इनके बाद अनेक कवियों ने इस विशिष्ट पिल्लै तमिल काव्य शैली को अपनाया। पेरियालवार के कुछ पदों में राम-कथा के कुछ प्रसंगों का भी वर्णन मिलता है।

आंडाल (गोदा)

वैष्णव संत कवियत्री आंडाल का तमिल के भक्ति-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। आलवार नाम से प्रसिद्ध वैष्णव भक्त कवि समूह में आंडाल ही एक-

---

१. *J. S. V. O. T.*—Dr. K. C. Varadachari, Vol. II (1949), p. 454.
२. *History of Tamil Literature*—E. S. Varadaraja Iyer, p. 277.

मात्र स्त्री थीं। आंडाल श्री विल्लीपुत्तर निवासी पेरियालवार अथवा विष्णुचित्त की पोष्य पुत्री थीं। सम्प्रदाय में आंडाल को भूदेवी का अंश माना जाता है।[1] 'गुरु परम्परा' ग्रन्थों के अनुसार आंडाल का जन्म कलियुगारंभ के ८७ वें वर्ष में हुआ था, परन्तु आंडाल की एक रचना में प्राप्त ज्योतिष से सम्बन्धित एक विवरण के आधार पर अनेक आधुनिक विद्वानों ने आंडाल का जन्म सन् ७१६ ई० में माना है।[2]

आंडाल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक बहुत प्रचलित कथा है। कहते हैं कि नियमानुसार पेरियालवार एक दिन प्रातःकाल अपनी वाटिका में, भगवान को अर्पित करने के लिए पुष्प चयन कर रहे थे। अचानक उन्हें तुलसी दलों के बीच एक नवजात बालिका फूलों की सेज पर पड़ी दृष्टिगोचर हुई। पेरियालवार तो अविवाहित थे ही; उस बालिका को दैवी वरदान समझकर घर ले आए और अत्यन्त स्नेह के साथ उसका पालन-पोषण करने लगे। पुष्पवाटिका में प्राप्त होने के कारण, पेरियालवार ने उस बालिका का नाम 'कोदै'[3] (फूल का गुच्छा) रखा।

पेरियालवार की पोष्यपुत्री के रूप में आंडाल धीरे-धीरे बड़ी हुईं। पेरियालवार की कुटिया के सरस भक्तिमय वातावरण में पलने के कारण आंडाल का मन भगवान् विष्णु में स्वाभाविक रूप से रम गया। विष्णु के सर्वांग सुन्दर रूप, असीम शक्ति और सरल लीलाओं ने आंडाल को मुग्ध कर दिया। पूजा और भजन में वे पेरियालवार की सहायता करती थीं। नन्दन वन में जाकर फूल तोड़ लातीं और पिता द्वारा भगवान् को अर्पित करने के लिए मालाएं गूंथा करती थीं। कहा जाता है कि भगवत्-प्रेम में इस तरह तन्मय हो जाती थीं कि भगवान् के लिए गुंथी हुई पुष्पमालाओं को स्वयं पहनकर दर्पण में अपना सौंदर्य देखा करती थीं। वे यही देखना चाहती थीं कि उनका सौंदर्य उनके प्रियतम भगवान् को आकर्षित कर सकेगा कि नहीं। एक दिन इस प्रकार शृंगार करते समय पेरियालवार ने देख लिया। यह विचार कर कि एक बार पहनी गई मालाएं भगवान् पर चढ़ाये योग्य नहीं होतीं, अपनी पुत्री के इस नित्य दुराचरण पर बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने आंडाल को बहुत डांटा और एक दूसरी माला बनाकर भगवान् की सेवा

---

१. *History of Tirupati*, Dr. S. Krishnaswamy Ayengar. Vol. I., p. 161.

२. आंडाल ने अपनी रचना तिरुप्पावै (पद १३) में ज्योतिष से सम्बन्धित एक विवरण दिया है। वह है—उषा काल में गुरु का अस्त तथा शुक्र का उदय एक ही समय होना, यही तिरुप्पावै का रचना-काल बताया गया है। घटना ज्योतिषियों के अनुसार १८ दिसम्बर, सन् ७३१ ई० को उषाकाल में हुई थी। गुरु-परम्परा-ग्रन्थों में आंडाल की आयु १६ वर्ष की बताई गई है। अतः उक्त तिथि से १६ वर्ष घटाकर अनुमानतः आंडाल का जन्म सन् ७१६ ई० में हुआ माना जाता है। —'आलवार कालनिलै', एम० राघव अय्यंगार, पृ० ८३

३. कोदै ही गोदा का शुद्ध रूप है। इस शब्द के अनेक अर्थ हैं। दिव्यसूरिचरितम् नामक गुरुपरम्परा-ग्रन्थ में कोदै या गोदा का अर्थ वाक्शक्ति-दायिनी दिया गया है। —'आलवार कालनिलै', पृ० ६९

में अर्पित की। कहते हैं कि जब वे उस दिन रात को चिन्ताग्रस्त ही सो रहे थे तब स्वप्न में भगवान् ने आकर सन्देश दिया—"मुझे आंडाल द्वारा पहनी गई मालाएँ ही अधिक पसन्द हैं और आगे उन्हीं मालाओं से मुझे आभूषित करो।" तभी से आंडाल का नाम 'चूडिकोडुत्त नाच्चियार' (अर्थात् पहनी हुई माला अर्पित करने वाली) पड़ गया।[1]

कहते हैं कि आंडाल के असाधारण व्यक्तित्व का परिचय पाकर वे अपने इष्टदेव को आंडाल द्वारा पहनी गई मालाओं से ही अलंकृत करते थे। ज्यों-ज्यों आंडाल की अवस्था बढ़ती गई, त्यों-त्यों भगवान् के प्रति आंडाल का अनुराग भी बढ़ता गया। जब वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हुईं तो पेरियालवार उनके लिए सुयोग्य वर खोजने लगे। योग्य वर न मिलने के कारण वे बहुत चिन्तित हुए। जब आंडाल को अपने पिता की चिन्ता का कारण मालूम हुआ तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया—"मैंने श्रीरंगम् के भगवान् को ही अपने पति के रूप में वरण कर लिया है। यदि कोई कहे कि मैं किसी दूसरे की हूं तो अपने प्राण त्याग दूंगी।"[2] कहा जाता है कि उसी दिन रात को भगवान् रंगनाथ ने स्वप्न में आकर पेरिया-लवार को आदेश दिया—"मेरी प्रियतमा आंडाल को सभी आभूषणों से अलंकृत कर श्री रंगम् ले आओ और मैं पाणिग्रहण करूंगा।" आश्चर्य और आनन्द के साथ पेरियालवार दूसरे दिन आंडाल को एक शिविका में बिठाकर, बन्धु-मित्रों[3] सहित मंगल वाद्यों के साथ श्री रंगम् ले गए। श्री रंगनाथ के मन्दिर में पेरिया-लवार ने विधिपूर्वक विवाह संस्कार कराकर आंडाल को भगवान् को समर्पित किया। आंडाल अपनी अभिलाषा को पूर्ण देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। गर्भ गृह में प्रवेश कर भगवान् की शेष शय्या पर चढ़ीं तो एक दिव्यालोक-सा वहां व्याप्त हो और आंडाल विद्युत् की चमक के सदृश उस ज्योति के द्वारा भगवान् में समा गईं। इस प्रकार आंडाल ने अपने प्रेम द्वारा भगवान् को जीत लिया। 'आंडाल' (अर्थात् भगवान पर प्रेमाधिक्य करने वाली) शब्द भी इस घटना को सूचित करने वाला है। दक्षिण के सभी वैष्णव मन्दिरों में अब भी प्रतिवर्ष आंडाल का विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया जाता है। गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार आंडाल की आयु, अन्तर्धान के समय १६ वर्ष की थी।

यद्यपि पेरियालवार को अपनी पुत्री आंडाल को भगवान् को सौंपकर 'ससुर' बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, तो भी पुत्री का वियोग उन्हें असहनीय हो गया। अपने निवास-स्थान श्री विल्लीपुत्तर को लौट आने पर पुत्री की अनुपस्थिति

---

१. 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्', सम्पादक : एस० कृष्णमाचारियर; 'आण्डाल वैभवम्', पृ० ६६

२. 'नाच्चियार तिरुमोली', पद १ : ५

३. श्री गरुड़वाहन पंडित कृत 'दिव्यसूरिचरितम्' नामक काव्य में श्री रंगनाथ के साथ आंडाल के विवाह का वर्णन नाटकीय शैली में विस्तार से मिलता है। इसमें लिखा है कि इस अवसर पर नम्मालवार, तिरुमंगैयालवार, कुलशेखरालवार आदि शेष सभी आलवार आए हुए थे और उन्होंने आशीर्वचन दिए। —'दिव्यसूरिचरितम् आंडालवैभवम्', पद ३-७, पृ० १२५ तथा *Journal of Indian History*, Vol. 13. pp. 181-203. *Article on Divya Suri Charitam*, by Sri. B, V. Ramanujan, M.A.

में सारा वातावरण उन्हें सूना दीख पड़ा। पुत्री के वियोग में उन्होंने अनेक पद गाए हैं। एक पद में वे कहते हैं—"मेरी एक पुत्री थी जिसकी कीर्ति समस्त संसार में फैली थी। पर मद-भरे अरुणिम नैनों वाला माधव उसे हर ले गया। अब मैं उस अनुपम पुत्री को कहां पाऊं ?"[1]

रचनाएं

आंडाल महान् भक्तिन होने के साथ ही, उच्चकोटि की कवयित्री भी हैं। इनकी रचनाएं तमिल साहित्य को ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय साहित्य को गौरव प्रदान करने वाली हैं। कई पौर्वात्य तथा पश्चात्त्य विद्वानों तथा दार्शनिकों ने मुक्तकंठ से आंडाल की रचनाओं की, काव्य कला और विचारधारा—दोनों ही दृष्टियों से बड़ी प्रशंसा की है। आंडाल की निम्नलिखित दो प्रसिद्ध रचनाएं दिव्य प्रबन्धम् में संगृहीत हैं :

१. तिरुप्पावै
२. नाच्चियार तिरुमोली

१. तिरुप्पावै

इसमें ३० पद हैं जो विभिन्न राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इसमें तमिल समाज की एक पुरानी प्रसिद्ध प्रथा 'मार्गली नोन्यु' (कत्यायिनी व्रत) वर्णित है। महीनों में श्रेष्ठ मार्गशीर्ष में नवयुवतियां योग्य वर की प्राप्ति के लिए यह व्रत रखती हैं। लोगों का विश्वास है कि इस प्रकार व्रत रखने से व्रत-धारिणियों को ही नहीं, बल्कि वर्षा, धन-धान से समस्त देश को भी लाभ पहुंचेगा।[2] तिरुप्पावै के भाव-लोक की विशेषता यह है कि काल, स्थान की परिधि को लांघकर आंडाल स्वयं गोपी बन जाती हैं और अन्य सहेलियों के साथ अपने उपास्य देव कृष्ण के पास व्रत की फल-प्राप्ति के लिए पहुंच जाती हैं। अतः तिरुप्पावै में आंडाल ने अपनी ही कहानी कही है। तिरुप्पावै का वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है—मार्गशीर्ष की पूर्णिमा के दिन आंडाल अपनी सखियों से मार्गली नोन्यु का अनुष्ठान करने के लिए कहती हैं और यह विश्लास दिलाती हैं कि भगवान् अवश्य हमारी इच्छित वस्तुओं को प्रदान करेंगे। आंडाल तिरुप्पावै के प्रारम्भ के कुछ पदों में मार्गली नोन्यु की विशेषता, तथा विधि-विधान आदि का वर्णन करती हैं।[3] इस व्रत का प्रधान अंश—उषाकाल में उठकर स्नान कर आना है। अतः आंडाल अपनी सहेलियों से सबेरा हो जाने की सूचना देती हैं और निद्रा तजकर अपने साथ चलने को कहती हैं।[4] जब सभी सखियां एकत्र हो गईं तो आंडाल कृष्ण तक पहुंचने के लिए सफल मार्ग का अन्वेषण करती हैं और सखियों के दल को लेकर कृष्ण भगवान् के निवास-स्थान की ओर चलती हैं। द्वार-पालक से अपना परिचय इस प्रकार देती हैं कि हम गोपियां, श्रीकृष्ण भगवान् को गीत

१. 'पेरियालवार तिरुमोली' ३ : ८ : ४
२. 'तिरुप्पावै', पद ३
३. वही, पद १ से ५ तक
४. वही, पद ६ से १५ तक

गाकर जगाने के लिए आई हैं और द्वारपालक से प्रार्थना करती हैं कि वह उनके आने का समाचार श्रीकृष्ण तक पहुंचा दे।[1] अब आंडाल श्रीकृष्ण से मिलने पहले उनकी प्रिया नप्पिन्नै (तमिल की राधा) से निवेदन करती हैं कि वे उन्हें श्री कृष्ण से मिलने दें।[2] नप्पिनै को प्रसन्न करने के पश्चात् आंडाल श्रीकृष्णचन्द्र का यशोगान करती हैं और श्रीकृष्ण को जगाती हैं। श्रीकृष्ण से सखियों सहित अपने आने का कारण बताती हैं और प्रार्थना करती हैं कि उनकी अभिलषाएं पूर्ण हो जाएं।[3]

इन पदों में आंडाल के भक्ति-भाव और तत्कालीन ग्राम्य जीवन के सौंदर्यपूर्ण संजीव चित्र देखने को मिलते हैं। प्रकृति का भी रसपूर्ण वर्णन है। 'तिरुप्पावै का धार्मिक महत्त्व अत्यधिक है। वैष्णव मन्दिरों में और वैष्णवोपासकों के घरों में मार्गशीर्ष महीने के तीसों दिन अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ तिरुप्पावै के पद गाए जाते हैं। आंडाल द्वारा प्रचारित यह मार्गली व्रत समस्त दक्षिण भारत में ही नहीं, सुदूर स्याम देश में भी शताब्दियों से मनाया जाता है।[4]

२. *नाच्चियार तिरुमोली*

इसमें १४३ स्फुट पद हैं। पद विभिन्न राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इसमें लीला-नायक कृष्ण को अपना प्रियतम और अपने को उनकी प्रेमिका मानकर रचे गए आंडाल के पद संगृहीत हैं। कामदेव से श्रीकृष्ण से अपने को मिला देने का निवेदन, कोकिल, मेघादि से कृष्ण के पास सन्देश भेजना और उन्हें बुलाने की प्रार्थना, स्वप्न में माधव से विवाह और मिलन और फिर वियोग आदि बातें इस संग्रह के पदों में वर्णित हैं। इसके कुछ पद वैष्णवोपासकों के घरों में विवाहोत्सव के अवसर पर अवश्य गाए जाते हैं।

आंडाल की प्रसिद्धि

आंडाल की दोनों रचनाओं ने तमिल जनता के धार्मिक जीवन को बहुत ही प्रभावित किया है, इसमें सन्देह नहीं। कहा जाता है कि श्री रामानुजाचार्य, जिन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, आंडाल के पदों को गा-गाकर आत्मविभोर हो जाते थे। आंडाल की रचना तिरुप्पावै में उनकी तल्लीनता को देखकर उन्हें तिरुप्पावै जीयर (अर्थात् तिरुप्पावै-प्रेमी) कहा जाता था।[5] श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने आंडाल की प्रशस्ति गाते हुए 'गोदा स्तुति' नामक ग्रन्थ लिखा है। एक दूसरे वैष्णव भक्त ने यहां तक कहा है—"वह व्यक्ति वसुधा के लिए भारस्वरूप है जिसने आंडाल द्वारा तमिल में रचित 'तिरुप्पावै' के तीस पदों को हृदयंगम नहीं किया हो।"[6] कहा जाता है कि प्रसिद्ध शैव कवि मणिक्क

१. 'तिरुप्पावै', पद १६
२. वही, पद १७ से २० तक
३. वही, पद २१ से ३० तक
४. श्री पी० श्री० आचार्य का लेख : *Voice and Vision of Andal.*, Souvenir, All India Writers Conference, 1959, p. 154.
५. 'वेदान्त केसरी', मई १९६१, पृ० ४५
६. 'द्राविड़ मुनिवरकल', श्री राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ६१

वाचकर ने भी 'तिरुप्पावै' का अनुकरण करके ही उसी विषय को लेकर 'तिरु-वेंबावै' नामक काव्य की रचना की। श्री आंडाल की प्रेम-साधना को अपनी कथावस्तु बनाकर राजा श्रीकृष्णदेव राय ने स्वयं तेलुगु भाषा में 'आमुक्तमाल्यदा' नामक महाकाव्य रचा।[१]

तोंडरडीपोडी आलवार (भक्तांघ्रिरेणु)

तोंडरडीपोडी आलवार का जन्म चोल राज्य में कावेरी नदी के तट पर स्थित तिरुमंडनकुडी नामक ग्राम में एक प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता विशारदर कहे जाते थे। विप्रनारायण, आलवार के बचपन का नाम था। बाल्यावस्था में इन्होंने भली भांति शास्त्राध्यन किया था। तमिल और संस्कृत दोनों भाषाओं में पर्याप्त पांडित्य प्राप्त किया था। इनका मन भक्ति की ओर झुका हुआ था और इन्होंने भगवत्सेवा में ही अपने जीवन को लगाने का निश्चय किया। इसके लिए ये श्रीरंगम् के निकटवर्ती एक ग्राम में एक सुन्दर तुलसीवन बनाकर रहने लगे और नित्य (पेरियालवार की तरह) पुष्प-मालाएं तैयारकर श्री रंगनाथ को समर्पित कर आते थे। केवल इसी सेवा को अपने जीवन का परम ध्येय समझते थे। युवावस्था में होने पर भी अत्यन्त निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य का पालन कर संन्यासी की तरह जीवन बिताते रहे। ये अपने को 'भगवान के दासों का दास' कहना पसन्द करते थे और भक्तों की सेवा को भगवत्सेवा के तुल्य समझते थे। अतः इन्हें तोंडरडीपोडी आलवार (भक्तांघ्रिरेणु) अर्थात् 'भगवद् दासों के चरणों की धूल' कहकर लोग पुकारने लगे। सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु की वनमाला का अंग माना जाता है।

तोंडरडीपोडी आलवार के जीवन-काल का निर्णय करने में कठिनाई है। इनकी रचनाओं में उपलब्ध कुछ उल्लेख के आधार पर इनका समय आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में माना जा सकता है।[२] कुछ विद्वान् इन्हें तिरुप्पाण आलवार तथा तिरुमंगै आलवार का समकालीन मानते हैं।[३]

तोंडरडीपोडी के सम्बन्ध में एक कथा बहुत ही प्रसिद्ध है। इसकी पुष्टि में आलवार के कुछ पद प्राप्त होते हैं। कहा जाता है कि एक दिन प्रातःकाल ये नियमानुसार अपने तुलसीवन में भगवान् का नाम स्मरण करते हुए क्यारियों को सुधार कर पानी लगाने में व्यस्त थे। उस समय देवदेवी नामक एक वेश्या चोल नरेश के कला-भवन में अपने नृत्य-गीत आदि का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन कर तथा पुरस्कार प्राप्त कर अपनी बहिन तथा सखियों के साथ लौट रही थी। आलवार के तुलसीवन ने उनको इतना आकर्षित कर दिया कि वहीं थोड़ी देर विश्राम कर जाने की इच्छा से प्रेरित होकर तुलसीवन में आ घुसी। दूर से ही

---

१. आल इण्डिया राइटर्स कान्फरेन्स, मद्रास १९५९, श्री पी० श्री० आचार्य का लेख—*Voice aud Vision of Andal*, p. 161.

२. 'आलवारकल अरुलमोली', स्वामी चिदम्बरनार, पृ० ७५

३. *History of Sri Vaishnavas*, T. A. Gopinath Rao, p. 26.

तेजस्वी नवयुवक संन्यासी आलवार को देखकर देवदेवी उनपर मुग्ध हो गई। परन्तु देवदेवी के मनमोहन रूप-सौंदर्य का कुछ भी असर आलवार पर नहीं पड़ा। देवदेवी ने, जिसको अपने रूप का गर्व था, आलवार के इस तिरस्कार भाव को देखकर मन ही मन निश्चय किया कि मैं इनको अपने वश में करके ही यहां से जाऊंगी। उसकी बहिन तथा अन्य सखियों ने उसे समझाया कि यह महात्मा बड़े विरक्त हैं और इनपर नारी-सौंदर्य कुछ भी असर कर नहीं सकेगा और इनके मन को विचलित नहीं कर सकेगा। देवदेवी ने उनकी बात नहीं मानी और यह कहकर उन्हें भेज दिया कि मैंने यह प्रण कर लिया है कि इन्हें किसी न किसी तरह अपने वश में करके ही यहां से लौटूंगी। देवदेवी गेरुआ वस्त्र पहनकर तोंडरडीपोंडी आलवार के सम्मुख जाकर उनके चरणों में नत हुई। आलवार ने यह पूछा कि तुम कौन हो और यहां क्यों आई हो? देवदेवी ने हाथ जोड़कर कहा कि मैं वेश्या हूं। अब उस जीवन से मुझे घृणा पैदा हो गई है और अपना उद्धार करने की इच्छा से आपके पास आई हूं। आप मुझपर दया कर, इस उपवन में रहने दें और श्री रंगनाथ की सेवा में मुझे भी अपना जीवन व्यतीत करने का अवसर दें। तोंडरडीपोडी ने अपनी सहज सरलता के कारण देवदेवी की बातों पर विश्वास कर उसे वहां रहने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात् देवदेवी तुलसी-वन की वृद्धि में आलवार की सहायता करने लगी। कुछ समय के पश्चात् एक दिन जब देवदेवी फूल चुन रही थी, तब बड़े ज़ोर से वर्षा होने लगी। आलवार को भीगी देवदेवी पर दया आई और उन्होंने उसे अपनी कुटी के अन्दर बुला लिया। बहुत देर तक पानी का बरसना बन्द नहीं हुआ तो देवदेवी को उसी कुटिया में रह जाना पड़ा। अनुकूल अवसर पाकर देवदेवी ने युवक संन्यासी से अपने शरीर को स्वीकार करने की प्रार्थना की और अपने रूपलावण्य से उनके मन में काम की ज्वाला उत्पन्न कर दी। भक्त का चित्त चलायमान हो गया और भगवान् की रूप-सुधा से हटकर गर्हित नारी की ओर जा चिपका। देवदेवी जिस उद्देश्य के लिए वहां आई थी, आखिर उसकी पूर्ति हुई। देवदेवी के प्रेम-पाश में पड़कर आलवार ने भगवान् को विस्मित कर दिया। कुछ समय के बाद जब देवदेवी ने अनुभव किया कि इस संन्यासी के साथ रहने में विशेष आनन्द नहीं है, तो वह उन्हें छोड़कर वहां से चली गई। भगवान् को भक्त की इस दशा पर दया आई। एक रात को कोई अपने को तोंडरडीपोडी आलवार का सेवक बताकर सोने की एक थाली देवदेवी के घर दे आया, जिससे प्रसन्न होकर देवदेवी ने आलवार को सप्रेम अपने पास बुला लिया। परन्तु वह स्वर्ण थाल राजमहल का था। अतः दूसरे ही दिन आलवार चोरी के अपराध में पकड़े गए और उन्हें कारावास का दण्ड मिला। कहते हैं कि फिर श्री रंगनाथ ने राजा के स्वप्न में प्रकट होकर आलवार को मुक्त कर देने की आज्ञा दी। आलवार को अपने अपराध पर पश्चात्ताप हुआ। अब उन्होंने जेल से ही नहीं, नारी-प्रेम से भी मुक्त होकर, फिर से भगवत्सेवा तथा भक्ति में तन-मन को लगाया। आलवार की यह धारणा थी कि भागवतों की सेवा भगवत्सेवा से भी श्रेष्ठ है। वे मन्दिर में आने

वाले समस्त भक्तों की चरण-धूलि का सेवन कर भजन-कीर्तन में रत रहने लगे।

रचनाएं

तोंडरडीपोडी आलवार की दो रचनाएं उपलब्ध हैं :

१. तिरुमालै

२. तिरुपल्ली एलुच्ची

तिरुमालै का अर्थ है पवित्र माला। इसे कवि की गीतांजलि कह सकते हैं। यह ४५ पदों का एक गीत-संग्रह है। अधिकांश पद आत्मनिवेदनपरक हैं। कवि ने भगवान् के सम्मुख अपनी दीनता का प्रकाशन कर अपने को उनके दासानुदास के रूप में अंगीकार करने की प्रार्थना की है। इसमें उत्कृष्ट भक्ति-भावना के साथ, काव्य-सौंदर्य भी झलकता है। तमिलनाडु में एक प्रसिद्ध कहावत है—'तिरुमालै अरियान, तिरुमाल अरियान' अर्थात् जो 'तिरुमालै' को नहीं जानता, वह तिरुमाल (विष्णु) को नहीं जानता। इससे तिरुमालै का महत्त्व स्पष्ट है।

तोंडरडीपोडी आलवार की दूसरी रचना तिरुपल्ली एलुच्ची विशेष महत्त्व की है, क्योंकि इसको नित्यानुसन्धान पाठ अर्थात् नित्यपाठ में स्थान प्राप्त है। अतः इसका गायन नित्य प्रति प्रातःकाल प्रत्येक विष्णु मन्दिर में होता है, जिससे इस रचना का धार्मिक महत्त्व जाना जा सकता है। 'तिरुपल्ली एलुच्ची' से तात्पर्य 'भगवान् को जगाने के सुप्रभात गीतों' से हैं। इसमें केवल १० ही पद हैं। प्रत्येक पद में प्रातःकाल होने की सूचना देने वाले प्राकृतिक लक्षणों का वर्णन कर भगवान् से अपनी शय्या से उठने की प्रार्थना की गई है। प्रत्येक पद में प्रातः-कालीन वातावरण का सुन्दर चित्रण है। प्रकृति के ऐसे सुन्दर सजीव चित्र अन्यत्र बिरले ही मिलते हैं। पदों में शब्द-चयन चित्ताकर्षक है।

तिरुप्पाण आलवार (मुनिवाहन)

तिरुप्पाण आलवार को 'मुनिवाहन' अथवा 'पाणपेरुमाल' भी कहा जाता है।[1] इनका जीवन-वृत्त तिमिराछन्न है। गुरु-परम्पर-ग्रंथों में इनको 'अयोनिज' कहा जाता है। इनका जन्मस्थान श्रीरंगम् के दक्षिण भाग में कावेरी नदी के किनारे पर स्थित 'उरैयूर' गांव था। कहा जाता है कि ये उरैयूर के किसी ब्राह्मण के खेत में पड़े थे। वहां से 'पाणन' कुल का एक व्यक्ति इन्हें ले आया और उसीने इनका पालन-पोषण किया। पाणान कुल के लोग गायक होते थे और वे राजाओं और धनी लोगों के यहां वीणा आदि वाद्य यन्त्रों के साथ गायन कर उनसे पुरस्कार प्राप्त कर जीविका चलाने वाले थे। एक समय तमिल समाज में उन्हें बड़ा गौरव प्राप्त था। परन्तु हमारे आलवार के समय में पाणन जाति एक निम्न जाति मानी जाती थी। पाणन कुल में पलने के कारण आलवार का नाम भी तिरुप्पाण (पवित्र प्राण) पड़ा।

गुरु-परम्परा-ग्रंथों में तिरुप्पाण आलवार का जीवन-वृत्त बहुत ही संक्षिप्त रूप में मिलता है। इनकी रचना में भी कहीं इनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने वाला

१. 'द्राविड़ मुनिवरकल', श्री राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ३८

कोई भी उल्लेख नहीं है। इनके समय का निर्णय करने के लिए कोई आधार उपलब्ध नहीं है। गुरु-परम्पराओं के अनुसार इनका जन्म कलियुग के ३४३वें वर्ष में हुआ था। तोंडरडीपोडी आलवार ने अपने एक पद में कदाचित् तिरुप्पाण का ही स्मरण कर यह लिखा है—"हे भगवान्, नीच जाति में उत्पन्न होने पर भी अपने भक्त होने के कारण तुमने भक्त को अपने पास बुला लिया और यह साबित कर दिया कि नीच वह है जो तुम्हारा भक्त नहीं, चाहे वह उच्च कुलोत्पन्न ही क्यों न हो।"[1] अधिकांश विद्वान् अनुमानतः तिरुप्पाण आलवार को तोंडरडीपोडी आलवार का समकालीन मानकर उनका समय आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा नवीं शती के पूर्वार्द्ध में निश्चित करते हैं।

जनश्रुतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तिरुप्पाण आलवार बचपन से ही गायन-विद्या में निपुण थे। वीणा बजाकर ये मधुर गीत गाया करते थे। और लोग मन्त्र मुग्ध होकर सुनते थे। स्वयं भी ये भक्तिपरक पद गा-गाकर तन्मयावस्था में मूर्छित हो जाते थे। गुरु-परम्पराओं के अनुसार ये भगवद्-गान 'विषय सार्वभौम' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

तिरुप्पाण आलवार श्रेष्ठ वैष्णव भक्त थे। उन दिनों श्रीरंगम् का मन्दिर वैष्णव भक्तों का मुख्य केन्द्र था। चूंकि आलवार की पाणन जाति निम्न कोटि की मानी जाती थी और उस जाति के लोग अस्पृश्य समझे जाते थे, इसलिए ये विष्णु के अर्चावतार रूप श्री रंगनाथ के मन्दिर में प्रवेश कर भक्त-गोष्ठी में जा नहीं सकते थे। इनके जीवन की सबसे बड़ी कामना यही थी कि श्रीरंगनाथ के सौंदर्य स्वरूप के दर्शन कर अपने जीवन को धन्य बनाएं। परन्तु पाणन कुलोत्पन्न होने के कारण मन्दिर में प्रवेश करने के भाग्य से वंचित रहे। अतः ये कावेरी के दक्षिणी तट पर एक कुटी बनाकर रहने लगे और वहीं खड़े होकर श्रीरंगनाथ के मन्दिर की ओर देखते हुए प्रतिदिन श्रीरंगनाथ की स्तुति में गीत गाते रहे। मधुर गीत गा-गाकर आत्म-विभोर हो जाते थे और उन्हें अपने शरीर की सुध तक नहीं रहती।

कहा जाता है कि भगवान् ने तिरुप्पाण की तीव्र भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें मन्दिर में प्रवेश कराकर अपने दिव्य दर्शन देने का निश्चय किया और उसके लिए एक उचित अवसर भी ढूंढा। एक दिन एक विचित्र घटना घटी। श्री रंगनाथ के मन्दिर का लोकसारंग नामक एक ब्राह्मण पुजारी अपने साथियों के साथ श्री रंगनाथ की मूर्ति के अभिषेक के लिए घड़े में कावेरी-जल लेकर जा रहा था। कावेरी तट से मन्दिर की ओर आते समय उन लोगों ने देखा कि तिरुप्पाण आलवार मार्ग के समीप भगवद्भजन में तल्लीन होकर वीणा बजाते हुए तन्मयावस्था में बैठे हुए थे। यह सोचकर कि तिरुप्पाण निम्न जाति का है और इसलिए अपवित्र है, उन लोगों ने तिरुप्पाण से मार्ग से दूर हट जाने के लिए कहा। चूंकि आलवार भगवद्भजन में समाधिस्थ थे, इसलिए ये उन लोगों की आवाज़ न सुन सके। पुजारी समेत अन्य लोग आलवार को वहां से भाग जाने के

१. 'तिरुमालै', पद ४२

लिए बुलंद आवाज़ में चिल्लाने लगे, परन्तु तिरुप्पाण गायन में इतने मस्त थे कि उनके चिल्लाने का कोई असर इनपर न पड़ा और ये टस से मस न हुए। लोक-सारंग को अब क्रोध आया और अहंकारवश उसने एक पत्थर आलवार पर फेंक दिया। आलवार के सिर पर चोट लगी, और खून बहने लगा। अब तिरुप्पाण जाग उठे और क्षमा-याचना करते हुए वहां से चले गए। लोकसारंग को अपने क्रूर कार्य पर पश्चात्ताप होने लगा। जब वह उस दिन रात को चिन्ताग्रस्त होकर सो रहा था, तब श्री रंगनाथ ने स्वप्न में प्रकट होकर आदेश दिया "तुम्हारे फेंके हुए पत्थर से मेरे सिर पर ही चोट लगी है। तुमने बड़ा अन्याय किया है। तिरुप्पाण मेरे श्रेष्ठ भक्त, मित्र और दास हैं। अतः तुम अपने प्रायश्चित्त के रूप में उन्हें अपने कन्धों पर बिठाकर लाओ और मेरे सम्मुख उपस्थित करो। यही तुम्हारे पाप का उचित प्रायश्चित्त है।" दूसरे दिन प्रातःकाल लोकसारंग मुनि भगवान् की आज्ञा का पालन करने के हेतु आलवार के पास आया और उसने आलवार से क्षमा मांगी। भगवान् का आदेश सुनाकर, आलवार को अपने कन्धों पर बिठाकर श्री रंगनाथ के मन्दिर में ले आया। मुनि की पीठ पर आरूढ़ होकर मन्दिर के अन्दर प्रवेश करने के कारण आलवार को 'मुनिवाहन' भी कहा जाता है। कहते हैं कि श्री रंगनाथ के मन्दिर में प्रवेश कर तथा मूर्ति के सौंदर्य का आस्वादन कर तिरुप्पाण आलवार को उतना मिला जितना अन्धे को दृष्टि मिलने पर। आत्मविभोर होकर आलवार ने भगवान् के सौंदर्यपूर्ण प्रत्येक अंग का वर्णन (नख से शिख तक) किया और भगवान् की स्तुति में अनेक पद गाए। अन्तिम पद में इन्होंने गाया कि—"जिन आंखों ने इस अलौकिक शाश्वत सौंदर्य को देखा है, वे किसी दूसरी वस्तु को न देखें।" कहते हैं जब आलवार ने भगवत्-सौंदर्य वर्णन समाप्त किया, तब वहां दिव्यालोक-सा सर्वत्र व्याप्त हो गया और उस ज्योति में तिरुप्पाण आलवार अन्तर्धान हो गए। गुरु-परम्परा ग्रंथों के अनुसार उस समय आलवार की आयु ५० वर्ष की थी।

रचनाएं

अमलनादिपिरान तिरुप्पाण आलवार की एक मात्र रचना है। यह १० पदों वाली एक कविता है। इस कविता का आरम्भ अमलन, आदिपिरान आदि भगवद् गुण विशेषणों से होने के कारण इसका नाम 'अमलनादिपिरान' रखा गया। तिरुप्पाण आलवार की अन्य रचनाएं उपलब्ध नहीं होतीं। अमलनादि-पिरान में श्री रंगनाथ के अद्भुत सौंदर्य का नख से शिख तक वर्णन है। प्रत्येक पद्य में विष्णु की विभिन्न लीलाओं की ओर विशेषकर कृष्ण-लीलाओं की ओर संकेत हैं। दसों पद्यों में दस अंगों का वर्णन है।

अमलनादिपिरान का धार्मिक महत्त्व अत्यधिक है। इसको वैष्णव मन्दिरों में नित्यानुसंधान अर्थात् नित्यपाठ में स्थान प्राप्त है। श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने, जिनके अनेक ग्रन्थ तमिल और संस्कृत दोनों भाषाओं में मिलते हैं, आलवारों

१. 'अमलनादिपिरान', पद सं० १०

२. 'दिव्यसूरिकथामृतम्', श्री पी० बी० अण्णंगराचार्य, पृ० २८

की रचनाओं में से केवल 'अमलनादिपिरान' पर ही टीका लिखी है। उसका नाम है 'मुनिवाहनभोगम्।' इससे इसका धार्मिक महत्त्व जाना जा सकता है।

तिरुमंगै आलवार (परकाल)

आलवार-परम्परा में तिरुमंगै आलवार अन्तिम आलवार माने जाते हैं। सम्प्रदाय में इन्हें विष्णु का शारंगांश माना जाता है। इस आलवार का जन्म चोल राज्य में 'तिरुवाली तिरुनगरी' नामक दिव्य क्षेत्र के पास अवस्थित 'तिरुकुरैयलूर' नामक स्थान में हुआ था। इनकी जाति का नाम कल्लर था। इस जाति के लोग जंगली पहाड़ों में वासकर लूटमार से जीविका चलाने वाले व्याध थे। इनके पिता चोल राजा के यहां सेनापति थे। तिरुमंगै का पहला नाम 'नीलन' था। कलियन अरुलमारी, परकालन आनि कई नामों से भी प्रसिद्ध हैं।[१]

अन्य आलवारों की अपेक्षा, इन आलवार का जीवन-वृत इनकी रचनाओं में प्राप्त अन्तःसाक्ष्य के आधार पर बहुत कुछ लिखा जा सका है। इन्होंने 'परमेश्वर विण्णगर' नामक मन्दिर का उल्लेख किया है, जिसका निर्माण पल्लव नन्दीवर्मन द्वितीय (ईस्वी सन् ७३१ से ७९६ तक जीवित) के शासन-काल में हुआ था।[२] शिलालेखों से भी पता चलता है कि तिरुमंगै आलवार का जीवन-काल आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में था। अनेक आधारों को प्रस्तुत कर प्रो० एस० वैयापुरि पिल्लै इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तिरुमंगै आलवार ईस्वी सन् ८०० तथा ८७० के बीच में जीवित थे।[३]

तिरुमंगै आलवार युद्ध-विद्या में निपुण थे। अतः चोल राजा ने इनके पिता की मृत्यु के पश्चात् इन्हें अपना सेनापति बना दिया था। राजा के विरोधियों को बड़ी आसानी से परास्त कर देने के कारण इन्हें 'परकालन' (अर्थात् शत्रुओं का कालन—यम) कहते थे। इनकी वीरता से प्रसन्न होकर चोल राजा ने इन्हें तिरुमंगै नामक प्रदेश का सामन्त राजा बना दिया। तत्पश्चात् ये 'तिरुमंगै मन्नन' के नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार युद्ध-कला में कुशल थे, उसी प्रकार संगीत, नृत्य, नाटक, काव्य-कलाओं में भी ये पारंगत थे। तमिल और संस्कृत, दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित सिद्ध हुए। इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन्होंने अपने पूर्व के तमिल साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है और अपनी रचनाओं में विभिन्न काव्य-शैलियों को कुशलतापूर्वक अपनाया है। आलवार भक्त कवियों में सबसे श्रेष्ठ साहित्यिक मर्मज्ञ ये ही हैं।

तिरुमंगै बड़े ही रसिक थे। अपने पास यौवन तथा जीवन की सारी सुविधाओं के रहने से ये बड़ा विलासितापूर्ण जीवन बिताते थे। बहुत समय तक ये अविवाहित रहे। इनके विवाह तथा बाद के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक

१. 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्', सम्पादक : श्री० एस० कृष्णमाचारियार—'तिरुमंगै वैभवम्', पृ० ४

२. *Epigraphia Indica*, Vol. IV. p. 334-

३. *History of Tamil Language and Literature*—Prof. S. Vaiyapuri Pillai, p. 128.

जनश्रुतियां प्रचलित हैं। कहते हैं कि उस समय तिरुवेल्लकुलम नामक गांव में एक वैष्णव वैद्य रहते थे जिनके एक रूपवती कन्या थी। लड़की का नाम 'कुमुद-वल्ली' था और उसकी लावण्यता इतनी अधिक थी कि बड़े-बड़े राजा उससे विवाह करने को इच्छुक हुए। तिरुमंगै ने कुमुदवल्ली के रूप से मोहित होकर उसके पिता से कुमुदवल्ली के साथ विवाह करने की अपनी इच्छा प्रकट की। दो शर्तों पर कुमुदवल्ली, तिरुमंगै से विवाह करने को तैयार हुई। एक शर्त यह थी कि सबसे पहले तिरुमंगै को परम वैष्णव भक्त बनना चाहिए। दूसरी शर्त यह थी कि प्रतिदिन १००८ वैष्णव भक्तों को भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करना चाहिए। दोनों शर्तों को स्वीकार कर तिरुमंगै ने कुमुदवल्ली से विवाह कर लिया। प्रतिदिन १००८ वैष्णव भक्तों के भोजन का प्रबन्ध किया गया। कुछ समय के अनन्तर तिरुमंगै की सारी सम्पत्ति इस कार्य में खर्च हो गई। यही नहीं, तिरुमंगै ने इस कार्य में राजकोष का पूरा धन भी समाप्त कर दिया। चोल राजा को इस बात का पता चला तो उसने तिरुमंगै को राजकोष के सम्पूर्ण धन को लौटा देने की आज्ञा दी। चूंकि तिरुमंगै राजा के धन को लौटा न सके, इसलिए उनको गिरफ्तार कर कारागार में भेज दिया गया। कहा जाता है कि यहां रहते हुए तिरुमंगै को दैवी प्रेरणा से कांचीपुरम् में एक स्थान पर ज़मीन में गढ़ी हुई किसी गुप्त सम्पत्ति का पता चला। आलवार ने इस सम्पत्ति को प्राप्त कर राजकोष का सम्पूर्ण धन लौटा दिया और बन्दीगृह से मुक्त कर दिए गए। कुमुदवल्ली को दिए गए वचन का पालन करने के लिए जब कोई दूसरा मार्ग न दीख पड़ा तो इन्होंने अपने जातीय पेशा डाका डालना प्रारम्भ कर दिया। द्रव्य जुटाने के लिए इन्हें क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना पड़ा। परन्तु लूटमार से जो कुछ भी मिलता उसे वैष्णव भक्तों की सेवा में अर्पित करते थे। कहते हैं कि भगवान् आलवार को सुमार्ग पर लाने के लिए स्वयं एक धनी ब्राह्मण यात्री के रूप में उस रास्ते से आए, जहां तिरुमंगै तथा उनके साथियों ने ब्राह्मण यात्री के सारे धन को लूटा, परन्तु प्राप्त धनराशि को वे उठा नहीं सके। यह विचार कर कि ब्राह्मण ने किसी मन्त्र का प्रयोग किया होगा उन लोगों ने यात्री को डांटकर वह मर्म बताने को कहा। इसपर ब्राह्मण यात्री ने तिरुमंगै को अपने पास बुलाकर उन्हें वेदसार रूपी अष्टाक्षर मन्त्र का उपदेश दिया। तिरुमंगै को मालूम हुआ कि वस्तुतः विष्णु भगवान् ही उनका उद्धार करने के हेतु आए हुए थे। उस समय से आलवार के जीवन में महान् परिवर्तन आ गया और वे एक श्रेष्ठ भगवद्भक्त बन गए।

आलवार का वह युग धार्मिक संघर्ष का था और प्रत्येक धर्मानुयायी अपने-अपने धर्म के प्रचार के कार्य में लगे हुए थे। बौद्ध और जैन धर्म पतनोन्मुख हो चुके थे, यद्यपि पूर्ण रूप से उनकी शक्ति न मिटी थी। शैव सन्त अपने धर्म को श्रेष्ठ साबित कर लोगों को शैव भक्त बनाने के कार्य में लगे हुए थे। तिरुमंगै ने भी अपने युग की मांग को भली भांति समझकर सारे देश में घूम-घूमकर वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने बौद्ध तथा जैन धर्मों का खण्डन भी किया था।

कहते हैं कि नागपट्टिनम में स्थित भगवान् बुद्ध की स्वर्ण मूर्ति को इन्होंने तोड़ डाला[1] और उससे प्राप्त धन से श्रीरंगम् के मन्दिर का तीसरा प्राकार (चहारदीवारी) बनवाया।[2] इन्होंने ही श्रीरंगम् के मन्दिर में नम्मालवार के पदों के गायन का प्रवन्ध किया था। ये दक्षिण और उत्तर भारत के सभी प्रमुख वैष्णव स्थलों के कन्याकुमारी से बदरिकाश्रम तक के वैष्णव केन्द्रों के दर्शन कर आए। इन्होंने इन सभी स्थानों का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। कहा जाता है कि इन्होंने दूसरे मतावलम्बियों के साथ धार्मिक वाद-प्रतिवाद में भी भाग लिया था। एक जनश्रुति के अनुसार इन्होंने प्रसिद्ध शैव सन्त तिरुज्ञान सबन्धर को भी धार्मिक चर्चा में परास्त किया था। परन्तु इसका कोई आधार नहीं है।[3] गुरु-परम्परा-ग्रन्थों के अनुसार ये १०५ वर्ष तक जीवित रहे और इनका देहान्त 'तिरुकुरंकुडी' नामक स्थान में हुआ।

यह लिखा जा चुका है कि तिरुमंगै आलवार तमिल तथा संस्कृत दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे। ये सहृदय कवि और प्रकृति-प्रेमी भी थे। तमिल की कोई भी काव्य-शैली ऐसी नहीं जिसमें इन्होंने मधुर कविताएं नहीं रची हों। आशु, मधुरम्, चित्तम्, विस्तारम् नाम के चार प्रकार की काव्य शैलियों में सफल रचना करने के कारण इन्हें 'नलु कवि पेरुमाल' (काव्याचार्य) भी कहा जाता है। भक्त भी उच्च कोटि के थे ही। इनके मत के अनुसार शुष्क तपस्या व्यर्थ है और नवधा भक्ति ही मोक्षदायिनी है। इनके सम्बन्ध में एक आलोचक का कहना है कि तिरुमंगै आलवार ऐसे भक्त थे जो "आत्मा को सूर्य की धूप में सुखाना और शरीर को छाया की ठंडक में पालना चाहते थे।"

रचनाएं

संख्या की दृष्टि से 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत पदों में सबसे अधिक पद तिरुमंगै आलवार के हैं। ये सभी पद विविध राग-रागिनियों में हैं। इनकी निम्नलिखित ६ कृतियां मिलती हैं :

१. पेरिय तिरुमोली
२. तिरुक्कुरुन्तांडकम्
३. तिरुनेडुन्तांडकम्
४. तिरुवेलुकूतिरुक्कै
५. चिरिय तिरुमडल
६. पेरिय तिरुमडल

उपर्युक्त छः कृतियां वैष्णवों के बीच में 'वेदांग' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

पेरिय तिरुमोली में १०८४ पद हैं। अनेक पद तीर्थ-यात्रा करते समय तिरुमंगै आलवार ने जितने भी वैष्णव दिव्य क्षेत्रों के दर्शन किए थे, उनमें विराज-

१. *History of India*, Pt. I, Ancient India, Prof. K. A. Nilakanta Sashtri, p. 267.
२. 'कादलाल गतिपेट्टेवर', श्री पी० श्री० आचार्य, पृ० ४०
३. 'आलवार कालनिलै', श्री एम० राघव अय्यंगार, पृ० १३७

मान विष्णु की अर्चावतार मूर्तियों की स्तुति में गाए हैं। कवि ने प्रारम्भ के कुछ पदों में यौवनावस्था में किए गए अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप प्रकट कर भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण की भावना व्यक्त की है। अधिकांश पद दार्शनिक विचारों से भरे पड़े हैं। कृष्णकथा के प्रसंगों का भी वर्णन मिलता है। कुछ पदों में तमिल के संघ-साहित्य की अहम काव्य शैली में नायिका की विरह-वेदना, नायक से मिलने की आतुरता, मेघ, कोकिल, भ्रमर इत्यादि द्वारा सन्देश भेजना आदि वर्णित हैं।

'तिरुक्कुरुन्तांडकम्' में २० पद हैं तथा 'तिरुनेडुण्ताण्डकम्' में ३० पद हैं। इनमें सांसारिक माया-मोह के बन्धनों से विमुक्त होकर परम वात्सल्यमय भगवान् की शरण में जाने का उपदेश है। इस भवसागर को पार करने के लिए उसीको एक मात्र सहायक कहा है। ताण्डकम् शब्द का अर्थ है, सहायक छड़ी जो वृद्धों के लिए चलने में और पर्वत पर चढ़ते समय पैर के न फिसलने के लिए सहायक होती है। एक मात्र भगवान् को ही वह 'सहायक' छड़ी कहा गया है। 'तिरुवेलुकूत्तिरुक्कै' एक लम्बा पद है। इसमें कवि के आत्मसमर्पणपूर्ण भाव व्यक्त किए गए हैं।

'चिरिय तिरुमडल' तथा 'पेरिय तिरुमडल' में तमिल समाज की 'मडल' प्रथा का वर्णन है। नायक और नायिका के बीच प्रेम के विकास को कई अवस्थाओं में विभाजित कर वर्णन करने की परम्परा 'अहम' काव्य शैली में मिलती है। पहले यह प्रेम गुप्तावस्था में ही रहता है। धीरे-धीरे विकसित होकर वह उस अन्तिम दशा में पहुंच जाता है जब नायक लोक-मर्यादा की भी परवाह न कर अपने दृढ़ प्रेम की अग्नि-परीक्षा देने के लिए भी तैयार हो जाता है। अगर उसे अपनी प्रिया को प्राप्त न करने में बाधा पड़े तो वह 'मडल'[1] पर चढ़कर मरण को प्राप्त करने की धमकी देता है। दोनों मडल कृतियों में तिरुमंगै ने लौकिक प्रेम की तीव्रता स्थापित करने वाली 'मडल' प्रथा का आधार लिया है। परन्तु कवि ने अपने को विरहिणी नायिका मानकर प्रियतम भगवान् को प्राप्त करने के हेतु 'मडल' पर चढ़कर अपने तीव्र प्रेम की परीक्षा देने की घोषणा की है।[2]

भक्ति-आन्दोलन को तमिल-प्रदेश के शैव भक्त कवियों का योगदान

तमिल-प्रदेश में भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने वाली परिस्थितियों की चर्चा

---

१. ताड़ के पत्तों का बना घोड़ा जिसपर चढ़कर निराश प्रेमी आत्महत्या करने की घोषणा करता है और अन्त में अपनी प्रेमिका को प्राप्त करता है।

२. जिस प्रकार सूफी मत में ईश्वर तक पहुंचने के लिए विभिन्न दशाएं बताई गई हैं और अन्तिम दशा में प्रेम की तीव्र परीक्षा होती है, उसी प्रकार 'मडल' भी प्रेम की 'अग्नि-परीक्षा' है। प्रेम की इस पराकाष्ठा तक पहुंचकर प्रेम की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सच्चे अटल प्रेम का परिचय देकर प्रेमी प्रेमिका को पाता है और प्रेमिका प्रेमी को।

. करते समय हमने यह देखा था कि ईसा कि पांचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक जो भक्ति-आन्दोलन तमिल-प्रदेश में तीव्र रूप में चला, उसमें तमिल के वैष्णव भक्ति कवि आलवारों और शैव भक्त कवि नायनमारों का योगदान समान है। वास्तव में इन दोनों भक्तों की सम्मिलित एवं संगठित शक्ति ने ही बौद्ध और जैनों को परास्त कर, भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप दिया। यह भी देखा जाता है कि शैव धर्म तमिल-प्रदेश का प्राचीन धर्म है और प्राचीन तमिल भक्ति-साहित्य में शैव धर्म-सम्बन्धी रचनाएं भी काफी मिलती हैं। भक्ति-आन्दोलन के प्रारंभ में शैव संतों के चमत्कारपूर्ण कार्यों ने ही लोकमत और राज्याश्रय को अपने पक्ष में कर लिया। भक्ति-आन्दोलन के जिन प्रेरक तत्त्वों की चर्चा हमने इस अध्याय के प्रारंभ में की है, वे सारे के सारे तत्त्व इन शैव संतों के काव्यों में मिल जाते हैं। यह उल्लेखनीय है कि वैष्णव आलवार और शैव नायनमार दोनों की विचारधारा मूलतः एक-सी है। साहित्यिक और भक्ति-परक दृष्टिकोण से तमिल का शैव भक्ति-साहित्य उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना आलवार भक्तों का वैष्णव भक्ति-साहित्य। आलवार भक्तों के काव्य में भक्ति का जो स्वरूप है, वही शैव संत-कवियों की भक्ति-भावना में भी है। शैव संतों का भक्तिकाव्य भी गेय है और उसने भी जन-मानस को उसी प्रकार प्रभावित किया था, जिस प्रकार आलवारों के प्रबन्धम् ने। शरणागति और मधुर भक्ति के साथ सख्य भाव की भक्ति भी इन शैव भक्तों के गीतों में प्रतिपादित है। अनायास ही भक्तों की हृत्तंत्रियों को झंकृत कर देने की शक्ति इन संतों के पदों में है। अतः कई शताब्दियों तक शैव संतों का प्रभाव जनता पर पड़ता रहा। आलवार भक्तों की परम्परा तो लगभग नवीं शताब्दी के अंत में समाप्त हो गई थी और फिर उनकी विचारधारा को आगे ले जाने वाले वैष्णव आचार्य थे। परन्तु शैव संत कवियों की तमिल-परंपरा तो नवीं शताब्दी के बहुत बाद तक चलती है। परिमाण की दृष्टि से तमिल का शैव भक्ति-साहित्य वैष्णव भक्ति-साहित्य से अधिक है ही।

वास्तव में तमिल-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप देने में शैव संतों का भी बड़ा हाथ रहा है। प्रमुख शैव संत कवियों के जीवन-वृत्तों और उनके द्वारा रचित भक्ति-काव्यों का अवलोकन करने से यह सरलतापूर्वक स्पष्ट हो जाएगा कि तत्कालीन जन-समाज पर इनका प्रभाव अद्भुत था और भक्तिमय वातावरण को तमिल-प्रदेश में युग-युग तक बनाए रखने में इनका योग-दान अपार था। ये शैव संत इतने लोकप्रिय और लोकदृष्टि में देवतुल्य हो गए हैं कि शैव मन्दिरों में इनकी मूर्तियां भी पूजनीय मानी जाती हैं और इनके भक्तिपरक गीतों का गायन भी होता है। अतः तमिल-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन के प्रसंग में इन संतों के जीवन-वृत्तों और इनके भक्ति-ग्रन्थों पर भी दृष्टि डालने की आवश्यकता है। इससे भक्ति-आन्दोलन के व्यापक प्रभाव को और भी स्पष्ट रूप में समझने में सहायता मिलेगी।

यद्यपि हमारे प्रस्तुत अध्ययन का सीधा सम्बन्ध वैष्णव भक्ति-आन्दोलन से

है, तो भी तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के संदर्भ में यदि उन शैव संतों के भक्ति-साहित्य पर भी प्रकाश नहीं डाला जाए, जिनका योगदान हमारे वैष्णव भक्तों के बराबर है, तो आलोच्य विषय के साथ बड़ा अन्याय होगा। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम तमिल-प्रदेश के उन प्रमुख शैव संत कवियों का परिचय देना आवश्यक समझते हैं, जिनका समय वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के आलोच्यकाल में पड़ता है।

शैव भक्त कवि और उनकी रचनाएं

शैव धर्म और राज्याश्रय

तमिल-प्रदेश के शैव भक्त कवियों की काफी लंबी परंपरा है। नायनमार कहलाने वाले इन भक्त कवियों की संख्या ६३ बताई जाती है। इनका समय लगभग चौथी शताब्दी से लेकर बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक का है। इन शैव भक्तों में बहुत ही प्रधान कवि चार-पांच हैं, जिन्होंने पांचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक के भक्ति-आन्दोलन को बड़ी शक्ति प्रदान की थी और ये ही शैव संत प्रमुख माने जाते हैं। इन भक्तों के सम्बन्ध में भी काफी चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया जाता है और इन कवियों ने दक्षिण के अनगिनत शैव मन्दिरों के निर्माण में और उनके प्रबन्ध में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

तमिल-प्रदेश के इतिहास में पल्लव-शासन-काल में और फिर चोल राजाओं के शासन-काल में शैव धर्म को बहुत पनपने का राज्याश्रय प्राप्त हुआ। महेन्द्र-वर्मन पल्लव प्रथम (ई० ६००-६३०) के शासन काल में शैव धर्म को बहुत बड़ा आश्रय मिला।[1] प्रथम महेन्द्रवर्मन पल्लव पहले जैन मतावलम्बी था। फिर शैव संत कवि अप्पर के प्रभाव से शैव भक्त बन गया। शैव भक्त हो जाने पर प्रथम महेन्द्रवर्मन पल्लव ने सैकड़ों शैव मन्दिरों का निर्माण किया। आज तमिल-प्रदेश में दर्शित बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माता प्रथम महेन्द्रवर्मन पल्लव ही था।[2] वह संगीत और मूर्तिकलाओं का बड़ा प्रेमी था। उसके प्रोत्साहन से भक्ति के प्रचार में संगीत और मूर्तिकलाओं का भी सहारा प्राप्त हुआ। प्रथम महेन्द्रवर्मन का पुत्र नन्दिवर्मन था और उसके सेनापति शिरुतोण्डर (परंज्योति मुनि) बहुत बड़े शैव भक्त थे, जो ६३ नायनमारों में गिने जाते हैं। इसके पश्चात् प्रथम परमेश्वरवर्मन का शासन-काल (ई० ६७०-६८५) था। यह भी बड़ा शिव-भक्त था। इसने भी बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माण कराया था। राजसिंह (ई० ६८५-७०५) ने कांचीपुरम् के प्रसिद्ध कैलाशनाथ मन्दिर को बनवाया। नन्दिवर्मन द्वितीय भी (ई० ८२५-८५०) बड़ा शैव भक्त माना गया है। भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख कर्णधार शैव भक्त कवि पल्लव शासन-काल में ही जीवित थे। पल्लवों के बाद चोल राजाओं के शासन-काल में भी शैव भक्ति-प्रचार और

---

१. 'शैव समय वरलारु', अव्वै दुरैस्वामी पिल्लै, पृ० ४

२. *History of Tamil Language and Literature*, Prof. S. Vaiyapuri Pillai, p. 104.

शैव मन्दिर-निर्माण को काफ़ी प्रोत्साहन मिला। अधिकांश चोल राजा शैव भक्त थे। कहा जाता है कि चोल राज्य में ३००० के लगभग शैव मन्दिर थे।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति-आन्दोलन को आलोच्य काल में व्यापक रूप देने में शैव भक्त कवियों और शैव मतावलंबी राजाओं ने बहुत बड़ा कार्य किया है।

जिस प्रकार वैष्णव आलवार भक्तों की रचनाओं का संकलन उनके जीवन-काल के बाद ही हुआ, उसी प्रकार इन शैव संत कवियों की रचनाओं का संकलन ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रसिद्ध शैव भक्त नंबी आण्डार नंबी ने किया। उन्होंने अपने समय के पूर्ववर्ती सभी शैव भक्तों के भक्ति गीतों का संग्रह कर उन्हें बारह समूहों में विभाजित करके उनका नाम तिरुमुरै अर्थात् स्तोत्र साहित्य रख दिया। उनके समय के पूर्व ही विभिन्न शैव मन्दिरों में उन शैव भक्तों के गीतों के गायन की व्यवस्था हो चुकी थी, जिसका पता हमें शिलालेखों से चलता है।[2] यह कहा नहीं जा सकता कि तिरुमुरै में संकलित पद शैव भक्त कवियों के ऐतिहासिक क्रम के अनुसार रखे गए हों। नंबी आण्डार नंबी के समकालीन चोल राजा प्रथम राजराजन ने, जो स्वयं बड़ा शैव भक्त था, तीन प्रमुख शैव संतों (अप्पर, सुन्दरर और संबन्धर) के भक्तिरसपूर्ण पदों को यत्र-तत्र सुनकर उनके संगीत-माधुर्य और भक्ति रस से प्रभावित होकर उन पदों के संकलन के लिए आवश्यक सहायता प्रदान की। 'तिरुमुरै' के बारह खण्डों में प्रथम तीन खण्डों में शैव संत ज्ञान संबन्धर के पद हैं और फिर तीन खण्डों में शैव संत अप्पर के पद हैं। सातवें खण्ड में शैव संत सुन्दरमूर्ति के पद हैं और आठवें खण्ड में शैव संत माणिक्कवाचकर के। दोनों ग्रन्थ 'तिरुवाचकम्' और 'तिरुकोवैयार' स्थान पाते हैं। इन प्रथम आठ खण्डों के अतिरिक्त शेष खण्डों में अन्य शैव भक्तों की रचनाएं रखी गई हैं और दसवें खण्ड में प्रसिद्ध शैव संत तिरुमूलर का ग्रन्थ 'तिरुमंतिरम' रखा गया है। ग्यारहवें खण्ड में जिन शैव संतों की रचनाएं संकलित हैं, उनमें प्रमुखतया चेरमान पेरुमाल और कारैक्काल अम्मैयार (शैव कवयित्री) का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। हमने जिन शैव भक्तों का ऊपर उल्लेख किया है, वे ही भक्त बहुत अधिक प्रसिद्ध शैव कवि हैं, जिन्होंने आलोच्य कालीन (पांचवीं शती से नवीं शती के अंत तक) भक्ति आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन्हीं प्रमुख चार-पांच कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय यहां पर्याप्त होगा।

शैव भक्त कवि अप्पर

प्रमुख चार शैव नायनमारों में अप्पर का समय ही पहले पड़ता है। ये पल्लव राजा प्रथम महेन्द्रवर्मन के समकालीन थे। शैक्किलार[3] कृत 'पेरियपुराण' (शैव

---

१. 'शैव धर्म व्याख्यान' (तिरुक्कोइल), सम्पादक : जी० कल्याणम्, पृ० ५३

२. 'तमिल आराइचियिन वलर्चि', ए० वी० सुब्रह्मण्य अय्यर, पृ० १२८-१२९

३. शेक्किलार तेरहवीं शताब्दी के एक बहुत बड़े शैव संत थे, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती शैव भक्तों के जीवन-वृत्तों को एक बृहद् काव्य का वर्ण्य विषय बनाया है।

महापुराण) में अप्पर का जीवन-वृत्त विस्तार के साथ दिया गया है।

अप्पर का जन्म तिरुवामूर (दक्षिण आर्काट) में एक कृषक परिवार में हुआ था। इनके बाल्यकाल में ही इनके माता-पिता का देहान्त हो गया था और उनकी एक अविवाहिता बहन इनकी देखभाल करती थी। इनकी बहन तिलकवती अपना सारा समय शिव की भक्ति और शिव मन्दिर की सेवा में लगाती थी। शैशवावस्था से ही अप्पर की रुचि नाना भाषाओं और शास्त्रों के अध्ययन में बहुत अधिक थी। इनके बचपन के समय में जैन धर्म का बड़ा प्रचार हो रहा था। अप्पर ने भी प्रारम्भ में उसके प्रभाव से जैन वाङ्मय का आद्योपान्त अध्ययन किया। इनकी कुशाग्र बुद्धि, जिज्ञासा-वृत्ति, प्रौढ़ पांडित्य एवं तर्क-ज्ञान से प्रसन्न होकर जैनाचार्यों ने जैन धर्म में दीक्षित कर 'धर्म सेन' नाम रख दिया। जैन धर्म के अनुयायी होकर अप्पर ने विविध स्थानों में भ्रमण कर जैन धर्म का प्रचार किया। अप्पर के इस कृत्य से उनकी बहन तिलकवती की वेदना उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। वह अहर्निश उनके उद्धार के लिए भगवान् शिव से प्रार्थना करती थी। कहा जाता है कि भगवान् शिव ने तिलकवती से स्वप्न में दर्शन देकर हृदय-रोग से अप्पर को पीड़ित बनाकर उनका उद्धार करने का आश्वासन दिया। भगवान् कभी-कभी भक्त को दण्डित करने के पश्चात् ही उसपर अनुग्रह करते हैं। अप्पर के सम्बन्ध में भी यही हुआ। ईश्वर की इच्छा से अप्पर को असह्य हृदय-पीड़ा आरम्भ हुई। उनको रोग से मुक्त करने के लिए सभी जैनाचार्य अनेक प्रयत्न कर हार गए। अन्त में अप्पर अपनी बहन की शरण में गए। तिलकवती भाई का कष्ट देखकर पसीज गई। उसने भगवान् शिव की भक्ति करने की प्रेरणा देकर 'नमः शिवाय' मंत्र का जप करने की सलाह दी। अप्पर बहन की प्रेरणा के अनुसार भगवान् शिव कीं भक्ति में निमग्न होकर भक्ति-गीत गाने लगे। भक्तवत्सल की अपार करुणा से अप्पर का हृदय-रोग दूर हुआ। अप्पर के भक्ति-गीत माधुर्यपूर्ण थे। कहा जाता है कि आकाश में दैवी वाणी सुनाई पड़ी, "माधुर्यपूर्ण सार्थक भक्ति-गीतों के गाने के कारण तुम्हारा नाम आज से 'तिरुनावुक्करसु' (वागीश) होगा।" अप्पर 'तिरुनावुक्करसु' नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

अप्पर बहुभाषा प्रवीण थे। तमिल, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था। जैनियों में वे 'क्षुल्लक धर्मसेन' के नाम से बिख्यात थे। जैन धर्म को त्यागने पर जैनाचार्यों की प्रेरणा से पल्लव राजा प्रथम महेन्द्रवर्मन ने अप्पर को अत्यधिक कष्ट देना शुरू किया। जिस समय राजा के कर्मचारी ने राजाज्ञा सुनाकर अप्पर से राजदरबार में चलने को कहा, तब अप्पर ने निर्भीक होकर इस प्रकार उत्तर दिया, "मैं किसीका दास नहीं हूं। यम से भी मुझे भय नहीं है। नारकीय वेदना देने पर भी मैं चिन्तित नहीं रहूंगा। मैं असत्य व्यवहार नहीं करता। अतः मेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। मेरा जीवन निर्मल है। श्वेत कुण्डल धारण करने वाले शिव भगवान् ही मेरे स्वामी हैं। मैं उन्हींका सेवक हूं। मैंने अपने को उन्हींके चरणों में अर्पित किया है।"[1] अप्पर के निर्भीक

१. 'अप्पर तेवारम्', ६ : ६ : ८

ले गए और भगवान् के सम्मुख रखकर 'औन्रुकोलाम्' नामक दशक गाया। बालक ने निद्रा से जागने के समान उठकर माता-पिता की वन्दना की। अप्पर ने कन्याकुमारी से कैलाश पर्वत तक पद-यात्रा की। चिदम्बरम् तिरुवण्णामलै, कांची-पुरम् आदि स्थानों की यात्रा कर वे वाराणसी गए और वहां से कैलाश की ओर अग्रसर हुए। कहा जाता है कि ८१ वर्ष की अवस्था में वे भगवान् की ज्योति में लीन हो गए।

अप्पर की रचना : तेवारम्

प्रमुख तीन संतों की रचनाएं 'तिरुमुरै' में संकलित हैं, उनको 'तेवारम्' भी कहते हैं। 'तेवारम्' का अर्थ 'ईश्वरार्थ रचे गए भक्ति-गीतों की माला' पड़ता है। कहा जाता है कि अप्पर ने ४९,००० दशक भक्ति-गीत गाए थे। परन्तु इस समय केवल ३११ दशक ही उपलब्ध हैं। 'तेवारम्' में दस-दस पदों (दशकों) से गूंथी भक्तिरस की काव्यमाला है। प्रत्येक दशक में शिव मन्दिर, तीर्थस्थान और भगवान् की महिमा का वर्णन है।

शैव सन्त अप्पर ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन सभी भक्तों की भक्ति का संकेत अपने काव्य में किया है। तमिल भाषा की विशिष्ट संगीत पद्धति में अप्पर की कृति 'तेवारम्' रचित है। भक्ति-आन्दोलन का स्पष्ट चित्र भी उनके काव्यों से मिल जाता है। उनके समय में भक्त गण तीर्थ (जल) और पुष्पों के साथ मन्दिर जाया करते थे। भगवन्नाम का जप और गुण-कीर्तन करते हुए मन्दिर जाना भी उस समय की पद्धति थी। मन्दिर की परिक्रमा कर साष्टांग दंडवत् नमस्कार करना और तीनों संधि बेलाओं में भगवान् की पूजा, आराधना करना आदि बातों को भी अप्पर के ग्रन्थ 'तेवारम्' से जाना जाता है। अप्पर की रचनाएं गूढ़ रहस्यों से भरी होने के कारण मार्मिक एवं कठिन प्रतीत होती हैं। उनकी कविताओं में कहीं-कहीं विरह की मार्मिक पीड़ा का वर्णन है। काव्य-सौंदर्य के साथ उच्च कोटि के भक्ति-तत्त्वों के मिल जाने से अप्पर के काव्य में लौकिक और पारलौकिक सुख की अनुभूति है। अप्पर ने अनेक पदों में ईश्वर को नायक और आत्मा को नायिका के रूप भी चित्रित किया है। अप्पर की भक्ति प्रधानतः दास्य भाव की है। अप्पर के उन पदों में, जिनमें मधुर भक्ति प्रतिपादित है, उच्च कोटि के रहस्यवाद के भी दर्शन होते हैं।

शैव संत संबन्धर

शैव सन्तों में सम्बन्धर का काफी ऊंचा स्थान है। ये शैव सन्तों के नेता माने जाते हैं। जैनों और बोद्धों को परास्त कर पुनः शैव धर्म की स्थापना करने में संबंधर का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। धार्मिक दृष्टि से भारत में शंकराचार्य का जो महत्त्व है, वही महत्त्व तमिल-प्रदेश में सम्बन्धर का है। परिमाण की दृष्टि से भी सम्बन्धर की रचना दूसरे सन्तों की अपेक्षा कहीं अधिक ही है। कहा जाता है कि सम्बन्धर ने १६,००० दशकों से अधिक पदों की रचना की थी। पर अब केवल ३८५ दशक ही उपलब्ध हैं।

सम्बन्धर के जन्म के सम्बन्ध में एक बड़ी ही रोचक घटना का उल्लेख किया जाता है। शीर्काली में एक शैव दम्पति थे, जिनकी कोई सन्तान नहीं थी। उनकी निरन्तर प्रार्थना पर भगवान् शिव के अनुग्रह से ई० ६३९ में उन्हें एक पुत्र मिला, जिसका नाम आलडैय पिल्लैयार रखा गया। तीन वर्ष की अवस्था में आलडैय पिल्लैयार पिता के साथ मन्दिर गए। पिता पुत्र को मन्दिर के तालाब के तट पर छोड़कर जलमग्न होकर तालाब में स्नान कर रहे थे। तब आलडैय पिल्लैयार पिता को नहीं देखकर उच्च स्वर में रोने लगे।[1] बालक का रुदन सुनकर पार्वती परमेश्वर ने प्रकट होकर बालक को अमृत पान कराया। वह अमृत ज्ञानामृत था। उसी समय से आलडैय पिल्लैयार का नाम ज्ञान सम्बन्धर पड़ा। बड़े होने पर संबंधर शैव मत के सफल समर्थक एवं प्रचारक बने। सम्बन्धर के ज्ञानामृत पाने की घटना का उल्लेख श्री शंकराचार्य ने 'सौन्दर्यलहरी' में किया है—

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयपयः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविड़शिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढ़ानां अजनि कमनीयः कवयिता॥

ज्ञान सम्बन्धर ने अप्पर के समान तमिल प्रदेश के शिव क्षेत्रों की पदयात्रा कर शैव धर्म और शिव-भक्ति का प्रचार किया और जगह-जगह पर जैनों और बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ कर उनको परास्त कर शैव धर्म की महत्ता स्थापित की। ज्ञान सम्बन्धर का यश चारों ओर फैला। इनका यश सुनकर इनके समकालीन वयोवृद्ध शैव सन्त अप्पर इनसे मिले। आयु से छोटे होने पर भी ज्ञान सम्बन्धर का प्रभाव महान् था। उनके जीवन में अनेक चमत्कारिक घटनाएं घटीं। ज्ञान सम्बन्धर के समकालीन राजा कून् पाण्डियन (मदुरै) जैन धर्मी हो गया था। वह दाहक रोग से व्यथित था। जैनाचार्यों के नाना प्रयास करने पर भी कून् पाण्डियन का रोग दूर न हो सका। रानी मंकैयर्करसी की प्रार्थना पर ज्ञान सम्बन्धर ने राजा को रोग-मुक्त किया। ज्ञान सम्बन्धर के बारे में एक और घटना कही जाती है कि तिरुमरुगल स्थान में सांप के डसने से पति के मर जाने पर कोई महिला विलाप कर रही थी। ज्ञान सम्बन्धर ने पति को जीवित कर उस महिला की वेदना को दूर किया। 'पेरियपुराणम्' में शैव कवि शैक्किलार ने ज्ञान सम्बन्धर के अनेक अद्भुत कृत्यों का उल्लेख किया है।

१६ वर्ष की अवस्था में ज्ञान संबन्धर का विवाह होने का निश्चय हुआ। विवाह का समय आ उपस्थित हुआ। बहुमूल्य वस्त्राभरण और रुद्राक्ष धारण कर ज्ञान संबन्धर विवाह-मण्डप में आए। पाणिग्रहण का संस्कार सम्पन्न होने से पूर्व वैवाहिक पद्धति के अनुसार विवाह-मण्डप में प्रज्वलित मंगलद्वीप के चारों ओर वर ज्ञान संबन्धर ने प्रदक्षिणा की। उस समय ज्ञान संबन्धर ने मन में भगवान् शिव का ध्यान कर शिव-चरण में प्रविष्ट होने की इच्छा की। वे विवाह-मण्डप से उठ-

---

१. *The Shaiva Saints of Southern India*, Sachi Chandan Pillai, *The Cultural Heritage of India*, p. 239.

कर सपत्नीक सीधे मन्दिर गए और भगवान् के समक्ष 'कल्लूर पेरुणाम्' नामक दशक गाकर शिव-ज्योति में नवोढा वधू सहित विलीन हो गए।

ज्ञान संबन्धर का तेवारम्

ज्ञान संबन्धर का तेवारम् तमिल भक्ति-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'तिरुमुरै' संकलन के बारह खण्डों में संबन्धर की रचनाओं को ही सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इनके भक्ति-गीतों में ईश्वर के अनुग्रह और प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है। कविता में जीवन के प्रति प्रेम और आनन्दानुभूति स्निग्ध रस प्रवाहित है। शिव के साथ उमा की महिमा का वर्णन भी इनके पदों में पाया जाता है। ज्ञानसंबन्धर अपनी भक्ति-भावना के भावावेश में भगवान् को आज्ञा तक दे देते हैं। अभिमान के साथ अपने को 'भूसुर ज्ञान संबन्धर', 'चारों वेदों का' ज्ञान संबन्धर' और 'सुमधुर तमिल कवि ज्ञान संबन्धर' कहकर ईश्वर से उसी प्रकार ममतापूर्वक कुछ मांगते हैं, जिस प्रकार पुत्र पिता से साधिकार मांग पेश करता है। संबन्धर के भक्तिपरक गीतों में भगवान् का गुणगान ही बार-बार किया गया है। उनके तीनों तेवारम् का एकमात्र विषय शिवस्थलों का भक्तिपूर्ण वर्णन है। अपने द्वारा दर्शित मन्दिर, मन्दिरों में सुप्रतिष्ठित भगवान् का गुण-गान, विविध ग्रामों, नगरों और प्रदेशों का वर्णन, मार्गस्थ पर्वत, नदी और कृषि-भूमि का वर्णन आदि संबन्धर के तेवारम् के वर्ण्य विषय हैं। ज्ञान संबन्धर ने लोगों के व्यक्तिगत कष्टों के निवारण के लिए भी अनेक पद गाए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि संबन्धर के पदों ने जन-मानस को कितना प्रभावित किया होगा।

शैव संत कवि सुन्दरमूर्ति

शैव संत सुन्दरमूर्ति नायनमार का समय आठवीं शताब्दी है। इन्होंने अपने समय के दूसरे शैव संतों का भी उल्लेख किया है। सुन्दरर का जन्म तिरुनावलूर नामक ग्राम में आदि शैव ब्राह्मण कुल में हुआ। पिता का नाम सडैयनार और माता का नाम इशैज्ञानियार था। बाल्यावस्था में खूबसूरत होने से इनका नाम सुन्दरमूर्ति रखा गया। कहा जाता है कि सुन्दरर सड़क पर खेल रहे थे, उस समय उस मार्ग से जाने वाले तिरुमुनैप्पाड़ी के राजा सुन्दरर के सौंदर्य से आकृष्ट होकर उनको अपने पास ले जाकर पालन-पोषण करते रहे। राज परिवार में रहने पर भी सुन्दरर ब्राह्मणोचित वैदिक शिक्षा पा रहे थे।

जब सुन्दरर वयस्क हुए, इनके विवाह का प्रबन्ध किया गया। विवाह-मण्डप में सुन्दरर नाना वस्त्राभूषणों से सर्वालंकृत होकर आसीन थे। ठीक उसी समय एक ब्राह्मण ने वहां आकर सुन्दरर को अपना दास कहकर उनपर अपना अधिकार जमाना चाहा। सुन्दरर के माता-पिता एवं एकत्रित नागरिकों ने इस अधिक्षेप का विरोध किया। महान् विवाद के पश्चात् स्थानीय विद्वन् मण्डली में यह विषय निर्णयार्थ उपस्थित किया गया। आगत वयोवृद्ध विद्वान् के पास सुन्दरर को अपना दास सिद्ध करने का प्रामाणिक दस्तावेज़ था। पंचायती लोगों ने तमाम कागज़ों का परिशीलन कर निर्णय दिया कि सुन्दरर वयोवृद्ध ब्राह्मण का दास है। विवश

होकर सुन्दरर को विवाह-मण्डप से उठकर बूढ़े के पीछे चलना पड़ा। वृद्ध एक मन्दिर में जाकर अन्तर्धान हो गए। तव लोगों को ज्ञात हुआ कि आगत वृद्ध भगवान् शिव के सिवाय कोई और नहीं। उसी दिन से सुन्दरर भगवान् शिवजी के अनन्य भक्त होकर अनेक शिवस्थलों का पर्यटन कर भक्तिपूरक स्तुतिगीत गाने लगे। सुन्दरर भगवान् की भक्ति के साथ-साथ लौकिक सुखों में भी परम आसक्त थे। अतः उन्होंने कई स्त्रियों के साथ विवाह किया और विषय-भोग के आधिक्य के कारण उनकी नेत्र ज्योति-क्षीण हो चली, वे अंधे हो गए।

कहा जाता है कि सुन्दरर ईश्वर को अपना परम मित्र मानकर लौकिक बातों में भी उनकी सहायता चाहते थे। वस्तुतः सुन्दरर ने ईश्वर को केवल मित्र ही नहीं माना, अपितु उनको अपना अधिनायक और शासक मानकर भी उनकी भक्ति की है। सुन्दरर ने अपनी आवश्यकताओं को ईश्वर से मांगने में संकोच नहीं किया। उन्होंने ईश्वर के अनुग्रह से इहलौकिक (भौतिक) सुखों का पाना और भोगना अनुचित नहीं समझा। सुन्दरर ने अपने पूर्ववर्ती संतों के समान ही भगवान् शिव की महिमा का गायन प्रभावशाली ढंग से किया है। अपने गुण-दोषों को भी भगवान् के चरणों में अर्पित किया है। उन्होंने केवल अपनी ही मुक्ति नहीं चाही, वल्कि समस्त मानवों की मुक्ति भी चाही है।

सुन्दरमूर्ति का तेवारम्

सुन्दरर का तेवारम् तिरुमुरै के सातवें खण्ड में संकलित है। शैव धर्म के प्रमुख चार संत कवियों में इनकी विशेष गणना है। तमिल-प्रदेश में भक्तिमय वातावरण को जगाने में इनके पदों का बड़ा हाथ रहा है। कहा जाता है कि इन्होंने ३८,००० दशक गाए थे, परन्तु इस समय केवल १०० दशक अर्थात् एक सहस्र पद ही उपलब्ध हैं। इनके पदों में शिव मन्दिरों का सजीव चित्र मिलता है। इनकी कविता की शैली अत्यन्त सरस और प्रभावोत्पादक है। सुन्दरर की कविताएं सख्य भाव से ओत-प्रोत हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने अभिन्न मित्र से अपने हृदय की सारी बातों को निस्संकोच वता देता है। उसी प्रकार सुन्दरर भी अपनी हार्दिक बातों को ईश्वर के सामने पूरी आज़ादी के साथ अभिव्यक्त कर देते हैं। सुन्दरर की विशेषता यह है कि स्वयं काव्य-रचना करने के साथ ही साथ, दूसरे संतों की रचनाओं को सुरक्षित रखने की ओर भी ध्यान दिया है। तिरुमुरै-संकलनकर्ता नंबी आण्डार नंबी ने सुन्दरर को 'तमिलाकरर' (तमिल का महासमुद्र) की उपाधि से विभूषित किया है।

शैव संत कवि माणिक्कवाचकर

शैव संत कवियों में माणिक्कवाचकर का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इनके जीवन-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार इनका समय नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। माणिक्कवाचकर का जन्म मदुरै के निकट तिरुवादवूरर नामक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाल्यकाल में माता-पिता ने इनका क्या नाम रखा था इसका पता नहीं

चलता। जन्मस्थान के आधार पर ही ये 'तिरुवादवूरर' के नाम से विख्यात थे। १६ वर्ष की अवस्था में ही तिरुवादवूरर सभी निगमागमों का अध्ययन कर सर्व शास्त्र-पारंगत हो गए थे। इनकी विद्वत्ता की ख्याति चारों ओर फैली। इनकी विलक्षण प्रतिभा का प्रकाश तत्कालीन पाण्डिय राजा तक पहुंचा। राजा ने माणिक्कवाचकर की विद्वत्ता, व्यक्तित्व और कार्यकुशलता से प्रभावित होकर इनको 'तेन्नवन् ब्रह्रायन्' की उपाधि देकर अपना मंत्री बना लिया। माणिक्कवाचकर अपनी सुलझी बुद्धि से राजकीय शासन-कार्य को सुचारु रूप से चलाते रहे।

माणिक्कवाचकर शिव के अनन्य उपासक थे। वे शासन-कार्य करते हुए सदा शिवभक्ति में निमग्न रहते थे। इनकी भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। वे अनासक्त रहकर राजकार्य में लगे हुए थे। इसी समय एक बार राजा ने बहुत-सा धन देकर अच्छे घोड़े खरीदकर लाने के लिए माणिक्कवाचकर को तिरुप्पेरुन्दरै भेजा। मार्ग में माणिक्कवाचकर को एक शिव-ज्ञानी मिले। माणिक्कवाचकर ने उनके उपदेश पर राजा का दिया हुआ सारा धन साधु-सन्तों और शिवभक्तों को खिलाने और मन्दिर बनाने में व्यय कर दिया। माणिक्कवाचकर को कारावास का दण्ड दिया। माणिक्कवाचकर कारावास में भी शिवभक्ति में डूबकर सतत् भगवान् के चिन्तन एवं संकीर्तन में लगे रहे। कहा जाता है कि भगवान् ने चाहा, भक्त को कारावास से मुक्त करने के लिए कोई उपाय करना है। उन्होंने जंगल से बहुत-से गीदड़ों को घोड़े बनाकर राजा की अश्वशाला में भिजवा दिया। इस घटना से प्रसन्न होकर राजा ने माणिक्कवाचकर को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया। ईश्वर की माया से वे सब घोड़े दूसरे ही दिन असली गीदड़ के रूप में परिवर्तित होकर जंगल में भाग गए। पाण्डिय राजा इसपर और भी क्रोधित हुआ और माणिक्कवाचकर को अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। अन्त में ईश्वर के अनुग्रह से पाण्डिय राजा ने माणिक्कवाचकर की महत्ता समझी, उन्हें पूर्ववत् सम्मान के साथ मन्त्रिपद पर नियुक्त किया। माणिक्कवाचकर का मन परिपक्व हो गया। उनका चित्त राजकार्य में पूर्ववत् लग न सका। अत: वे शासन-कार्य के उत्तरदायित्व से पृथक् होकर शिवक्षेत्रों का तीर्थाटन करने लगे। माणिक्कवाचकर ने भी अप्पर आदि के समान तमिल-प्रदेश के शिव मन्दिरों में जाकर भगवान् शिवजी की भक्ति की। किन्तु इन्होंने तेवारम्कर्ताओं के समान तीर्थस्थानों और मन्दिरों का गुणगान नहीं किया। कहा जाता है कि चिदम्बरम् में माणिक्कवाचकर ने बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त किया था और शिव-भक्ति धारा का प्रसार किया।

माणिक्कवाचकर की रचनाएं

शैव संत माणिक्कवाचकर के नाम से 'तिरुवाचकम्' और 'तिरुक्कोवे' नामक दो ग्रन्थ मिलते हैं। इन दोनों ग्रन्थों को 'तिरुमुरै' में आठवें खण्ड में स्थान दिया गया है। इनकी भाषा बड़ी ओजस्वी, भावपूर्ण एवं अत्यन्त मधुर है। समस्त तमिल प्रदेश में इनके गेय पद बड़े चाव से गाए जाते हैं। सभी शैव मन्दिरों में

'तिरुवाचकम्' का गायन होता है। मधुरता और कोमलता में इनके पदों की तुलना शहद और नवनीत से की जाती है। अशान्त जनों को सांत्वना देने की माणिक्कवाचकर के पदों में एक अद्भुत शक्ति है। माणिक्कवाचकर उच्च कोटि के रहस्यवादी कवि भी हैं। इनकी भक्ति का लक्ष्य लौकिक प्रेम न होकर केवल भक्तिरस या शिवानन्द-प्राप्ति ही है। इनके काव्य में मधुर भक्ति के अनेक सुन्दर पद हैं। इनकी दूसरी रचना, 'तिरुक्कोवे' मधुर भक्ति का ही एक उत्कृष्ट भक्तिकाव्य है। माणिक्कवाचकर ने अपने समय की प्रचलित सभी लोकगीतों की शैलियों के आधार पर 'तिरुवाचकम्' की रचना की है। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इनके पदों का कितना प्रभाव जन-मानस पर पड़ा होगा। 'तिरुवाचकम्' के सभी पद गूढ़तम आध्यात्मिक तत्त्वों से पूर्ण हैं। आध्यात्मिक अनुभूति से ओत-प्रोत होने के कारण 'तिरुवाचकम्' भक्तों के हृदय को हठात् द्रवीभूत कर देता है। तमिल प्रदेश में कहा भी जाता है कि जिसका हृदय 'तिरुवाचकम्' को सुनकर पिघल नहीं सकता, वह किसी भी दूसरे वचन को सुनकर द्रवित नहीं हो सकता।

'तिरुवाचकम्' में ५१ परिच्छेद हैं। 'तिरुवाचकम्' के कुल पदों की संख्या ६५६ है। इनके पदों में अनुभूति की जो तीव्रता है वह सहज ही भक्तों को भावावेश की स्थिति में पहुंचा देती है। माणिक्कवाचकर ने अपने नायक के करुणापूर्ण अनुग्रह, अनुभूत शिवानन्द, नायक से विमुक्त होने पर अनुभूत वेदना और नायक की प्राप्ति की प्रबल इच्छा आदि का सजीव चित्रण अपने गीतों में किया है। 'तिरुवाचकम्' के विविध परिच्छेदों के शीर्षक इस प्रकार हैं: कीर्तिगान, शरणागत गीत, प्रेम गीत, ऐक्य गीत, अनुग्रह गीत, प्रार्थना गीत, समर्पण गीत, वेदना गीत, रुदन गीत, दर्शन गीत और मुक्ति गीत। पूरे तिरुवाचकम्[1] में भक्त हृदय की आर्त पुकार ही सुनाई देती है।

माणिक्कवाचकर की दूसरी कृति 'तिरुक्कोवे' वास्तव में एक आध्यात्मिक प्रेमकाव्य है। माणिक्कवाचकर ने ईश्वर को नायिका मानकर और अपने में नायकत्व का आरोपण कर इस काव्य की रचना की है। 'तिरुक्कोवे' की कथा इस प्रकार है: एक प्रेमी जब जंगलों और पहाड़ों में भटक रहा था, अचानक उसकी भेंट एक सुन्दर कन्या से होती है। प्रेमी उस कन्या के प्रेम में फंस जाता है और उसके पास जाकर उससे प्रेम की भीख मांगता है। दोनों एक-दूसरे के साथ प्रेम के बन्धन में दृढ़ रूप से बंध जाते हैं। फिर धूमधाम के साथ उनका विवाह होता है और दोनों मिलकर अपनी गृहस्थी चलाते हैं। कुछ दिनों के बाद प्रेमी कुछ कार्यवश विदेश चला जाता है और दोनों प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे से कुछ काल के लिए विलग हो जाते हैं। वियोग की अवधि में प्रेमी और प्रेमिका दोनों एक-दूसरे से मिलने के लिए व्याकुल रहते हैं और चाहते रहते हैं कि कब पुनर्मिलन हो जाए। इधर अपने प्रियतम के वियोग में प्रेमिका की दशा अत्यन्त करुणापूर्ण हो जाती है। वह अकेली अपने घर में सदा अपने प्रियतम की चिन्ता

१. डा० जी० यू० पोप ने 'तिरुवाचकम्' का अनुवाद अंग्रेजी में प्रस्तुत किया है।

में ग्रस्त रहती है और उसकी याद में आंसू बहाती रहती है। इस तरह से वियोग से पीड़ित प्रेमिका का करुण क्रन्दन ही इस काव्य का मुख्य विषय है। इस पूरे काव्य में आध्यात्मिक प्रेम की ओर ही संकेत है।

तमिल-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन को जिन चार प्रमुख शैव भक्त कवियों से विशेष शक्ति प्राप्त हुई, उन्हींका परिचय हमने यहां प्रस्तुत किया है। इनका समय भी भक्ति-आन्दोलन के आलोच्य काल में पड़ता है। इस काल में और बाद में भी और अनेक शैव भक्त कवि हुए हैं, जिनकी रचनाओं ने तमिल-प्रदेश में भक्तिमय वातावरण को युग-युग तक बनाए रखने में बड़ा सहयोग दिया है।

चतुर्थ अध्याय

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का प्रमुख स्रोत : 'प्रबन्धम्'

वैष्णव भक्त-कवि आलवारों के महत्त्वपूर्ण योगदान के फलस्वरूप ईसा की छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने उत्तरोत्तर व्यापक रूप धारण किया। आलवारों के भक्ति-प्रधान गीतों में एक अद्‌भुत शक्ति थी जिसने तमिल-प्रदेश की समस्त जनता को भक्ति-मार्ग पर आकृष्ट किया। वह युग भक्ति के भावावेश का युग बना हुआ था और भक्ति ही उस युग की सबसे ऊंची आवाज़ थी। 'बिजली की चमक' के समान आलवारों का भक्ति-सन्देश समस्त दक्षिण भारत के कोने-कोने में पहुंच गया। आलवारों के द्वारा प्रसारित वैष्णव भक्ति की धारा नवीं शताब्दी के बाद भी अव्याहत गति से प्रवहमान रही।

यह स्मरण रखने की बात है कि तमिल को छोड़कर भारत की प्राय: सभी आधुनिक भाषाओं का विकास नवीं शताब्दी के अनन्तर ही हुआ है। दक्षिण की अन्य भाषाओं में भी भक्ति-साहित्य का आविर्भाव अधिकांशत: नवीं शताब्दी के पश्चात् ही हुआ है। नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक के साहित्य को 'मध्ययुगीन साहित्य' की संज्ञा दी जाती है। तमिलेतर समस्त भारतीय आधुनिक भाषाओं के भक्ति-साहित्य का काल इस मध्य युग में ही पड़ता है। यह देखा जा चुका है कि छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक भक्ति का जो शक्तिशाली आन्दोलन तमिल-प्रदेश में चला, उसने तमिल में उच्च कोटि के भक्ति-साहित्य को जन्म दिया। तमिल के इस भक्ति-साहित्य ने दक्षिण की अन्य सगोत्र भाषाओं के भक्ति-साहित्यों को प्रभावित किया हो, इसमें आश्चर्य की बात तनिक भी नहीं है। आलवारों के पश्चात् आने वाली आचार्यों की परम्परा ने मध्य युग में भक्ति-आन्दोलन को देशव्यापी बना दिया, जिसके फलस्वरूप भारत की विभिन्न भाषाओं में भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ। तमिल-प्रदेश में छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में जन-आन्दोलन के रूप में जिस भक्ति-आन्दोलन के दर्शन होते हैं, ठीक उसी प्रकार के भक्ति-आन्दोलन की झांकी मध्ययुगीन तमिलेतर समस्त भारतीय भाषाओं के भक्ति-साहित्यों में मिलती है। इस प्रकार आलवारों का भक्ति-साहित्य 'प्रबन्धम्' भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ ठहरता है। हमारा उद्देश्य यह स्थापित करना नहीं है कि

भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन भक्ति-साहित्यों को प्रभावित करने वाला एकमात्र स्रोत 'प्रबन्धम्' है। कई अन्य स्रोतों ने भी प्रभावित किया होगा। परन्तु 'प्रबन्धम्' का जो प्रभाव अन्य साहित्यों पर भक्ति-आन्दोलन के मूल ग्रन्थ के रूप में पड़ा है, वह निर्विवाद है—चाहे तो वह प्रभाव असाक्षात् रहा हो, चाहे उस प्रभाव के माध्यम अनेक हों। 'प्रबन्धम्' के अतिशय शक्तिशाली आचार-पक्ष और विचार-पक्षों से प्रभावित आचार्यों द्वारा चलाए गए विभिन्न भक्ति-सम्प्रदाय तथा उनके अन्तर्गत रचित भक्ति-साहित्य इसके प्रमाण हैं।

आलवारों का 'प्रबन्धम्' वैष्णव भक्ति-आन्दोलन तथा वैष्णव भक्ति-साहित्य के इतिहास में एक बहुमुखी प्रभावशाली भक्ति-ग्रन्थ सिद्ध हुआ है। चूंकि 'प्रबन्धम्' का महत्त्व प्रकाश में आ नहीं सका और तमिलेतर भाषी विद्वानों की 'प्रबन्धम्' तक (उसके मूल रूप के तमिल भाषा में होने के कारण) पहुंच नहीं थी, अत: मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन और मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रबन्धम् के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का उचित रूप में उद्घाटन नहीं हो सका। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के संदर्भ में यदि प्रबन्धम् का संपूर्ण अध्ययन किया जाए तो यह बात सरलतापूर्वक स्पष्ट हो जाएगी कि इस ग्रंथ ने परवर्ती युग को कितना अधिक प्रभावित किया है और यह किस तरह परवर्वी समस्त वैष्णव भक्ति-साहित्य का मूल स्रोत सिद्ध हुआ है। यहां हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करना है कि परवर्ती युगों में भी प्रबन्धम् वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को हर प्रकार से प्रभावित करने वाला एक प्रमुख स्रोत रहा है। 'प्रबन्धम्' का प्रभाव परवर्ती युग में तमिल-प्रदेश के सामाजिक और धार्मिक जीवन तथा भक्ति-साहित्य पर तो व्यापक रूप में पड़ा ही परन्तु, यही नहीं, तमिल-प्रदेश की सीमाओं को पाकर भी 'प्रबन्धम्' का प्रभाव दूसरे समीपवर्ती क्षेत्रों पर भी पड़ा। 'प्रबन्धम्' के भक्ति-दर्शन ने वैष्णव आचार्यों को बहुत हद तक प्रभावित करते हुए, उनके द्वारा मध्ययुग में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को देश-व्यापी बना दिया। इसी वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप ही मध्य युग में समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में विपुल मात्रा में वैष्णव भक्ति-साहित्य का सृजन हुआ।

परवर्ती युग में किन-किन विविध क्षेत्रों पर प्रबन्धम् का प्रभाव पड़ा है, जिसके आधार पर मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का एक प्रमुख स्रोत प्रबन्धम् को माना जाए, यही हमारे प्रस्तुत विवेचन का विषय है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य में वैष्णव भक्ति का जो भी रूप रहा हो, उसका मूल 'प्रबन्धम्' में मिल जाता है। वैष्णव भक्ति-भावना का रूप प्रदेश-विशेष की लोक-रुचि तथा परिस्थितियों के अनुसार भक्ति-काव्य में स्थिर हुआ है। यही कारण है कि किसी युग में किसी प्रदेश में वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत राम-भक्ति की प्रधानता रही तो किसी में कृष्ण-भक्ति की प्रधानता रही है। किसी युग में दास्य-भाव की भक्ति-भावना युगानुकूल रही तो किसी में मधुरोपासना। परन्तु वैष्णव भक्ति के ये सारे रूप प्रबन्धम् में उपलब्ध हैं। इस प्रकार प्रबन्धम् परवर्ती वैष्णव भक्ति-काव्य-धारा का उद्गम स्थान ठहरता है। ऐसा प्रतीत

होता है कि 'प्रवन्धम्' एक प्रमुख केन्द्र-स्रोत है, जहां से वैष्णव भक्ति-काव्य की विविध धाराएं फूट निकली हैं और उत्तरोत्तर व्यापक क्षेत्रों में प्रवहमान हुई हैं। मध्ययुग में विष्णु के विविध अवतार-रूपों, विशेषकर रामावतार और कृष्णावतार दोनों रूपों को लेकर प्रधानतया दो भक्ति-धाराएं विकसित हुई हैं, जिनको स्वतंत्र रूप में आगे ले जाने में संगठित विविध संप्रदायों की सांप्रदायिक मान्यता ही परिलक्षित होती है। आलवार भक्तों के सम्मुख कोई सांप्रदायिक दृष्टिकोण नहीं था। उनका प्रतिपाद्य विषय वैष्णव भक्ति ही था, तो भी उन्हें विष्णु के दो—रामावतार और कृष्णावतार—रूपों के प्रति विशेष आस्था थी। यही कारण है कि उनके काव्य में इन दो अवतार-रूपों को विशेष महत्त्व दिया गया है। परवर्ती युग के वैष्णव भक्ति-काव्य में लोक-रुचि और परिस्थितियों के अनुकूल रामावतार या कृष्णावतार रूप को प्रधानता मिली है। 'प्रवन्धम्' में प्रतिपादित राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि इन दोनों वैष्णव भक्ति-काव्यधाराओं का उद्‌गम स्थान 'प्रवन्धम्' ही है।

'प्रवन्धम्' कई दृष्टियों से भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ माना गया है। इसके भक्ति-तत्त्वों ने केवल परवर्ती वैष्णव भक्ति-साहित्य को ही नहीं, बल्कि सामान्य रूप से समस्त परवर्ती भक्ति-साहित्य को भी प्रभावित किया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से यहां मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रवन्धम के तत्त्वों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है :

१. सामान्य तत्त्व
२. विशिष्ट तत्त्व

सामान्य तत्त्वों के अन्तर्गत उन तत्त्वों को लिया जा सकता है, जिन्होंने सामान्य रूप से मध्ययुगीन भारतीय भक्ति-साहित्य को प्रभावित किया है। विशिष्ट तत्त्वों के अन्तर्गत हम मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति-साहित्यों को प्रभावित करने वाले तत्त्वों को विशेष रूप से ले सकते हैं। सामान्य भक्ति-तत्त्व तो सगुण भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत ही नहीं, बल्कि निर्गुण भक्ति-साहत्यि के अन्तर्गत भी न्यूनाधिक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ये तत्त्व भारतीय भक्ति-साहित्य में केवल 'प्रबन्धम्' से ही गए हों, यह बात नहीं है। 'प्रबन्धम्' भी स्वयं वेद तथा गीता से प्रभावित है। परन्तु 'प्रबन्धम्' का महत्त्व इस बात में है कि उसने भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट संदर्भ में इन तत्त्वों पर सर्वाधिक ज़ोर दिया और उन्हें भक्ति के आवश्यक तत्त्व बताए। इन सामान्य तत्त्वों में परवर्ती भक्ति-साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित करने वाले निम्नलिखित कुछ तत्त्वों को प्रमुख रूप से लेंगे :

१. भक्ति का सर्वोपरि महत्त्व
२. नाम-महिमा
३. स्तुति
४. शरणागति अथवा प्रपत्ति

५. गुरु-महिमा
६. सत्संग
७. वैराग्य

१. भक्ति का सर्वोपरि महत्त्व

भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से संसार-दुःख से छूटकर मुक्ति-लाभ करने के तीन प्रधान मार्ग प्रचलित रहे हैं:—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग। देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार कभी किसी मार्ग का प्राधान्य रहा है, और कभी किसीका। आलवार भक्तों के समय तक ज्ञान-मार्ग (कर्म-मार्ग) जन-साधारण के लिए असाध्य जान पड़ने लगे। आलवार भक्तों ने भक्ति-मार्ग को इतना आशावादी और सुगम बना दिया कि लोगों ने इसे बड़ी सरलता से अपना लिया, यहां तक कि कर्म और ज्ञान-मार्गों में भी भक्ति को साधन रूप में प्रविष्ट कर लिया गया। "कर्म और भक्ति, ज्ञान के साथ साधन-रूप भक्ति और योग के साथ गुरु की श्रद्धा-रूप में भक्ति, इस प्रकार अन्य मार्गों में भी भक्ति का समन्वय हुआ। स्वतन्त्र रूप से तो भक्ति-मार्ग इतना प्रचलित हुआ कि इसकी लहर ने दक्षिण से उठकर संपूर्ण उत्तरी भारत को आप्लावित कर दिया।"[१]

'प्रबन्धम्' में भक्ति की महत्ता सर्वत्र घोषित की गई है। सभी आलवारों ने भक्ति को ही मुक्ति-लाभ का एक मात्र उपाय बताया है। जो भक्ति नहीं करता, उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है। पैरियालवार ने यहां तक कह दिया है कि जो भक्ति नहीं करता, वह अपनी माता के गर्भ को कलंक पहुंचाता है।[२] सांसारिक दुःख से छूटकर परमानन्द प्राप्त करने के लिए योग, तप इत्यादि सब व्यर्थ हैं। केवल भक्ति ही वैकुण्ठ-प्राप्ति करा सकती है।[३] भक्ति ही मरण को जीत सकती है। अपने शरीर को नाना कष्ट पहुंचाकर, पंचेद्रियों को जलाकर कठिन तपस्या करने की आवश्यकता नहीं।[४] वन में जाकर पंचाग्नि मध्य बैठकर योग में लीन रहने से भी कोई प्रयोजन नही है।[५] भक्ति मात्र के उदय होने से सारा क्लेश दूर हो जाता है।

आलवारों के अनुसार भगवान् में अनुरक्ति ही भक्ति है। भगवान् का स्मरण मात्र करने से वह भक्त के हृदय में वास करने लगता है। भक्त सतत् भक्ति में

---

१. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' (प्रथम संस्करण), डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५१६
२. 'पेरियालवार तिरुमोली', ४ : ४ : २
३. 'नानमुखन तिरुवन्तादि', पृ० ७६
४. ऊनवाडा उण्णादु उयिर कावलिट्टू
   उडलिल पिरियाप्पुलनैंदुम नोन्दु
   तामवाडा वाडा तवम् चेय्यवेंटा। —'पेरिय तिरुमोली', ३ : २ : १
५. कायोडु नीडु कनियुंटु वीसु
   कडुंकाल नुकर्न्दु, नेडुंकालम् ऐन्दु
   तीयोटु निन्द् तवम् चेय्यवेंटा। —वही, ३ : २ : २

ही लीन रहना चाहता है। भक्ति से जो सुख मिलता है, वह स्वर्ग के सुख से भी श्रेष्ठ है।[1] आलवारों के अनुसार भक्ति का फल भक्ति ही है। भक्ति प्राप्त होने के पश्चात् किसी भी बात की आवश्यकता नहीं होती। उसे पूर्णानन्द का लाभ होता है। कुलशेखरालवार ने यहां तक कह दिया है, "हे भगवान्, मैं स्वर्ग की इच्छा नहीं करता, केवल तुम्हारी भक्ति करते रहने की मेरी कामना है।"[2] अतः आलवारों के अनुसार भक्ति साधन ही नहीं, बल्कि साध्य भी है।[3] स्पष्ट है कि आलवारों ने भक्ति को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी भक्ति को ही सर्वाधिक प्राधान्य प्रदान किया है और ऊपर दिए हुए आलवारों के विचारों को दुहराया है।

२. नाम-महिमा

भक्ति के साधन में भगवान् के अनेक नामों में से किसी भी नाम के स्मरण, कीर्तन तथा श्रवण का आलवार भक्तों ने भारी महत्त्व बताया है। आलवार भक्तों का दृढ़ विश्वास है कि भगवान् के सहस्र नामों में से किसी भी एक का सदा मन में स्मरण तथा ध्यान करने से, जिह्वा से उसका कीर्तन-गायन करने से और उसका कानों से श्रवण करने से मन, वाणी और कर्म द्वारा होने वाले समस्त पापों का क्षय होता है, मन में पवित्र भाव भर जाते हैं और श्रद्धा की वृद्धि हो जाती है।[4] श्रद्धा से भगवान् की सेवा में संलग्नता आती है और उससे भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति से सत्त्व गुण की वृद्धि होती है और तत्त्व का साक्षात्कार होता है, तदनन्तर मोक्ष मिलता है। तिरुमंगै आलवार अपने एक गीत में कहते हैं, "मैंने उस 'नारायण' नाम को पहचान लिया है जो पवित्रता (अच्छा कुल) प्रदान करने वाला है। वह धन देने वाला है, भक्तों के कष्टों और दुःखों को दूर करने वाला है, भगवान् का अनुग्रह प्रदान करने वाला है, शक्ति प्रदान करने वाला है, जन्म देने वाली माता से भी अधिक स्नेह (ममता) दिखाने वाला है, वह कल्याण प्रदान करने वाला है।" पेरियालवार का सुझाव है[5] कि

---

१. 'तिरुमालै', २

२. 'पेरुमाल तिरुमोली', ४ : ६

३. 'तिरुवायमोली', ३ : ३ : १-८

४. कुलमतरुम चेल्वम् तंतिटुम
अडियार पडुम तुयरायिनवेल्लाम्
निलन्तरंचेय्युम नीलविसुम्बु अरुलुम
अरुलोटु पेरिनिलमलिक्कुम
वलन्तरुम मटूम तन्तिटुम
पेट्रा तायिनुमे आयिन चेय्युम
नलन्तरुम चोल्लै नान कण्टु कोंटेन
नारायणावेन्नुम नामम। —'पेरिय तिरुमोली', १ : १ : ६

५. पेरियालवार ने बच्चों को भगवान् के विभिन्न नाम रखने का उपदेश देते हुए दस पद लिखे हैं।

बच्चों के लिए भगवान् के सहस्र नामों में से एक को रखना चाहिए। नाम की महिमा अनन्त है। भगवान् का नाम बच्चों के लिए रखने से उन्हें बुलाते समय भगवान् का स्मरण भी हो सकता है। इस तरह भगवान् के नामों का उच्चारण सर्वत्र हो सकेगा।

प्रायः सभी आलवारों ने नाम की महिमा गाई है। नाम-महिमा पर आलवारों के कुछ विचार नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं। (विस्तार-भय से उद्धरण संक्षेप में ही दिए गए हैं।)

"हमारे पापों और दोषों को 'नारायण' नाम विष की तरह मार डालता है।"[1]

"सुन्दर घनश्याम भगवान् का नाम लेने वाला कभी नरक नहीं पहुंच सकता।"[2]

"हे मन! भगवान् के नामों का उच्चारण करो, तुम्हारा उद्धार होगा।"[3]

"जो भगवान् का नाम स्मरण करता है, वह उसे स्वर्ग तक पहुंचाने वाला है, स्वर्ग उसका पुरस्कार है।"[4]

"जो 'नमोनारायण' नाम का उच्चारण करता है, उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है?"[5]

"भगवान् का नाम सज्जनों का वरदानस्वरूप है। भगवन्नाम को भूलने वाले को मैं मनुष्य की कोटि में मान नहीं सकता।"

"भगवान् का नाम स्मरण करने से जो आनन्द आता है, उसकी अपेक्षा मुझे इन्द्रलोक पर शासन करने का अधिकार मिल भी जाए, उसे नहीं लूंगा।"[6]

"भगवन्नाम की शक्ति से हम यमराज के सिर पर सवार हो सकते हैं।"[7]

"श्रुति के लिए सुखद शब्द भगवान् के नाम के अतिरिक्त कुछ नहीं।"[8]

"भगवान के नाम का उच्चारण करने से नरक भी स्वर्ग में परिणत होगा।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि आलवारों ने भगवन्नाम-माहात्म्य पर विशेष

---

१. नंचुतान कंटीर नम्मुटैय विनैक्कु
नारायणावेन्नुम् नामम्। —'पेरिय तिरुमोली', १ : १ : १०

२. कण्णुक्कु इनिय करुमुकिल वण्णन्नाममे
नण्णुमिन नारायणान् तम अन्ने नरकम् पुकाल। —'पेरियालवार तिरुमोली', ४ : ६ : ७

३. नामम् पलचोल्ली नारायणावेन्दु
नामैकेयाल तोलदुम नन्नैंचे। —'मूंट्राम् तिरुवन्तादि', ८

४. ज्ञान-ताल नन्कुर्णन्दु नाराणन तन नामंकल,
तानत्ताल मट्रवन परेचाटिनाल वानतु। —'इरैटाम तिरुवन्तादि', २

५. 'ऑट्राम तिरुवन्तादि', ६५

६. इच्चुवै तरिवयानपोय इन्द्रिरलोकमालुम
अच्चुवै पेरिनुम वेंटेन अरंगमानगरुलाने। —'तिरुमालै', २

७. नावलिट्टु उलि तरुकिट्रामे नमन तमर तलैकल मीदे,
मूवुलकुण्डु मिलन्दमुदल्वा। निन नामम् कट्रा।" —'तिरुमालै', १

८. चेविकिन्पम् आवतुम चैंकण्माल नामम्। —'नानमुखन तिरुवन्तादि', ६६

बल दिया है। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में भी भगवन्नाम की अनन्त महिमा की प्रतिष्ठा हुई है। निर्गुण मार्ग के संत तथा सगुण मार्ग के भक्त, दोनों ने मुक्त कंठ से भगवन्नाम की अमोघ शक्ति का वर्णन किया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि, "मध्ययुग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। मध्ययुग की समस्त धर्म-साधना को 'नाम की साधना' कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम-जप के बारे में किसीको सन्देह नहीं। इस अपार भवसागर में एकमात्र नाम ही नौका-रूप हैं।"[1]

३. स्तुति

भगवत्-स्तवन भक्ति का ही एक प्रधान अंग माना गया है। आर्त होकर भगवान् की असीम शक्ति, भगवान् की भक्त-वत्सलता तथा भगवान् के श्रेष्ठ गुणों का बारम्बार स्तवन करने से भक्त को परम शान्ति का अनुभव होता है। स्तुति की परम्परा तो वैदिक ऋचाओं से मिलती है। संस्कृत में तो उच्च कोटि का स्तोत्र-साहित्य उपलब्ध होता ही है। कीर्तन-भजन भी इस श्रेणी में आते हैं। भगवान् के नाम, गुण, माहात्म्य, लीला, धाम तथा भगवद्भक्ति के यश का प्रेम और श्रद्धा के साथ कथन, स्तुति, उच्च स्वर से पाठ तथा गान 'कीर्तन' कहलाता है। भक्तिशास्त्र के आचार्यों ने इस साधन को भी परमानन्द-प्राप्ति का एक उपाय कहा है और इसकी बहुत प्रशंसा की है।[2]

आलवारों के समस्त पद एक प्रकार से स्तुति-गीत ही हैं। अनेक दशकों में पूरे का पूरा भगवत्-स्तवन ही है। भगवान के श्रेष्ठ गुणों और उनकी महिमा का कथन कर भक्त अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है। भक्त भगवान् की महिमा गाना ही अपना परम धर्म समझता है। वास्तव में बात यह है कि आलवार भक्तों ने अपने अधिकांश गीत विभिन्न मन्दिरों में विभूषित भगवान् के अर्चावतार-रूपों की स्तुति में गाए हैं। अत: इनके अधिकांश गीत स्तुतिपरक हैं। भक्त भगवान् को कितने ही नामों से सम्बोधित कर, उसकी कितनी ही लीलाओं की प्रशंसा कर स्वयं परम सुख का अनुभव करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आलवारों के स्तुति-गीतों ने भक्तों पर बड़ा ही प्रभाव डाला था। वैष्णव मन्दिरों में आज भी उनके स्तुति-गीत गाए जाते हैं।

नम्मालवार, तोंडरडीपोडीआलवार, पेरियालवार और कुलशेखरालवार के अनेक पद भगवत्-स्तुतिपरक हैं। कुलशेखरालवार की संस्कृत रचना 'मुकुन्दमाला' तो श्रेष्ठ स्तोत्र ग्रन्थ है ही। संस्कृत के स्तोत्र-ग्रन्थों में 'मुकुन्दमाला' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् की स्तुति करने में भक्त को कितना आनन्द आता है ! 'मुकुन्दमाला' से दो श्लोक नीचे उद्धृत किए जाते हैं :

---

१. 'मध्यकालीन धर्म-साधना', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५
२. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५६२

"जयतु जयतु देवो देवकीनन्दनोऽयं
जयतु जयतु कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः
जयतु जयतु मेघ श्यामलः कोमलांगो
जयतु जयतु पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः।"[१]
"अनन्त वैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥
वक्तुं समर्थोऽपि न वक्ति कश्चित्
अहो जनानां व्यसनाभि मुख्यम् ॥"[२]

आलवार भक्तों ने भगवत्-स्तवन की बड़ी आवश्यकता बताई है। भूतत्तालवार का कथन है कि भगवान् की स्तुति करने वाले ही जीते हैं।[३] भगवान् के गुणों की, लीलाओं की स्तुति करना ही तप करने के समान है।[४] चेर राजा कुलशेखर भगवान् की सेवा में प्रस्तुत होकर उनकी स्तुति करना ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं।[५] पेरियालवार का कहना है कि जो जिह्वा भगवत्-स्तवन न करे, उससे क्या प्रयोजन है।[६] नम्मालवार ने कहा है कि "स्तुति के योग्य केवल भगवान् ही हैं। मैं मनुष्यों की स्तुति करने वाले मूर्खों में नहीं हूं। हे कवि ! तुम सर्वेश्वर शक्तिशाली गुण-निधान भगवान् की स्तुति करो।"[७] पोयगै आलवार ने कहा है कि मेरा मुंह भगवान् के अतिरिक्त किसी दूसरे की स्तुति नहीं करेगा।[८]

आलवारों के स्तुति-गीतों की एक बड़ी विशेषता उनमें संगीत का समावेश है। संगीत का प्रभाव विश्वव्यापी है। मनुष्य ही नहीं, पशु-संसार भी संगीत के मुग्धकारी प्रभाव से वंचित नहीं है। आलवारों के स्तुतिपरक भक्ति-गीतों को गाते-गाते भक्त बहुधा आनन्दातिरेक से नाच उठते थे। भक्ति के साथ संगीत तथा संगीत के साथ भक्ति—दोनों का एक-दूसरे के सहारे बहुत प्रचार हुआ है। डॉ० दीनदयालु गुप्त जी के शब्दों में, "ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दियों में, जब दक्षिण भारत में शिव और विष्णु की भक्ति के मार्गों का पुनरुत्थान और प्रचार हुआ, उस समय यह कार्य धार्मिक गीतों (आलवार भक्तों के 'तमिल गीत प्रबन्धम्') द्वारा अधिक मात्रा में हुआ। भक्ति के प्रचार के साथ इन शताब्दियों में संगीत-प्रियता खूब बढ़ी। तमिल भाषा में उस समय के संगीत के बहुत-से नमूने अब

---

१. 'मुकुन्दमाला' (कुलशेखरालवार), सम्पादक : एम० वी० वी० के० रंगाचारी (काकीनाडा), पृ० १

२. वही, पृ० ७

३. वलीवालवार वालवराम्मादो-वलुविन्ट्री,
नारणन तन नामंगल नन्कुणर्न्दु एतुम ॥ — इरंटाम तिरुवन्तादि', २०

४. एत्ति पणिन्दवन पेर इरैंजूरुम,
एप्पोलुदुम चार्ति युरैत्तल तवम् ॥ —'इरैटाम तिरुवन्तादि', ७७

५. एत्ति इन्पुरुम तोंटर सेवडी एत्ति वाल्त्तुमेन्नेंचमे। —'पेरुमाल तिरुमोली', २ : ४

६. 'पेरियालवार तिरुमोली', ५ : १ : १

७. 'तिरुवायमोली', ३ : ६, १-१०

८. वाय अवनैयल्लदु वालत्तादु। —'ऑट्राम् तिरुवन्तादि', ११

भी सुरक्षित हैं। उत्तरी भारत में भी दक्षिण का धार्मिक प्रभाव आया और भक्ति-आन्दोलन के साथ संगीत का भी मान बढ़ा।"[१] तात्पर्य यह है कि आलवारों के स्तुति-गीतों ने मध्ययुगीन भक्त कवियों को वहुत ही प्रभावित किया है। मध्य युग में कीर्तन-भजन की जो परम्परा चल पड़ी, उसका मूल स्रोत आलवारों का 'प्रबन्धम्' है। मध्ययुग के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने भीरु गीतात्मक शैली को अपनाया और भगवत्-स्तवन में गीत प्रस्तुत किए।

४. शरणागति या प्रपत्ति

आलवारों के अनेक पदों में 'शरणागति तत्त्व' पर विशेष ज़ोर दिया गया है। आत्मदोषों पर पश्चात्ताप प्रकट करना, अपनी आश्रयहीनता का अनुभव करना, भगवान् को ही एकमात्र सहारा समझना और उद्धार की प्रार्थना करते रहना ही प्रपत्ति या शरणागति है। गीता में श्री कृष्ण का कथन है, "हे भारत ! सव प्रकार से उस परमेश्वर की शरण जा। तू उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को और शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा।"[२] शरणागति में भगवान् का अनुग्रह विशेष अपेक्षित है। यद्यपि भक्ति और प्रपत्ति, दोनों में भगवान् के अनुग्रह और प्रेम का प्रकर्ष होता है और दोनों का फल भगवान् ही है, तथापि दोनों में अन्तर यही है कि भक्ति में साधन-विशेष स्वीकार है, प्रपत्ति में साधनानुष्ठान का स्वीकार नहीं है, केवल भगवान् का स्वीकार है। प्रपत्ति में भगवत्सेवा[३], भगवान् के नाम-जप-कीर्तन आदि निषेध नहीं, लेकिन ये कार्य आवश्यक नहीं हैं। सामान्य रूप से शरणागति तत्त्व के अन्तर्गत स्व-दोषों का प्रकाशन, भगवान् की भक्तवत्सलता पर दृढ़ विश्वास, उद्धार की प्रार्थना, भगवान् से शरण की याचना, आत्म-समर्पण आदि अंग

---

१. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५६४

२. तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥–'श्रीमद्भगवद्गीता', अध्याय १८
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥ —वही

३. भक्ति और प्रपत्ति का अन्तर समझाते हुए श्री एं० गोविन्दाचार्य ने लिखा है—
"One is by Bhakti or loving Him with all energy of one's own will: the other by Prapatti or loving him with all the force derived from God Himself when the aspirant has resigned his own will and dispensation of providence. In the former case (Bhakti) God does not bind Himself to save, whereas in the latter case (Prapatti). He binds Himself to save. Conditions for the former (Bhakti) are untiring devotion and unceasing worship & C., on the part of the creature—the use of self-will; whereas conditions for the latter (Prapatti) are implicit trust and effacement of self-will and proneness. to the complete operation of God's will alone. The former (Bhakti) is a slender stream of love proceeding from puny efforts, a creature is capable of producing in his heart; and this necessarily subject of many accidents; but the latter (Prapatti) is the mighty flood of Grace pouring down from God the Creater, nothing with standing the rush of the torrent."—*Divine Wisdom of Dravid Saints*, pp. 207-209.

रूप में आते हैं।[1] आत्मदोष तथा अपनी अकिंचनता का प्रकाशन करते हुए अभिमान के त्याग, दीनता तथा आत्म-निवेदन सहित भगवान् से शरण पाने की आर्त पुकार के कितने ही पद आलवार भक्तों ने लिखे हैं। तिरुमंगै आलवार ने आत्मदोषों का प्रकाशन कर करुणा-कलित शब्दों में भगवान् की शरण की याचना की है। उनके कुछ पदों का सार देखिए :

"मैं दुखी हूं, चिंतित हूं, व्याकुल हूं, सांसारिक मोहजाल में पड़कर मैंने कितने ही स्वर्ण दिन खो दिए हैं।···विजय की कामना कर, नश्वर पदार्थों की इच्छा कर नारी के मोहजाल में पड़कर, चंचल मन से कितने दिन मैंने नष्ट कर डाले। अब क्या करूं ? हे भगवान् ! मैं चोर हूं, कपटाचरण करने वाला हूं, मनमाने मार्ग पर चलने वाला हूं, दिशाहीन हूं, लक्ष्यहीन हूं, ।···अब आपकी दया की कामना करता हूं।

(पेरियातिरुमोली, १ : १ : ३-५)

"नारी-सौंदर्य पर मोहित होकर उसे ही शाश्वत सुख समझकर मैं मूर्ख बन बैठा।···मैं अब लज्जित हूं। आपकी शरण में आया हूं।"

"हे भगवान् ! मैं आपकी शरण में आया हूं, मुझे स्वीकार करो।"[2]

"हे करुणानिधान ! अन्त में मैं आपके पास आया हूं। इस अकिंचन की रक्षा करो।"[3]

पेरियालवार ने अनेक पदों में आर्त पुकार की है—"हे भगवान् ! मैं आपकी शरण में आया हूं। मेरी रक्षा करो।"[4]

तोंडरडीपोडी आलवार के शब्द तो हृदय को द्रवित करने वाले हैं। तड़पते हुए भक्त हृदय की करुण पुकार इन पदों में सुनाई पड़ती है :

"मेरा अपना कोई घर नहीं, अपनी ज़मीन नहीं और पूछने वाला कोई बन्धु भी नहीं। फिर भी हे करुणामूर्ति ! इस पार्थिव जीवन में आपके चरणों की सुदृढ़ शरण मैंने नहीं ग्रहण की। हे घनश्याम भगवान् ! अब तो मैं भारी क्रन्दन करता हूं। कोई है मुझे अवलम्ब देने वाला !"[5]

"मेरे मन में थोड़ी-सी भी पवित्रता नहीं, मुंह से एक भी हित वचन नहीं निकलता। क्रोध के कारण मैं द्वेष-बुद्धि का दमन नहीं कर पाता हूं। किन्तु

१. 'पांचरात्र' (लक्ष्मी संहिता) में प्रपत्ति के छः अंगों का इस प्रकार वर्णन है :
आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपमकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥

२. अण्णा। वन्तडैन्तेन अड़ियेनै आट्कोंटरुलाये। —'पेरिय तिरुमोली', १ : ९ : ६

३. अट्रेन वन्तडैन्तेन अडियैनै आट्कोंटरुलाये ॥ वही, १ : ९ : ९

४. अण्णले। नी एन्नै काक्कवेंटुम। वही, ४ : १० : ६

५. ऊरिल्लेन काणियिल्लै उरवुमट्रोरुवरिल्लै,
पारिलनिन्पादमूलम् पट्रिलेन परममूर्ति।
कारोलीवण्णने ! कण्णने। कदरुकिंट्रेन,
आरुलर ? कलै कण अम्मा। अरंगमानगरल्लाने।" —'तिरुमालै' २९

दूसरे पक्षवादियों पर बुरी दृष्टि डालकर कटुवचन बोल देता हूं। हे तुलसीमाला-धारी ! मेरी गति अब क्या हो सकती है ? कहिए, मुझपर शासन करने वाले महाप्रभु !"[1]

कुलशेखर आलवार ने भगवान् की शरण को ही एकमात्र सहारा माना है। वे कहते हैं,' 'मैं बहुत कष्ट भोग रहा हूं। तुम्हारी शरण के सिवा और कोई शरण नहीं।···जिस प्रकार से माता के क्रुद्ध होकर त्यागने पर भी शिशु माता के प्रेम पर ही आश्रित है, उसी प्रकार हे भगवान्, मैं आप ही के अनुग्रह पर आश्रित हूं।"[2]

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हुआ होगा कि आलवारों ने शरणागति-तत्त्व पर कितना ज़ोर दिया था। आलवारों की विचारधारा की पृष्ठभूमि में पनपने वाले श्री रामानुज सम्प्रदाय में आगे चलकर शरणागति या प्रपत्ति-तत्त्व को लेकर शास्त्रीय स्तर पर मतभेद हुआ। एक पक्ष के लोग भगवान् के अनुग्रह को सहेतुकी मानने लगे और दूसरे पक्ष वाले निर्हेतुकी मानने लगे। प्रथम पक्ष वाले 'वड़कलै' और द्वितीय पक्ष वाले 'तेन्कलै' कहलाने लगे। 'तेन्कलै' पक्षवाले अपने सिद्धान्तों के विशेष आधार 'प्रबन्धम्' को मानते हैं। 'तेन्कलै' वालों की प्रपत्ति-सम्बन्धी मान्यता को बिल्ली और उसके बच्चे के सम्बन्ध से और 'बड़कलै' की मान्यता को वन्दर और उसके बच्चे के सम्बन्ध के उदाहरणों से साधारणतया समझाया जाता है। आश्चर्य की बात है कि श्री वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गों में भी आलवारों की वही निर्हेतुकी अनुकम्पा वाली मान्यता स्वीकृत हुई। डॉ० दीनदयाल गुप्त जी लिखते हैं, "पुष्टमार्गीय प्रपत्ति का उदाहरण बिल्ली के बच्चे से दिया जाता है। बिल्ली का बच्चा अपनी मां को नहीं पकड़ता। बिल्ली जहां जाती है, बच्चे को मुख में लटकाकर ले जाती है, तथा उसकी रक्षा के लिए सदैव उसके पीछे फिरा करती है। उसी प्रकार भगवान् भी अशक्त, दीन-उपायहीन-प्रपन्न शरणागत की रक्षा के लिए अपने कार्यऔर धर्मों को भी त्यागकर उसके पीछे फिरा करते हैं।"[3]

सारांश यह है कि आलवारों के शरणागति-तत्त्व ने परवर्ती भक्ति-साहित्य को प्रभावित किया है।

५. गुरु-महिमा

आध्यात्मिक साधन के सभी मार्गों में गुरु की आवश्यकता और उसकी महिमा का गायन हुआ है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों, चाहे निर्गुण मार्ग के सन्त हों, चाहे हठायोगी साधक हों, चाहे सूफी प्रेमी—सभीने मुक्त कंठ से आध्या-

---

१. मनत्तिल और तूइमैयिल्लै वायिलोर इन्सोल्लिल्लै,
... ... —'तिरुमोली', ३०

२. 'तरुंतुयरम् तटायेल उन शरणल्लाल शरणिल्लै,
विरै कुलुवुम मर्लोलिल चूल विट्टुवक्कोट्टम्माने।
अरिचिनताल ईन्ट्राताय अकट्रिनुम मट्रवलतन,
अरुल निनैन्देयलुम् कुलवियदुवे पोन्द्रिरुन्देने॥' —'पेरुमाल तिरुमोली', ५ : १ : १

३. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ६७०-६७१

त्मिक साधना में गुरु की आवश्यकता मानी है। गुरु आध्यात्मिक जीवन का पथ-प्रदर्शक है। अज्ञान-तिमिर में गुरु ज्ञान-दीपक है। गुरु की सहायता के बिना मन का मैल दूर नहीं हो सकता और परमात्मा की प्राप्ति असंभव है। गुरु की कृपा आत्मा को परमात्मा से मिलने के रास्ते पर ले जाने वाली है। गुरु ईश्वर के सदृश आदरणीय है। कुछ भक्तों ने तो गुरु को ईश्वर से भी अधिक पूज्य बताया है। आलवारों के अनेक पदों में गुरु की महिमा गाई गई है। मधुर कवि आलवार की एकमात्र रचना 'कण्णिनुणचिरुतांबु' का वर्ण्य विषय ही गुरु-भक्ति है। सद्गुरु की खोज में भटकने वाले मधुर कवि नम्मालवार को गुरु रूप में पाकर अपने जीवन को धन्य समझते हैं। वे गुरु को ईश्वर से भी श्रेष्ठ मानते हैं और गुरु की सेवा में अपना परम धर्म मानते हैं। उनका मत है कि गुरु भगवद्-स्वरूप हैं। उसे अपना शरीरादि सर्वत्र निवेदन करते हुए, सर्वदा अनुगमन करते हुए, अत्यंत तुच्छ सेवक के समान दिन-रात गुरु की सेवा में लीन रहना चाहिए। गुरु-सेवा से सर्वेश्वर सन्तुष्ट हो जाते हैं। मधुर कवि ने अपने कथन से ही नहीं, बल्कि अपने कर्मों द्वारा भी गुरु-भक्ति की महिमा साबित की है। मधुर कवि गुरु की स्तुति में कहते हैं—

"गुरु (नम्मालवार) का नाम लेते ही मेरी जिह्वा अमृत-आस्वादन का-सा आनन्द प्राप्त करती है।"[१]

"वेद के गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को गुरु ने मुझे सरलता से समझाया। श्रेष्ठ गुरु (नम्मालवार) की दासता स्वीकार कर मैं अपने को धन्य समझता हूं।"[२] मुझमें वास करने वाले दोषों को गुरु (नम्मालवार) ने दूर किया। मैं श्रेष्ठ गुरु की महिमा दिशा-दिशा में फैला दूंगा। मैं गुरु की कृपा की याचना करता हूं।"

(कण्णिनुणचिरुतांबु, ७)

पेरियालवार ने यहां तक कह दिया है कि "निर्मल तथा सद्गुणों से विभूषित गुरु की कृपा पाकर उनके निर्देशानुसार भगवान् की स्तुति नहीं करने वाला अपनी मां के गर्भ को कलंक पहुंचाता है।"[३]

नम्मालवार ने भी गुरु की महिमा पर अनेक पद लिखे हैं। चाहे गुरु किसी भी निम्न जाति का हो—"चांडाल क्यों न हो—गुरु की महिमा अवर्णनीय है और उसकी सेवा करनी चाहिए।"[४]

१. "........................
नण्णित्तेन कुरुकुर नम्वीयेण्ट्रकाल
अण्णिक्कुम अमुदूरुम एन्नाउक्कै।" —'कण्णिनुण चिरुतांवू', १

२. "मिक्क वेदियर वेदत्तुनुट्रपौरुल
निर्कप्पाडी एन्वेचुल निरत्तिनान
तक्कपीर शटकोपन एन्नम्बिक्कु आल
पुक्कादल अडिमै पयनेण्ट्र।" वही, ६

३. पेरियालवार तिरुमोली ४ : ४ : २

४. "कुलम तांगु जातिकल नालिलुम कीलिन्दु एत्तनै
नलम्दानिलाद चण्डाल चण्डालर्कलाकिलुम

मधुर कवि जैसे वयोवृद्ध ब्राह्मण का निम्न जाति के युवक नम्मालवार को गुरु-रूप में पूजन करना उस युग में एक क्रान्तिकारी घटना अवश्य रही होगी। स्पष्ट है कि आलवार भक्तों ने गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने साथ ही साथ मनुष्य की पहचान जाति से न कर, भक्ति और ज्ञान के आधार पर मानकर जाति-भेद को मिटाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है। श्री रामानुजाचार्य के समय में भी आलवारों की उदारवृत्ति का प्रभाव समाज पर पड़ा। भक्ति के क्षेत्र में गुरु-शिष्य जाति-भेद को न मानने वाले आलवारों के उच्च आदर्शों ने जनता पर अमिट प्रभाव डाला। इस कारण निम्न जातियों का जो सामाजिक उद्धार सम्भव हो सका, वह भारत-भूमि में निश्चय ही ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।[1] मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी गुरु-भक्ति की आवश्यकता बताई है और जाति-भेद को मिटाने का सन्देश दिया है।

६. सत्संग

'सत्संग' भक्ति की उत्पत्ति एवं विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करने वाला अद्वितीय साधन माना गया है और बहुधा सत्संग और साधु-संग को उसके रूप में ग्रहण किया जाता है। भक्ति-धर्म में एकान्त निष्ठा बनाए रखने के लिए साधु-समागम भी आवश्यक है। ज्ञान, योग और तप की तरह भक्ति की एकाकी साधना नहीं होती, वह व्यक्ति-धर्म ही नहीं है, समाज-धर्म है। सांसारिक विषयों के प्रलोभन से बचने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे समाज में रहा जाए जहां भक्ति-विरोधी परिस्थितियां नहीं हों। साधु-महात्माओं के साथ बैठने से आत्मा को शान्ति मिलती है, उनके उपदेशों से लोभ-लिप्सा का ह्रास होता है। उनकी सेवा और अनुकरण से भगवान् के ज्ञान का साक्षात्कार होता है। गीता में श्री कृष्ण का कथन है,"जो भक्त जन निरन्तर मुझमें मन लगाकर मुझीको प्राणों का अर्पण कर सदा मेरी चर्चा करते हैं तथा आपस में बोध-विनिमय करते हैं, वे नित्य सुखी रहते हैं और निरन्तर मुझमें रमते हैं।"[2]

आलवार भक्तों ने सत्संग को भगवत्-प्राप्ति का उपकरण मानकर सर्वदा भक्तों के समाज में विराजने का आदेश दिया है। कुलशेखरालवार ने अपने राज-भोग को भी त्यागकर भक्तों की मण्डली में जा मिलने की अपनी तीव्र उत्कंठा प्रकट की है।

"अमृत सम भगवान की स्तुति कर, भगवान् को अपने अन्तःकरण में धारण कर, भगवान् का गुणगान कर नाचते-नाचते थक जाने वाले भक्तों के मण्डल में जा

वलन्दांगु चक्करत्तण्णल मणिवण्णर्क्कु आलेन्दु उल
कलन्दार अडियार तम अडियार एम्पडियारकले ॥ —'तिरुवायमोली', ३ : ७ : ६

१. "......the social uplift of the lower classes to which it has led is of great value in the History of India."—*Out lines of Indian Philosophy.* Prof. Hiriyana, p. 413.

२. मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च । —'गीता', दशम अध्याय, श्लोक ६

मिलने का सौभाग्य मुझे कब प्राप्त होगा ?"[१]

"भगवान् की दिव्य लीलाओं का गानकर आनन्दाश्रु बहाकर, अश्रुधारा से भीगने वाले भगवान् के मन्दिर के प्रांगण में नाचने वाले श्रेष्ठ भक्तों की चरण-धूलि को अपने चेहरों पर लगाऊंगा।"[२]

"निरन्तर आनन्दाश्रु बहाकर, आर्त पुकार कर पुलकित होकर, भगवान् की स्तुति कर नाच उठने वाले भक्तों को कोई पागल कह बैठे तो कहने वाला ही पूर्णरूपेण पागल है।"[३]

"भक्तों के बीच में ऊंच-नीच-भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। वे तो भगवान् के भक्त होने के कारण समान हैं। तोंडरडीपोडी आलवार ने कहा है, "दोष-रहित जीवन बिताकर भगवान् के ध्यान में सर्वदा लीन रहने वाले (भले ही नीच कुल के क्यों न हों) अगर शुद्ध भगवदभक्त हैं तो उनकी पूजा करो, उनकी सेवा करो। उनकी संगति करो, क्योंकि वे भगवान् के समान स्तुत्य हैं।"[४]

साधु-संगति के आदेश के साथ-साथ आलवारों ने हरि-विमुख लोगों के संग-त्याग का भी उपदेश दिया है। कुलशेखरालवार ने लिखा है :

"इस सांसारिक जीव को शाश्वत (वास्तविक) मानकर इसीमें लीन रहने वालों से मैं संगति नहीं करूंगा।"[५]

"(पतली कमर वाली) सुन्दर स्त्रियों के प्रेम-पाश में पड़े रहने वालों से संगति नहीं करूंगा।"[६]

"मन की मैल को दूर कर, ईर्ष्यादि दुर्गुणों को त्यागकर, पंचेन्द्रियों को काबू में रखकर सर्वदा भगवत्-स्तवन में लगे रहने वाले तथा विशुद्ध भक्तों के दर्शन कब कर सकूं ?"[७]

मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी अपने अनेक पदों में सत्संग के महत्त्व को प्रकट किया हैं। हिन्दी के अष्टछापी कवियों ने भी सत्संग-महिमा, भक्त और भग-

---

१. तेट्टरुन्दिरल　तेनिनै　तैन्नरंगनै　तिरुमादुवाल।
वाट्टमिल वनमालै मार्वनै वालत्ति माल कोल चिन्तैयराय।
आट्टमे वियलन्दलैत्तु अयर्वेइतुम मेय्यडियारकल तम
ईट्टम कण्टिटक्कूडुमेल अतुकाणुम कण पयनावते। —'पेरुमाल तिरुमोली', २ : १

२. आरु पोल वरुम कण्णनीर कोंटु अरंगन कोयिल तिरुमुद्रम्
चेरु चेय तोंडर चैवडी चैलुमेरु एन केन्निक्काणि वने। —वही, २ : ३

३. 'पेरुमाल तिरुमोली', २ : ६

४. ....
इलि कुलत्तवर्कललुमु एप्पडियार्कलाकिल
तोलुमिन कोडुमिन कोणमिन ऐन्द्रु··· । —'तिरुमालै', ४२

५. "मेय्यिल वाल्क्कैयै मेय्येने क्कोल्लुम्
वैयन्तन्नोटुम कूडुवदिल्लै यान।" —'पेरुमाल तिरुमोली', ३ : १

६. "नूलिनेरिडैयार तिरत्ते निर्कुम
जालन्तन्नोटुम कूडुवदिल्लै यान।" —वही, ३ : ४

७. 'पेरुमाल तिरुमोली', १ : ७

वान् की एकता तथा हरि-विमुख-संग-त्याग के भावों को प्रकट करने वाले अनेक पद लिखे हैं।

७. वैराग्य

भक्ति-पथ के पथिक के लिए सांसारिक विषयों को तथा उन विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों को त्याग कर उनके प्रति वैराग्य-भाव रखना परमावश्यक है। पूर्ण ज्ञान या पूर्ण आनन्द-अवस्था में तो संसार के रागद्वेषों से, अपने-आप छुटकारा मिल जाता है, परन्तु साधन-अवस्था में वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता होती है। जब तक मनुष्य का मन सांसारिक विषय-वासनादि में लीन रहता है, तब तक वह ईश्वरोन्मुख नहीं हो सकता। वैराग्यवान् के लिए अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना अनिवार्य है। जब इन्द्रियां वश में नहीं हैं, तो कैसे अध्यात्म-विद्या प्राप्त हो सकती है ? आलवार भक्तों का कहना है कि जो पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, वही श्रेष्ठ भक्त है, सफल साधक है। क्योंकि पंचेन्द्रियां ही मनुष्य को सांसारिक बन्धन में सर्वदा डाले रखती हैं। पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना भक्ति की साधना के लिए प्रथम सोपान बताया गया है।

मनुष्य को ईश्वरोन्मुख होने में बाधा डालने वाले अनेक पदार्थ हैं, जिनपर विजय प्राप्त करना ही वैराग्य है। अज्ञानी मनुष्य नश्वर शरीर से सम्बन्ध रखने वाले गृह, धन आदि को मोहवश मान बैठता है। वह अपने घर-बार, स्त्री, पुत्र, पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त होकर अपने को भाग्यवान् समझ लेता है। उनके भरण-पोषण की चिन्ता में सर्वदा डूबा रहता है। दुर्वासनाओं को अब भी नहीं छोड़ता। दिन-रात उसीमें रत रहता है। अन्त में जब उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और मृत्यु समीप आती है तब जाकर उसकी आंखें खुलती हैं। बुढ़ापा उसके लिए असह्य हो जाता है। वह रो पड़ता है। तब जाकर भगवान् की शरण में जाता है। आलवार भक्तों का कथन है कि बुद्धिमान् मनुष्य इस नाशवान् सांसारिक सुख-भोग के प्रति पहले से ही वैराग्यभाव धारण करता है, क्योंकि वह जानता है कि इनसे बचने पर ही अध्यात्म-प्रकाश मिल सकता है।

द्वादश आलवारों में कुछ अपने प्रारम्भिक जीवन में सांसारिक विषय-वासना में लीन रहे। परन्तु जब उन्हें मालूम पड़ा कि वे सब पदार्थ नश्वर हैं, तो वे उन सबका त्यागकर वैरागी हो गए। कुलशेखरालवार तो राजकीय सुख-भोग तक की तिलांजलि देकर घर-बार छोड़कर वैरागी बन गए। तिरुमंगै आलवार जो चोरी, लूट, डकैती जैसे कुकृत्यों से धनोपार्जन करते थे, अचानक भगवद्-प्रेरणा पाकर सब कुछ त्यागकर वैरागी हो गए। आलवारों की जीवनियां यह स्पष्ट बता रही हैं कि वे सब सांसारिक सुखों के प्रति वैराग्य-भाव रखते थे और वे दूसरों को भी सांसारिक मोहजाल में पड़ने से अपने को बचाने का आदेश दिया करते थे।

आलवारों के पदों में वैराग्य के अनेक साधनों में निम्नलिखित विषयों का

विशेष रूप से निरूपण हुआ है :

(क) पंचेन्द्रियों पर विजय,
(ख) नारी के मोहक रूप की निन्दा,
(ग) अर्थ-निन्दा, और
(घ) शरीर की नाश्वरता का बोध।

(क) पंचेन्द्रियों पर विजय

पंचेन्द्रियां मनुष्य को गुमराह करने वाली हैं। ऐन्द्रिक सुख प्राप्त करने की कामना से ही मनुष्य अन्याय करने को भी तैयार हो जाता है। संसार में होने वाले सभी अनर्थों के कारण पंचेन्द्रियां ही हैं। इन इन्द्रियों को सुख पहुंचाने के हेतु मनुष्य नाना पाप कर बैठता है और ईश्वर-चिन्तन से विमुख हो जाता है। आलवारों के पदों में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का आदेश मिलता है। इन्द्रिय-दमन को अध्यात्म-पथ के पथिक के लिए अनिवार्य शर्त के रूप में बताया गया है। सभी आलवारों ने एक मत से घोषणा की है कि पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले साधक को भगवान् के दर्शन मिलेंगे।[1] उनका कथन है कि पंचेन्द्रियों के द्वार को बन्द करने से ज्ञान का द्वार खुल सकता है।[2] पंचेन्द्रियों की तुलना पांच राक्षसों से की गई है, जो मनुष्य को कोल्हू के गड्ढे में डालकर पीसते हैं।[3] मनुष्य को इन्द्रिय रूपी इन राक्षसों पर विजय प्राप्त करनी है, तभी अध्यात्म-पथ पर बिना किसी रोक-टोक के साधक जा सकता है।

(ख) नारी के मोहक रूप की निन्दा

भारतीय साहित्य में नारी की गणना परम पुनीत मातृ-शक्ति के रूप में की गई है। परन्तु नारी का मदिर यौवन रूप मनुष्य को अध्यात्म-पथ से अनायास ही विमुख कर देने वाला है। इस कारण भक्ति-साहित्य में उसके मोहक रूप की निन्दा की गई है। भक्ति-साहित्य में नारी के मादक रूप की ज्वाला से साधक को निरन्तर सचेत रहने का आदेश दिया गया है। तिरुमंगैआलवार ने पश्चाताप के रूप में कहा है :

---

१. अरियपुलनेन्तटक्की आयमलर कोण्टु आर्वम्
पुरिय परिसिनाल पुल्किल·········
·········एट्रानैक्काण्पटु एलिहु। —'ओण्ड्राम तिरुवन्तादि', ५०
अरिन्दुऐन्दुम उल्लटक्की आयमलर कोण्टु आर्वम्
चरिन्द मनत्तिनराय चेव्वे अरिन्दु अवन तन
पैंरोदियेत्तुम पेरुन्दुवत्तौर काण्परे
कारोद वण्णग कलल। —'इरैण्टाम तिरुवन्तादि', ७ तथा 'मुण्ड्राम तिरुवन्तादि', १२

२. पुन्पुल वलियटैत्तु अरिक्किलच्चिने चेइदु
नन्पुल वलितिरन्दु ज्ञान नर्चुडर कोलिई···। 'तिरुच्चन्दविरुत्तम', ७६

३, तीर मरुन्दिण्ट्री ऐन्दु नोयडुम चेक्कि लिट्टु तिरिक्कुम: ऐवरै
नेर मरुंगुडैत्तावडैत्तु नेकिल्पानैक्किण्ड्राम······'तिरुवाय मोली,' ७ : १ : ५

"मृगनयनी महिलाओं के रूप-जाल में पड़कर, अपने कर्तव्य को भूलकर मैंने नरक-दुख भोगने के पाप किए हैं।"[1]

"मधुर मुस्कान वाली रमणियों के सुन्दर स्तनों पर मोहित होकर—नव यौवनाओं के सम्भोग-मुख के पीछे पड़ा रहा। ···अब मैं लज्जित हूं।"[2]

(ग) अर्थ-निन्दा

मनुष्य को ईश्वरोन्मुख होने से विमुख करने वाला एक प्रमुख साधन धन है। मनुष्य अर्थ के लोभ में पड़कर कितना अनर्थ कर बैठता है! मनुष्य जब तक यह जान नहीं पाता कि धन नाशवान् है, अस्थायी है, तब तक वह धन के मोह को नहीं छोड़ सकता। धन भगवान् के दर्शनों से उसकी आंखों को बन्द करता है। अर्थ के प्रति अनाकर्षण वैराग्य की ओर उन्मुख करेगा। कुलशेखरालवार तथा तिरुमंगै आलवार ने अपार धन-राशि को त्याग कर भगवद्भक्ति प्राप्त की। नम्मालवार का कथन है कि मनुष्य को यह समझना चाहिए कि राजकीय सुख भी अस्थायी है, धन मिट जाने वाला है।[3] नम्मालवार के अनेक पदों में अर्थ के मोह को छोड़ने का आदेश है।

(घ) शरीर की नश्वरता का बोध

आलवारों का कथन है कि अगर मनुष्य अपनी देह की नश्वरता और संसार की असारता का परिचय प्राप्त करे तो वह अवश्य वैराग्य युक्त जीवन की ओर उन्मुख होगा। तिरुमलिशै आलवार का प्रश्न है :

"यह जानकर भी कि आज नहीं तो कल इस संसार को छोड़ना ही पड़ेगा, मूर्ख मनुष्य क्यों इस देह में पड़े रहते है?"[4] नम्मालवार के अनेक पदों में संसार की असारता तथा मनुष्य-देह की नश्वरता का बोध कराया गया है और उनमें

---

१. मानेय कणमडवार मयक्किल पट्टु मानिलत्तु
नाने नानाविध नरकम पुकुम पावम् चैइदेन। 'पेरिय तिरुमोली,' १ : ९ : २

२. वाणिला मुरुवल चिरुनुदल् पेरुन्दोल
मादरार वन मुलैप्पयने
पैंणिनेन अदनै पिलैयेनक्करुदि
पेदैयेन पिरवि नोयरुप्पान
एणिलेन इरुन्देन एण्णिनेन एण्णि
एलैयवर कलविपिन तिरत्तै
नाणिनेन··· ··· ···। 'पेरिय तिरुमोली,' १ : ६ : १

३. अडिचेर मुडियिनराकि अरसरकल ताम तोला
इडि चेर मुरसंगल मुट्त्तियम्ब इरुन्दवर
पोडिचेर तुकलाल पोवार्कल··· ··· ···'तिरुवायमोली,' ४ : ७ : ३

४. इन्हु चादल निण्ट्र चादल अण्ट्री यारुम वैयक्तु
शोण्ट्री निण्ट्री वालदलिन्मै कण्डुम नीचर एन्कोली? —'तिरुच्चन्दविरुत्तम,' ६५

वैराग्यपूर्ण जीवन बिताने का सन्देश है।[1] तिरुमंगै आलवार ने अपने पदों में बुढ़ापे की करुण दशा का चित्रण कर आदेश दिया है कि बुढ़ापे का कष्ट भोगने के पहले ही मनुष्य को वैराग्ययुक्त जीवन बिताकर भक्ति-पथ पर आरूढ़ होना चाहिए।

मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी वैराग्य पर ज़ोर दिया है और उसे अध्यात्म-पथ के पथिक के लिए अनिवार्य साबित किया है। मध्ययुगीन कुछ वैष्णव भक्त कवियों ने भी वैराग्य धारण करने का आदेश दिया है। ऊपर जिन तत्त्वों का हमने संक्षेप में विवेचन किया है, वे सामान्य रूप से मध्ययुगीन समस्त भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्त्व हैं। भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट संदर्भ में आलवार भक्तों ने ऊपर विवेचित भक्ति-तत्त्वों पर विशेष ज़ोर दिया था। आलवारों की विचारधारा से प्रभावित होकर पनपने वाले श्री रामानुज सम्प्रदाय आदि भक्ति-सम्प्रदायों में ये तत्त्व न्यूनाधिक रूप में स्वीकृत हुए हैं। विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के अन्तर्गत काव्य-रचना करने वाले मध्ययुगीन वैष्णव भक्त कवियों ने भी उन तत्त्वों को अपने भक्तिकाव्यों में स्थान दिया है और उन्हें भक्ति-पथ के आवश्यक साधनों के रूप में स्वीकार किया है।

'प्रबन्धम्' के विशिष्ट तत्त्व

'प्रबन्धम्' में जहां विशुद्ध भक्ति के विभिन तत्त्वों का विवेचन है, वहां काव्य की कसौटी पर भी यह उत्तम ग्रन्थ सिद्ध होता है। आलवार भक्तों ने 'प्रबन्धम्' में भक्ति-तत्त्वों के बीच-बीच में अपने आराध्यदेव विष्णु के विभिन्न अवतारों और उनकी अनन्य लीलाओं का भी गायन किया है। 'प्रबन्धम्' ने भक्ति-आन्दोलन के विशिष्ट संदर्भ में भक्तों की मानसिक पिपासा की पूर्ति के लिए शुष्क भक्ति-तत्त्वों के अतिरिक्त अवतारी विष्णु की विभिन्न लीलाओं का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया था। भक्तों ने प्रबन्धम् में वर्णित भगवल्लीलाओं में 'ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानन्द' का भी रसास्वादन किया था। 'प्रबन्धम्' में वर्णित विविध भगवल्लीलाओं तथा उनके काव्योचित चित्रण ने परवर्ती भक्त कवियों को प्रभावित किया है।

'प्रबन्धम्' में विष्णु के सभी अवतारों का न्यूनाधिक रूप में वर्णन मिल जाता है। आलवारों के अनुसार परब्रह्म विष्णु विभिन्न युगों में मनुष्यों के उद्धार के निमित्त अवतार लेते हैं। जब पृथ्वी में अधर्म फैल जाता है और अज्ञान-अन्धकार पृथ्वी को कवलित करता है, तब कृपासिन्धु भगवान् अपनी करुणा को प्रकट करने के हेतु अवतार लेते हैं। नम्मालवार ने यहां तक कह दिया है कि अपने अंशभूत अनगिनत जीवों को अपना दर्शन-सुख प्रदान करने के निमित्त भगवान् अवतार लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आलवारों ने विष्णु के विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं देखा। फिर भी विष्णु के दो अवतार—रामावतार और कृष्णावतार ने उनको विशेष रूप से आकर्षित किया। इन दोनों अवतारों में भी कृष्णावतार में उनका मन जितना रमा, उतना रामावतार में नहीं। श्रीकृष्ण की विभिन्न

१. अंडगेलिल संपत्तु अंडगुकक्कण्डु ईशन
अंडगेलिल अहदेण्ट्र अंडगुक उल्ले। —'तिवायमोली,' १ : २ : ७

लीलाओं का उन्होंने ऐसा सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है, मानो उन्होंने स्वयं उन लीलाओं का अवलोकन किया हो। उनके कोमल, भावुक और कवि-हृदय ने कृष्ण-लीलाओं में ही अपनी अभिव्यक्ति की भावभूमि देखी। अतएव उन्होंने लीला-नायक कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का रसपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया और उनके भाव-पखेरू स्वच्छन्द रूप से काव्य-व्योम में उड़ सके, जिससे कि उच्च कोटि के सरस कृष्ण-काव्य का निर्माण उनके द्वारा हो सका।

हम पहले बता चुके हैं कि कृष्ण से सम्बन्धित अनेक कथाओं की जन्मभूमि तमिल-प्रदेश है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में जबकि गीता द्वारा प्रसारित भागवत-धर्म का दक्षिण की ओर आगमन हुआ, तब कृष्णचरित में तमिल-प्रदेश के बाल-देवता 'मायोन' से सम्बन्धित अनेक कथाएं मिल गईं। विष्णु के अवतार-रूप में श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा हुई और उनकी विविध लीलाओं का जन-मानस में प्रचार हुआ। आलावारों को कृष्ण-सम्बन्धी अनेक कथाएं प्राचीन पुराणों में मिलीं। साथ ही साथ आलवारों ने लोक में प्रचलित अनेक कथाओं को कृष्ण-चरित में मिला दिया। कल्पना का भी सहारा लेकर उन्होंने उन कथाओं में वर्णित नाना लीलाओं का काव्योचित चित्रण अपने भक्ति-काव्य में प्रस्तुत किया।

प्रबन्धम् में कृष्णचरित और रामचरित को क्रमबद्ध रूप से नहीं दिया गया है। स्मरण रहे कि 'प्रबन्धम्' एक व्यक्ति की रचना नहीं है। चौथी-पांचवीं शताब्दी से लेकर आठवीं-नवीं शताब्दी तक के दीर्घकाल में विभिन्न समयों में अवतरित भक्तों के पदों का संकलन है। अत: उसमें कृष्णचरित या रामचरित को क्रमबद्ध रूप में प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती। जहां तक कृष्ण-चरित का प्रश्न है, प्रबन्धम् की तुलना श्रीमद्भागवत से की जा सकती है। भागवत पुराण को साधारणतया मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य का आधार ग्रन्थ माना जाता है। परन्तु वर्तमान रूप में श्रीमद्भागवत प्रबन्धम् से प्रभावित ही दीख पड़ता है। प्रस्तुत लेखक की यह मान्यता है कि प्रबन्धम् निश्चित रूप से श्रीमद्-भागवत के वर्तमान रूप के गठित होने के पूर्व की रचना है। इस तथ्य को दूसरे आधुनिक विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में प्रबन्धम् और भागवत का तुलनात्मक अध्ययन तथा मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करने वाले एक दूसरे प्रमुख स्रोत के रूप श्रीमद्भागवत का विवेचन भी प्रस्तुत प्रबन्ध के छठे अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। यहां पर परवर्ती कृष्ण-भक्ति-काव्य को प्रभावित करने वाले प्रबन्धम् के तत्त्वों का विवेचन ही अभीष्ट है। प्रबन्धम् एक व्यक्ति की रचना न होने के कारण उसमें कृष्ण-कथा क्रमबद्ध रूप में नहीं मिलती। परन्तु यह निश्चित है कि प्रबन्धम् में भागवत-वर्णित अधिकांश कृष्ण लीलाएं मिल जाती हैं और प्रबन्धम् में बिखरे पड़े भक्ति-तत्त्वों और कृष्ण-लीलाओं को सुव्यवस्थित रूप में अथवा क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाए तो प्रबन्धम् और भागवत के वर्ण्य विषय में कोई विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ेगा। प्रबन्धम् में ऐसी बहुत-सी चीज़ें हैं जो भागवत में नहीं हैं। कृष्ण की कुछ लीलाओं का वर्णन भी प्रबन्धम् में मिलता है, जो भागवत में नहीं है। भागवत में 'राधा'

का उल्लेख भी नहीं है, परन्तु प्रबन्धम् में 'नप्पिनै' के नाम से राधा का ही वर्णन है। बाद के साहित्य में राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का जो वर्णन प्राप्त होता है, वह पहले से ही प्रबन्धम् में है। तमिल के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पी० श्री० आचार्य का मत है कि प्रबन्धम् में मिलने वाली पेरियालवार द्वारा वर्णित कृष्ण की अनेक लीलाएं भागवत पुराण से भी पूर्व की हैं।[1] प्रसंगवश ही यहां हमें श्रीमद्भागवत की चर्चा करनी पड़ी। हमें यहां कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित प्रबन्धम् के उन विशिष्ट तत्त्वों का सामान्य परिचय देना है, जिन्होंने परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया है। ये विशिष्ट तत्त्व दक्षिण की सगोत्र भाषाओं के कृष्ण-भक्ति-साहित्य में ही नहीं, बल्कि दक्षिण में पनपने वाले विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के माध्यम से उत्तरी भारत की भाषाओं के मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य तक में न्यूनाधिक रूप में स्वीकृत हुए हैं।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, प्रबन्धम् में कृष्ण-लीलाएं वय:क्रम से उपलब्ध नहीं होती। परन्तु प्रयत्न कर ढूंढने पर प्राय: सभी कृष्ण-लीलाओं का वर्णन यत्र-तत्र मिल जाता है। प्रबन्धम् में यत्र-तत्र वर्णित कृष्ण-लीलाओं को वय:क्रम के अनुसार देने का प्रयास यहां किया गया है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन पेरियालवार ने जितनी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है। इतने प्राचीन काल (छठी शताब्दी) मे पेरियालवार ने बाल-चेष्टाओं का ऐसा सजीव चित्र अंकित किया है जो बाल-मनोवृत्ति का सूक्ष्म परिचय देता है। तमिल में पेरियालवार का वाल-वर्णन एक आदर्श छोड़ गया है—परवर्ती कवियों के लिए। कृष्ण की किशोर-लीलाओं और गोपी-प्रेम का भी पर्याप्त विस्तार से वर्णन प्रबन्धम् में मिल जाता है। आलवारों ने गोपी-प्रेम तथा विरह के वर्णन में तमिल की अनेक काव्य-रूढ़ियों का उपयोग किया है, जिनका अनुकरण परवर्ती कवियों ने किया है। मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों ने विशेष रूप से बाल-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का ही विस्तार से वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य और अलौकिक प्रेम का भी वर्णन प्रमुख रूप से मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य में मिलता है। वैसे तो मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले अनेक विशिष्ट तत्त्व प्रबन्धम् में मिल जाते हैं, जिनको सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत करना कठिन है। विस्तारभय से सूक्ष्मता में नहीं जाकर प्रबन्धम् के कृष्ण-भक्तिपरक उन विशिष्ट तत्त्वों को स्थूल रूप से ही निम्नलिखित चार शीर्षकों के अन्तर्गत देते हैं :

१. श्रीकृष्ण की विविध लीलाएं,
२. श्रीकृष्ण की अलौकिक रूप-माधुरी,
३. श्रीकृष्ण का परमेश्वरत्व,
४. श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम-भावना,
  १. वात्सल्य भाव, और
  २. माधुर्य भाव।

---

१. श्री पी० श्री० आचार्य के 'कृष्णावतार' नामक लेख, 'तिरुक्कोयिल', वाल्यूम २, इस्यू ८

१. श्रीकृष्ण की विविध लीलाएं

'प्रबन्धम्' में कृष्ण-लीलाएं क्रम-बद्ध रूप में नहीं मिलतीं, किन्तु यहां पर्याप्त अध्यवसाय के पश्चात् प्रबन्धम् में इधर-उधर मिलने वाली कृष्ण-लीलाओं को एकत्रित कर क्रम-बद्ध रूप से नीचे दे रहे हैं। जो लीलाएं 'प्रबन्धम्' में हैं और भागवत में नहीं हैं या कुछ भिन्नता के साथ हैं, उनका उल्लेख यथास्थान किया गया है।

कृष्णलीला का सूत्रपात—अवतार-रहस्य

आलवार भक्तों ने सर्वत्र श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में माना है। आलवारों के अनेक पदों में विष्णु भगवान् के क्षीर-सागर वैभव का वर्णन मिलता है : "विष्णु शेषनाग पर शयन कर रहे हैं।[१] उनके करों में शंख शोभित हैं।[२] श्री देवी और भूदेवी उनके पास विराजमान हैं।[३] विष्णु योग-निद्रा में लीन हैं।[४] नारदादि मुनिजन वाद्य बजाते हैं।[५] तुलसी-माला अर्पित कर देवगण उनकी स्तुति करते हैं।[६] भक्त और सिद्ध पुरुष उन्हें पूजते हैं।"[७] यही विष्णु देवों की प्रार्थना पर पृथ्वी में कृष्णावतार लेते हैं। आलवारों ने कृष्णावतार के अनेक कारण बताए हैं : देवलोक के देवगणों की वेदना को दूर करने के लिए,[८] पृथ्वी तथा पृथ्वी में रहने वाले मनुष्यों के उद्धार के लिए,[९] पृथ्वी के बोझ को कम करने के लिए,[१०] भूदेवी के कष्ट को दूर करने के लिए,[११] देवगणों की प्रार्थना पर[१२] बन्धु-बान्धवों को सताने वाले कंस का वध करने के लिए,[१३] देवकी के किए व्रत का फल देने के लिए,[१४] (पिता) वसुदेव के पैरों पर पड़ी श्रृंखला को तोड़ने,[१५] अपने छः बच्चों को खो देने वाली माता के गर्भ को सफल बनाने हेतु,[१६] क्षीर-सागरवासी श्री विष्णु का श्रीकृष्ण के रूप में अवतार हुआ।

---

१. मुन्निय नागत्तणैमेल, पेरियतिरुमडल, २
२. 'शुडरालि शंखु' पेरिय तिरुमोली, २-१०-९
३. 'तिरुमडन्तै मण्डन्तै', वही, ३-१०-१
४. 'उन्निय योगत्तु' पेरिय तिरुमडल, ८
५. तम्बुरुवुम नारदनुम पेरुमालतिरुमोली, १-५
६. कोन्तलन्दं नरुन्तुलाय, पेरिय तिरुमोली, २-१०-२
७. भक्तरकलुम भगवरकलुम, पेरियालवार तिरुमोली, ४-९-६
८. विण्कोल अमरर वेदनै तीर, वही, १-२-१६
९. मण्णुय्य मण्णुलकिल मनुषरुय्य, पेरुमाल तिरुमोली, १-१०
१०. पारेरुम पेरुम भारम तीर, पेरिय तिरुमोली, २-१०-८
११. तुवरिक्कनिवाय निलमंगै तुयर तीर, वही, ८-८-९
१२. देवरीरक्क, तिरुवायमोली, ६-४-५
१३. साधुचनत्तै नलियुंकंचनै चाप्पिदकु, वही, ३-५-५
१४. एन्न नोन्बु नोट्राल कोलो, पेरियालवार तिरुमोली, २-२-६
१५. तन्नै कालिल पेरु विलंगु तालविल, पेरिय तिरुमोली, ७-५-१
१६. मक्कल अरुवरै कल्लिडै मोद इलन्द, पेरियालवार तिरुमोली, ५-३-१

श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव

पुरातन नगर उत्तर मथुरा[१] में वसुदेव-पत्नी देवकी के पवित्र गर्भ[२] से हस्त नक्षत्र के दसवें दिन[३] श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। जन्म के समय ऐसा लगा मानो सहस्र सूर्य एक साथ उदित हुए हों।[४] देवकी-पुत्र का वध करने के हेतु फैलाए गए कंस के क्रूर जाल से बचकर,[५] उसी दिन घोर अन्धकार में छिपे-छिपे वसुदेव द्वारा नन्द गोप के यहां कृष्ण लाए गए। देवी महिला यशोदा के पुत्र के रूप में,[६] बलराम के अनुज के रूप में,[७] गोपों के नायक के रूप में,[८] गोकुल-दीपक[९] का आविर्भाव हुआ।

कृष्ण का जन्मोत्सव

पेरियाल्वार ने कृष्ण के जन्मोत्सव का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।[१०] कृष्ण के जन्म पर गोकुल में बड़ा हर्षोल्लास और कोलाहल हो रहा है। गोप-बन्धु शिशु के दर्शन के लिए दौड़ रहे हैं, गिर रहे हैं और फिर उठकर दौड़ रहे हैं। बड़े उत्साह के साथ नन्द बाबा के यहां लोग जा रहे हैं मानो कोई अद्भुत वस्तु ढूंढ़ने जा रहे हों। कोई कहता है—"लो वह है, हमारा छोटा राजा।" कोई पूछता है—"कहां है, हमारा बाल राजा?" कोई अपने आनन्द को वाणी में नहीं, बल्कि गाने में व्यक्त करता है, तो कोई नाचकर अपना आनन्द प्रकट करता है।[११] अत्यधिक हर्ष में ग्वाले अपने यहां के घी, दही आदि को औरों को बांट देते हैं और खाली मटकों पर नाच उठते हैं। इनमें से हर एक अपने को भूल गया है। हर कोई संसार से नाता छोड़कर आनन्द में मस्त दीखता है। सारा गोकुल ऐसा दीखता है, मानो वह किसी विशिष्ट प्रेम-जाल में फंस गया हो। शुभ वार्ता देने की उत्कंठा से कोई जाता है तो कोई नन्द बाबा के घर जाकर पूछता है कि मेरे बाल राजा कहां हैं? शिशु को देखकर कोई कहता है कि हमने ऐसे सर्व शुभ लक्षणयुक्त शिशु को कहीं नहीं देखा। कोई कहता है कि बालक संसार का शासन करेगा। कोई कहता है कि यह हमारा सौभाग्य है कि ऐसे निराले शिशु और उसकी मां के दर्शन कर सके। हांडियों में सुगन्धित जल भर रखा है। हाथ मलकर देह पर हल्दी लेपकर शिशु प्रेम से नहलाया है।

---

१. तायैक्कुडल विलक्कम चेय्य, तिरुप्पचवैं, ५
२. मल्लै मूदूर वढ मथुरैयिल, तिरुवाय मोली, ६-१-६
३. वसुदेवर तम्मुडैय चित्तम पिरिया देवकी तन वयिट्टित, पेरियालवार तिरुमोली, १-२-६
४. कतिरायिरमिरवि कलन्देरिपलोतु, वही, ४-१-१
५. कंचन वलै वैत्त कारिरुल सिलैतु, नाच्चियार तिरुमोली, ३-६
६. दैव नंडौ यशोयेक्कु पोत्तन्न पेदैक्कुलवियाम, पेरियालवार तिरुमोली, १-२-१
७. बलदेवर कील कण्ट्राय, नाच्चियार तिरुमोली, ४१-१
८. आयरकल नायकनाय, पेरियालवार तिरुमोली, १-५-११
९. आयर पाडिक्कु अणि लिक्काय, वही, २-२-५
१०. पेरियालवार तिरुमोली, प्रथम दशक
११. ओडवार विलुवार उकन्दालिपार
नाडुवार नंपिरान एंगुत्तानेन्पार
पाडुवारकलुम पल्परै कोट्ट निण्ट्टु
आडुवारकलुम आयिट्टु आइप्पाडियै। —'पेरियालवार तिरुमोली', १-१-२

नामकरण संस्कार

गोकुलवासियों ने सब मिलकर अपने घरों को तोरण[1] इत्यादि से अलंकृत किया। कृष्ण के जन्म के बारहवें दिन[2] वेद में निपुण पण्डितों से 'घनश्याम ![3] कृष्ण ! श्रीधर ![4] आदि नामों से पुकारकर बालक का नामकरण संस्कार कराया गया। लोगों ने कृष्ण नाम से शिशु को प्रेमपूर्वक पुकारकर अमृत का-सा आनन्द पाया।[5]

अन्य लीलाएं

१. पूतना-वध—दुष्ट मन वाले कंस के द्वारा भेजी गई राक्षसी[6] एक सुन्दर स्त्री का रूप धारणकर[7] श्रीकृष्ण के प्रति अपने ही पुत्र का-सा प्रेम-भाव दिखाकर[8] विष-भरे अपने स्तन से कृष्ण को दूध देने आई। स्तन्य पान करने का बहाना कर[9] कृष्ण ने भी दुरुद्देश्य से आई हुई राक्षसी के षड्यन्त्रपूर्ण भाव को समझकर, उसके वास्तविक रूप से परिचित होकर उसके प्राणों को पी लिया।

२. शकट भंजन अथवा शकटासुर वध—शकट के रूप में आने वाले राक्षस का पाद-प्रहार द्वारा वध। (तिरुवायमोली, २-१-८)

३. घुटनों और हाथों के बल रेंगकर विहार करना। (पेरियालवार तिरुमोली, १-४-१)

४. पैर की उंगली को मुंह में लेकर चूसना। (वही, १-२-१)

५. किंकिणी के निनादित होते धूल में खेलना। (वही, १-५-९)

६. चांदी के अंकुर के समान दांतों का निकल आना और बालक का हंसना। (वही, १-७-२)

७. थोड़े बड़े होने पर बिना घुटनों की सहायता के पैरों चलना। (वही, १-७-४)

८. झूमते हुए आकर माता को चुम्बन देना। (वही, १-५-२)

९. तेल की हांडियों को ज़मीन पर लुढ़काना। (वही, १-४-११)

१०. बछड़ों की पूंछ को पकड़कर घुमाना। (पेरियालवार तिरुमोली २-४-८)

११. बछड़ों के कानों में चींटियों को डालकर उन्हें डराना। (वही, ३-४-२)

---

१. 'तिरुनेडुन्ताण्डकम', ३
२. 'पेरियालवार तिरुमोली', १-१-४
३. 'तिरुवायमोली', ४-६-८
४. वही, २-३-७
५. 'कण्णिनुल चिरुतांबु', २
६. 'पेरिय तिरुमोली', ३-१०-७
७. वही, ३-९-७
८. वही, १०-४-७
९. 'इरण्डाम तिरुवन्तादि', ८

१२. बिना गोदोहन के समय भी बछड़ों को खोल देना।

(पेरियालवार तिरुमोली २-४-७)

१३. आंखों को बन्दकर मक्खन खाना और हांडियों में रखे हुए दूध को भर पेट पीना। (वही, २-४-६ तथा २-७-१)

१४. तोतली बोली बोलना। (वही, १-६-४)

१५. चन्द्र खिलौना—मां से चांद को पकड़कर देने की प्रार्थना करना।

(वही, १-४-३)

(यह लीला भागवत में नहीं है। डॉ० जगदीश गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि पेरियालवार ने ही इसका वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि यह प्रसंग अपौराणिक लोक-प्रचलित परम्परा के कारण कृष्ण की बाल-क्रीड़ा के साथ समाविष्ट हुआ है।[1])

१६. मृतिका भक्षण। (वही, २-३-८)

१७. माता यशोदा को मुख में ब्रह्माण्ड दर्शन कराना।

(वही, १-२-१८ और १-१-६)

१८. कृष्ण द्वारा माता को हौआ दिखाना। (वही, २-१-२)

(यह लीला भागवत में नहीं है। सम्भव है कि यह तमिल लोक-कथा के आधार पर ही वर्णित है। छोटा बच्चा मुंह को विकृत रूप में कर विचित्र आवाज़ पैदाकर मां को डराने की चेष्टा करता है। इसे तमिल में 'अप्पूच्चिकाट्टल' कहा जाता है। अन्य ग्रंथों में कृष्ण को डराने के लिए हाऊ का वर्णन मिलता है।)

१९. स्तनपान का हठ और माता द्वारा प्रेम-पूर्वक स्तनपान करने के लिए बुलाना। (वही, २-२-३)

२०. नहाने के लिए बुलाना। (वही, २-४-२)

२१. कर्ण-छेदन संस्कार। (वही, २-२-८)

२२. दृष्टिदोष परिहार के लिए कृष्ण के हाथों में कंकड़ बांधा जाना (तमिल में इसको 'काप्पिडुदल' कहा जाता है)। (वही, २-८-५)

२३. उलटी पड़ी ओखली पर खड़े होकर माखनचोरी।

(वही, १-१०-७)

२४. ऊखल बन्धन। (वही, १-२-१० तथा ७-८)

२५. ऊखल को खींचते हुए जाना और दो वृक्षों को गिरा देना।

(वही, ३-३-३)

(यह कथा कुछ भिन्नता के साथ अन्यत्र मिलती है। भागवत में कहा गया है कि यक्षपति कुबेर के मदोन्मत्त पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव जो नारद के शाप से यमलार्जुन वृक्ष हो गए थे, कृष्ण ने उनका उद्धार किया। पेरियालवार उन वृक्षों में असुरावेश मानते हैं।)

२६. गोप-बालिकाओं के कंकण को चुरा ले जाना और उनसे फल खरीदना। (वही, २-९-९)

---

१. 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन', डा० जगदीश गुप्त, पृ० ९६

(जब यशोदा माखन-चोरी के अपराध पर कृष्ण को पकड़ने दौड़ी, तो कृष्ण किसी घर के अन्दर घुस गए। उस घर में दधि पांडव नामक ग्वाला रहता था। कृष्ण ने दधि पांडव से प्रार्थना की कि माता के प्रहार से उन्हें बचाने के लिए कहीं वह उन्हें छिपाए। दधि पांडव ने कृष्ण की प्रार्थना पर उन्हें मिट्टी के एक बड़े बर्तन के अन्दर रख दिया। जब यशोदा ने भी उस घर के अन्दर आकर पूछा कि कृष्ण वहां आया कि नहीं, तब दधि पांडव ने कहा कि कृष्ण वहां नहीं आए। इस पर माता लौट गईं। माता के लौट जाने की सूचना पाकर कृष्ण ने दधि पांडव से अपने बर्तन से बाहर करने की प्रार्थना की। दधि-पांडव ने अब उसके लिए एक शर्त बनाई कि उसको और कृष्ण को फंसाने के लिए सहायक सिद्ध होने वाले बर्तन को मोक्ष देने का वायदा करने पर ही वह कृष्ण को बर्तन से बाहर करेगा। कृष्ण ने ऐसा ही किया।)

२७. यशोदा से गोपियों की शिकायतें।

(पेरियालवार तिरुमोली, २-१० से १-१०)

२८. कृष्ण के बलराम और अन्य बालकों के साथ बछड़ों को चराने के लिए जाना। (वही, १-२-३०, १-८-५, और ३-१-१)

२९. हांडियों से मक्खन खाना और खाली (मिट्टी के) बर्तनों को ज़मीन पर पटक देना और उनकी आवाज़ सुनकर हंसना। (वही, २-९-१)

३०. गोचारण के लिए प्रथम बार वन जाना और माता का विलाप।

(वही, ३-२-१, और ३-३-२)

३१. वंशी बजाना। (वही, ३-६-१ से १०)

३२. विविध शृंगार सजाकर वन में विहार।

(नाच्चियार तिरुमोली, १४-१ व १४-२)

३३. वृत्तासुर-वध—जमुना के तट पर वत्सचारण के समय एक दैत्य बछड़ों में बछड़े का रूप धारणकर घुस आया। कृष्ण ने उसे पूंछ सहित पिछले पैर पकड़कर अन्तरिक्ष में घुमाकर एक वृक्ष पर दे मारा।

(पेरियालवार तिरुमोली, १-६-४)

३४. बकासुर-वध—बक-रूप धारण करके आए हुए एक दैत्य ने कृष्ण को निगल लिया। किन्तु कृष्ण ने उसे चोंच चीरकर मार डाला।

(वही, २-५-४)

३५. धेनुकासुर-वध। (तिरुच्चन्तविरुत्तम, ८०)

३६. कालियनाग के सिर पर नाचना।

(नाच्चियार तिरुमोली, १२-७)

३७. कालिय दमन। (पेरियालवार तिरुमोली, ३-७-७ और ३-९-९)

३८. प्रलम्बासुर वध।

३९. दावानल पान।

(पेरियतिरुमोली ११-६-७ और तिरुवायमोली ५-६-५)

४०. वन-भोजन। (नाच्चियार तिरुमोली १२-६)

४१. सीमान्लिकन को स्वर्गवास देना—यह भागवत में नहीं है।

(सीमालिकन कृष्ण का मित्र था। वह कृष्ण से उनके चक्रायुध को मांगता था। कृष्ण ने कहा कि उसे उसके हाथ में देने पर वह उसके सिर को काट देगा। सीमालिकन ने शक प्रकट किया। इसपर कृष्ण ने चक्र उसके हाथ में दिया तो चक्र ने सीमालिकन के सिर को काट दिया और वह स्वर्ग पहुंच गया (कृष्ण के मित्र होने के कारण)। (पेरियालवार तिरुमोली, २-७-८)

४२. सात वृषभों को वश में कर कृष्ण का 'नप्पिनै' को कन्या-शुल्क के रूप में प्राप्त करना।

(तत्कालीन प्रथा के अनुसार सात वृषभों को कृष्ण ने वश में किया और नप्पिनै को प्राप्त किया। भागवत में एक दूसरी कथा है, जिसमें कहा गया है कि अयोध्या के नग्नजित राजा की पुत्री को कृष्ण ने सात वृषभों को वश में कर प्राप्त किया)।

४३. वेणु माधुरी। (वही, ३-६-८)

४४. चीर-हरण।

(नाच्चियार तिरुमोली ३१ और पेरियतिरुमोली, १०-७-१)

४५. 'कुरन्द' के पेड़ के रूप में खड़े असुर का वध।

(भागवत में उस वृक्ष के लिए असुर कल्पना नहीं है।

(गोपियों के वस्त्रों को लेकर कृष्ण जिस पेड़ पर चढ़े, वह एक राक्षस का परिवर्तन-रूप था। कृष्ण ने उस पेड़ को गिरा दिया और राक्षस का वध किया। भागवत में उस पेड़ में असुरावेश का उल्लेख नहीं है, जबकि प्रबन्धम् की कथा में है। (वही)

४६. गोपियों के साथ कृष्ण के नृत्य (कुरवै कुतु) रासलीला।

(तिरुवायमोली, ३ : ६ : ३)

४७. इन्द्र-यज्ञ भंग। (पेरियतिरुमोली, २-३-४ वही, ४-२-३)

४८. गोवर्धन धारण। (वही)

(३-५-६ तथा तिरुनेडुन्ताण्डकम् १३)

४९. केशि-वध। (पेरिय तिरुमोली, ३-२-८)

५०. मथुरा गमन। (वही, ६-७-५)

५१. कुब्जा पर अनुकम्पा। (पेरियालवार तिरुमोली, १-९-४)

५२. कुवलयापीड़-वध।

(वही, ४-७-७ और तिरुमालै ४५ तथा पेरिय तिरुमोली, २-२८)

५३. मल्ल निग्रह।

(पेरियालवार तिरुमोली, २-२-८ तथा पेरिय तिरुवन्तादि, ४१)

५४. कंस-वध।

(तिरुप्पावै, २५ तथा पेरिय तिरुमोली, ३-१०-३ और ३-१०-९)

५५. गुरु सान्दीपनि को उनके पुत्रों को लौटा देना।

(पेरियालवार तिरुमोली, ४-८-१)

(विद्याध्ययन के बाद गुरु-दक्षिणा में गुरु के पुत्र को, जो समुद्र में प्रभास क्षेत्र में डूबकर मर गया था, लाने के लिए कृष्ण ने समुद्र-जल में निवास करने वाले शंख-रूप धारी पंजजन नामक दैत्य का पता लगाकर उसको मार डाला। फिर संयमनी पुरी जाकर यमराज से गुरु-पुत्र को प्राप्त किया और गुरु सान्दीपन को लौटा दिया)।

५६. रुक्मिणी-हरण।
(पेरियालवार तिरुमोली, ३-९-३ तथा तिरुवायमोली, ७-१०-६)

५७. नरकासुर-वध। (पेरियालवार तिरुमोली, ४-३-३)

५८. द्वारकापुरी का स्थापन। (वही, ४-९-४)

५९. पारिजातापहरण। (वही, ३-९-१ और २-१-९)

६०. बाणासुर-वध।
(पेरियालवार तिरुमोली, ३-४-३ तथा तिरुवायमोली, ३-१०-४)

६१. पौण्ड्रक-वध।
(पेरिय तिरुमोली, २-४-७ तथा तिरुचन्त विरुत्तम, १०७)

६२. शिशुपाल-वध। (तिरुवायमोली, ७-५-१०)

६३. कृष्ण द्वारा दन्तवक्त्र का वध। (मूण्ट्राम तिरुवन्तादि, २१)

६४. द्रौपदी का कृष्ण की शरण लेना। (पेरिय तिरुमोली, २-३-६)

६५. कृष्ण का दूत-रूप में जाना और दुर्योधन के झूठे, कपट, आसन पर बैठकर अपना विश्व-रूप दर्शन देना। (वही, ९-१-८)

६६. पार्थसारथी के रूप में जाना। (वही, २-३-१)

६७. कृष्ण के चरणों पर अर्पित पुष्पों को शिवजी का अपने सिर पर धारण करना। (तिरुवायमोली, २-८-६)

(महाभारत युद्ध के समय अर्जुन को पाशुपत अस्त्र की आवश्यकता पड़ी। चूंकि वह शिवजी का अस्त्र था, अतः शिवजी की पूजा करने की आवश्यकता आ पड़ी। उसके लिए तैयार होने पर कृष्ण ने अर्जुन से अपने चरणों को दिखाकर वहीं पुष्पों को अर्पित करने को कहा। अर्जुन ने ऐसा ही किया। उस रात को शिवजी के सिर पर उन पुष्पों के दर्शन अर्जुन ने किए और शिवजी आकर पाशुपत अस्त्र दे गए।)[1]

६८. गीता उपदेश। (तिरुवायमोली, ४-८-६ तथा ३-५-७)

६९. अर्जुन के घोड़ों को जल पिलाना। (पेरियालवार तिरुमोली, ४-२-७)

(जब अर्जुन के रथ के घोड़ों को बहुत प्यास लगी तब उस स्थान पर कृष्ण ने बरुणास्त्र का प्रयोग कर जल उत्पन्न किया और घोड़ों की प्यास बुझाई।)[2]

उपर्युक्त लिखित प्रबन्धम् का कृष्ण-लीलाओं के अवलोकन से स्पष्ट हुआ होगा कि प्रबन्धम् में भागवत में उपलब्ध अधिकांश कृष्ण-लीलाओं का वर्णन मिल जाता है और कुछ ऐसी लीलाएं भी प्रबन्धम् में वर्णित हैं जो भागवत में नहीं हैं।

१. 'दिव्य प्रबन्धम्-कथामृतम्' (प्रबन्धम् की टीका), श्री अण्णराचार्य स्वामी, पृ० ३८
२. वही, पृ० ३७

कहने का तात्पर्य यह है कि आलवारों में सर्वत्र भागवत-निरपेक्ष दृष्टिकोण पाया जाता है। फिर आधुनिकतम विद्वानों की भागवत के काल-निर्णय की उपलब्धि के अनुसार आलवार भक्त भागवत-काल से पूर्व के ठहरते हैं, अतः आलवारों का भागवत-समाश्रित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रबन्धम् में वर्णित कृष्ण-लीलाओं को परखने पर एक और बात स्पष्ट हो जाती है कि आलवारों ने बाल-लीलाओं (गोकुल-लीलाओं) का जितने बड़े विस्तार और बड़ी मार्मिकता से वर्णन प्रस्तुत किया है, उतना मथुरा-लीला या द्वारका-लीला का नहीं। आलवारों द्वारा वर्णित ये कृष्ण सम्बन्धी बाल-लीलाएं निश्चय ही भक्तों के हृदय में भगवत-प्रेम को उत्पन्न कर देने वाली हैं। इसमें आश्चर्य की बात नहीं, यदि हम यह अनुमान कर लें कि परवर्ती भक्त कवियों ने अर्थात् मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों, विशेषकर अष्टछापियों ने आलवारों द्वारा वर्णित उन बाल-लीलाओं से प्रभावित होकर उन्हें अपने भक्ति-काव्यों में स्थान दिया हो।

भगवल्लीलाओं में आलवारों की तन्मयता

आलवारों की बाल-लीला वर्णन की शैली में एक वैचित्र्य है। वह यह कि आलवारों ने बाल-लीलाओं का वर्णन कथाओं के रूप में प्रस्तुत न कर, उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—मानो वे हमारे सामने प्रत्यक्ष घटित हो रही हों। कहने का तात्पर्य यह है कि आलवारों ने बाल-कृष्ण से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए पेरियालवार के बाल-लीला-वर्णन को ले सकते हैं। जहां यशोदा या देवकी के कथन होने चाहिएं वहां कवि ने स्वयं यशोदा या देवकी के स्थान पर अपने को कल्पित कर कहा है। ऐसा लगता है, मानो कवि स्वयं बालक (कृष्ण) की देख-रेख करता हो और बालक की लीलाओं में भाग लेता हो। इस बात को स्पष्ट करने के लिए पेरियालवार के कुछ पदों का सार नीचे देते हैं।

जहां कवि बालक कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन प्रस्तुत करना चाहता है वहां वह कहता है :

"देवकी द्वारा देवी महिला यशोदा को सौंपे गए सुन्दर बालक के अपने पैर की उंगली को मुंह में लेकर चूसते समय, उसके मुंह को देखने आइए। हे देवियो! आकर देखिए।"[१]

"देव-लोक के देवगणों की वेदना को दूर करने के हेतु पहले वसुदेव-पुत्र रूप में अवतरित बालक (कृष्ण) के सुन्दर नयनों को आकर देखिए।"[२]

---

१. शीतक्कडल उल्लमुदन्न देवकि, कौदेक्कुललाल अशोदैक्कुण्णोत्तन्द।
पैदैक्कुलवी पिडित्तुच्चुवैत्तुण्णुम, पादक्कमलंगल काणीरे पवलवायीर॥
वन्दु काणी रे॥
—'पेरियालवार तिरुमोली', १-२-१

२. विण्कोलमरंकल वेदनैतीर मुन, मण्कोल वसुदेवर तम मकनाइ वन्दु।
तिण्कोलमुररैत्तेय वर्लक्किण्ट्राम, कण्कल दूरुन्दवा काणीरे कनवलै यीर॥
वन्दु काणी रे।
—वही, १-२-१६

इस प्रकार अनेक पदों में दूसरों को बुलाकर अपने बालक (कृष्ण) का सौंदर्य दिखाना चाहता है। यही नहीं, कृष्ण को पालने में लिटाकर यशोदा के लोरी गाने के अवसर पर कवि स्वयं कृष्ण-लीलाओं का स्मरण कराकर उनकी स्तुति करते हुए उन्हें सुनाने के लिए लोरी गाता है। चन्द्र को बुलाते समय यशोदा के स्थान पर कवि कहता है :

"मेरा यह लाल, मेरी कमर पर बैठकर तुम्हींको बुला रहा है, अपने बड़े-बड़े ज्योतिर्मय लोचनों से। यदि तुम उचित करना चाहते हो तो उसको दुःख मत दो। वह चक्रधारी भगवान् है, यह समझ लो। हे चन्द्र ! तुम्हें भी ऐसा पुत्र होता तो मालूम होता कि तुम्हारे इस व्यवहार से कितना दुःख होगा। हे पुत्रहीन अभागे, जल्दी आ जाओ।"[1]

कवि ने अनेक स्थलों में यह भूलकर कि उसे कृष्ण-लीलाओं का कथा-रूप में वर्णन करना है, यह अनुभव किया है कि वह भी उन लीलाओं में भाग ले रहा है। विशेष रूप से कृष्ण को स्तनपान कराने, कृष्ण का श्रृंगार करने, कृष्ण को खेलते देखने तथा कृष्ण के वन में गोचारण करने जाने के अवसरों में कवि ने स्वयं को यशोदा के स्थान पर कल्पित कर अपने उद्गार सीधे प्रकट किए हैं। इस कारण अनेक स्थलों में ऐसा सजीव वर्णन मिलता है, जिसमें घटनाएं प्रत्यक्ष होती-सी दीखती हैं। यह शैली की विशेषता की ओर ही नहीं, बल्कि कृष्ण-लीलाओं में कवि की तन्मयता की ओर भी संकेत करता है। अनेक परवर्ती कवियों ने भी कृष्ण-लीलाओं में इस प्रकार तन्मयता भाव दिखाया है। पुराणों की कथा-शैली को त्यागकर परवर्ती कवियों ने कृष्ण-लीलाओं में तन्मय होकर भावपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है।

२. श्रीकृष्ण की अलौकिक रूप-माधुरी

श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का गान करने वाले प्रायः सभी भक्त कवि श्रीकृष्ण के अलौकिक रूप-सौंदर्य पर मुग्ध हुए हैं। कृष्ण के रूप वर्णन में सौंदर्य की जितनी भी कवि-कल्पनाएं हो सकती हैं, उन सबका प्रयोग करने की प्रवृत्ति इन कवियों में पाई जाती है। आलवार भक्तों ने कृष्ण में अलौकिक शक्ति के साथ अलौकिक एवं अपरिसीम सौंदर्य के भी दर्शन किए हैं। अतः आलवारों ने कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के साथ ही साथ उनकी मनोहारिणी और प्रतिक्षण नवीन आकर्षण उपस्थित करने वाली छवि का भी पग-पग पर अंकन किया है। श्रीकृष्ण के रूप-सौंदर्य पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति सभी आलवारों में पाई जाती है। कुछ में तो वह इतनी आवेगमयी और प्रगाढ़ है कि कृष्ण के किसी चरित, किसी भी लीला का वर्णन बिना उनकी अनिन्द्य छवि के वर्णन के सम्भव ही नहीं हो सका। आलवार रूप-वर्णन करके कभी तो स्वयं ही मुग्ध हो लेते हैं, कभी गोपियों

---

१. चम्करक्कैयन तडंकण्णल मलर विलित्तु ओक्कलै मेलिरुन्दे उन्नैये चुट्टि काट्टुम काण
तक्कतरिदियेल चन्दिरा छलम चेय्यादे मक्कट् पेराद मलडनल्लैयेल वा कण्डाय ॥

—'पेरियालवार तिरुमोली', १-४-४

के माध्यम से उन्हें रूपासक्त-चित्रित करके सुखानुभूति प्राप्त करते हैं। आलवारों ने प्रमुखतया कृष्ण के दो रूपों की छवि का वर्णन प्रस्तुत किया है :

१. कृष्ण का बाल-रूप, और
२. कृष्ण का किशोर-रूप।

कृष्ण के बाल-रूप के सौंदर्य पर सर्वाधिक मुग्ध होने वाले आलवार पेरियालवार हैं। इन्होंने २० पदों में बाल-कृष्ण के रूप-सौंदर्य का नख-शिख वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक पद में प्रत्येक अंग की शोभा का बड़ा ही सरस वर्णन है :

"कृष्ण के चरण खिले हुए कमल के समान सुन्दर हैं।[१]

"उन चरणों में शुद्ध कांचन के बीच अंकित, मोती, रत्न और हीरे के समान अंगुलियां शोभित हैं।"[२] सर्वत्र कवि के सम्मुख बाल-कृष्ण का वह मोहन रूप ही आता है जिसके वर्णन में वह अपने को खो देता है। "सुन्दर सिन्दूर रंग के कोमल मुंह के बीच प्रकाशयुक्त चांदी के अंकुर जैसे दांत निकले हैं।[३] कमल-दल-बीच मधुपान करने वाले भ्रमरों की भांति कृष्ण के मुख पर सुन्दर अलकावली क्रीड़ा कर रही है।"[४] बालक के मुख-चन्द्र से चन्द्रमा की तुलना कर कवि कहता है : "हे ज्योतिर्मय रथ पर विराजमान होकर सर्वत्र प्रकाशमान चन्द्र ! तुम चाहे कितनी भी चांदनी दिखाओ और पूर्ण बनो, फिर भी (मेरे) इस बालक के मुख-सौंदर्य को तुम प्राप्त नहीं कर सकते।"[५] बालक के मुंह से टपकने वाली लार का सौंदर्य कमल-पत्र पर से गिरने वाली द्युतियुक्त ओस की बूंदों के समान है।[६] बालक की प्रत्येक चेष्टा में कवि को सौंदर्यानुभूति होती है। शिशु का स्तनपान करना, चन्द्रमा बुलाना, ताली बजाकर हंसना, सिर ऊंचा करके हिलाना, छोटे कोमल पैरों पर अस्थिर गति से जाना आदि प्रत्येक क्रिया-कलाप में कवि ने

---

१. ... ...
पादक्कमलंगल काणीरे पवलवायीर। वन्दु काणी रे। —'पेरियालवार तिरुमोली', १-२-१

२. मुत्तुम मणियुम वयिरमुम नन्पौन्नुम
तत्तीप्पतित्तु तलैपेइदार पोल एंगुम
पत्तु विरलुम मणिवण्णन पादंगल
औत्तिट्टिरुन्दवा काणीरे ओण्णुदलीर ! वन्दु काणी रे ॥ —वही, १-२-२

३. ... ...
कोलनरुम पवलच्चेन्दुवर वायिनिडै
कौमल वेल्ली मुलैप्पोल चिल पल्लिलक। —वही, १-५-६

४. चेंकमलप्पूविल तेनुण्णुम वण्डे पोल
पंकिकल वन्दु उन पवलवाय मोइप्प।
... ... —वही, १-८-२

५. चुट्टुम ओलिवट्टम चूलन्दु ज्योति परन्तैंगुम
एत्तनै चैंय्यिनुम एन मकन मुखम नेरोव्वाय
... ...। —वही, १-४-३

६. पडर पंकयमलरवाय नेकिलप्पनिपडु चिरुतुलि पोल
इडंकोण्ड चैव्वायूरि यूरि इट्टिट्टु वील निण्ड्र।
... ...। —वही, १-७-७

सूक्ष्मता से सौंदर्य का अनुभव किया है और उस सौंदर्य को यथाशक्ति शब्दों में व्यक्त किया है।

वेश-भूषा

पेरियालवार ने बाल-कृष्ण की वेश-भूषा का बड़ा ही मोहक चित्र अंकित किया है। कितने ही प्रकार के आभूषणों की कल्पना कर, उन सबसे कृष्ण को भूषित बताया है। कितने ही प्रकार के पुष्पों के नाम गिनाकर उन सबसे कृष्ण को सज्जित बताया है। कृष्ण अपने सजल जलधर सदृश श्याम वर्ण शरीर पर विद्युत् की-सी कांति वाला पीताम्बर पहने हुए हैं।[1] लाल कमल जैसे पैरों में पायल, कमल की खिली हुई पंखड़ियों सदृश शोभित उंगलियों में अंगूठियां, कमर में स्वर्ण से निर्मित कमरवन्द और निनादित होनेवाली किंकिणी, हाथों में कंकण, हाथों की उंगलियों में हीरे, मोती से अंकित स्वर्ण अंगूठियां, सुन्दर बांहों में विविध आभूषण, कानों में कुण्डल, माथे पर 'चुट्टि' (एक आभूषण विशेष) आदि विविध आभूषणों से श्रीकृष्ण अलंकृत हैं।[2]

बालक के चलते समय किंकिणी की 'जलार बलार'[3] की ध्वनि निनादित हो रही है। गन्ने के रस से भरे घड़ों में छिद्र करने से रस के बाहर निकलते समय जो 'कण-कण' की ध्वनि निकलती है, उसीके समान अमृत भरे अपने मुंह से 'कण-कण' की ध्वनि से कृष्ण हंसते हैं।[4]

कृष्ण के किशोर-रूप का सौंदर्य

गोकुल की गोपियों को मुग्ध करनेवाले कृष्ण के मोहक रूप का वर्णन आलवार भक्तों ने अनेक स्थलों में किया है। विशेष रूप से पेरियालवार ने कृष्ण के किशोर-रूप के सौंदर्य का गोपियों के माध्यम से आस्वादन कराया है। गोचारण कर बलराम तथा अन्य साथियों के साथ लौटनेवाले कृष्ण के अलौकिक सौंदर्य पर गोपियां मुग्ध हो जाती हैं :

"नन्द-कुमार कृष्ण 'कल्प' लता के मृदुल पुष्प-सम वस्त्र पहने हुए, कमर से सुन्दर रेशमी कपड़े को बांधे, गले में सुन्दर और सुगन्धित सुमनों की माला धारण किए, मोर-मुकुट के सिर पर शोभित होते सन्ध्या के समय अन्य बालकों के साथ

---

१. मिन्नक्कोडियुम ओर वैण्तिकलुम चूलपरिवेडमुमाय
पिन्नल तुलंकुम अरसिलैयुम पीतकच्चिट्राडैमोडुम। —'पेरियालवार तिरुमोली', १-७-७

२. चैंकमलक्कललित चिट्दलपोल पिरलिल
चेरतिकललिकुलुम किंकिणियुम अरैयिल
तकिय पोन्मडमुम ताल नन्मादुलैयिन
पूवोडु पोन्पणियुम मोदिरमुम कीरियुम
मंगलऐंपडैयुम तोलवलैयुम कुलैयुम
मकरमुम वालिकलुम चुट्टियुम ओत्तिलक। —वही, १-५-१०

३. तोडर चंकिलिकै जलार बिलारेन्न
तूंगू पौन्पणियोलिप्प। —'पेरियालवार तिरुमोली', १-७-१

४. कन्नरकुडम तिरुंदालोत्तरी कणकण चिरित्तुवन्दु। —वही, १-७-५

वन से लौट रहे हैं।''[१] माथे पर सिन्दूर तथा प्रकाशयुक्त तिलक शोभित हैं।[२] कृष्ण के अन्य साथियों के साथ वन से लौटते समय मेघ-गर्जन-सा स्वर उठ रहा है। कृष्ण के विद्रुम जैसे अधरों को और उन पर खेलने वाली मधुर मुस्कान को देखकर, हे सखी ! मैं मोहित हुई।'' "गायों के पीछे, शरीर की कांति को सर्वत्र विकीर्ण कर अपने सुन्दर केशों को मयूर पंखों से अलंकृत कर, सुन्दर कमल जैसे नयनों से देखकर, विष्णु की मधुर ध्वनि कर, गाते हुए, हंसते हुए, नाचते हुए, अपने अन्य साथियों के साथ आने वाले मोहन को देखकर (मेरी पुत्री) मुग्ध हो गई।''[३] (माता का वचन) मुरली बजाते समय कृष्ण के अपार सौंदर्य के कितने ही सुन्दर चित्र आलवारों ने अंकित किए हैं। कृष्ण के अलौकिक और अपरिसीम सौंदर्य का वर्णन करते-करते भक्त कवि थकते नहीं। कृष्ण के मन-मोहन रूप की सौंदर्यानुभूति में आलवार सुधबुध खो वैठते हैं। तिरुप्पाण आलवार ने अपनी एक-मात्र रचना 'अमलादिपिरान' में भगवान् के सौंदर्य का 'नख-शिख' वर्णन ही प्रस्तुत किया है। परवर्ती कवि—कृष्ण के रूप-सौंदर्य सम्बन्धी इन चित्रों से बहुत प्रभावित हुए हैं। मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्यों में श्रीकृष्ण के अलौकिक रूप-माधुर्य के सुन्दर चित्र अंकित किए हैं।

३. श्रीकृष्ण का परमेश्वरत्व

लीलानायक श्रीकृष्ण के लोक-रंजक रूप का सांगोपांग वर्णन करते हुए भी, बाल-कृष्ण के लीला-सागर में गोता लगाते हुए भी आलवार सर्वत्र इस बात का ध्यान रखते हैं कि श्रीकृष्ण परब्रह्म विष्णु के अवतारस्वरूप हैं। वे प्रत्येक पद में श्रीकृष्ण के परमेश्वरत्व की घोषणा करते हैं। आलवारों के अनुसार परब्रह्म विष्णु विभिन्न युगों में मनुष्य के उद्धार के लिए अवतार लेते हैं। जब पृथ्वी में अधर्म फैल जाता है और अज्ञान-अन्धकार पृथ्वी को कवलित करता है, तब कृपा-सिन्धु भगवान् अपनी करुणा को प्रकट करने के हेतु अवतार लेते हैं। कृष्णावतार की

---

१. वल्लिनुण इदलन्न आडै कोण्डु
वशैयरत्तिरुवरै विरित्तु डुत्तु
मुल्लै नल नरु मलर वेगै ममरणिन्दु
पल्लायर कुलाम नडुवे ॥ —'पेरियालवार तिरुमोली', ३-४-२

२. सिन्द्रमिलंगत्तन तिरुनेट्रिमेल।
तिरुत्तिय कोरम्बुम तिरुक्कुलमुम। —वही, ३-४-६

३. चालप्पलनिरैप्पिन्नै तलैक्काविन कील
तन तिरुमेनि निण्ट्रोली तिलक
नील नल नरुकुंजी नेत्तिरत्तालणिन्दु
पल्लायार कुलाम नडुवे
कोलचेन्दामरैक्कण मिलिर
कुललूदिसे पाडि कुनित्तुआयरोड,
आलस्तु वरुकिण्ट् आयप्पिल्लै
अलकु कण्डु एन मकलरंकिण्ट्दे॥ —वही, ३-४-७

लीलाओं का वर्णन करते हुए भी बीच-बीच में वे विष्णु के पूर्व अवतारों और उनकी लीलाओं का भी गायन करते हैं। आलवारों के समय में अवतारों की कथाएं बहुत ही प्रचलित हुई थीं। भागवत् धर्म के विस्तार के साथ-साथ विष्णु भगवान् के विविध अवतारों की कथाएं, दशावतार की कथाएं जिनमें विष्णु के भक्तवत्सल रूप, करुणा-सिन्धुत्व, सत्य-संकल्पत्व आदि अगणित विशिष्ट गुणों के प्रमाण मिलते हैं, व्यापकता प्राप्त कर जन-साधारण के बीच में भक्ति-प्रचार का सरल माध्यम सिद्ध हुईं। आलवारों के पदों में विष्णु के विभिन्न अवतारों की लीलाओं का सांगोपांग वर्णन है। आलवारों ने विष्णु के इन विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं देखा। सब अवतारों को एक परब्रह्म विष्णु के विविध रूपों में ही देखा। फिर भी उनका मन कृष्णावतार में सबसे अधिक रमा।

श्रीकृष्ण की लीला का, चेष्टा का वर्णन करते समय यह कहने को आलवार नहीं भूलते कि कृष्ण परब्रह्म विष्णु के अवतारस्वरूप हैं। कृष्णावतार की लीलाओं का उल्लेख करते समय श्रीकृष्ण की अलौकिक शक्ति का परिचय देकर उनके अतिमर्त्य (सुपर ह्यूमन) और अद्भुत कार्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। सर्वत्र यह स्थापित करने की प्रवृत्ति दिखाते हैं कि ये कृष्ण परब्रह्म विष्णु के ही अवतार हैं जिन्होंने इसके पूर्व अनेक अवतार लिए हैं और उस शृंखला की कड़ी के रूप में उन्होंने कृष्णावतार भी लिया। इस प्रकार कहने में कवि का उद्देश्य श्रीकृष्ण के परमेश्वरत्व का स्थापन करना है। एक ही प्रसंग में कृष्णावतार के साथ अन्य अवतारों का भी उल्लेख करना कदाचित् यह सिद्ध करने के लिए है कि श्रीकृष्ण साधारण व्यक्ति नहीं, परब्रह्म के अवतार हैं। बाल-कृष्ण के कतिपय अतिमानुषिक कृत्यों तथा पूतना-वध, शकटासुर-वध, कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण आदि का वर्णन करते समय तो कृष्ण का अतिमानुष रूप प्रकट होता ही है, अन्य अवसरों पर भी आलवार अपनी ओर से यह कहना नहीं भूलते कि कृष्ण विष्णु के अवतारों में से हैं। कृष्ण की विभिन्न बाल-सुलभ चेष्टाओं का वर्णन करते समय भी आलवार उनकी पूर्व अतिमानुष लीलाओं का भी ज़िक्र कर बैठते हैं। काव्य-कला की दृष्टि से यद्यपि यह एक दोष है तथापि कवि का उद्देश्य कृष्ण का सम्बन्ध विष्णु के अन्य अवतारों से स्थापित करने का होने से वह क्षम्य है। उदाहरण के लिए देखिए—श्रीकृष्ण की मां यशोदा द्वारा चन्द्र को बुलाते समय भी कवि विष्णु के अन्य अवतारों की ओर संकेत कर बैठता है[1]—"हे नीलाम्बर स्थित विशाल चन्द्र ! मेरा पुत्र तुम्हें बुला रहा है। इसका तिरस्कार मत करो, यह समझकर कि यह छोटा बालक है। समझ लो, यह बालक वही है जो एक बार वट-पत्र पर सोया था। यदि वह अपनी शक्ति दिखाना चाहे तो अभी उठकर तुम्हारे ऊपर कूदकर, तुम्हें पकड़ सकता है। अतः

---

१. बालकनेण्ट्र परिपवम चय्येल पण्डोरुनाल
आलिनिलै वर्लन्द चिरुक्कनवन इवन
मेलेलपाइण्ट्र पिडित्तु कोल्लु वेकुलुमैल
मालै मनियादे मामति। मकिल्न्दोडिवा। —'पेरियालवार तिरुमोली', १-४-७

इसकी उपेक्षा मत करो। यह समझकर कि यह बालक है, तुम इस बाल-केसरी का तिरस्कार मत करो। राजा वली से जाकर पूछो, इसकी चिर यौवन शक्ति के सम्बन्ध में। यह वही महान् 'माल' (विष्णु) है, जो तुम्हें शीघ्र ही आ पहुंचने का आदेश दे रहा है। हे पूर्ण चन्द्र ! तुम अपनी इस दुर्बलता और शक्तिहीनता को कैसे समझोगे कि तुम मेरे लाल के सेवक होने के भी लायक नहीं हो।"[१] स्पष्ट है कि कवि कृष्ण के परमेश्वरत्व की ओर संकेत करना चाहता है।

राम-कृष्ण अभेद-भाव

कृष्णावतार के साथ रामावतार का भी आलवारों ने कुछ विस्तार से गायन किया है। यद्यपि कृष्णावतार के जो भी प्रसंग लिए हैं, उनके द्वारा वे राम के विष्णु के अवतार होने की बात साबित करते हैं। पेरियालवार के एक दशक में रामावतार और कृष्णावतार की लीलाओं का वर्णन साथ ही साथ दो सखियों के सम्भाषण द्वारा कराया गया है।[२] कृष्ण को सम्बोधित करते समय भी 'हे, गोकुल-सिंह, हे सीता-पति, हे विष्णु, आदि नामों से सम्बोधित कर राम-कृष्ण-अभेद को स्थापित करते हैं।[३] कहने का तात्पर्य यह है कि आलवारों ने सर्वत्र कृष्ण के परमेश्वर स्वरूप की ओर संकेत किया है और विष्णु के विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं देखा है। यही प्रवृत्ति मध्ययुगीन अनेक कृष्ण-भक्त कवियों में भी देखने को मिलती है। सभी भक्त कवियों ने कृष्ण के परब्रह्म-स्वरूप की स्थापना कर राम-कृष्णादि अवतारों में अभेद-भाव दिखाया है। हिन्दी के महान् कृष्ण-भक्त कवि सूरदास तथा राम-भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भी राम-कृष्ण अभेद-भाव से दोनों अवतारों की स्तुति की है।

४. श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम-भावना

'प्रबन्धम्' में भगवान के प्रति प्रेम के विविध रूपों एवं भावनाओं का जितना व्यापक उद्घाटन हुआ है, उसके दर्शन अन्यत्र दुर्लभ हैं। भगवान् से प्रेम करना ही परा-भक्ति का एक मात्र उद्देश्य है। श्रीकृष्ण और गोपियों का पारस्परिक प्रेम कृष्ण-भक्ति साहित्य का मेरुदण्ड है। 'प्रबन्धम्' में किसी भी अन्य बात पर उतना ज़ोर नहीं है जितना गोपी-भाव की भक्ति पर। बाद के भक्ति-साहित्य में ब्रज की गोपिकाओं की प्रेम-भावना की बड़ी प्रतिष्ठा हुई और उसे ही आदर्श-रूप में माना गया। 'नारद-भक्ति-सूत्र' और 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' में चरम आदर्श-रूप में ब्रज-गोपियों को ही माना गया है।[४]

---

१. चिरियनेण्ट्र एन्निलांचिगत्त इकलेल कण्डाय
   चिरुमैयिन वातेयै मावलिण्डिच्चेण्ट्र केल
   चिरुमप्पिलै कोल्लिल नीयुम उन तेवैक्कुरियै काण
   निरैमैती ! नेडुमाल विरैन्दु उन्नेक्कूवुकिण्ट्रास ॥ —'पेरियालवार तिरुमोली', १-४-८

२. 'पेरियालवार तिरुमोली', ३-६-१ से १०

३. 'एन चिट्रायर सिंगमे। सीतै मणाला। चिरुकुट्ट चेकण्माले ॥' —वही, ३-३-५

४. यथा ब्रजगोपिकानाम्। —'नारद भक्ति-सूत्र', सूत्र २१
   अतएव तदभावाद्बल्लवीनाम। —'शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र', सूत्र १४

'प्रेम' मानव-हृदय का एक प्रबल पक्ष है। आलवारों ने इस प्रेम की बड़ी सुन्दर और विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति मुख्यतया चार प्रकार से की जाती है :

१. दास्य भाय
२. सख्य भाव
३. वात्सल्य भाव
४. माधुर्य भाव

'प्रबन्धम्' ने वात्सल्य भाव और मधुर भाव पर ही विशेष ज़ोर दिया है। प्रबन्धम् में प्रीति के इन दोनों भावों की अभिव्यक्ति गोपियों के माध्यम से सबसे अधिक उदात्त रूप में बहुत ही विस्तृत भाव-पटल पर हुई है।

वात्सल्य भाव

वात्सल्य भाव कृष्ण-भक्ति-परम्परा का एक प्रधान तत्त्व है। आलवारों के बाल-भाव-चित्रण में वात्सल्य भाव का सुन्दर परिपाक हुआ है। यशोदा के माध्यम से कवियों ने वात्सल्य रस की स्निग्ध धारा प्रवाहित की है। वात्सल्य भाव की प्रीति अन्य सब प्रकार की प्रीतियों से उत्तम कही जा सकती है, क्योंकि वह निष्काम प्रीति है। सन्तान के भोले-भाले और निष्कपट रूप और गुण पर किस माता-पिता का मन सहज ही नहीं रीझता? अपने कष्ट और स्वार्थ को भूलकर शिशु की परिचर्या में किस माता ने अपने स्वार्थ को नहीं भुला दिया? अपनी सन्तति के विछोह में किस माता-पिता का हृदय नहीं छटपटाता? वात्सल्य भाव एकाकी है, क्योंकि स्नेह-पात्र के अबोध और असक्त होने के कारण स्नेही, अपने स्नेह के बदले में कुछ नहीं चाहता। शिशु की मीठी-मीठी और तुतली बातें सुनने, उसकी क्रीड़ाओं और विविधि चेष्टाओं का अवलोकन करने में मातृ-हृदय जिस आनन्द, तन्मयता तथा तृप्ति का अनुभव करता है वैसा पितृ-हृदय में नहीं होता।

मातृ रूप की प्रतीक यशोदा हैं। यशोदा के भाग्य की सराहना करते-करते भक्तों ने अनेक बार उनके सुख की कल्पना देवताओं, ऋषियों तथा मुनियों की शक्ति के परे बतलाकर बार-बार योग, ज्ञान इत्यादि पर सगुण भक्ति की इस पुण्य अनुभूति की विजय घोषित की। कृष्ण के शैशव, बाल्यकाल और किशोर काल में यशोदा के मातृ-हृदय का सुन्दर विकास चित्रित है। कृष्ण की बालोचित भोली-भाली उक्तियों के प्रति उनकी गद्गद भावना, उनके नटवरपन के प्रति उनकी खीझ आदि मातृ-हृदय के स्वाभाविक चित्रण हैं। शिशु कृष्ण की मां के रूप से लेकर किशोर कृष्ण की मां के रूप तक उनका चित्रण अनुपम है। वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष आलवारों ने दिखाए हैं।

संयोग वात्सल्य के अन्तर्गत बाल-सुलभ क्रीड़ाओं के सूक्ष्म चित्रण के लिए पैरियालवार ने शिशु की दस भिन्न वय: स्थितियों की कल्पना कर प्रत्येक स्थिति में बालक की स्वाभाविक चेष्टाओं का बड़ा ही सजीव चित्र अंकित किया है। इस विशिष्ट बाल-वर्णन-शैली को तमिल में 'पिल्लै तमिल' कहते हैं। (इसका विस्तृत परिचय अन्यत्र दिया गया है।) इस 'पिल्लै तमिल' शैली के जन्म-दाता पैरियाल-

वार हैं। इस शैली का अनुकरण सैकड़ों परवर्ती कवियों ने किया है। पैरियालवार ने माता यशोदा के स्थान पर अपने को कल्पित कर मातृ-हृदय धारण कर वात्सल्य का बड़ा आनन्द लिया है और बड़ी सूक्ष्मता से उसका चित्रण किया है। माता यशोदा के मन के हर उद्गार को, उसके प्रत्येक उच्छ्वास-निःश्वास को पैरियालवार ने हृदयद्रावक मार्मिकता के साथ अंकित किया है। शिशु कृष्ण के प्रत्येक कोमल अंग को देखकर माता आनन्द से पुलकित होती है और उस सौंदर्य का पान करने के लिए दूसरों को बुलाती है।[1] कृष्ण-जन्म के कुछ ही दिन बाद यशोदा सहेलियों से शिकायत करती है, "पालने में छोड़ो तो ऐसा पद-प्रहार करता है कि उसके टूट जाने का डर होने लगता है। गोद में उठा लूं तो कमर तोड़ देता है। छाती से लगा लूं तो पेट फाड़ देता है। हे सखी! मुझसे नहीं होती इस वालक की सार-सम्भाल। मैं क्या करूं?"[2] यही माता एक अन्य स्थल पर कहती हैं:

"मेरे लाल के माथे पर आभूषण डोल रहा है। सोने की किंकिणी मधुर निनाद कर रही हैं और गोविन्द धूल में घुटनों के बल रेंगता हुआ खेल रहा है।[3]...सुन्दर मुख से अमृत सम लार टपक रही है और मेरा लाड़ला तोतली बोली से तुम्हें पुकार रहा है। हे चन्द्र! तुम मेरे लाल के सौंदर्य के आगे फीके पड़ जाते हो।"

कान्हा धीरे-धीरे चलने लगता है। कान्हा खिलखिलाकर हंसता हुआ आकर यशोदा से लिपट जाता है और उसे प्यार करता है। उसके मुंह से इच्छु-रस-सी लार की धारा वह रही है। वह शिशु-चुम्बन मां के हृदय में अमृत प्रवाहित कर देता है। एक स्थल पर माता की ममता बोल उठती है, "कृष्ण-जन्म के बाद घर में घी न कहीं सुरक्षित रह पाता, न दूध, न दही, न मक्खन।[4] कान्हा पड़ोस के बच्चों से झगड़ा करने के बाद चुपके-से घर आ जाता है। पड़ोस की स्त्रियां रोने वाले बच्चों के साथ यशोदा को घेर लेती हैं और शिकायत करती हैं। उधर यशोदा होहल्ले से परेशान हो रही है और इधर कृष्ण उनका मजा लेता हुआ हंस रहा है। संयोग-वात्सल्य के ऐसे कितने ही चित्र पैरियालवार ने प्रस्तुत किए हैं। पहली बार कृष्ण के गाएं चराने के लिए जंगल की ओर जाने पर मातृ-हृदय छटपटाता है। उसे एक क्षण के लिए भी पुत्र-वियोग असह्य-सा लगता है। पैरियालवार ने अनेक स्थलों पर वियोग-वात्सल्य का हृदय-द्रावक वर्णन किया

---

१. 'पेरियालवार तिरुमोली', १-२-१ से १०

२. किडक्किल तोट्टिन किलिय उदैत्तिडुम
एडुत्तक्कोल्लिक मरुकैयिरुत्तिडुस
ओठुक्की पुल्किल उदरत्ते पाइन्दिडुम
मिडुक्किल्लामैयाल सान मेलिन्देन नंगाय॥ —'पेरियालवार तिरुमोली', १-१-६.

३. तन मुखत्तै चुट्टि तूंगतूंग तवल्न्दुपोय।
पोन मुख किंकिणीर्यापा पुलदियलैकिन्ट्रान। —वही, १-४१

४. करन्द नर्पालुम तयिरुम कडैन्दु उरि मेल वैत्तवेण्णै
पिरन्तुदुबे मुदलाकप्पेट्टरियेन एम्पिराने॥ —वही, २-४-७

है। पुत्र को जन्म देकर तुरन्त उससे वंचित रहने वाली अभागिनी देवकी के मातृ-हृदय के उद्गारों को कुलशेखरालवार ने काव्य-रूप दे डाला है। शिशु की चेष्टाओं की कल्पना मन ही मन कर देवकी उस सुख से वंचित अपने को कोसती है।[1] वह बच्चे से प्यार करने के लिए प्रतिक्षण तड़पती है।

वात्सल्य रस से रंजित गोपियों को ब्रजांगना की संज्ञा दी गई है।[2] वात्सल्य-भावना की मुख्य प्रतीक यशोदा ही हैं, पर कुछ अन्य गोपियां भी इससे ओत-प्रोत हैं, इन गोपियों में वे ब्रजांगनाएं हैं जिनमें वात्सल्य प्रधान है। कृष्ण की बाल-लीलाओं में उनका हृदय पूर्णरूपेण रम जाता है। ब्रजांगनाओं का यह वात्सल्य-भाव बड़ी महत्ता का बताया गया है। यही भक्ति के स्तर में निष्काम रूप धारण करता है। आलवारों के वात्सल्य भाव चित्रणों ने परवर्ती कवियों को बहुत ही प्रभावित किया और वात्सल्य-भक्ति को भी प्राधान्य प्रदान किया।

मधुर भाव

'प्रबन्धम्' में भक्त और भगवान् के बीच स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को घोषित करने वाले सैकड़ों पद हैं। लोक में प्रेम के जितने भी भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हो सकते हैं उन सबको आलवारों ने लोक से हटाकर ईश्वर के साथ जोड़ा है। यहां तक कि ऐन्द्रिय विषयों में अनुरक्त लोगों को संसार विषय से हटाने के लिए आलवार भक्तों ने ईश्वर को ही उनकी विषय-प्राप्ति का साधन बताया है। नम्मालवार, तिरुमंगै आलवार आदि ने भक्ति में स्त्री-भाव को प्रधानता दी है। लोक-पक्ष में जिसे हम शृंगार रस कहते हैं, भक्ति-पक्ष में वही मधुर रस कहलाता है। कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में स्त्री-भाव का प्रतिनिधित्व गोपियां करती हैं। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम होती है। अतः संयोग और वियोग—दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एकरूप है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम को चित्रित करने वाले अनेक प्रसंग 'प्रबन्धम्' में हैं।

भक्ति के क्षेत्र में नायक-नायिका सम्बन्ध को स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठापित करने वाले आलवार भक्त ही थे। आलवारों ने ईश्वर से जितने भी सम्बन्ध स्थापित किए हैं, उनमें नायक-नायिका-सम्बन्ध अधिक महत्त्व का है। इस मधुर भाव को काव्य रूप देने के लिए आलवारों ने लौकिक प्रेम-काव्य के क्षेत्र में प्रच-लित सभी रूढ़ियों का सहारा लिया है और उनके माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है। आलवार पूर्व तमिल के संघ-साहित्य के लौकिक प्रेम-काव्यों में नायक-नायिका सम्बन्ध के संयोग-वियोग दोनों पक्षों की जिन दशाओं का निर्वाह किया गया था, उन सबका आलवारों ने प्रयोग कर नायक-नायिका-भाव से अर्थात् मधुर भाव से भक्त और ईश्वर के सम्बन्ध को पहली बार अभिव्यक्त किया था। नायक-नायिका के वचन के रूप में प्रेम के नाना प्रकार के प्रसंग प्रस्तुत

---

१. 'पेरुमाल तिरुमोली', ७-१ से १० तक

२. ब्रजाङ्गनासुप्रवाहः—
तथा ब्रजाङ्गनानां मातृभावेनैव संग्रहः, तासाम् ईश्वरे पुत्रभावो वर्तते। तस्मात् सांप्रवाहत्वम्। आचार्यवल्लभकृतः 'श्री भगवत्पीठिका', पृ० १४३ बृ० स्तो० (२)

करने की परम्परा तमिल के प्राचीन साहित्य से चली आ रही है। अब तमिल में उपलब्ध सबसे प्राचीन ग्रंथ 'तोल्काप्पियम्' वैयाकरणिक विषयों के अतिरिक्त कविता की सामग्री का विवरण भी प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ 'अहप्पोरुल' खण्ड में कविता-विद्या का परिचय देकर उन प्रसंगों की ओर संकेत करता है जिनका वर्णन रसानुभूति की परिष्कृति के लिए आवश्यक है। प्रेमी जीवन से सम्बन्धित प्रसंगों को एक सूत्र में बांधकर उन्हें नाटक-लक्षणों से युक्त एक धारावाहिक उपन्यास का रूप दिया गया है। प्रेम-काव्य में 'तोल्काप्पियम्' के अनुसार निम्न-लिखित प्रसंगों का क्रमानुसार होना आवश्यक है।[1] सबसे पहले किसी सुन्दर प्राकृतिक वातावरण में नायक-नायिकाओं का मिलन संयोगवश होता है। एक-दूसरे के सौंदर्य गुण आदि से आकर्षित होते हैं। यह आकर्षण प्रेम में परिवर्तित होता है। जो प्रतिदिन विकसित होता रहता है। प्रेमी किसी बहाने से प्रेमिका से मिलने के लिए आता है। प्रेमिका की सखी से सहायता मांगता है, जो दोनों के बार-बार मिलने के लिए अवसर पैदा करती है। प्रेमी-प्रेमिका का गुप्त मिलन होता रहता है और प्रेमी, प्रेयसी से गान्धर्व विवाह भी कर लेता है। प्रेम की बात बढ़ती जाती है और आस-पास के लोग वास्तविक स्थिति का—उन दोनों के सम्बन्ध का अनुमान कर लेते हैं। समाचार फैल जाता है और किसीके कथन द्वारा गुरु-जनों तक पहुंच जाता है और प्रेमी-प्रेमिका को परिणय मनाने की अनुमति माता-पिता से मिल जाती है। परिणय पूर्व काल 'कलवु' (गान्धर्व वैवाहिक काल) कह-लाता है। इस प्रेम-पद्धति के अन्तर्गत नायक-नायिका का प्रथम मिलन, दोनों के एक-दूसरे से प्रेम-प्रदर्शन, नायक के गुप्त आगमन के कारण मार्ग में सम्भाव्य विपत्तियों का नायिका द्वारा निवेदन आदि प्रसंग आते हैं। परिणयोत्तर काल 'कर्पू' (दाम्पत्य-काल) कहलाता है। पति-पत्नी का प्रणय, कलह, पति के अपने कार्य निमित्त विदेश चले जाते से पत्नी की विरह-वेदना, विलाप या विरह-सहन के उपयुक्त वचन, दोनों का पुनर्मिलन आदि कई प्रसंग इस 'कर्पू' प्रेम-पद्धति के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के विभिन्न प्रसंगों का विस्तृत वर्णन नायक, नायिका, धाई, सहेली, देखने वाले आदि पात्रों के वक्तव्यों के द्वारा इस प्रेम-काव्य-पद्धति में प्रस्तुत किया जाता है। एक और बात उल्लेखनीय है कि प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम-सम्बन्ध का समाचार सुनकर भी उनके माता-पिता उनके विवाह के लिए सहमत नहीं होते, प्रेमी 'मडल' पर चढ़कर अपने तीव्र प्रेम की परीक्षा देकर प्रेमिका को प्राप्त करने की घोषणा करता है। प्रेमोन्मत्त नायक नगर के किसी चौराहे पर खड़े होकर अपनी प्रेमिका का चित्र दिखाकर यह धमकी देता है कि प्रेमिका के न मिलने पर वह 'मडल' पर चढ़कर आत्म-हत्या तक कर डालेगा। ताड़ की तीखी डालियों से बने घोड़े पर सवार होने से शरीर में चोट लगती है और उससे खून बह निकलता है। यह प्रेम की परीक्षा है, जिसपर उत्तीर्ण होने पर प्रेमी को प्रेमिका अवश्य मिल जाती है।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—कलवियल एट्रं इरैयनार अहप्पोरुल। प्रकाशक : शैव सिद्धान्त नूर्पतिप्पु कलकम, मद्रास

आलवारों ने प्रेम-काव्य की ऊपर वर्णित पद्धति को पूर्णरूपेण अपनाया। संघ-साहित्य के वही नायक-नायिकाओं के कथन, धाई, सहेली तथा दर्शक के कथन आदि प्रसंगों को लेकर आलवारों ने प्रेम-सम्बन्ध का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। इस पद्धति में प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—की सभी दशाओं का सांगोपांग वर्णन किया जाता है। आलवारों ने पूर्ववर्ती प्रेम-सम्बन्धी काव्य-रूढ़ियों से लाभ उठाकर लौकिक प्रेम के स्थान पर अलौकिक प्रेम अर्थात् भक्त और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट किया। इसी कारण प्रबन्धम् में संगृहीत अधिकांश रचनाएं, विशेषकर नम्मालवार, तिरुमंगै आलवार, कुलशेखरालवार और आण्डाल की रचनाएं माधुर्य भाव से ओतप्रोत हैं।

आण्डाल का स्वतःसिद्ध माधुर्य भाव

जहां दूसरे आलवारों को भगवान् के प्रति मधुर भाव को अभिव्यक्त करने के लिए स्वयं को स्त्री-रूप में कल्पित करने की आवश्यकता थी वहां आण्डाल के विषय में उस कल्पना की आवश्यकता न थी। वे स्त्री थीं, अतः उनका पुरुष रूप भगवान् से प्रेम सीधा था और स्वाभाविक भी। आण्डाल को बचपन से ही 'मुरली माधव' ने आकर्षित कर लिया था। वह भगवान् को अपनी पहनी हुई मालाएं अर्पित करती थीं और मुकुर में यह देखा करती थीं कि क्या वह लीलानायक को वरने योग्य हैं? आण्डाल का प्रेम धीरे-धीरे बढ़कर पूर्णावस्था को पहुंच जाता है तो उनकी स्थिति कृष्ण-मिलन के लिए भूखी गोपी की-सी हो जाती है। वे कहती हैं—"जैसे ब्राह्मणों के यज्ञ में देवताओं को लक्ष्य करके अर्पित की जाने वाली हवि को कोई जंगली सियार सूंघने लगे, वैसे ही चक्रधर, शंखधर भगवान् को लक्ष्य करके उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि मानवों के उपभोग्य बनाने की चर्चा चली, तो हे मन्मथ, मैं जीवन धारण नहीं करूंगी।"[1]

आण्डाल की कविता प्रेम-पीड़िता नारी की विभिन्न भावावस्थाओं का सुन्दर चित्र है। कभी तो प्रियतम से मिलने की आशा करती है, कभी प्रियतम की निष्ठुरता पर करुण क्रन्दन करती हैं, प्रिय-वियोग-विच्छेद में अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन करती हैं। मिलन के लिए तड़पती हैं। इस प्रकार के कितने ही भावों से आण्डाल के गीत ओतप्रोत हैं। कोकिल, मयूर आदि चेतन तथा मेघ, शंख आदि निर्जीव वस्तुओं तक से प्रिय की बातें कर बैठती हैं और अपना सन्देश प्रियतम तक पहुंचाने का निवेदन उनसे करती हैं,— "मस्त हाथी के समान उठने वाले मेघो! मुक्ता निधि बरसाने वाले हे दानियो, तुम्हीं बताओ! सुन्दर सांवरे की बात क्या रही? हृदय में कामाग्नि जल रही है और मलय-पवन के रूप में

---

१. वानिडै वालुम अव्वानवर्कु करैयवर वेल्वियिल वकुत्त अवि
कानिडै तिखिदोर नरि पुकुन्दु कडप्पदुम पोपदुम चेइवदोघ
ऊनिडैयाली शंखू उत्तकमन्टु उन्नतेलुन्द एन तडमुलैकल
मानिडव केण्डु पेच्चुपडल वालकिल्लेन कण्डाय मन्मथने ॥

—'नाच्चियार तिरुमोली' १-५१

बाहर भी अग्नि-धारा वह रही है। इस आधी रात में मैं इस तरह दोनों ओर से झुलस रही हूं। मेरी इस दशा पर तनिक तरस तो खाओ।"[१] "हे मेघो! तिरुवेंकट पर्वत पर वास करने वाले शेषशायी भगवान् द्वारा दिया गया वचन कितना विश्वसनीय था। अब वह सत्य से कितना दूर हो गया। वह पुरुष जो लोगों का रक्षक कहलाता है, अज्ञान: 'स्त्री लता' के वध का कारण बना, अगर इस प्रकार का अपवाद संसार में फैल जाए तो कौन उसका आदर करेगा।"[२]

आण्डाल की दोनों रचनाएं—'तिरुप्पावै' और 'नाचिचयार तिरुमोली' मधुर भाव के अद्वितीय उदाहरण हैं। 'तिरुप्पावै' में श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के निमित्त गोपियों द्वारा पालित व्रतचार्या (कात्यायिनी व्रत) का वर्णन है। 'तिरुप्पावै' में आण्डाल स्वयं गोपी बनकर अन्य सखियों को कात्यायिनी व्रत रखने के लिए आह्वान करती है। 'नाच्चियार तिरुमोली' के छठे दशक में आण्डाल ने स्वप्न में माधव के साथ होने वाले अपने विवाह का वर्णन किया है :

"सखि सुमधुर सपना देखा।
मधुसूदन को आते देखा ॥
गज सहस्र वरसज सज आए।
पुर मग तोरण से अति भाये ॥
वर-वर पट धर बहु जन आये।
रथ गज सुन्दरतम बहु लाये ॥[३]
प्रियतम हरि को आते देखा।
सखि, सुमधुर सपना देखा ॥
शंख मृदंग व ढोल बजाये।
मंगल पद मन-मोहन गाये ॥
सज्जित मण्डप में प्रिय आये।
कर में कर ले, नेत्र मिलाये ॥
मम प्रिय माधव को आते देखा।
मुझ दासी को अपनाते देखा ॥[४] (भावानुवाद)

आण्डाल में वे सब बातें देखने को मिलती हैं, जो गोपियों में हैं। आण्डाल ने श्रीकृष्ण की उपासना गोपी-भाव से ही की थी, इस प्रकार आण्डाल ने मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों के सम्मुख मधुर भाव का एक उच्च आदर्श छोड़ रखा था।

---

१. मामुत्त निधि चेरियुम मामुकिल्काल। वैंकटतु
चामत्तिनिरंकोण्ड ताडालन वार्तयेन्ने।
कामत्तीयुल फुकुन्दु कदुवपट्टु, इटैकंयुल
एमतोर तेण्ट्रलुक्कु इंकिलक्काय नानिरूपेने। —'नाच्चियार तिरुमोली', ८-२

२. मतयाने पोलेकुन्द मामुकिल्काल, वैंकटते।
पतियाक वालवीरकाल। पोंपणैवान बातैयेन्न ॥
वधै चेश्तानेन्नुम चोल वैंयकतार मदियारे ॥ —वही, ८-६

३. 'नाच्चियार तिरुमोली', ६-१

४. वही, ६-६

'प्रवन्धम्' में गोपी-प्रेम को चित्रित करने वाले अनेक प्रसंग हैं। गोपियों के इस अनेक-रूप प्रेम की झांकी प्रमुख रूप से निम्नलिखित प्रसंगों में मिलती है :

१. वेणु माधुरी और उसका प्रभाव
२. रासलीला (आलवारों की 'कुरवैकूतू')
३. राधा (आलवारों की नप्पिन्नै) और कृष्ण की केलि-क्रीड़ाएं
४. भ्रमरगीत (आलवारों का 'भ्रमर-सन्देश')

प्रबन्धम् के इन प्रसंगों में वर्णित गोपी-प्रेम को परवर्ती कवियों ने बड़ी तत्परता और निष्ठा के साथ हृदयंगम एवं आत्मसात् कर अपनी सहज प्रतिभा और भक्ति-भावना से उसे और भी नितान्त गम्भीर और हृदयहारी बना दिया।

१. वेणु-माधुरी और उसका प्रभाव

गोपियों को कृष्ण की ओर आकृष्ट करने में श्रीकृष्ण की मुरली का बड़ा हाथ है। कृष्ण के मुरली-नाद में एक अद्भुत शक्ति है जो समस्त जड़-चेतन जगत् को अपने वश में कर लेती है। 'प्रबन्धम्' में वेणु-माधुरी के प्रभाव का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है। परवर्ती कृष्ण-भक्त कवि इससे बहुत प्रभावित हुए हैं और इसका प्रतीकार्थ भी लिया गया है।

मुरली की ध्वनि सभी प्राणियों के मन को हर लेती है। उसका सबसे अधिक प्रभाव गोपियों के हृदय पर पड़ता है। 'पैरियालवार तिरुमोली' के तीसरे शतक के छठे दशक में मुरली-माधुर्य और उसके प्रभाव का सुन्दर वर्णन है, जो संक्षेप में नीचे दिया जाता है :

"कृष्ण ने अपने पवित्र अधर में मुरली को रखकर बजाया। कितना आश्चर्य ! उस ध्वनि को सुनते ही कौतूहल से पूरित स्तन वाली गोप कुमारिकाओं के कोमल शरीर पुलकित हो गए और वे प्रभाववश सास, ससुर आदि के बन्धनों की भी परवाह न कर बाहर आईं और सूत्रबद्ध पुष्प-समूह की तरह एकत्रित हो गईं।"[1]

"गोविन्द ने अपने चिबुक के बायें भाग को बायें भुज की ओर झुकाकर, दोनों हाथों को मुरली पर रखकर, अपनी भृकुटियों को एक विलक्षण प्रकार से कर, हवा भर कर, नीचे के ओठ को संकुचित कर वेणु को बजाया। उस समय मृगनयनी, मयूर-सम सुन्दर गोप-कुमारियों के केश-बन्धन छूट गए।[2] (कामवश)

१. नावलम पेरिय दीविनिल वालुम मंगैमीरकल ।
इदु और अपुर्दम केलीर तूवलम्पुरियुडैय तिरुमाल तूय
वायिल कुललोशै वलिए कोवलर चिरुमियर इलंङ्कोंकै कूतूकलिप्प
उडलुलविल्न्दु उँगुम कावलुम कडण्टु कयिरुमलै याकि वन्दु कविल्ण्डुनिन्ट्रनरे ॥
—'पेरियालवार तिरुमोली', ३-६-१

२. इडवणरै इडतोलोडु चाइतु,
इरुकै कूटप्परुवम नेरिन्देर
कुडवयिरु पडवाय कडै कूड
गोविन्दन कुललकोडु ऊदिन पोदु
मडमयिल्कलोडु मानविणै पोले
मंगैयारकल कूंतल अविल-निन्ट्रनरे।
—वही, ३-६-२

अस्त-व्यस्त होने वाले अपने वस्त्रों को अपने करों से सम्भाल कर वे कृष्ण की ओर देखती रहीं।"

"गोविन्द ने जब वेणु-गान किया, उस समय उसके नाद-जाल में फंसकर अप्सरायें भी वृन्दावन की ओर आईं। वृन्दावन में आकर पिघले हुए मन, आनन्दाश्रु से पूरित पुष्प-सम नयन, ढीली बनी लट, पसीजे हुए ललाट से युक्त होकर, मग्न होकर वेणु-गान का आस्वादन कर रही थीं।"[1]

"कृष्ण के वेणु-नाद को सुनकर तिलोत्तमा, उर्वशी, रम्भा आदि अप्सराएं भी मोहित हुईं और अपने नृत्य-गान तक को छोड़कर स्वर्ग और भूलोक के बीच में स्थिर रह गईं।"[2]

"......वेणु-नाद का प्रभाव इतना था कि वीणा बजाने में निपुण तबरु, नारदादि महर्षियों ने वीणा-वादन को तत्काल त्याग दिया। किन्नर नामक देव जाति के लोग अपने किन्नर-वाद्य को आगे न छूने की शपथ लेकर निवृत हो गए।"[3]

"कृष्ण की अत्यन्त मृदु उंगलियां मुरली के छिद्रों पर चलने लगीं। लाल-कमल-सम नेत्र वक्र हो गए। वंशी बजाने के परिश्रम से मुख फेनिल हो गया। भौंहों के ऊपर पसीने की बूंदें जम गईं। इस प्रकार अंग चेष्टित सौंदर्य के साथ गोविन्द द्वारा वंशी बजाते समय पक्षियों का समूह नीड़ त्यागकर आ गया और कृष्ण के सामने इस प्रकार फैल गया, मानो काटे हुए वृक्षों का वन ही सामने पड़ा हो। गायों के झुण्ड पैर फैलाकर, सिर झुकाकर कानों को बिल्कुल हिलने भी नहीं देते थे (क्योंकि कान के हिलने से गानामृत के नष्ट होने का स्वाभाविक भय उन्हें था।)"[4]

---

१. ... ...
वानिलम पडियर वन्दुवंतीण्डी
मन मुरुकि मुलक्कॅण्कल पनिप्प
तेनलवु चेरि कून्तलविलच्चेन्नि
वेॅर्पच्चेवि चेतु निन्द्ररे ॥ —'पेरियालवार तिरुमोली', ३-६-३

२. ... ...
मेनकैयोडुरतिलोतमै अरम्बे
उरुप्पसियरवर वेल्कि मयंगी। —वही, ३-६-४

३. ... ...
नन्नरंबुडैय तुम्बुर ओडु
नारदनुम तम तम वीणै मरन्दु
किन्नर मिदुनंकलुम तम तम
किन्नरम तोडुकिलोमैण्ड्रनरे ॥ —वही, ३-६-५

४. चिरु विरलकल तडवीपरिमारचेंकण
कोडच्चेव्वाय कोप्पलिप्प
कुरुवेॅर्प्पुरुवम कूडलिप्प
गोविन्दन कुलल कोडु ऊदिन पोटु
परवैयिन गणकल कूडु तुरन्दु
वन्दु चूलन्दु पडुकाडु किड़प्प

"मुरली के सुमधुर नाद को सुनने वाले मृगगण जो समीपवर्ती वनों में चर रहे थे, तत्क्षण घास चरने को भी भूल गए। चबाने के लिए मुंह में पहले से रखी घास के धीरे-धीरे नीचे गिर जाने का भी ध्यान नहीं करते थे। अमृतमय संगीत-जाल में फंसकर बेसुध हो गए। इधर-उधर लेशमात्र भी न हिलकर गतिहीन हो खींचे हुए चित्र की भांति निस्तब्ध भाव से खड़े रहे।"[१]

२. रासलीला (आलवारों की 'कुरवैकूत्तू')

यद्यपि 'प्रबन्धम्' में कहीं भी रास शब्द का प्रयोग नहीं है, तथापि रासलीला का जैसा वर्णन परवर्ती साहित्य में मिलता है, ठीक उसीका वर्णन 'कुरवैकूत्तू' प्रसंग के अन्तर्गत 'प्रबन्धम्' में मिल जाता है। तमिल-प्रदेश में कई कथाएं प्रचलित थीं जिनमें कृष्ण द्वारा गोपियों के साथ किए गए अनेक प्रकार के नृत्यों के उल्लेख हैं। इन नृत्यों में 'कुरवैकूत्तू' का विशिष्ट स्थान प्राचीन तमिल-ग्रन्थों में बताया गया है। आलवार-पूर्व संघोत्तर काल की रचना 'शिलप्पधिकारम्' में इस 'कुरवैकूत्तू' का उल्लेख है जिसको आलवारों ने 'प्रबन्धम्' में अपनाया है। श्री दीक्षितार 'कुरवैकूत्तू' का परिचय देते हुए लिखते हैं :

"This Kuravai Kuttu, we proceed to identify with Rasa Krida which is described in Bhagavat (X CH. 33). According to a description in the Silappadi-caram, the celebrated Tamil classic of 2nd century A.D., seven or nine cowherdesses engage in it, each joining her hands to those of another. This dance is said to have been originally danced by Krishna with cowherdesses."[२]

इसी 'कुरवैकूत्तू' का वर्णन 'प्रबन्धम्' में मिलता है जो रास-लीला से साम्य रखता है। 'प्रबन्धम्' में मिलने वाला रास-लीला वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है :

"सुन्दर सुगन्धित वनमाला श्रीकृष्ण के गले पर शोभित है। मयूर-पंख से युक्त मुकुट को सिर पर धारण कर, सुन्दर मृदु वस्त्र को कमर पर बांधकर, कानों पर सुमनों के गुच्छे रखकर सौरभ युक्त कुसुमों से शोभिति कुंतलवाली गोप-कुमारिकाओं के बीच मुरली बजाते हुए,[३] उन्हें मोहित कर, उनके करों को अपने करों में

करवैयिन गणंकल काल परप्पिट्ट्
कविलित्तरंकी चेवियाट्ट किल्लाव्वे। 'पेरियालवार तिरुमोली', ३-६-८

१. मरण्डु मान गणकल मेइकै मरन्दु
मेइन्द पुल्लुम कडैवाय बलि चोर
इरण्डु पाडुम तुलुंगाप्पुडै पेयरा
एलुदु चित्तिरंकल पोलेनिन्ट्रनवे ॥ —वही, ३-६-६

२. "*Krishna in Early Tamil Literature*," article by Sri V. R. R. Dikshitar in *Indian Culture*, Vol. IV, 37-38—pp. 267-70

३. 'पेरुमाल तिरुमोली', ६-६

लेकर[1] नृत्य करते-करते[2] आनन्दित होते थे। शहद, दूध और अमृत का-सा आनंद देते हुए[3] श्रीकृष्ण ने नवयौवना कुमारिकाओं के साथ खेलते-खेलते प्रेम-प्रवाह बहाया था।"[4]

आलवारों के कुरवैकूत्तू-वर्णन ने परवर्ती संस्कृत साहित्य में रास-लीला की संज्ञा प्राप्त की होगी।[5]

३. राधा (आलवारों की 'नपिन्नै') और कृष्ण की केलि-क्रीड़ाएं

कृष्ण की प्रेमिकाओं में तमिल-ग्रन्थों में 'नपिन्नै' का विशिष्ट स्थान बताया गया है। 'प्रवन्धम्' में ही नहीं, वलिक उसके पूर्व के 'चिन्तामणि', 'शिलप्पधिकारम्', 'मणिमेखलै' आदि ग्रन्थों में कृष्ण की प्रमुख प्रेमिका 'नपिन्नै' का उल्लेख है। आलवारों ने भी 'नपिन्नै' का वर्णन कृष्ण की प्रमुख प्रेमिका—गोपी के रूप में सर्वत्र किया है। कृष्ण नपिन्नै की केलि-क्रीड़ाओं को सूचित करने वाले अनेक प्रसंगों का वर्णन प्रबन्धम् में है। तमिल-कथाओं के अनुसार वह लक्ष्मी का अवतार है। कृष्ण ने तत्कालीन प्रथा के अनुसार सात वृषभों को वश में कर कन्या-शुल्क के रूप में 'नपिन्नै' को प्राप्त किया था। नपिन्नै के अपरिमित सौंदर्य का वर्णन अनेक स्थलों में किया गया है। 'सुन्दर कुन्तलवाली मयूर जैसी कोमल देहवाली नपिन्नै' का उल्लेख पेरियालवार ने किया है। आण्डाल भी 'तिरुप्पावै' के पदों में जहां वे अपने को गोपी मानकर अन्य गोपियों को जगाने का वर्णन करती हैं, वहां श्रीकृष्ण की प्रमुख प्रेमिका (नपिन्नै) का भी उल्लेख करती हैं :

'जागो ओ नप्पिनै' देवी !
लक्ष्मी रूपे कुम्भकुचे।
बिंबसमाधर पुटपटुशोभे।
सूक्ष्मकटितटे कुटिल कचे॥
दर्पण-दर्शन, चामर-जीवन
तुम प्रियतम को दे करके
....
......................।[6]

---

१. 'तिरुवायमोली', ४-२-२
२. 'तिरुनेडुन्ताण्डकम', १६
३. 'तिरुवायमोली', ८-८-४
४. 'पेरिय तिरुमोली', ३-८-८
५. इसके अतिरिक्त 'कुरवैकुट्ट' नामक तमिल नृत्य-विशेष का भी इसी लीला-प्रसंग में उल्लेख है। श्रीकृष्ण इस नृत्य में स्वयं भाग लेते थे। यह नृत्य श्रीकृष्ण की रासलीला का समकक्ष प्रतीत होता है। अतः पांचवीं-छठी शताब्दी में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दक्षिण के आलवार वैष्णवों में रासलीला और राधाकृष्ण युगल-केलि-विनोद का कोई न कोई रूप विद्यमान था जो परवर्तीकाल में और स्पष्ट होता गया। 'राधावल्लभ सम्प्रदाय', डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १८१-१८२
६. 'तिरुप्पावै' २०, (श्री कस्तूरी रंगाचार्य का अनुवाद)

यही 'नपिन्नै' परवर्ती संस्कृत साहित्य में तथा उसके माध्यम से मध्य-युगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य में 'राधा' नाम धारण करती हैं।[1] श्री दीक्षतार ने लिखा है :—

"We venture to conjecture that Nappinnai is the Tamil name of Radha."[2]

४. भ्रमरगीत (आलवारों का भ्रमर-सन्देश)

'प्रबन्धम्' में कृष्ण-वियोग में तड़पने वाली नायिका द्वारा कृष्ण के पास संदेश भेजने के अनेक प्रसंग हैं। जब नायिका नायक के आगमन की प्रतीक्षा कर थक जाती है तब वह कोकिल, भ्रमर आदि चेतन प्राणियों से, शंख, मेघ आदि निर्जीव वस्तुओं से अपनी स्थिति का परिचय देकर निर्दयी स्वामी के पास सन्देश ले जाने की प्रार्थना करती है। इनमें भ्रमर द्वारा सन्देश भेजने के प्रसंगों का उपयोग "तिरुमंगै आलवार और नम्मालवार ने किया है।"[3] इन प्रसंगों में प्रेम-पीड़ित नायिका (गोपियां) निर्दयी नायक (श्रीकृष्ण) के पास सन्देश भेजती हैं। इस सन्देश में नायिका की दुर्दशा का हृदय-द्रावक वर्णन है, नायक की निर्दयता, कपट-पूर्ण व्यवहार आदि का भी उपालंभ भरे शब्दों में वर्णन है। इसी प्रसंग का विस्तार कर परवर्ती कवियों ने 'भ्रमरगीत' काव्य रचा होगा।

राम-भक्ति-काव्य-धारा का प्रेरणा-स्रोत : 'प्रबन्धम्'

आलवारों ने विष्णु के विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं देखा। फिर भी उनको विष्णु के दो अवतारों—रामावतार और कृष्णावतार—ने विशेष रूप से आकर्षित किया है। इन दोनों अवतारों में भी कृष्णावतार में उनका मन जितना रमा, उतना रामावतार में नहीं। श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का उन्होंने ऐसा सजीव वर्णन किया है, मानो उन्होंने स्वयं उन लीलाओं का अवलोकन किया हो। उनके कोमल, भावुक और कवि-हृदय ने लीलाओं में ही अभिव्यक्ति की भाव-भूमि विशेष रूप से पाई। अतएव उन्होंने लोकनायक कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का रसपूर्ण वर्णन किया और उनके भाव-पखेरू स्वच्छन्द रूप से काव्य-व्योम में उड़ सके, जिससे कि उच्च कोटि के सरस कृष्ण काव्य का निर्माण उनके द्वारा हो सका।

प्रमुख रूप से कृष्ण काव्य रचने पर भी आलवारों के काव्यों में विष्णु के अन्य अवतारों का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है। डॉ० भण्डारकर ने अपने

१. इनमें कृष्ण के साथ उनकी एक प्रमुख गोपी का भी वर्णन है। इस गोपी का नाम 'नप्पिन्नै' है। कल्पना की जा सकती है कि यह राधा ही है। —'हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव', पृ० १६२, डा० शशि अग्रवाल

२. *Indian Culture*, V. R. R. Dikshitar. Vol. IV (37-38) pp, 267-70

३. 'पेरिय तिरुमोली', ३-६-१ से १० तक
वही, ८-४-१ से १०
'तिरुविरुतम', ५४

प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड अदर माइनर रिलिजस सेक्ट्स' में लिखा है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में राम-काव्य का विकास साधारणतया ११वीं या १२वीं शताब्दी के पश्चात् ही देखने को मिलता है। परन्तु उससे कई शताब्दियों के पूर्व ही (आलवारों का समय पांचवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का माना जाता है।) आलवारों ने रामभक्ति काव्य का सर्जन किया है। यह सच है कि आलवारों के काव्यों में कृष्णावतार की अपेक्षा रामावतार का विस्तार कम है। रामावतार के केवल कुछ विशिष्ट प्रसंगों को ही उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया। पूरी राम-कथा को लेकर आलवारों ने कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं रचा, क्योंकि तमिल काव्य-क्षेत्र में उनका युग महाकाव्यों का नहीं था। अतः प्रबन्ध-काव्य रचने की आवश्यकता उन्हें नहीं सूझी। उनका युग भक्ति के भावावेश का युग था। अतः उन्होंने भक्ति-प्रधान मधुर गीत रचे, जिन्हें गा-गाकर भक्त आत्म-विभोर हो जाते थे। उनके भक्तिपरक पदों में रामावतार का भी पर्याप्त उल्लेख है।

तमिल भाषा में जिस प्रकार कृष्ण-काव्य के जन्मदाता आलवार हैं, उसी प्रकार वे राम-काव्य के भी हैं। इसलिए उन्हें दोनों क्षेत्रों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। तमिल में आलवारों के पूर्व का कोई रामकाव्य हमें नहीं मिलता। न किसी ने रामावतार के विशिष्ट प्रसंगों का उतना वर्णन किया है, जितना आलवार साहित्य में मिलता है। आलवारों के पूर्व के तमिल संघ-साहित्य के कुछ काव्य-ग्रंथों में इधर-उधर राम-कथा के कुछ प्रसंगों का उल्लेख मिल जाता है, परन्तु उनके रचयिताओं का उद्देश्य भक्ति प्रधान राम-काव्य प्रस्तुत करना कदापि नहीं था। अतः तमिल में राम-काव्य के जन्मदाता के रूप में आलवारों को मानने में किसी-को आपत्ति नहीं होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि परवर्ती सभी कवि आलवारों के भक्तिपरक पदों से बहुत ही प्रभावित हुए हैं। यहां तक कि तमिल में राम-कथा को लेकर प्रथम वार महाकाव्य रचने वाले 'कवि चक्रवर्ती' कंबर आलवारों से बहुत प्रभावित हैं। राम-कथा के कुछ प्रसंगों का आलवारों ने जो भावपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है, उसका कंबर ने बहुत अनुकरण किया है—यह तो प्रसिद्ध है कि कम्बर ने नम्मालवार की स्तुति में 'शठगोपरान्तादि' नामक स्तुति-ग्रन्थ तक रच डाला था। सारांश यह है कि राम-काव्य के रचयिता के रूप में आलवारों को तमिल में ही नहीं, बल्कि सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं की राम-काव्य धारा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

द्वादश आलवारों में केवल कुलशेखरालवार, तिरुमंगै आलवार, पेरियालवार तथा नम्मालवार ने ही राम-कथा के विशिष्ट प्रसंगों को कुछ विस्तार से अपने काव्य में लिया है। ध्यान रखने की बात यह है कि इनमें किसीने भी राम-कथा को क्रमिक रूप में प्रस्तुत नहीं किया। इन आलवारों में रामभक्त के रूप में कुलशेखरालवार का स्थान सर्वोपरि है। कुलशेखरालवार की अपार रामभक्ति को सूचित करने वाली अनेक कथाएं तमिल-प्रदेश में प्रचलित हैं। कथावाचक के द्वारा राम-कथा को सुनते समय रावण द्वारा सीता-हरण-प्रसंग तथा राम-रावण-युद्ध

के प्रसंग में राम की सहायता करने के निमित्त सेना को कूच करने की आज्ञा देकर स्वयं कुलशेखर के चल पड़ने की कथाएं तो सर्व प्रसिद्ध हैं।[1] ये कथाएं कुलशेखर की तीव्र रामभक्ति की ओर इंगित करती हैं। उनके पदों के संग्रह 'पेरुमाल तिरुमौली' के अन्तिम तीन दशक राम-कथा से सम्बन्धित हैं। एक दशक में बालक राम को पालने में लिटाकर माता कौशल्या के लोरी गाकर उन्हें सुलाने का वर्णन है। इसमें वात्सल्य रस का अद्भुत परिपाक हुआ है। दूसरे दशक में राम के वन-गमन पर दशरथ के विलाप का वर्णन है। ये दसों पद हृदय को द्रवित करने वाले हैं। करुण रस का इतना सजीव वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। काव्य-क्षेत्र में यह 'दशरथ विलाप' बेजोड़ है। तीसरे दशक में संपूर्ण राम-कथा को कुलशेखर ने संक्षेप में दिया है।

कुलशेखर का राम-कथा-सम्बन्धी प्रथम दशक 'तालाट्टु' शैली में है। लोरी गाकर शिशु को सुलाने के बहाने अपने भावों को व्यक्त करने की एक तमिल काव्य-शैली है जिसे 'तालाट्टु' कहते हैं। इसमें 'तालेलो' शब्द का प्रत्येक पद में एक या अनेक बार प्रयुक्त करना आवश्यक है। तमिल के इस 'तालेलो' शब्द में बच्चे को सुलाने का जादू भरा है। कुलशेखर ने इसी तालाट्टु शैली में एक मधुर गीत-पद्धति में स्वयं को कौशल्या के रूप में अनुभव कर राम के लिए लोरी गाई है। इन पदों में श्रुति-सुखद संगीत निनादित होता है :

"मननु पुंकल कौशलै तन,
मणि वयिरु वाइतवने
....
एन्नुडैय इन्नमुदे !
इराघवने। तालेलो।"[2]
"एंगल कुलत्तु इन्नमुदे।
इराघवने ! तालेलो।"[3]

("माता कौशल्या के गर्भ से निकले, हे रत्न ! मेरे दिव्यामृत, हे राघव ! तालेलो (सो जाओ)···हमारे कुल के दिव्यामृत ! राघव, तालेलो !")

इस 'तालाट्टु' गीत में राम की स्तुति के साथ-साथ राम-कथा के कुछ प्रसंगों की ओर भी संकेत हैं, जिनमें राम का जन्म, ताड़का-वध, सीता-विवाह, छोटी

---

१. नाभादास ने 'भक्तदास' के नाम से कुलशेखरालवार का ही परिचय इस प्रकार दिया है :
संत साखि जानै सबै, प्रगट प्रेम कलियुग प्रधान।
भक्तदास इक भूप श्रवन सीताहर कीनौ।
'मार मार' करि खड्ग वाजि सागर मैं दीनौ।
नरसिंह को अनुकरन होइ हिरनाकुस मारयो।
वह भयो दसरथ राम बिछुरत तन छारयौ॥
—'भक्तमाल सटीक' (रूपकला), पृ० ३६७

२. 'पेरुमाल तिरुमोली', ८ : १

३. वही, ८ : ४

माता (कैकेयी) का वचन सुनकर वन-गमन, उस समय उनके साथ कुछ बन्धुओं का चलना, भरत पर भरोसा कर शासन-भार को उनके ऊपर छोड़ना आदि घटनाएं, राम का लंका-प्रवेश, रावण-वध इत्यादि प्रसंगों की ओर भी संकेत है। इस दशक में कवि ने अपने को माता कौशल्या के स्थान पर कल्पित कर, राम को बालक के रूप में देखा है और अपनी वात्सल्य भक्ति का परिचय दिया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कुलशेखर का 'दशरथ विलाप' नामक दशक भक्तिकाव्य क्षेत्र में बेजोड़ है। कवि ने प्रिय पुत्र के वन-गमन, पर चक्रवर्ती दशरथ के मन में उठने वाली विभिन्न भाव-तरंगों को लहराया है और उनका सजीव चित्र दर्शाया है। उसे हम 'नाटकीय स्वगत भाषण' कह सकते हैं—क्योंकि इसमें वर्णित सभी बातें हमारे सामने प्रत्यक्ष-सी दीखती हैं। प्रत्येक पद में कवि का कोमल हृदय राम-वन-गमन के असह्य दुःख का स्मरण कर रो उठता है, करुण-क्रन्दन करता है। वेदना की पराकाष्ठा ने मानो उसे काव्य-रूप डाला हो। इन पदों का भावार्थ नीचे दिया जाता है जो कवि की आत्मा से परिचित होने के लिए पर्याप्त है—

"सिंहासन पर तुम्हें शोभित होकर हर्षित होने के बदले कैकेयी-वचन सुनकर भयानक वन में भेजने वाला मैं बड़ा पापी हूं। हे मेरे सुपुत्र! मैं अपने को क्या कहूं?"[१]

"अपने अनुज और पुष्प-सम कोमल देह वाली सीता को लेकर भयानक वन के लिए तुम कैसे चल दिए। मैं क्या करूं?...भयानक वन में असह्य ताप में, अत्यधिक भूख से तुम्हारे चलने का कारण बना। मैं बड़ा पापी हूं।"[२]

"तुम पहले मृदु शय्या पर सोते थे। अब तुम्हें वन-वृक्ष की छाया में तीखे पत्थरों की शय्या पर सोना पड़ेगा। हाय!"[३]

"आज कानन-पथ में तुम्हें जाना पड़ा—दुःसह वन को भी प्रिय मानकर शत्रुओं के हाथ वाले भाले के समान तीखे पत्थर तुम्हारे पांवों को चुभते हैं। रुधिर-प्रवाह के होने पर भी तुम्हें चलना पड़ता है। हे मुझ जैसे पापी के पुत्र! पापी महिला कैकेयी का वचन सुनकर निराशा में पड़ा मैं अभागा अब क्या कर सकूं।'[४]

(दशरथ को राम-सीता-विवाह का प्रसंग स्मरण हो आता है) "तुम्हारा विवाह कराकर तुम दम्पतियों को सुखी देखकर स्वयं हर्षित होने के बदले अब तुम्हें भयानक वन में भेजने का कारण मैं बना, जब कि मुझे स्वयं वनवास करना था। तुम्हारे वन-गमन पर मेरा हृदय दो टूक हो रहा है।"[५]

"तुम्हारे 'मां' कहकर बुलाने का सौभाग्य तक मैंने कौशल्या को नहीं दिया।

---

१. 'पेरुमाल तिरुमोली,' ६ : १
२. वही, ६ : २
३. वही, ६ : ३
४. वही, ६ : ५
५. वही, ६ : ४

तुम्हारे सुन्दर वदन को देखकर पुलकित होने से उसको मैंने वंचित रखा। कितनी लज्जा की बात है कि तुम्हें वन भेजकर मैं आज भी जीवित हूं।"[1]

(कैकेयी के अन्यायपूर्ण आचरण का स्मरण कर दशरथ कहते हैं)—"हे कैकेयी ! मेरे पुत्र को वन भेजकर मुझे इस प्रकार तड़पाकर तुमने कौन-सा सुख पाया ! "[2]

दशक की अन्तिम दो पंक्तियां हमारे हृदय को बहुत ही द्रवित कर देने वाली हैं :

> "कानकमे भिक विरुम्पी नी तुरन्द
> बलनगरै तुरन्दु नानुम
> वानकमे मिक विरुम्पी पोकिन्रेन
> मनुकुलतार तंगल कौवै !"[3]

'(जिस प्रकार तुम समृद्ध अयोध्या नगर को त्याग कर वन (कानकम्) जा रहे हो उसी प्रकार मैं भी इस नगर को छोड़कर आकाश-लोक (वानकम्) जा रहा हूं।)

यहां पर कवि ने 'कानकम्' और 'वानकम्' शब्दों को अनायास ही करुण-रस से सिंचित किया है।

पेरुमाल तिरुमोली, के अन्तिम दशक 'संक्षिप्त रामायण' में कवि ने बीच-बीच में भगवत् स्तुति कर कृपा-सिन्धु भगवान् से अपने पापों को भगवान् के अनुग्रह-जल से धोकर, भगवान् के दास-मण्डल में अपने को स्वीकार कर लेने की विनीत प्रार्थना की है।

एकादश छन्दों में कुलशेखर के द्वारा वर्णित 'संक्षिप्त रामायण' भक्ति-साहित्य की एक अमूल्य निधि है।[4] उसमें पहली बार भक्ति के उद्गारों के साथ संपूर्ण रामचरित के दर्शन होते हैं। आरम्भ में अयोध्या और राम की स्तुति करके आठवें छन्द तक राम के राज्याभिषेक की कथा कही गई है। इसके पश्चात् सीता के भू-प्रवेश का उद्देश्य पृथ्वी में अपने अणु-परमाणुओं को मिलाकर लव-कुश के समान राम-यश-गायकों को जन्म देना बताया गया है। दसवें छन्द में उनकी सेवा में गरुड़ की नियुक्ति का कारण भक्तों की रक्षा कही गई है। ११वें छन्द में राम के दूत हनुमान की वन्दना की गई है। अन्त में राम का गुणगान करने वाले भक्तों को परम पद की प्राप्ति का अधिकारी माना गया है।[5] बहुत संभव है कि कुलशेखर ने राम-भक्तिपरक और भी अनेक छन्द रचे हों। राम-भक्ति में उनकी आस्था देखकर उनके द्वारा रचे और राम-भक्तिपरक पदों की ओर संकेत अवश्य मिलता है। सामान्यतया कुलशेखर की राम-भक्ति दास्य-भाव की कोटि में आती है।

---

१. 'पेरुमाल तिरुमोली,' ६ : ७
२. वही, ६ : ८
३. वही, ६ : १०
४. 'राम भक्ति में रसिक भावना का विकास', डा० भगवती प्रसाद सिंह,' पृ० ५४
५. 'पेरुमाल तिरुमोली,' १० : १-११

तिरुमंगै आलवार के करीब २० पद राम-कथा-प्रसंगों की ओर संकेत करते हैं। इस आलवार ने भी पूरी राम-कथा को क्रमिक रूप से नहीं दिया है। इनकी रचना 'पैरिय तिरुमोली' के एक दशक[1] में राम-रावण-युद्ध में पराजित राक्षसों के मुंह से राम की स्तुति का वर्णन है। तमिल-काव्य शैली में पराजित व्यक्तियों के मुख से विजयी पुरुषों की प्रशस्ति सुनाने की एक परम्परा है। तात्पर्य यह है कि पराजित व्यक्ति द्वारा विजयी पुरुष की प्रशस्ति का वर्णन करने से ही विजयी पुरुष के विशिष्ट गुणों और शक्तियों का अच्छा परिचय मिल सकता है। कवि ने राम के विशिष्ट गुणों के गायन के लिए इस प्रकार का एक प्रसंग खोज निकाला है। उक्त दशक में पराजित राक्षस राम के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन कर उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं। वे अपनी दुर्बलताओं को प्रकट कर, रावण को धिक्कारते हैं और राम की स्तुति करते हैं। उनके कथन के बीच राम-कथा के अनेकों प्रसंगों का उल्लेख हुआ है। तिरुमंगै के अन्य पदों में कहीं-कहीं विष्णु के अन्य अवतारों के साथ राम-कथा के कुछ प्रसंगों की ओर भी संकेत है। तिरुमंगै आलवार के उन पदों में जहां वे आत्म-निवेदन करते हैं, उनकी दास्य-भक्ति दृष्टिगोचर होती है। तिरुमंगै आलवार के अनेक पद ऐसे हैं जहां उन्होंने नायक-नायिका-भाव से भक्त-भगवत्-सम्बन्ध को वर्णित किया है। वहां उनकी माधुर्य-भक्ति की सुन्दर झांकी मिल जाती है। उनकी रचना 'तिरुनेडुंताडकम्' के एक पद में उनकी राम-भक्ति भी माधुर्य भाव के माध्यम से प्रकट होती है।

यद्यपि पेरियालवार ने लीलानायक कृष्ण की विभिन्न बाल-लीलाओं में अपने मन को डुवो दिया, तो भी रामावतार के प्रति उन्होंने उपेक्षा नहीं दिखाई। पेरियालवार की रचना 'पैरियालवार तिरुमोली' में दो दशकों में राम-कथा के प्रसंगों का वर्णन है। एक दशक[2] में दो सखियों के सम्भाषण के रूप में रामावतार और कृष्णावतार की विशेषताओं का गायन कराया गया है। रामावतार की विशेषताओं का वर्णन करने वाली सखी राम-कथा के प्रसंगों में परशुराम गर्व-भंग, ताड़का-वध, कैकेयी के कथन पर राम का सीता सहित वन-गमन, भरत की प्रार्थना पर पादुका देना, शूर्पणखा-वध, रामेश्वरम् में पुल बांधकर लंका-प्रवेश आदि की ओर संकेत मात्र करती है। एक अन्य दशक[3] में अशोक-वाटिका प्रसंग चित्रित है। सीता जी की खोज में निकले हनुमान ने जब लंका की अशोक-वाटिका में व्यथा से कृश सीता जी के दर्शन किए तो एक ओर उसे असह्य वेदना हुई और दूसरी ओर उसके आनन्द की सीमा नहीं रही, क्योंकि उसका परिश्रम निष्प्रयोजन नहीं गया। पेरियालवार के उक्त दशक में हनुमान द्वारा सीताजी को अपना परिचय, अपने राम के दास और दूत रूप का निरूपण करने के कुछ संकेत तथा उसके द्वारा सीता जी को राम जी की दी हुई अंगूठी देने का वर्णन है। हनुमान के मुख से रामचन्द्र जी के परम कल्याणकारी गुणों की ओर सीता जी की स्तुति प्रस्तुत

---

१. पेरिय तिरुमोली,' १० : २-१ : १०

२. पेरियालवार तिरुमोली, ३ : ९ : १-१०

३. वही, ३ : १० : १-१०

की गई है। पेरियालवार के पद अधिकांशतः वात्सल्य रस से ओत-प्रोत हैं। कुछ पदों में जहां कवि आत्म-समर्पण की भावना व्यक्त करता है, वहां दास्य-भक्ति की सुन्दर झांकी मिलती है।

नम्मालवार (शठकोप) ने उपर्युक्त तीन आलवारों की तरह राम-कथा-वर्णन में कोई दशक नहीं दिया है। फिर भी उनके पदों में यत्र-तत्र अन्य आलवारों के उल्लेख के साथ रामावतार के कुछ कथा-प्रसंगों की ओर भी संकेत है। द्वादश आलवारों में नम्मालवार का स्थान सर्वोपरि है।

नम्मालवार की रचना 'तिरुवायमोली' को 'तमिल वेद' ही कहा जाता है। चूंकि 'तिरुवायमोली' का अनुवाद 'सहस्रगीति' के नाम से संस्कृत में हो चुका था, अतः विद्वानों को उनकी विचारधारा से सुपरिचित होने का अवसर मिला। इनकी 'सहस्रगीति' का अवलोकन कर अनेक विद्वानों ने राम-भक्ति-धारा के प्रथम कवि के रूप में इन्हें स्वीकार किया है। 'सदाशिव-संहिता'[1] में कलियुग में राम-तारक मंत्र के उपदेश से, सांप्रदायिक रूप में रामोपासना के प्रचार का श्रेय इन्हींको दिया गया है। नम्मालवार की एक दूसरी रचना 'तिरुविरुत्तम' मधुर भक्ति-भावना का उत्कृष्ट ग्रंथ है। नम्मालवार की भक्ति-पद्धति में दास्य-भाव और मधुर भाव दोनों की अभिव्यक्ति है। अतः राम-भक्ति के अन्तर्गत 'मधुरोपासना' को लेकर चलने वाले रसिक संप्रदायों का भी प्रेरणास्रोत 'प्रबन्धम्' ही है। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में नम्मालवार (शठकोप) को राम का 'आदिपार्षद' बताकर प्रकारान्तर से रसिक राम-भक्ति का सूत्रपात इनसे होना स्वीकार किया गया है।[2] रसिक गद्दियों की आचार्य परम्पराएं भी (ऐतिहासिक काल में) इन्हींको प्रथम आचार्य ठहराती हैं। अनेक विद्वानों ने राम-भक्ति की उद्गम स्थली तमिल-प्रदेश के उपर्युक्त आलवार भक्तों की भक्ति-साधना ही मानी है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह है कि कृष्ण-भक्ति के क्रमिक विकास का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी जहां आलवार भक्तों में कृष्ण-भक्ति-काव्य का मूल स्रोत देखता है, वहां वह आलवारों को राम-कथा के प्रथम गायकों के रूप में अवश्य पाएगा। यह सच है कि आलवारों ने अपने युग की मांग के अनुसार कृष्ण के लोक-रंजक रूप का ही अधिक वर्णन गीत-पद्धति में प्रस्तुत किया है। कारण यह है कि उनका युग भक्ति-आन्दोलन का युग था, भावावेश का युग था। उसमें

---

१. कलिकालोद्भवानां च जीवानामनुकम्पया।
देव्यानुबोधितः साक्षाद्विष्णुः सर्वजनेश्वरः॥
कृतकृत्या तदा लक्ष्मीर्लब्ध्वा मन्त्रं षड्क्षरम्।
ददौ प्रीत्या तदा देवी विष्वक्सेनाय तारकम्॥
वैङ्कटाद्रौ पुरा वेदा द्वापरान्ते पराङ्कुशः।
विष्वक्सेनं समाराध्य लभिष्यति षड्क्षरम्॥
—'श्रीराम रहस्यत्रयार्थ' (सदाशिव संहिता से उद्धृत), पृ० ४४

२. प्रथम ही शठकोप आदि पार्षद आयें।
कलि की कुचाल देखि मौन वृत्ति लायें हैं।—'रसिक प्रकाश भक्तमाल', पृ० १२

३. 'राम भक्ति में रसिक भावना का विकास'—डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० ५४

'रामायण' जैसे महाकाव्यों का प्रणयन असंभव था। फिर भी उन्होंने राम-कथा के कतिपय प्रसंगों को अपने पदों में स्थान दिया, जिनसे परवर्ती राम-भक्त कवि भी बहुत प्रभावित हुए और उसके फलस्वरूप उन लोगों ने महाकाव्य रचे हैं।

अगर 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' में इधर-उधर दिये गए राम-कथा-प्रसंगों को एकत्रित कर क्रमिक रूप में रखा जाए तो हमें पूरी राम-कथा मिल जाती है। 'प्रवन्धम्' के टीकाकार श्री पेरियवाच्चान पिल्लै ने 'प्रबन्धम्' में यत्र-तत्र उपलब्ध राम-कथा संकेतों और वर्णनों को एक व्यवस्थित रूप में रखकर उन्हें 'पाशुरप्पडी रामायण' के नाम से प्रस्तुत किया है। आलवारों के पदों से कतिपय पंक्तियों को लेकर उन्होंने जो 'रामायण' प्रस्तुत किया है, उसके अवलोकन से यह स्पष्ट विदित होगा कि आलवारों में रामोपासना भी कितनी तीव्र थी। 'प्रबन्धम्' से श्री पेरिय-वाच्चान पिल्लै द्वारा संकलित पदों से निर्मित 'रामायण' को नीचे दिया जाता है। यदि इसको हम 'आलवार रामायण' की संज्ञा दें तो उचित ही होगा।

आलवार रामायण

वालकाण्ड

आलवार का नाम	रचना का नाम	पद सं०
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	३–१०–१
नम्मालवार	तिरुवायमोली	२–८–४
,,	,,	१०–९–११
,,	,,	४–५–१
,,	,,	१–१–१
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	११–८–८
नम्मालवार	तिरुवायमोली	५–१–९
,,	,,	१०–७–५
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	७–८–६
नम्मालवार	तिरुवायमोली	१०–१–८
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	५–७–७
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१–१०
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–१
,,	,,	९–३
,,	,,	१०–११
,,	,,	१०–२
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	३–१०–१
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–२

तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	४–१–८
नम्मालवार	तिरुवायमोली	६–२–१०
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–३
,,	,,	६–६
,,	,,	१०–८
,,	,,	६–१

अयोध्याकाण्ड

पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	२–१–८
,,	,,	३–१०–३
,,	,,	३–६–४
,,	,,	४–८–४
,,	,,	३–१०–३
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	६–२
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	४–८–४
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	६–२
,,	,,	६–७
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	११–५–१
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	६–२
नम्मालवार	तिरुवायमोली	८–३–३
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	१–५–१
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–४
,,	,,	३–२–२
,,	,,	६–३
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–१०–६
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	६–११
,,	,,	६–१०
नम्मालवार	तिरुवायमोली	१०–६–५
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–१०–५
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	६–५–३
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	६–७
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–१०–५
,,	,,	४–६–१
,,	,,	२–१–८
,,	,,	४–६–१

अरण्यकाण्ड

तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	१०–२–३
,,	,,	८–५–४
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–२
तिरुमंगै आलवार	चिरिय तिरुमंडल	२४
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–१०–३
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	३–४–६
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–५
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमंडल	१४५
,,	चिरिय ,,	३६
,,	,,	४०
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–५
तिरुमंगै आलवार	पेरुमाल तिरुमोली	३–६–४
,,	,,	४–७–७
,,	,,	११–४–७
तिरुमालिशै आलवार	तिरुच्चन्त विरुत्तम्	५३
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमडल	११२
,,	,,	१३
,,	पेरिय तिरुमोली	५–७–७
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	६–३–५
,,	,,	१०–२–४
,,	,,	१०–२–३
,,	,,	१०–२–५
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–१०–४
नम्मालवार	तिरुकुरुन्ताण्डकम्	१६
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	११–४–७
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–६
नम्मालवार	तिरुवायमोली	७–२–१
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–६–४
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	२–१०–५

किष्किन्धाकाण्ड

कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	—
,,	,,	१०–६
नम्मालवार	तिरुवायमोली	१–५–६
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	४–६–३

पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–१०–८
,,	तिरुप्पल्लांडु	६
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–११
नम्मालवार	तिरुवायमोली	१–५–८
,,	,,	६–७–६

सुन्दरकाण्ड

पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–१०–११
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	१०–२–६
,,	,,	१०–२–५
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३–१०–१०
,,	,,	३–१०–१
,,	,,	३–१०–२
,,	,,	३–१०–३
,,	,,	३–१०–४
,,	,,	३–१०–५
,,	,,	३–१०–६
,,	,,	३–१०–७
,,	,,	३–१०–८
,,	,,	३–१०–८
,,	,,	३–१०–१०
,,	,,	३–१०–६
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–११
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	८–५–७
,,	,,	१०–२–६
,,	तिरुनैडुन्ताण्डकम	२६
,,	तिरुकुरन्ताण्डकम	१५

युद्धकाण्ड

तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	६–१०–६
,,	,,	८–६–४
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	४–१–३
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	६–८–५
नम्मालवार	तिरुवायमोली	७–६६
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०–७
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	८–६–४
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	८–८

तिरुमंगै आलवार	चिरिय तिरुमडल	२६
,,	पेरिय तिरुमोली	११-४-७
,,	,,	१०-२-५
,,	,,	१०-३-२
,,	,,	४-८-५
,,	,,	१०-३-१
,,	,,	३-६-५
आण्डाल	तिरुप्पावै	४
तिरुमलिशै आलवार	तिरुच्चन्त विरुत्तम	५६
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	२-१०-८
तिरुमलिशै आलवार	नानमुकन तिरुवन्तादि	४२
पोयगै आलवार	भुदल तिरुवन्तादि	५२
तिरुमलिशै आलवार	तिरुच्चन्त विरुत्तम	८७
नम्मालवार	तिरुवायमोली	१०-६-३
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	१-४-७
,,	,,	१-२-४
नम्मालवार	तिरुवायमोली	६-६-३
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	६-८-५
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३-१०-८
,,	,,	३-१०-४
कुलशेखरालवार	पेरुमाल तिरुमोली	१०-१
,,	,,	६-६
नम्मालवार	तिरुवायमोली	८-४-७
,,	तिरुवाचिरियम	१
,,	तिरुविरुत्तम	२१
तिरुमंगै आलवार	पेरिय तिरुमोली	२-३-७
नम्मालवार	तिरुवाय मोली	६-२-१
तिरुमलिशै आलवार	तिरुच्चन्त विरुत्तम	५७
पेरियालवार	पेरियालवार तिरुमोली	३-१०-६
आण्डाल	तिरुप्पावै	२३
नम्मालवार	तिरुवायमोली	४-५-१

विविध क्षेत्रों पर 'प्रबन्धम्' का व्यापक प्रभाव

पिछले पृष्ठों में हमने सामान्यतया मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन तथा विशेषकर परवर्ती वैष्णव भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया है। ऐसे और भी अनेक क्षेत्र हैं जिन पर प्रबन्धम् का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। परवर्ती काल में तमिल-प्रदेश के धार्मिक

और सामाजिक क्षेत्रों को प्रबन्धम् ने जितना अधिक प्रभावित किया है उतना किसी दूसरे ग्रन्थ ने नहीं किया है। परवर्ती काल में धर्म, दर्शन, कला और साहित्य, सब पर प्रबन्धम् का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इन विविध क्षेत्रों पर पड़े प्रबन्धम् के व्यापक प्रभाव का अवलोकन करने से इस तथ्य का निरूपण हो जायेगा कि मध्ययुगीन वैष्णव जगत् पर प्रबन्धम् का कितना गहरा प्रभाव पड़ा है।

तमिल-प्रदेश के धार्मिक और सामाजिक जीवन पर 'प्रबन्धम्' का प्रभाव

आलवार भक्तों के भक्ति-साहित्य ने जनता के धार्मिक जीवन पर अभूतपूर्व प्रभाव डाला था। पांचवीं-छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल तमिल-प्रदेश के धार्मिक जीवन के इतिहास में अत्यधिक महत्त्व रखता है। वैष्णव भक्त आलवारों ने तथा शैव भक्त नायनमारों ने इस काल में समस्त तमिल-प्रदेश में घूम-घूमकर भक्ति-प्रचार किया। जनता में धार्मिक जागरूकता को उत्पन्न करने में आलवार भक्तों के भक्तिमय गीतों का विशेष हाथ रहा है।

भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप तमिल-प्रदेश में अनगिनत मन्दिर निर्मित हुए। बड़ी-बड़ी संख्या में भक्तगण मन्दिरों के दर्शन करने गए और मन्दिरों में पूजा, उत्सवादि होने लगे। भक्तगण आलवारों के भक्तिमय पदों को गा-गाकर आत्मविभोर हुए। तमिल-प्रदेश में भक्तिमय वातावरण आलवारों के समय तक ही बना रहा हो, यह बात नहीं है। आलवारों ने भक्ति का जो बीज बोया था, वह उगकर बड़ा वृक्ष बन गया और उस भक्ति-वृक्ष की शीतल छाया में आलवारों के पश्चात् भी अनेक शताब्दियों तक तमिल-जनता ने शान्ति का अनुभव किया।

नवीं शती के पश्चात् ही तमिल-जनता ने आलवार साहित्य के वास्तविक महत्त्व को पूर्ण रूप में जाना। विचारक आलवार-साहित्य-सागर में गोता लगा कर 'अमूल्य विचार-रत्नों' को खोज निकालने लगे। 'प्रबन्धम्' पर अनेकानेक टीकाएं निकलीं। तमिल और संस्कृत में अनेक भाष्य निकले। आलवारों की स्तुति में सैकड़ों पुस्तकें लिखी गईं। जनता की दृष्टि में 'प्रबन्धम्' वेदों से भी अधिक श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण दीख पड़ा। फलस्वरूप मन्दिरों में आलवारों के पदों के गायन का विशेष प्रबन्ध किया गया और इस प्रकार आलवार-पदों का गायन जनता के धार्मिक जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया। दक्षिण के मन्दिरों में आलवारों के पदों के गायन का प्रबन्ध कब से प्रारम्भ हुआ, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। 'प्रबन्धम्' के प्रसिद्ध टीकाकार श्री पेरिय-वाच्चान पिल्लै ने अपने ग्रन्थ 'कलियन अरुट्पाडू'[1] में एक स्थान पर लिखा है कि तिरुमंगै आलवार ने नम्मालवार की तिरुवायमोली को वेद के समकक्ष मानकर श्रीरंगम् के मन्दिर में उसके गायन का प्रबन्ध करा देने की प्रार्थना श्री रंगनाथ

१. 'कलियन अरुट्पाडू', पृ० ५

भगवान् से की थी। विदित होता है कि तिरुमंगै आलवार (अन्तिम आलवार) ने अपने पूर्व भक्ताचार्य नम्मालवार के प्रति बड़ा श्रद्धा-भाव दिखाया था और उनकी रचना 'तिरुवायमोली' को वेद के समकक्ष घोषित किया था। नम्मालवार कृत 'तिरुवायमोली' के वेद के समान माने जाने के विषय में और भी प्रमाण मिलते हैं। मधुर कवि आलवार ने लिखा है कि गुरु (नम्मालवार) ने महान् वेदों के रहस्य को अपने ग्रन्थ में भर दिया है। वेदों के गूढ़ से गूढ़ अर्थों का उद्घाटन गुरु द्वारा ही हुआ।[1] श्रीनाथमुनि ने भी लिखा है कि द्राविड़-वेद-सागर के सामने मैं नतमस्तक हूं।[2] अन्य परवर्ती आचार्यों के कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि 'तिरुवायमोली' का वर्ण्य-विषय वेद-सार ही समझा गया था और वेदों की-सी धार्मिक मान्यता उसे प्राप्त थी।

जनता के धार्मिक जीवन में वेद को जो स्थान प्राप्त था, वह 'प्रबन्धम्' (तमिल वेद) को प्राप्त हुआ। जिन अवसरों पर वेद-मन्त्रों का पठन होता था, उन सभी अवसरों पर 'प्रबन्धम्' का गायन होने लगा था। मन्दिरों में पूजादि की बेलाओं में, धार्मिक उत्सव-त्यौहारों के अवसरों में 'तमिल-वेद' का ही पाठ होने लगा। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि तिरुमंगै आलवार ने ही पहले-पहल श्रीरंगम् के मन्दिर में संस्कृत-वेद के साथ तमिल-वेद के गायन का प्रबन्ध किया था। तिरुमंगै के पश्चात् तो यह परम्परा नाथमुनि के समय में और उनके परवर्ती आचार्यों के समय में भी चली थी और आज तक चली आ रही है। जिन-जिन अवसरों पर संस्कृत-वेद का पाठ होता था, उन सभी अवसरों पर तमिल-वेद का गायन आवश्यक समझा गया।

मार्गशीर्ष महीने में शुक्ल पक्ष की एकादशी से १० दिन तक वेद-पाठ हुआ करता है। इसको 'मोक्षोत्सव' कहा गया है। श्रीरंगम् में इस उत्सव के अवसर पर वैकुण्ठ एकादशी से संस्कृत वेद-पाठ की परिपाटी चलती थी। तिरुमंगै आलवार ने उस उत्सव के अवसर, वैकुण्ठ एकादशी से तमिल-वेद 'तिरुवायमोली' के पाठ का कार्यक्रम भी चालू किया। १० दिनों के उस उत्सव में प्रत्येक दिन यजुर्वेद के आठ-आठ 'प्रश्नों' का पाठ होता था। तिरुमंगै आलवार ने श्रीरंगम् के मन्दिर में उपर्युक्त क्रम के अनुकरण पर तमिल-वेद के गायन के लिए एक उचित परिपाटी बनाई थी और उस परिपाटी के अनुसार उक्त उत्सव के अवसर पर प्रत्येक दिन तमिल-वेद के कुछ अंशों का गायन होने लगा। तिरुमंगै आलवार के पश्चात् तमिल-वेद के पाठ का कार्यक्रम अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त करने लगा, जिसके फलस्वरूप यजुर्वेद के पाठ का कार्यक्रम बन्द हो गया। तब से केवल तमिल-वेद-पाठ ही होता आ रहा है। उक्त उत्सव के अवसर पर नम्मालवार के १००० पदों में से १०० पदों का गायन होता है और इस प्रकार १० दिनों में 'तिरुवायमोली' के समस्त पदों का पाठ पूरा होता है। तमिल वेद-पाठ के अन्त में नम्मालवार के विग्रह को श्रीरंगनाथ जी के चरणों में रखा जाता है। भगवान् और नम्मालवार

---

१. 'कण्णिनुल चिरुतांबु', ६

२. 'नमाम्यहं द्राविड-वेदसागरम्'—'तिरुवायमोली तनियन'

के ऐक्य हो जाने को सूचित करने के लिए ही ऐसा किया जाता है।

चूंकि उपर्युक्त धार्मिक उत्सव में 'तिरुवायमोली' (तमिल-वेद) का पाठ ही प्रधान कार्य होता है, अतः उस उत्सव को 'तिरुवायमोली उत्सव' अथवा 'मोक्षोत्सव' भी कहते हैं। प्रारम्भ में तो केवल 'तिरुवायमोली उत्सव' ही मनाया जाता था। बाद में भक्तों के द्वारा एक अन्य उत्सव भी मनाया जाने लगा। यह उत्सव 'तिरुवायमोली उत्सव' से १० दिन पूर्व प्रारम्भ होता है और 'तिरुवायमोली उत्सव' के एक दिन पूर्व तक अर्थात् वैकुण्ठ एकादशी तक मनाया जाता है। इस उत्सव को 'वैकुण्ठोत्सव' कहते हैं। जिस तरह 'मोक्षोत्सव' में तिरुवायमोली का पाठ विशेष रूप से होता है, उसी तरह 'वैकुण्ठोत्सव' के दिनों में अन्य आलवारों के पदों का पाठ होता है। उपर्युक्त दोनों उत्सवों का नामकरण तो आगम-निगम के आधार पर हुआ है। परन्तु उनके स्थान पर तमिल नाम ही अब प्रचलित है। 'वैकुण्ठोत्सव' को 'तिरुमोली तिरुनाल' और 'मोक्षोत्सव' को 'तिरुवायमोली तिरुनाल' कहा जाता है। प्रारम्भ के १० दिनों को 'पकल पत्तु' और बाद के १० दिनों को 'इरा पत्तु' कहते हैं। प्रथम उत्सव में 'तिरुमोली' का पाठ दिन के समय में और द्वितीय उत्सव में 'तिरुवायमोली' का पाठ रात के समय में होता है। 'तिरुमोली' के अन्तर्गत तिरुमंगै आलवार के पदों को ही विशेष स्थान प्राप्त है। श्रीरंगम् में 'तिरुवायमोली उत्सव' का बीजारोपण करने वाले तिरुमंगै आलवार की बड़ी स्तुति श्री नाथमुनि ने की है। सम्भव है कि तिरुमंगै आलवार की महान् सेवा का स्मरण करके ही श्री नाथमुनि ने उनकी 'तिरुमोली' के पाठ के लिए 'तिरुमोली उत्सव' की परिपाटी चलाई हो।

ऊपर वर्णित दो प्रमुख वार्षिक उत्सवों के अतिरिक्त दक्षिण के प्रधान वैष्णव मन्दिरों से सम्बन्धित अन्य उत्सवों के अवसरों पर भी 'प्रबन्धम्' का पाठ होता है। दक्षिण के तीन वैष्णव मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनसे आलवार-साहित्य का अधिक सम्बन्ध है। वे हैं—'श्रीरंगम्', 'तिरुप्पति' और 'कांचीपुरम्'। इन मन्दिरों के भगवद्-विग्रहों को जब जुलूस में लिया जाता है, तब 'प्रबन्धम्' के 'इयर्पा, भाग का पाठ होता है। विशेष रूप से 'ब्रह्मोत्सव' के अवसर पर १० दिन तक 'इयर्पा भाग' का पाठ होना आवश्यक है। इयर्पा भाग में संगृहीत रचनाओं में अन्तिम रचना 'पेरिय तिरुमडल' का पाठ अन्तिम दिन में होता है। 'ब्रह्मोत्सव' के दिनों में उक्त वैष्णव मन्दिरों के भीतर स्थिति नम्मालवार की मूर्ति के सामने ही उन पदों का गायन होता है। प्रारम्भ में यह उत्सव केवल श्रीरंगम् में ही मनाया जाता था। बाद में उसका अनुकरण कर अन्य वैष्णव मन्दिरों में वह मनाया जाने लगा। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में तमिल-प्रदेश के प्रसिद्ध वैष्णव-केन्द्र श्रीरंगम् में ही ये सभी उत्सव मनाये जाते थे और बाद में अन्य मन्दिरों में। कुछ उत्सवों का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है।

'प्रबन्धम्' का पाठ केवल वैष्णव मन्दिरों से सम्बन्ध रखने वाले उत्सवों में ही नहीं, बल्कि अन्य सभी शुभ अवसरों पर भी होता है। श्रीकृष्ण जयन्ती के अव-

१. 'हिस्ट्री आव् तिरुपति', डा० एस कृष्णास्वामी आय्यंगर, वाल्यूम १, पृ० ४८-५१

सर पर कृष्णावतार से सम्बन्धित 'प्रबन्धम्' के पदों का गायन होता है। जब भगवद्विग्रहों को जुलूस में लिया जाता है, तब आगे जाने वाले 'प्रबन्धम्' के पदों का और पीछे आने वाले संस्कृत-वेद का पाठ करते हैं। हो सकता है कि इस परिपाटी का उद्देश्य आलवार-पदों को प्राप्त महत्त्वपूर्ण स्थान को सूचित करना ही हो। श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'पादुकासहस्रम्' में 'प्रबन्धम्' के महत्त्व को स्थापित करते हुए लिखा है कि भगवद्विग्रह के जुलूस में 'प्रबन्धम्' का पाठ सबसे आगे होना संगत ही है। मार्गशीर्ष महीने में प्रातःकाल आण्डाल की रचना 'तिरुप्पावै' के ३० पदों और तोंडरडीपोडी आलवार की रचना 'तिरुपल्लि एलुच्चि' के पदों का गायन होता है। असूज महीने में 'ऊंचल उत्सव' (हिंडोला उत्सव) के अवसर पर पेरियालवार के कुछ पदों ('मणिक्कंकट्टी' से शुरू होने वाले पद) और कुलशेखरालवार के कुछ पदों ('मन्नुपुकल कोशलै तन' से प्रारम्भ होने वाले) का गायन होता है। भगवद्विग्रह के सामने नैवेद्य लगाते समय पेरियालवार के 'वैण्णयलैन्त कुणुकुम'[१] से प्रारम्भ होने वाले पदों का पाठ होता है। 'तिरुमंजन' (भगवद्विग्रह का स्नान) 'पूच्चूडल' (फूल धारण करना), 'काप्पिडल' आदि नित्यसेवा की वेलाओं में वैष्णव मन्दिरों में 'प्रबन्धम्' से चुने हुए गीत गाये जाते हैं। इन अवसरों पर संस्कृत के पाठ से 'प्रबन्धम्' का तमिल पाठ ही विशेष आनन्ददायक समझा जाता है। नित्य-पाठ के लिए चुने गए पदों को 'नित्यानुसंधानम्' (नित्य पाठ संग्रह) कहते हैं। प्रत्येक दिन के अन्त में गाये जाने वाले पदों को 'सात्तुमुरै' कहा जाता है। यह सब परिपाटी तमिल में ही चलती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रबन्धम्' ने तमिल-जनता के धार्मिक जीवन को किस हद तक प्रभावित किया है। वेद-तुल्य माने जाने वाले आलवार-पदों का सम्बन्ध तमिल-जनता के धार्मिक जीवन से इतना घनिष्ठ हो गया कि जनता ने वेद से अधिक महत्त्व 'प्रबन्धम्' को दिया।

साहित्य समाज की चेतना में सांस लेता है। वह समाज का वह परिधान है जो जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आकर्षण-विकर्षण के ताने-बाने से बुना जाता है। उसमें विशाल मानव जाति का स्पन्दन ध्वनित होता है। वह जनता के जीवन की व्याख्या करता है। इसीसे उनमें जीवन देने की शक्ति आ जाती है। आलवारों के भक्ति-काव्य में समाज का स्पष्ट चित्रण है। उन्होंने समाज में रहते हुए उसकी आत्मा का परिचय प्राप्त किया था और सामाजिक जीवन के स्तर को उठाने के लिए पर्याप्त सामग्री अपने साहित्य में भर दी है। यही कारण है कि परवर्ती समाज ने आलवार साहित्य में अपनी आवश्यकता की सभी चीजें प्राप्त कीं। भक्ति के अतिरिक्त अनेक वस्तुएं आलवार साहित्य ने परवर्ती समाज को प्रदान कीं।

प्रत्येक वैष्णव भक्त के यहां पूजा इत्यादि के लिए थोड़ी जगह अलग छोड़ी जाती है, जिसको 'कोयिल आलवार' अर्थात् 'आलवार-मन्दिर' की संज्ञा प्राप्त है।

१. 'पेरियालवार तिरुमोली', २-४-१ से १०

पूजा इत्यादि के समय में आलवारों के भक्तिपरक पदों का गायन होता ही है। वैष्णव भक्त किसी न किसी कार्य को करते समय आलवार के किसी न किसी पद को गुनगुनाना मंगलदायक समझता है। यहां तक कि स्त्रियां, जब सवेरे अपने घरों के के प्रांगण में 'कोलम्' (सजावट की रेखाएं) खींचती हैं, तब आण्डाल के तत्सम्बन्धी कुछ पदों को गाती हैं।

अगर किसी वैष्णव भक्त के यहां शिशु का जन्म होता है तो आलवारों के पदों का गायन होता है। माताएं अपने बच्चों को सुलाने के लिए बड़े प्यार से पेरियालवार और कुलशेखरालवार के लोरी-गीतों को ही सुनाती हैं। 'प्रबन्धम्' में वर्णित सभी उत्सव मनाए जाते हैं। 'प्रबन्धम्' में वर्णित विभिन्न संस्कार, व्रत आदि का अनुष्ठान भी होता है। आण्डाल ने अपनी 'तिरुप्पावै' में 'मार्गली नोन्बु' (कात्यायिनी व्रत) का वर्णन किया है। युवतियां योग्य वर को प्राप्त करने के लिए 'मार्गली नोन्बु' व्रत रखती हैं और आण्डाल के पदों का गायन करती हैं। विवाह के अवसर पर आज भी वैष्णवों के यहां आलवार गीतों का गायन सामूहिक रूप में होता है। इसको 'सीर-पाडल' कहते हैं। इस अवसर पर आण्डाल की, 'नाच्चियार तिरुमोली' से 'वारणमायिरम्' से प्रारम्भ होने वाले १० पदों का गायन तो परमावश्यक समझा गया है और वर-वधू को आशीर्वाद देने के रूप में अन्य लोगों द्वारा उसका गायन होता है। आण्डाल के लिए निर्मित मन्दिरों में मार्गशीर्ष महीने में एक पर्व लगता है। आण्डाल ने अपने कुछ पदों में स्वप्न में विष्णु भगवान् से होने वाले अपने विवाह का वर्णन किया है। उसका स्मरण करते हुए प्रत्येक वर्ष इस महीने में भक्तों द्वारा एक उत्सव मनाया जाता है, जिसे 'आण्डाल तिरुक्कल्याणम्' (आंडाल विवाहोत्सव) कहते हैं। इस अवसर पर आण्डाल के उन गीतों का गायन होता है।

शोक के अवसर अथवा 'श्राद्ध' के अवसर पर उसके तीन दिन या कम से कम एक दिन पहले ही आलवार-गीतों का पाठ शुरू हो जाता है और श्राद्ध के दिन समाप्त होता है। 'प्रबन्धम्' के पाठ के पश्चात् ही अन्य कर्म किए जाते हैं। अन्त्येष्टि क्रिया के लिए शव को जुलूस में ले जाते समय आलवारों के कुछ पदों का पाठ अवश्य होता है। वैष्णवों का विश्वास है कि आचार्य के चरणों को प्राप्त करने के पश्चात् ही भगवान् के चरणों तक पहुंच सकते हैं। श्री रामानुजाचार्य की स्तुति में रचित (और 'प्रबन्धम्' के अन्त में संगृहीत) 'रामानुजनूट्टान्तादि' के एक सौ पदों को पढ़ते हैं। किसी वैष्णव भक्त की मृत्यु के कुछ क्षणों के पहले दूसरे लोग नम्मालवार के एक पद (जिसमें नम्मालवार ने मोक्ष की ओर अपनी यात्रा का उल्लेख किया है) को पढ़ते हैं। वैष्णवों का विश्वास है कि उस पद को गाने से उस आत्मा को मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रबन्धम्' ने किस हद तक वैष्णव भक्तों के धार्मिक और सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। विविध अवसरों पर आज भी प्रबन्धम् का गायन वैष्णवों के यहां होता है। संस्कृत वेद-पाठ हो या न हो, परन्तु 'प्रबन्धम्' का पाठ परमावश्यक है। इससे 'प्रबन्धम्' द्वारा

सामाजिक जीवन पर डाले गए प्रभाव का अनुमान हो सकता है। इस प्रकार 'प्रबन्धम्' वैष्णवों के सामाजिक जीवन में घुल-मिल गया और उसका एक अभिन्न अंग बन गया। जिस विष्णु-मन्दिर में कम से कम नम्मालवार और आण्डाल की मूर्तियां नहीं हों तथा जिस मन्दिर में 'प्रबन्धम्' का गायन नहीं होता हो, वैष्णव भक्त उसे विष्णु मन्दिर मानने को तैयार नहीं हैं। साम्प्रदायिक नियमों के अनुसार वैष्णव मन्दिरों में नम्मालवार और आण्डाल के विग्रहों का स्थापन आवश्यक है और साथ ही साथ मन्दिर से सम्बन्धित उत्सवों में 'प्रबन्धम्' का पाठ एक अनिवार्य अंग है। 'प्रबन्धम्' में उल्लिखित लगभग १०८ वैष्णव मन्दिरों की तीर्थयात्रा करना वैष्णव भक्त कर्तव्य समझते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैष्णव जनों की दृष्टि में आलवार भक्तों का और 'प्रबन्धम्' का कितना अधिक महत्त्व है।

विविध कलाओं पर 'प्रबन्धम्' का प्रभाव

आलवार-साहित्य ने विविध कलाओं की श्रीवृद्धि में पर्याप्त योग दिया है। आलवार भक्तों ने जब समूचे तमिल-प्रदेश में भक्तिमय वातावरण उत्पन्न किया, तो भक्तों की उपासना-पिपासा को शान्त करने के लिए राज्याश्रय द्वारा अनेक वैष्णव मन्दिरों का निर्माण हुआ। बड़ी संख्या में भक्त मन्दिरों के दर्शन करने जाते थे और वहां स्थापित भगवद्विग्रहों और भगवल्लीलाओं को चित्रित करने वाले शिलाखण्डों के दर्शन कर आत्म-शान्ति पाते थे। आज तमिल-प्रदेश में विद्यमान अधिकांश वैष्णव मन्दिर आलवारों के समय में अथवा उनके पश्चात् उनकी भक्ति-भावना से प्रेरित होकर विभिन्न राजाओं द्वारा निर्मित हैं।[१] पल्लव राजाओं ने तथा उनके परवर्ती राजाओं ने मन्दिर-निर्माण में रुचि ली। आज तमिल-प्रदेश में विद्यमान विष्णु-मन्दिर और शिव-मन्दिर आलवारों और नायनमारों द्वारा चलाए गए भक्ति-आन्दोलन के फल हैं। मन्दिर-निर्माण के फलस्वरूप भवन-निर्माण कला ने भी विकास प्राप्त किया और बड़े कलाकारों को जन्म दिया। यह ध्यान देने योग्य है कि तमिल-प्रदेश के सभी वैष्णव मन्दिरों का बाह्य रूप एक ही प्रकार का होता है। मन्दिरों के ऊंचे-ऊंचे 'गोपुरम' विशेष आकर्षण की वस्तुएं हैं। वैष्णव मन्दिरों के भीतर प्रधान रूप से विष्णु के किसी रूप का विग्रह होता है और आलवार भक्तों की मूर्तियां भी विभिन्न स्थलों में स्थापित हैं। परवर्ती काल में आलवारों का महत्त्व इतना बढ़ा कि वे भी अवतार समझे जाने लगे। आलवारों के नाम से भी मन्दिर बनने लगे। श्री विल्लिपुत्तुर का आंडाल-मन्दिर बहुत ही प्रसिद्ध है। विजयनगर के राजा श्री कृष्णदेव राय (१६ वीं शती के लगभग) ने प्रत्येक विष्णु-मन्दिर में आण्डाल की मूर्ति का स्थापन किया और ऐसा करना आवश्यक घोषित किया गया। मन्दिरों के अन्दर स्थित उस भाग को 'आण्डाल-सन्नधि' कहते हैं।

---

१. 'प्रबन्धम्' में लगभग १०८ वैष्णव मन्दिरों का विवरण मिलता है। इनमें स्थित भगवद्विग्रहों की स्तुति में आलवारों ने अनेक पद गाये हैं। अतः ये वैष्णवों द्वारा प्रधान मन्दिर स्वीकृत हुए हैं।

मन्दिरों के साथ अनेक मण्डप निर्मित हुए जहां बैठकर गायकगण विभिन्न वाद्यों के साथ आलवार-गीतों को गाते थे। भक्ति आन्दोलन के परिणामस्वरूप निर्मित सहस्रों छोटे-बड़े मन्दिरों को लक्ष्य करके ही तमिल-प्रदेश को 'मन्दिरों का देश' कहा जाता है।

मूर्तिकला और चित्र-कला पर भी आलवार-साहित्य का प्रभाव पड़ा है। देव-मूर्तियों को सजाने में, उनके रूप इत्यादि के निर्णय में मूर्तिकारों ने आलवार-साहित्य का बहुत हद तक आधार लिया है। आलवार-साहित्य में विष्णु के जिन रूपों का वर्णन मिलता है, उसके अनुसार ही भगवद्विग्रहों का निर्माण हुआ है। मन्दिरों में स्थापित करने के निमित्त मूर्तियां बनाई गईं। कलाकारों ने अपनी कुशलता से उन मूर्तियों में सौंदर्य भर दिया। सामाजिक जीवन के दृश्य भी शिला-खण्डों में चित्रित किए गए। बड़े-बड़े शिलाखण्डों को मूर्ति का आकार देने में उस समय के मूर्तिकार कुशल थे। महाबलीपुरम के गुहा-मन्दिर, रथ, मण्डप आदि इस प्रकार के शिलाखण्डों से बने हैं। आलवारों के पश्चात् उनकी मूर्तियां भी निर्मित हुईं और उनकी स्थापना वैष्णव मन्दिरों में हुई। मन्दिरों में आलवारों की मूर्तियों की स्थापना उनके प्रति वैष्णव जनों के श्रद्धा-भाव को सूचित करती है। मूर्ति-कला के साथ चित्र-कला भी विकास को प्राप्त हुई। उस समय के चित्र अब बहुत कम वैष्णव मन्दिरों में देखने को मिलते हैं। विष्णु के विभिन्न अवतारों में रामावतार और कृष्णावतार के प्रसंगों को (आलवार-साहित्य में मिलने वाले वर्णनों के अनुसार) दिखाने वाले चित्र बने थे।

संगीत-कला को आलवारों की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न राग-रागिनियों में निर्मित आलवार-पदों को भक्त गा-गाकर आत्म-विभोर हो जाते थे। आलवारों की गीत पद्धति ने भक्तों के हृदय को वशीभूत करने की शक्ति प्रदर्शित की। स्वयं आलवार अच्छे गायक थे। तिरुप्पाण आलवार तो 'पाण' जाति के थे, जिस जाति का पेशा ही गायन था। आलवारों के पूर्व भी तमिल में गीत-पद्धति प्रचलित थी। परन्तु वह पर्याप्त विकसित नहीं थी। आलवारों ने तमिल की गीत-पद्धति में नई स्फूर्ति पैदा की और उसको परवर्ती गायकों के लिए आदर्श बना दिया। आलवारों ने अनेक नये रागों और रागिनियों को खोज निकाला है। आलवारों के पदों में गेयत्व की विशेषता की चर्चा पूर्व अध्याय में हम कर चुके हैं। तमिल में मिलने वाले अधिकांश गेय पद आलवार और नायन-मारों के ही हैं। अतः तमिल में गेय-पद्धति को प्रोत्साहित करने में आलवारों का विशेष हाथ रहा है। भक्त-गोष्ठी में आलवार-गीत-गायन की परिपाटी चली थी। विविध वाद्य-यन्त्रों का भी निर्माण हुआ और वाद्यों के साथ भक्तिपरक पद गाकर भक्त-गायक आनन्द-विभोर हो जाते थे। जनता में संगीतप्रियता बढ़ी। तात्पर्य यह है कि आलवारों ने संगीत कला के विकास में बहुत योग दिया है। डॉ० दीनदयालु गुप्त लिखते हैं—"ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दियों में जब दक्षिण भारत में शिव और विष्णु की भक्ति के मार्गों का पुनरुत्थान और प्रचार हुआ, उस समय यह कार्य धार्मिक गीतों के द्वारा अधिक मात्रा में हुआ। भक्ति के

प्रचार के साथ इन शताब्दियों में संगीतप्रियता खूब बढ़ी। तमिल भाषा में उस समय के संगीत के बहुत-से नमूने अब भी सुरक्षित हैं। उत्तरी भारत में दक्षिण का धार्मिक प्रभाव आया और भक्ति के आन्दोलन के साथ संगीत का भी मान बढ़ा।"[1]

परवर्ती तमिल-साहित्य पर आलवारों का प्रभाव

जब से श्री नाथमुनि ने (९ वीं, १० वीं शती) 'प्रबन्धम्' का संपादन कर उसकी विचारधारा का प्रचार प्रारम्भ किया, तब से 'प्रबन्धम्' का वास्तविक महत्त्व अधिकाधिक प्रकाश में आने लगा। 'प्रबन्धम्' पर अनेक भाष्य निकले। आलवारों के पश्चात् कुछ समय तक केवल भाष्य ही निकलते रहे। अतः वह काल तमिल-साहित्य के इतिहास में 'भाष्य काल' कहलाता है। ११ वीं शताब्दी में तमिल में महाकवि कंबन ने 'रामायण' लिखी। तमिल के गौरव-ग्रन्थों में 'कंब-रामायण' का एक प्रमुख स्थान है। कंबन ने वाल्मीकि रामायण से राम-कथा का आधार तो लिया परन्तु 'कंब-रामायण' में कवि की मौलिकता, प्रतिभा और विद्वत्ता के दर्शन होते हैं। 'कंब-रामायण' जैसे अमर काव्य को प्रेषित करने वाले 'कवि चक्रवर्ती' कंबन पर आलवारों के 'प्रबन्धम्' का प्रभाव पड़ा है। कंबन के ब्रह्म सम्बन्धी विचारों पर नम्मालवार की 'तिरुवायमोली' का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। कंबन ने अनेक स्थानों पर नम्मालवार के विचारों को वैसे ही रख दिया है। कुलशेखरालवार के राम-कथा-प्रसंग के कुछ पदों के भाव को कंबन ने उसी रूप में दुहराया है। कई स्थानों में कंबन ने आलवारों की भाषा-शैली को अपनाया है। स्वयं कंबन ने नम्मालवार के प्रति अपने ऋण का ज्ञापन किया है। 'शठकोपरन्तादि' नामक रचना कंबन द्वारा नम्मालवार की स्तुति में की गई बताई जाती है। 'शठ-कोपरन्तादि' में कंबन ने नम्मालवार की स्तुति करते हुए लिखा है—"क्या विश्व के समस्त काव्य-संग्रह नम्मालवार के एक शब्द की बराबरी कर सकते हैं?" इत्यादि।

१३ वीं शती के उत्तरार्द्ध में पुकलेन्दी नामक एक प्रसिद्ध कवि हुए जिनकी रचना 'नलवेण्पा' है। ये परम वैष्णव भक्त थे। 'नलवेण्पा' पर आलवारों की विचारधारा और भाषा-शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अपनी रचना के मंगला-चरण में पुलकेन्दी ने नम्मालवार की बड़ी स्तुति की है और नम्मालवार की 'तिरु-वायमोली' के प्रति अपना ऋण ज्ञापित किया है। 'तिरुक्कुरल' नामक प्रसिद्ध तमिल नीति-ग्रन्थ के टीकाकार परिमेलकर ने भी तिरुक्कुरल की विस्तृत टीका में 'प्रबन्धम्' से अनेक स्थानों पर उद्धरण दिए हैं। १४ वीं शती के पूर्वार्द्ध में विल्लि-प्पुत्तूरालवार नामक वैष्णव कवि ने तमिल में 'महाभारत' की रचना की। यह बहुत ही सरस काव्य है। इस ग्रंथ में रचयिता ने नम्मालवार और तिरुमंगै आल-वार की बड़ी स्तुति की है। प्रबन्धम् के अनेक स्थलों को इसमें दुहराया गया है। 'प्रबन्धम्' का सैद्धान्तिक और काव्यात्मक प्रभाव इस ग्रन्थ पर पड़ा है। 'तिरुप्पु-कल' नामक (१४वीं शती का उत्तरार्द्ध) काव्य के रचयिता अणगिरिनाथर ने राम-

१. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५६४

कथा और कृष्ण-कथा के अनेक रसात्मक प्रसंगों का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ पर प्रबन्धम् का प्रभाव द्रष्टव्य है। मुरली-माधुर्य के प्रभाव के प्रसंग में इस कवि ने पेरियालवार के तत्सम्बन्धी पदों के भावों को ही दुहराया है। १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध में तिरुकुरुकै पेरुमाल ने 'मारनलंकारम्' के नाम से एक ग्रन्थ लिखा। यह 'मारन' (नम्मालवार का दूसरा नाम) को नायक के रूप में मानकर लिखा गया अलंकार शास्त्र है।[1]

पेरियालवार की पिल्लै-तमिल-शैली का अनुकरण कर शैव भक्तों ने तथा मुरुग (सुब्रह्मण्य) भक्तों ने अपने आराध्य की लीलाओं का वर्णन किया है। आलवारों की काव्य-शैली का प्रभाव अनेक परवर्ती शैव और मुरुग भक्तों पर भी पड़ा है। ऊपर उल्लिखित रचनाओं के अतिरिक्त अनेक परवर्ती तमिल-कृतियों पर 'प्रबन्धम्' की विचारधारा और भाषा-शैली का प्रभाव पड़ा है। (विस्तार भय से अधिक विवरण नहीं दे रहे हैं।)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि पर 'प्रबन्धम्' ने कितना महान् प्रभाव डाला है। तमिल में ही नहीं, बल्कि अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में शायद ही कोई ऐसी एक रचना हो, जिसने प्रबन्धम् का-सा बहुरूपी प्रभाव डाला हो। 'प्रबन्धम्' समस्त भारतीय साहित्य भंडार का एक अमूल्य रत्न है।

'प्रबन्धम्' पर लिखित विविध भाष्य

परवर्ती युग में 'प्रबन्धम्' की विचारधारा के व्यापक प्रचार और प्रभाव के प्रमाण हैं, 'प्रबन्धम्' पर लिखित सैकड़ों भाष्य ग्रन्थ। किसी भी महान् ग्रन्थ की लोकप्रियता का परिचय, उस पर लिखित टीकाओं और भाष्यों की संख्या से सरलता से प्राप्त हो सकता है। 'प्रबन्धम्' के संकलन के बाद कई शताब्दियों तक वैष्णव आचार्य और विद्वान् 'प्रबन्धम्' के भक्ति-दर्शन की शास्त्रीय व्याख्या तथा उसके सरल स्पष्टीकरण के हेतु विविध भाष्य-ग्रन्थ लिखने में लगे रहे।

श्री नाथमुनि के समय से लेकर श्री रामानुजाचार्य के समय तक लगभग तीन सौ वर्षों के इस दीर्घकाल में वैष्णव आचार्य प्रायः सभी आलवार-पदों के अध्ययन में लीन थे। आलवार-पदों से प्रभावित होकर वैष्णव आचार्यों ने इन भक्तिपूर्ण भावमय पदों की अनेक टीकाएं भी प्रस्तुत कीं। इसी काल में आचार्यों ने 'प्रबन्धम्' के पद-सागर से अमूल्य रत्न खोज निकाले। आलवारों के प्रति उनका श्रद्धा-भाव बढ़ता गया, जिसके फलस्वरूप श्री रामानुजाचार्य के समय से आलवारों की रचनाओं पर अनेक भाष्य निकलने लगे। आलवार-पदों की सुन्दर व्याख्या करने वाले आचार्यों ने उन पदों के जितने भी अर्थ निकाले थे, वे ही लिपिबद्ध होकर भाष्यों के रूप में जनता के सामने आए। आलवार-पदों पर प्रथम भाष्य नम्मालवार की 'तिरुवायमोली' पर था। आलवारों के बीच में नम्मालवार को सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। इसको सूचित करने के लिए ही कदाचित् प्रथम भाष्य उनकी रचना

१. 'तमिलुम वैणमुम', एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० १११

'तिरुवायमोली' पर निकला होगा। इसको श्री रामानुजाचार्य के शिष्य तिरुकुरुकै-पिरान पिलन ने श्री रामानुजाचार्य के आदेश पर लिपिबद्ध करके प्रस्तुत किया। इस भाष्य का नाम है, 'जाराइरप्पडी'[1] (६००० परिच्छेदों वाला भाष्य)। तत्पश्चात् श्री भट्टर के शिष्य नंजीयर ने एक विस्तृत भाष्य लिखा जो 'ओन्पदायिरप्पडी' (६००० परिच्छेदों वाला भाष्य) कहलाता है। नंजीयर के बाद एक बृहद् भाष्य प्रस्तुत करने का श्रेय नंजीयर के शिष्य नंपिल्लै को है। यह भाष्य 'मुप्पत्ति आराइरप्पडी' (३६,००० परिच्छेदों वाला भाष्य) के नाम से प्रसिद्ध है। इसको लिपिबद्ध करने वाले श्री वटक्कु तिरुवीथी पिल्लै थे। यह भाष्य 'ईडू' के नाम से बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। 'ईडू' शब्द का अर्थ है—लिखित रूप में प्रस्तुत करना। 'प्रबन्धम्' के समस्त भाष्यों में 'ईडू' को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। इस भाष्य से ही आलवारों के पदों की व्याख्या में आलोचनात्मक और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण रखा गया। (यह मणिप्रवाल शैली में हैं। इसका शुद्ध तमिल-अनुवाद मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से श्री पुरुषोत्तम नायडू द्वारा १० भागों में हाल ही में प्रस्तुत किया गया है।)

नंपिल्लै के शिष्य पेरियावाच्चान पिल्लै ने आलवारों के चार सहस्र पदों का एक विस्तारपूर्ण भाष्य तैयार किया। उसमें 'तिरुवायमोली' से सम्बन्ध रखने वाला भाग 'इरुपत्तिनालायिरप्पडी' (२४,००० परिच्छेदों वाला भाष्य) कहलाता है। पेरियवाच्चनपिल्लै के शिष्य के बाद केसरी अलकिय मणवलजीयर ने एक भाष्य केवल तिरुवायमोली पर प्रस्तुत किया, जिसे 'पन्निरंडायिरप्पडी' (१२,००० परिच्छेदों वाला भाष्य) कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तिरुवायमोली' को पांच भाष्यों को प्राप्त करने का गौरव प्राप्त है। कहते हैं कि इनके अतिरिक्त 'पतिनेट्टायिरप्पडी' के नाम से श्री वेदान्त देशिकाचार्य के परवर्ती आचार्यों द्वारा एक और भाष्य भी लिखा गया। यह भी कहा जाता है कि श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने 'निगम परिमलम्' के नाम से ७६,००० परिच्छेदों वाला एक बृहद् भाष्य प्रस्तुत किया था।

नाथमुनि ने तो नम्मालवार की स्तुति में एक श्लोक[2] लिखा था, जो तिरुवायमोली के प्रारम्भ में नम्मालवार-स्तुति में स्थान पाता है। नाथमुनि के पौत्र श्री आलवन्दार ने भी एक श्लोक में नम्मालवार की स्तुति की है। रामानुजाचार्य के शिष्य कुरत्तालवान ने आलवारों की अपने ग्रन्थ 'वैकुण्ठस्तव' में बड़ी स्तुति की है। कुरत्तालवान के पुत्र श्री भट्टर ने भी 'द्राविड़ वेद' कहकर 'प्रबन्धम्' की महिमा का गान किया है।

---

१. 'पडी' का शाब्दिक अर्थ है—एक माप। यहाँ 'पडी' के लिए 'परिच्छेद' अर्थ लेना ही उचित होगा।

२. "भक्तामृतं विश्वजनानुमोदनम्।
सर्वार्थदं श्रीशठकोपवाङ्मयम।
सहस्रशाखोपनिषत्समागमम्।
नमाम्यहं द्राविड़वेद सागरम्॥"

ध्यान देने की बात है कि जितने भी भाष्य आलवारों की रचनाओं पर निकले, उनमें अधिकांश नम्मालवार की रचना 'तिरुवायमोली' के पदों से सम्बन्धित हैं। भाष्यकारों ने तिरुमोली के एक सहस्र पदों को एक भाग में लिया है और 'प्रबन्धम्' के शेष तीन सहस्र पदों को दूसरे भाग में अलग रूप से लिया है। 'तिरुवायमोली' के अतिरिक्त प्रबन्धम् में संगृहीत अन्य पुस्तकों पर भी अलग अलग टीकाएं निकली हैं। पेरियवाच्चान पिल्लै ने 'तिरुवायमोली भाष्य' के साथ प्रबन्धम् के शेषांश पर भी भाष्य प्रस्तुत किया है। उनके भाष्य में कुछ पद अछूते रह गए थे, विशेष रूप से 'पेरियालवार तिरुमोली' के कुछ पद। श्री मणवाल मामुनि ने उन पदों पर भाष्य प्रस्तुत कर पूरा किया। श्री मणवाल मामुनि के गुरु तिरुवायमोली पिल्लै ने भी 'पेरियालवार तिरुमोली' पर दार्शनिक दृष्टिकोण से युक्त एक बृहद् भाष्य प्रस्तुत किया। आण्डाल की रचना 'तिरुण्णवै' परअनेक टीकाएं निकली हैं—ईरायिरपण्डी, नालायिरपण्डी, मूवायिरपण्डी, आरायिरपण्डी तथा सुधा सत्वम् दात्ताचार्य कृत 'स्वापदेशार्थ'। इनमें 'मूवायिरपण्डी' (३००० परिच्छेदों का भाष्य) के प्रणेता अलकिय मणवाल पेरुमालनायनार थे। 'ईरायिरपण्डी' और 'नालायिरपण्डी' के रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं।

तोंडरडीपोडी आलवार कृत 'तिरुप्पल्लि एलुच्चि' पर श्री नंजीयर तथा श्री पेरियवाच्चान पिल्लै द्वारा प्रस्तुत दो टीकाएं मिलती हैं। तिरुप्पाण आलवार विरचित 'अमलनादिपिरान' पर श्री पेरियवाच्चान पिल्लै तथा अलकिय मणवाल पेरुमाल नायनार की टीकाएं मिलती हैं। इस पर वेदान्त देशिकाचार्य ने 'मुनिवाट्टन भोगम्' नाम से एक संस्कृत टीका भी लिखी है। मधुर कवि आलवार कृत 'कण्णनुल तिरुतांबु' पर सर्व श्री नंजीयर पिल्लै, पेरियवाच्चान पिल्लै आदि ने टीकाएं प्रस्तुत की हैं। तिरुमंगै आलवार कृत 'पेरिय तिरुमोली' पर मिलने वाली टीकाओं में एक श्री पेरियवाच्चान पिल्लै की है और दूसरी नंजीर की। तिरुमंगै आलवार की दूसरी रचना 'तिरुनेडुन्ताण्डकम' पर श्री पेरियवाच्चान पिल्लै की एक प्रसिद्ध टीका उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ पर श्रीरंगम् के तंपुरान लोगों (भक्तगण) द्वारा रचित एक टीका भी है। परन्तु यह अब प्रकाशित है। नम्मालवार की कृति 'तिरुविरुत्तम' पर श्री नंपिल्लै, श्री पेरियवाच्चान पिल्लै, श्री वाटिकेशन, श्री अलकिय मणवाल जीयर आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत टीकाएं भी मिलती हैं। तिरुमंगै आलवार की कृति 'पेरिय तिरुमंडल' पर श्री पेरियवाच्चान पिल्लै तथा श्री अलकिय पेरुमाल नायनार ने टीकाएं लिखी हैं। श्री नायनार की टीका 'नायनार व्याख्यानम्' कहलाती है। यह भी कहा जाता है कि अप्पिल्लै नामक एक विद्वान् ने 'प्रबन्धम्' के सभी पदों पर एक सामान्य भाष्य प्रस्तुत किया था। अब वह उपलब्ध नहीं है।

श्री तिरुकुरकैपिरान पिल्लान के समय से लेकर श्री मणवाल मामुनि के समय तक, अर्थात् लगभग १२ वीं शती से १५ वीं शती तक के सभी भाष्यकार अपने भाष्यों में एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे, यद्यपि वे दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों के निवासी थे। श्री नंजीयर मैसूरवासी थे। श्री पेरियवाच्चान

पिल्लै मद्रास प्रान्त के कुम्भकोण क्षेत्र के थे और मणवाल मामुनि रामानाडू ज़िले के थे। इस प्रकार अन्य भाष्यकार भी समस्त दक्षिण भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों के रहने वाले थे। परन्तु एक विशेष बात यह है कि उन सभी भाष्यकारों की भाषा-शैली में एक समानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने जिस विशिष्ट भाषा का प्रयोग किया था, वह 'मणिप्रवाल' कहलाती है। वे अपने भाष्यों में अपने समय के दैनिक जीवन में काम आने वाले समस्त शब्दों और प्रयोगों को अपनाते थे। वे तमिल की गद्य-शैली में अपने वाक्यों में तमिल-शब्दों के बीच-बीच दर्शन से पुष्ट संस्कृत के शब्दों और उद्धरणों को पिरो देते थे। ऊपर उल्लिखित टीकाकारों का काल तमिल-साहित्य के इतिहास में 'भाष्य काल' कहलाता है। इन टीकाकारों ने जिस 'मणिप्रवाल' भाषा का प्रयोग किया था, उससे तमिल-भाषा का शब्द-भंडार व्यापक हुआ और तमिल-भाषा में एक नई शक्ति आ गई। पुराने समय में गुरु या आचार्य की सहायता के बिना इन भाष्यों को समझना कठिन समझा जाता था। इन टीकाकारों ने अपने भाष्य में जिन विशिष्ट प्रयोगों, शब्दों वाक्यांशों का प्रयोग किया था, उनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए व्याख्या सहित उनका संकलन श्री मणवाल मामुनि के समय के पश्चात् हुआ। इन संकलनों में एक का नाम है, 'अरूपंद विलक्कम' (कठिन शब्दार्थ)। 'तिरुवायमोली' पर उपलब्ध 'ईडू' नाम के प्रसिद्ध भाष्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का अर्थ बताने वाला एक ग्रंथ 'जीयर अरुंपदम' है। वस्तुतः इस प्रकार के शब्दार्थ बताने वाले ग्रंथ 'प्रबन्धम्' के भाष्यों के भी भाष्य ठहरते हैं। स्मरण रहे कि जिस प्रकार आलवार विरचित 'प्रबन्धम्' पर 'मणिप्रवाल' शैली में तमिल में अनेकानेक भाष्य उपलब्ध हैं, उस प्रकार के भाष्यों के दर्शन हमें तमिल के अन्य धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में नहीं होते। वैष्णव भक्त-कवि आलवारों के 'प्रबन्धम्' पर निकले हुए अनगिनत श्रेष्ठ भाष्यों के समान शैव भक्त-कवि नायनमारों के पद-संग्रह 'तैवारम्' पर भाष्य नहीं मिलते। यह बड़े महत्त्व की बात है कि 'तैवारम्' पर एक साधारण-सा भाष्य ही उपलब्ध है। नंपिल्लै तथा अन्य सभी भाष्यकार संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे।

'प्रबन्धम्' पर लिखित पूरे भाष्यों के अतिरिक्त आलवारों के चुने हुए पदों को लेकर उनका सार बताने वाले कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गए। इस प्रकार के ग्रन्थकारों में सर्व श्री नंजीयर पिल्लै, लोकाचार्य और वेदान्त देशिकाचार्य प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों को 'रहस्य ग्रन्थ' कहा जाता है। इस ढंग के 'आत्म विवहम्' तथा 'मुमुक्षुदर्पणणम्' नामक दो ग्रंथ भी नंजीयर ने लिखे हैं। श्री पेरियवाच्चान पिल्लै के भी दो ग्रन्थ इस प्रकार के मिलते हैं। वे हैं—'माणिक्कमालै' और 'निगम-नप्पडी'। श्री पिल्लै लोकाचार्य तथा श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने सबसे अधिक 'रहस्य ग्रंथ' लिखे हैं। श्री पिल्लै लोकाचार्य के लिए १८ 'रहस्यम् ग्रंथ' का सामूहिक नाम है—'अष्टादशरहस्यम्'। श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने छोटे-मोटे १७ रहस्य ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 'रहस्यत्रयसारम्' नामक ग्रंथ सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

यहां ध्यान देने योग्य बात है कि वेद, उपनिषद् तथा ब्रह्म-सूत्रों पर लिखित संस्कृत-भाषाओं का जो महत्त्व है, वही तमिल-प्रदेश में तमिल में लिखित 'प्रबन्धम्'

के भाष्यों का है। दोनों में समान रूप से दार्शनिक विवेचन का दृष्टिकोण रखा गया है। श्री सम्प्रदाय (रामानुज सम्प्रदाय) के सभी आचार्य और उनके शिष्यों ने इन भाष्यों का गम्भीर अध्ययन किया है।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त १७ वीं शती के पश्चात् भी 'प्रबन्धम्' पर टीका ग्रन्थ निकलते रहे। इन भाष्यों के अध्ययन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं —

१. इन भाष्यों के द्वारा आलवारों के पदों का व्यापक प्रचार तमिल-प्रदेश में हो सका और लोग आलवारों के उन्नत विचारों से परिचित हो सके। आलवारों के प्रति तमिल-समाज में श्रद्धा-भाव जाग उठा।

२. 'प्रबन्धम्' के प्रारम्भिक भाष्यों के संस्कृत-शब्दों और विशिष्ट प्रयोगों से युक्त होने (मणिप्रवाल शैली में होने) के कारण तथा उन भाष्यकारों के समस्त दक्षिण भारत के भिन्न स्थानों के निवासी होने के कारण दक्षिण के विभिन्न भागों के लोगों में आलवार-पदों का प्रचार हो सका। इस प्रकार की शैली में होने के कारण सब लोग समझ सके और इस प्रकार समस्त दक्षिण भारत में आलवारों के विचारों को फैल जाने का अवसर मिला। 'मणिप्रवाल' के संस्कृत-भाषा के निकट होने से यह भी सम्भव है कि उत्तर भारत के विद्वान् भी उन भाष्यों को समझ सके।

३. इन भाष्यों ने आलवारों की विचार-धारा का प्रचार करने में बड़ी सहायता की और आलवार-पदों को सुरक्षित रखने में महान् योग दिया है और उनके महत्त्व को समझने में बड़ी सहायता मिली।

तमिलेतर दक्षिणी भाषाओं के वैष्णव भक्ति-साहित्य पर 'प्रबन्धम्' का प्रभाव

तेलुगु

आलवार भक्तों के वैष्णव भक्ति-साहित्य ने बहुत बड़ी मात्रा में तमिलेतर दक्षिणी भाषाओं के वैष्णव भक्ति-साहित्यों को प्रभावित किया है। आलवार-साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव तेलुगु के वैष्णव भक्ति-साहित्य पर दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण यह है कि तेलुगु-प्रदेश तमिल-प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश है और आलवार-प्रेरित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन जब उत्तर भारत की ओर गमन करने लगता है, तब वह पहले तेलुगु-प्रदेश को प्रभावित करता हुआ, फिर कर्नाटक के मार्ग से महाराष्ट्र में प्रवेश कर अंत में हिन्दी-भाषी प्रदेश में आकर बड़ा व्यापक रूप धारण करता है। तेलुगु में तो आलवार-साहित्य का बहुत बड़ी मात्रा में अनुवाद हुआ है। श्री रामानुजाचार्य के प्रभाव के कारण वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रचार तेलुगु-प्रदेश में और तेलुगु-प्रदेश के शासक श्री कृष्णदेव राय के समय में (१५०९-१५३०) वैष्णव धर्म तेलुगु-प्रदेश में बहुत उन्नत स्थिति में था। इसी काल के तेलुगु-साहित्य में विपुल रूप में वैष्णव भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ।

१३ वीं शताब्दी के कृष्णमाचार्य नामक कवि ही तेलुगु के प्रथम तेलुगु-कवि थे,[१] जिन्होंने तेलुगु में 'वचन' और 'विण्णप्प' लिखकर संकीर्तन-साहित्य की नींव डाली थी। कहा जाता है कि इन्होंने नम्मालवार (शठकोप) के 'द्राविड़ वेद' (तिरुवायमोली) का अनुवाद तेलुगु में किया था।[२] इससे स्पष्ट होता है कि कृष्णमाचार्य ने ही पहले-पहल आलवार-साहित्य से प्रभावित वैष्णव भक्ति-साहित्य का तेलुगु में श्रीगणेश किया है। श्री केशवाचार्य कृत 'आचार्य सूक्ति मुक्तावली' नामक काव्य ग्रन्थ में श्री कृष्णमाचार्य का रोचक जीवन-वृत्त दिया गया है और उसके साथ आलवार भक्तों के जीवन-वृत्त भी मिला दिए गए दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्णमाचार्य के बाद तेलुगु में वैष्णव भक्ति-साहित्य के निर्माता प्रसिद्ध ताल्लपाक-परिवार के कवि थे, जो १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों में जीवित थे। ताल्लपाक-कवियों में भक्त प्रवर अन्नमाचार्य का विशेष महत्त्व है। जब तेलुगु-भक्त अन्नमाचार्य तिरुपति वेंकटेश्वर के दर्शन करने गए थे, तब वहां द्राविड़ प्रबन्ध-पाठ बड़ी श्रद्धा के साथ चल रहा था। भक्त अन्नमाचार्य का हृदय उस अपार तमिल-वाङ्मय की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने संस्कृत के साथ तमिल के भक्ति-साहित्य का भी प्रगाढ़ अध्ययन किया।[३] इसमें आश्चर्य किंचित् भी नहीं कि आलवार-भक्तों की मधुर वाणी ने अन्नमाचार्य पर अपरिमित प्रभाव डाला हो। भक्ति के भावावेश में अन्नमाचार्य ने सहस्रों पद रच डाले। इनके पदों की संख्या ३२,००० बताई जाती है। पर उपलब्ध पद १६,००० के लगभग हैं। इनके अनेक पदों के भाव पूरे के पूरे आलवार पदों के ही हैं। श्री अन्नमाचार्य के सभी पद गीत-शैली में हैं। इसमें अध्यात्म संकीर्तन भी है और श्रृंगार संकीर्तन भी। एक तेलुगु विद्वान् का कथन है कि हज़ारों पदों की रचना करने के लिए यदि एक ओर हिन्दी के भक्त प्रवर सूरदास जी को श्री वल्लभाचार्य का आदेश मिला तो दूसरी ओर (तेलुगु के सूरदास) श्री अन्नमाचार्य के समक्ष आलवारों के 'नालायिरम्' (प्रबन्धम्) का अनुदिन प्रबन्ध पाट का आदर्श रहा। इसमें सन्देह नहीं कि अन्नमाचार्य जी का भक्तिपूर्ण हृदय आलवारों के पदों को गाकर विह्वल हो उठा और तेलुगु वाणी में अभिव्यक्त हुआ। श्री अन्नमाचार्य ने तमिल-प्रबन्ध-गान से प्रभावित होकर भी अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। संस्कृत के भी प्रकाण्ड पंडित थे और ये संगीत के पारंगत विद्वान्। संगीत पर उनका प्रभाव इतना अधिक था कि अपने भक्तिपूर्ण सहस्रों पदों के अतिरिक्त संगीत-शास्त्र पर एक रीति-ग्रन्थ भी रच डाला। इनकी कृतियों में 'द्विपद रामायणमु', 'श्रृंगारमंजरी', 'वेंकटाचल महात्म्यमु' आदि उल्लेखनीय हैं।

ताल्लपाक परिवार के एक दूसरे प्रसिद्ध कवि तिरुवेंकलनाथ (या चिन्नण्णा) थे जिन्होंने 'अष्टमहिषी कल्याणम्', 'परम योगी विलासमु', 'उषा परिणयम' आदि रचनाएं की थीं। 'परमयोगी विलासमु' में आलवारों के जीवन-वृत्त ही रोचक

१. 'आन्ध्र वचन वाङ्मयमु', एन० वेंकटराव, पृ० २८-३०
२. 'परमयोगी विलासमु' पृ० ४
३. 'हिस्टरी आफ तिरुपति', डा० कृष्णस्वामी अय्यंगार (भाग २), पृ० १०८६-८८

रूप-से दिए गए हैं। उसमें आलवारों के भक्ति-दर्शन का भी स्पष्ट निरूपण है। इस ग्रन्थ के प्रारंभ में तिरुवेंकलनाथ ने यह स्वीकार किया है कि 'द्राविड़ वेद' (प्रबन्धम्) का अनुसरण करके ही इन्होंने यह काव्य लिखा है। अब तक विद्वान् 'परमयोगी विलासमु' में केवल आलवार-जीवन-वृत्त ही दिए गए समझते आए हैं। परन्तु सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हुआ है कि इन्होंने आलवारों के पदों का भी सुन्दर तेलुगु-अनुवाद बीच-बीच में दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि तिरुवेंकलनाथ प्रबन्धम् से कितने अधिक प्रभावित थे। श्री नंबूरी केशवाचार्य की कृति 'आचार्य सूक्ति मुक्तावली' में भी आलवारों और आचार्यों के जीवन-वृत्त विस्तार से काव्यमयी शैली में दिए गए हैं। यह बहुत बड़ा ग्रन्थ है, जो तीन खण्डों में विभाजित है। इस ग्रन्थ के निर्माण में इसके रचयिता ने निश्चय ही तमिल में उपलब्ध आलवार सम्बन्धी ग्रन्थों से सामग्री ली है।

१६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजा श्रीकृष्ण देवरायलु ने अनेक काव्य-रचनाएं कर अपनी अपार कवित्व-प्रतिभा का भी परिचय दिया, जिसके कारण उन्हें 'साहिति समरांगण चक्रवर्ती' भी कहा जाता है। इनकी रचनाओं में सबसे श्रेष्ठ है, 'आमुक्त माल्यदा'। श्रीकृष्ण देवरायलु के समय तक तेलुगु-प्रदेश में आलवार-भक्तों के जीवन-वृत्त की कहानियां बहुत ही प्रचलित थीं और उनसे भक्तों ने प्रेरणा भी प्राप्त की थी। पेरियालवार और उनकी पोष्य पुत्री आण्डाल के जीवन-वृत्तों ने श्रीकृष्ण देवरायलु को इतना आकर्षित किया कि उन्होंने उसे कथा का आधार बनाकर एक महाकाव्य ही रच डाला। 'आमुक्त माल्यदा' वही महाकाव्य है, जिसमें पेरियालवार और आण्डाल की रोचक जीवन-कथाएं प्रौढ़ काव्य-शैली में वर्णित हैं। 'आमुक्त माल्यदा' का अर्थ है—'अपनी पहनी हुई माला अर्पित करने वाली।' इस काव्य में अनेक स्थानों पर पेरियालवार और आण्डाल के पदों के भाव दिए गए हैं। स्पष्ट है कि कृष्णदेव रायलु ने 'आमुक्त माल्यदा' द्वारा पेरियालवार और आण्डाल को तेलुगु-प्रदेश में अमर बना दिया।

'आमुक्त माल्यदा' काव्य होने के साथ-साथ विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के प्रचार का ग्रन्थ भी सिद्ध हुआ है, जिसमें आलवारनुसरणी तेन्कलै सिद्धान्त का ही निरूपण हुआ है। 'आमुक्त माल्यदा' के रचना-काल के बाद में तेलुगु-वैष्णव-भक्त-कवियों का विशेष आकर्षण आण्डाल की रचना 'तिरुप्पावै' की ओर गया है। आण्डाल की रचना 'तिरुप्पावै' का तो तेलुगु में अनेक कवियों ने अनुवाद किया है। 'तिरुप्पावै' के तेलुगु-अनुवादक कवियों में मुदुपलनी का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। ये तंजाऊर के शासक विजयराघव नायक के समय (१६३३-१६७३ ई०) में जीवित एक प्रसिद्ध कवयित्री थीं।

तेलुगु-प्रदेश के अनेक वैष्णव भक्त-कवियों ने आलवार भक्तों के जीवन-वृत्तों को आधार बनाकर बहुत-से ग्रन्थ रचे हैं। आलवार भक्तों में तोंडरडीपोडी आलवार (भक्तांघ्ररेणु) की रोचक जीवनी ने ही तेलुगु वैष्णव भक्त-कवियों को बहुत आकृष्ट किया है। केवल तोंडरडीपोडी आलवार के जीवन-वृत्त को आधार बनाकर १२ से अधिक काव्य-कृतियां तेलुगु में लिखी गई मिलती हैं। सोमराज

कवि (१७ वीं शती) ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'बाल गोपाल शतकम' में 'द्राविड़ वेद' (प्रबन्धम्) का अनुसरण करने की बात स्वयं स्वीकार की है। इस प्रकार देखा जाता है कि तेलुगु के वैष्णव भक्त-कवियों ने 'प्रबन्धम्' और आलवार भक्तों के जीवन-वृत्तों से बड़ी प्रेरणा ग्रहण की है।

मलयालम

मलयालम में भक्ति-साहित्य का निर्माण विशेष रूप से १३ वीं शताब्दी के बाद ही हुआ। मलयालम भाषा की प्रारम्भिक रचनाओं पर तमिल-भाषा का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। तमिल के अनेक शब्द, प्रयोग, छन्द आदि मलयालम की प्रारम्भिक रचनाओं में मिल जाते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि 'आलवार युग' के पश्चात् 'आचार्य युग' में प्रबन्धम् पर अनेक भाष्य निकले। 'प्रबन्धम्' पर लिखित भाष्यों की भाषा संस्कृत मिश्रित तमिल थी। उसे मणि-प्रवाल कहते हैं। मलयालम भाषा की प्रारम्भिक रचनाओं में कुछ इसी 'मणि-प्रवाल भाषा' में है। ज्यों-ज्यों मलयालम पर संस्कृत-भाषा का प्रभाव अधिक पड़ता गया, त्यों-त्यों उसका सम्बन्ध तमिल-भाषा से छूटता गया। जहां तक मलयालम के भक्ति-साहित्य पर प्रबन्धम् के प्रभाव का प्रश्न है, हम निस्संकोच कह सकते हैं कि तमिल-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा है। मलयालम-प्रदेश का सम्बन्ध तमिल-प्रदेश से बहुत प्राचीन काल से था। स्मरण रहे कि प्रसिद्ध कुलशेखरालवार का जन्म-स्थान वर्तमान मलयालम-प्रदेश के अन्तर्गत ही था। कुलशेखरालवार वहीं के शासक थे। अतः पूर्व काल से ही मलयालम-प्रदेश से आलवार-भक्तों का सम्बन्ध रहा है (क्योंकि वह प्रदेश प्राचीन तमिल-प्रदेश के अन्तर्गत था।) इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि आलवार भक्तों में कुछ वर्तमान मलयालम प्रदेश के विभिन्न स्थानों में जाकर भक्ति-प्रचार करते थे और जनता में भक्ति-भावना को जगाते थे। कुछ आलवारों ने केरल के राजाओं से आश्रय भी प्राप्त किया था। इस प्रकार मलयालम प्रदेश में बहुत पूर्वकाल में ही आलवारों के गीतों का प्रचलन रहा और बहुत-से गीत वहां के लोक-गीतों में घुल-मिल गए।

मलयालम के प्रारम्भिक भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत कीर्तन-भजन का प्राचुर्य है। भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप तमिल-प्रदेश में कीर्तन-भजन को प्रोत्साहन मिला। मन्दिरों में गीत-गायन की प्रणाली चली। यही प्रणाली मलयालम प्रदेश के मन्दिरों में 'पाठकम्' के नाम से चली। इसी ने कीर्तन-भजन-साहित्य को प्रेरणा दी होगी। मलयालम के लोक-गीतों में 'पाणपाट्टु' विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। 'पाण' नामक जाति-विशेष जो मूलतः तमिल-प्रदेश की थी—के लोगों का पेशा ही गीत गाना था। तिरुप्पाण 'पाण' जाति के ही थे। सम्भव है कि इन 'पाणों' की एक शाखा के लोगों ने मलयालम के 'पाणपाट्टु साहित्य' की रचना की हो। इन लोक-गीतों में पौराणिक कथाओं का भी उल्लेख होता था।

१३ वीं शताब्दी में रचित 'रामचरितम्' नाम से एक काव्य मलयालम भाषा

में मिलता है। इस ग्रन्थ पर तमिल के वैष्णव भक्ति-साहित्य का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। ११ वीं शती में श्री कंबन ने तमिल में राम-कथा लिखी थी। इस 'कम्ब-रामायण' से प्रभावित होकर एक मलयालम कवि ने मलयालम भाषा में 'कंब-रामायण' का एक लघु रूपान्तर प्रस्तुत किया है। १४ वीं शती के पश्चात् ही मलयालम में कृष्ण-काव्य का विशेष सर्जन हुआ। मलयालम भाषा के कृष्ण-भक्त-कवियों में 'निरणम' कवि मुख्य हैं। इनका काल १४ वीं शती के उत्तरार्द्ध और १५ वीं शती के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। ये प्रधान तीन कवि थे। सबसे बड़े माधव पणिक्कर ने 'गीता' का अनुवाद मलयालम भाषा में किया। दूसरे कवि शंकर पणिक्कर ने 'श्रीकृष्ण-विजय' और 'भारत-माला' नामक दो काव्य-ग्रन्थ रचे थे। तीसरे कवि राम पणिक्कर थे, जो उपर्युक्त दोनों कवियों के भांजे लगते थे। केरल के प्राचीन कवियों में राम पणिक्कर का प्रमुख स्थान है। राम पणिक्कर ने 'रामायण', 'भारत', 'ब्रह्माण्ड पुराण', 'शिवरात्रि माहात्म्य', 'भागवत का दशम स्कन्ध' आदि ग्रन्थ रचे थे। इनके काव्यों में अनेक स्थायों पर आलवारों से मिलने-जुलने वाले विचार पाए जाते हैं। मलयालम के कृष्ण-काव्य के रचयिताओं में श्री चेरुशेरी नंपूतिरि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका आविर्भाव-काल १५ वीं शताब्दी में माना जाता है। इनकी रचना 'कृष्ण-गाथा' ने जनता पर अपरिमित प्रभाव डाला है। 'कृष्ण-गाथा' के अध्ययन से कवि के श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त होने का प्रमाण मिल जाता है। 'कृष्ण-गाथा' में गीत-पद्धति ही अपनाई गई है। 'कृष्ण-गाथा' के पद संगीत और नृत्य के उपयुक्त हैं।

मलयालम भक्ति-साहित्य में एलुत्तच्छन सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि हैं जिनका समय १६ वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। मलयालम भाषा और साहित्य श्री एलुत्तच्छन के चिर ऋणी हैं। अपनी ज्ञान-पिपासा को बुझाने के लिए एलुत्तच्छन ने कई साधुओं का सत्संग किया था और अनेक स्थानों की यात्रा की थी। एलुत्तच्छन के कई काव्य-ग्रन्थों में 'अध्यात्म रामायण' और 'भारतम्' ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। एक मलयालम विद्वान् के अनुसार एलुत्तच्छन के दोनों काव्य 'रामायण' और 'भारतम्' के केरली साहित्य-मनोमंडल में सूर्य और चन्द्र हैं।[1] 'भारतम्' कृष्ण-भक्ति-काव्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। एलुत्तच्छन की रामायण से पता चलता है कि वे किसी विशिष्टाद्वैताचार्य के शिष्य रह चुके थे।[2] एलुत्तच्छन तमिल, तेलुगु आदि भाषाएं भी जानते थे। तमिल के वैष्णव भक्ति-साहित्य ने अवश्य ही उन्हें प्रभावित किया होगा। कृष्ण-कथा को लेकर काव्य रचने वाले एक अन्य प्रमुख कवि हैं, पुन्तानम् नंपूतिरि। इनकी कृष्ण-भक्ति प्रधान अनेक रचनाएं हैं, जिनमें 'सन्तानगोपालम् पाना', 'श्रीकृष्ण कर्णामृतम्', 'ज्ञानाप्पाना', 'पार्थसारथी स्तवम्' और 'कृष्ण लीला' प्रमुख हैं। कवि की रचनाओं से उसके उच्च कोटि के कृष्ण-भक्त होने की बात स्पष्ट हो जाती है। गीत-पद्धति में

१. 'हिन्दी और मलयालम के कृष्ण-भक्ति-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन', डा० के० भास्करन नायर, पृ० ५४

२. 'एलुत्तच्छन', पी० के० नारायण पिल्ला, पृ० २४

रचित इन ग्रन्थों के पद भक्त-हृदय को आत्म-विभोर कर देने वाले हैं।

कन्नड़

कन्नड़ में विशुद्ध भक्ति-साहित्य का सर्जन १२ वीं शती के पश्चात् ही हुआ। कन्नड़ का भक्ति-साहित्य दो प्रमुख संप्रदायों के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। एक वीर शैव संप्रदाय और दूसरा माध्व संप्रदाय। विद्वानों के अनुसार वीर शैवमत अनेक बातों में तमिलनाडु के शैव सिद्धान्त से प्रभावित हुआ है।[1] वह एक नई सामाजिक व्यवस्था को लेकर प्रवर्तित हुआ आन्दोलन है।

माध्वमत का आविर्भाव शंकराचार्य के मायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। श्री मध्वाचार्य के आविर्भाव के पहले ही श्री रामानुजाचार्य ने कर्नाटक में विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया था। अपने को विविध कष्ट पहुंचाने वाले शैव मतावलम्बी चोल राजा के अत्याचार से बचने के लिए श्री रामानुज तमिलनाडु को छोड़कर कर्नाटक के होयसल राजाओं की शरण में गए और उन्हें उन राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ था। (सन् १०९८) श्री रामानुज ने मैसूर के समीप 'मेलकोटे' नामक स्थान में रहकर कर्नाटक की जनता के बीच अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने जैन राजा विट्टि देव को विष्णु वर्धन के नाम से अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। इस घटना के पश्चात् पूर्व कर्नाटक प्रदेश में श्री वैष्णव मत का अधिक प्रचार हुआ। यों कह सकते हैं चूंकि रामानुज आलवारों की विचार-धारा से स्वयं प्रभावित थे, अतः रामानुज के माध्यम से आलवारों के भक्ति-मार्ग का ही कर्नाटक में प्रचार हुआ। विशिष्टाद्वैत में जो द्वैत और भक्ति तत्त्व प्राप्त हुए उनका पूर्ण विकास मध्वाचार्य के द्वैत में हुआ। श्री मध्वाचार्य के इसी संप्रदाय के भक्तों की एक मंडली आगे चलकर संगठित हुई जिसका नाम कर्नाटक में 'दास-कूट' पड़ा और वे भक्त हरिदास कहलाए।

मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रबन्धम् के जिन सामान्य तत्त्वों की चर्चा हमने पहले की है, उन सभी तत्त्वों को हम हरिदासों के भक्ति-साहित्य में पाते हैं।[2] भक्ति का सर्वोपरि महत्त्व, नाम-महिमा, स्तुति, शरणागति, गुरु-महिमा, सत्संग और वैराग्य, ये तत्त्व सामान्य रूप से हरिदासों के भक्ति-साहित्य के तत्त्व हैं। हरिदासों की एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने आलवार भक्तों की तरह अपनी भक्ति-साधना में संकीर्तन-पद्धति का कर्नाटक में प्रचार किया। मन्दिरों में जाकर ये हरिदास भक्त गीत गाया करते थे। 'हरिदासों' की परम्परा में श्रीपदराय १५ वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए। उन्होंने पहली बार माध्व मठों में संस्कृत के माध्यम से चलने वाली पुरानी परिपाटी को तोड़कर कन्नड़ में लिखे कीर्तन-भजन गाने का प्रबन्ध किया। कन्नड़ में उनकी प्रमुख रचनाएं हैं—भ्रमर-गीत, वेणुगीत और गोपी गीत। बंगलोर से प्रकाशित 'हरिकीर्तन तरंगिणी' के छठे भाग में श्रीपदराय के लगभग ६० पद दिए मिलते हैं। भक्ति और संगीत

१. 'ए हैण्डबुक आव् वीरशैविज़्म', डा० ए० सी० नान्दीनाथ, पृ० ६४
२. 'पुरन्दर एण्ड दी हरिदास मूवमेंट', डा० एम० वी० कृष्णाराव, पृ० ६-१२

की दृष्टि से इन पदों का बड़ा महत्त्व है। श्रीपदराय के समय के एक अन्य हरिदास भक्त हैं—श्री व्यासराय, जिन्होंने कन्नड़ में बहुत अच्छे भक्ति-गीत रचे हैं। कन्नड़ के हरिदासों में दो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। वे हैं—पुरन्दरदास और कनकदास। पुरन्दरदास भक्त और गायक थे। इनका समय १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १६वीं का पूर्वार्द्ध है। हरिदासों में यह प्रसिद्ध है कि पुरन्दरदास ने 'पुरन्दरदास विट्ठल' के नाम से ४ लाख ७५ हज़ार पद बनाए थे। परन्तु अब तक उनके ५००० के लगभग पद प्राप्त हुए हैं। पुरन्दरदास ने स्वयं महान् संगीताचार्य होने के कारण, हरिदासों में संकीर्तन-पद्धति को प्रोत्साहन दिया। पुरन्दरदास के भजनों की लोकप्रियता के कारण आगे चलकर दाक्षिणात्य संगीत का नाम 'कर्नाटक संगीत' पड़ा।

कर्नाटक के हरिदासों में पुरन्दरदास के बाद लोकप्रियता की दृष्टि से कनकदास का स्थान है। कुछ विद्वानों का मत है कि कनकदास श्री वैष्णवमत (रामानुज सम्प्रदाय) को मानने वाले भक्त थे। इसके प्रमाण रूप में वे कनकदास कृत 'मोहन तरंगिणी' से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। श्री करमरकर का मत है कि सम्भवतः कनकदास अपने जीवन के आरम्भिक समय में रामानुजाचार्य के श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रति आदर का भाव रखते थे। लेकिन सन् १५२५ में व्यासराय से दीक्षा लेने के उपरान्त वे माध्वमत के पक्के अनुयायी हो गए।[1] कुछ भी हो, कनकदास पर श्री वैष्णव मत का आंशिक प्रभाव अवश्य पड़ा है। कनकदास उच्च कोटि के भक्त, विचारक और कवि थे। उन्होंने हज़ारों भजनों के अतिरिक्त ५ काव्य-कृतियां भी रची हैं—'नरसिंह स्तोत्र', 'मोहन-तरंगिणी', 'रामधान्य-मन्त्र', 'हरि-भक्ति-सार' और 'नल चरित्र'। हरि-भक्ति-सार में भक्ति का सर्वोपरि महत्त्व, नाम महिमा आदि वर्णित है। कनकदास एक सुधारक भी थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व का परिचय उनकी कृतियों से मिलता है। कह सकते हैं कि पुरन्दरदास और कनकदास कन्नड़-साहित्य में दो अमर नाम हैं।

कर्नाटक प्रान्त के भक्तिमय वातावरण का प्रभाव महाराष्ट्र पर भी पड़ा। महाराष्ट्र में विट्ठल अथवा पांडुरंग मन्दिर के शिलालेख में संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा का प्रयोग[2] भी विट्ठल का कर्नाटक से आना निर्दशित करता है। महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्ति का जो प्रचार हुआ उसमें प्रबन्धम् में प्रतिपादित भक्ति-पद्धति का स्वरूप ही परिलक्षित होता है। डा० र० श० केलकर का भी कहना है—[3]"दक्षिण (तमिलेतर अन्य दक्षिणी भाषाओं) की भांति महाराष्ट्र में भी कृष्ण-भक्ति मार्ग पर आलवारों का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। आलवारों की भाव-विह्वलता तथा रससिक्त भजनों की लोकप्रियता ही वह कारण प्रतीत होती है जिससे विष्णु के अन्य अवतारों की अपेक्षा कृष्णावतार को लेकर ही भक्ति-काव्य की सर्जना हुई।

१. 'मिस्टिक टीचिंग्स आव् दी हरिदास आव् कर्नाटक', डा० ए० पी० करमरकर, पृ० ६६
२. 'महाराष्ट्र के पांच संप्रदाय', पं० रा० मोकाशी, पृ० ७८
३. 'मराठी-हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन', डा० र० श० केलकर, पृ० १०१

पंचम अध्याय

आलवारोत्तर काल में तमिल-प्रदेश का वैष्णव भक्ति-आन्दोलन

(१०वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के अन्त तक)

आलवार भक्तों ने ईसा की छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक तमिल-प्रदेश में भक्ति की जो पावन गंगा बहाई थी, वह बाद की शताब्दियों में भी प्रवहमान थी। आलवार भावुक भक्त कवि थे और उनका काम केवल भक्ति-भावना के समाधिमय क्षणों में अपने मानस में उत्पन्न होने वाले उद्गारों को सुन्दर पदावली में व्यक्त करना था। आलवारों के भक्ति प्रधान गीतों में प्रेम और श्रद्धा की भावनाओं का अतिरेक था और हृदय-पक्ष की प्रधानता थी, जो साधारण भावुक मानव-हृदय को अनायास ही आर्कषित कर लेती थी। इसी कारण से वैष्णव भक्ति-आन्दोलन जन-आन्दोलन बन गया था।

आलवार भक्तों की परम्परा में उनके पश्चात् कुछ ऐसे विद्वान् हुए जिन्होंने आलवारों की भक्ति-भावना के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करने का प्रयत्न किया। ये जन-भाषा तमिल के अतिरिक्त संस्कृत के भी बड़े पंडित थे। युग की आवश्यकता के अनुसार उनका कार्य विवाद तथा शास्त्रार्थ द्वारा विरोधी पक्ष का निराकरण कर अपने मत एवं सिद्धान्तों का निरूपण करना था। ऐसे विद्वानों की परम्परा चली तो वे 'आचार्य' कहलाए। इसी कारण आलवार-युग के बाद का काल 'आचार्य-युग' कहलाता है। ये आचार्य आलवारों के भक्ति-रस से प्रभावित अवश्य थे, किन्तु इनमें पांडित्य का भी बल था। उन्होंने आलवारों के द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हुए वैष्णव धर्म के आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन भी किया। एक ओर इन आचार्यों ने वैष्णव संत आलवारों की भाव-प्रवण भक्ति की वाणी का संकलन और संपादन किया और विधिवत् मन्दिरों में उनके अध्ययन, अध्यापन और गायन का प्रबन्ध किया। दूसरी ओर उन्होंने आलवारों की भक्ति-भावना के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने आलवारों के 'तमिल-वेद' का भली-भांति अध्ययन कर संस्कृत शास्त्रों से संगति बैठाने का प्रयत्न किया। ये आचार्य 'उभय वेदान्ती' कहलाए। इन आचार्यों ने तमिल में और तमिल एवं संस्कृत मिश्रित 'मणिप्रवाल' शैली में सैकड़ों ग्रन्थों का निर्माण किया और आलवार-प्रतिपादित वैष्णव भक्ति का इतना व्यापक प्रचार किया कि १० वीं शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी के अन्त तक (और बाद में भी) आलवारों से संचालित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन अव्याहत रूप में उत्तरोत्तर

शक्ति बटोरता हुआ ज़ोर पकड़ने लगा और तमिल-प्रदेश की सीमाओं को भी पारकर समीपवर्ती और दूरवर्ती प्रदेशों में भी प्रसारित हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि आलवारों के समय के पश्चात् वैष्णव आचार्यों की परम्परा अविश्रृंखल रूप में चली आ रही थी और एक से एक बढ़कर भक्ताचार्य हुए जिन्होंने अपने-अपने जीवन-काल में वैष्णव-भक्ति के प्रचारार्थ कई प्रकार की सेवाएं की थीं और तमिल-प्रदेश में ही नहीं, बल्कि तमिल-प्रदेश के बाहर भी वैष्णव-भक्ति का व्यापक प्रचार कर भक्तिमय वातावरण का प्रसार किया था। ईसा की १० वीं शती से लेकर १४ वीं शती तक का काल (आलोच्यकाल) बड़े चिन्तन-मनन का काल रहा है। इसी युग में दक्षिण के श्रेष्ठ वैष्णव-भक्ताचार्य हुए, जिन्होंने आलवार-प्रतिपादित भक्ति-दर्शन को युगानुकूल शास्त्रीय दार्शनिक रूप प्रदान करने के साथ ही साथ वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को देश-व्यापी बना दिया।

तमिल-प्रदेश के इन आचार्यों ने यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण के लिए शास्त्रीय ग्रन्थ भी रचे हैं, तो भी अधिकांश आचार्यों ने 'प्रबन्धम्' के भक्ति-सिद्धान्तों की शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही साथ स्वयं भक्ति-प्रधान स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थ भी तमिल में तथा तमिल-संस्कृत मिश्रित 'मणिप्रवाल' शैली में रचे हैं। अतः इन्हें दार्शनिक आचार्य कहकर उनके द्वारा निर्मित वैष्णव-भक्ति साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।—वास्तव में इनके दोनों प्रकार के भक्ति-ग्रन्थों ने तमिल-प्रदेश में तथा तमिल-प्रदेश के बाहर भी वैष्णव भक्ति आन्दोलन के व्यापक रूप में प्रसारित होने में बड़ा सहयोग प्रदान किया। यही नहीं, वैष्णव-भक्ति के प्रचारार्थ उन्होंने ऐसे बहुत-से कार्य किए थे, जिनके कारण वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन इन शताब्दियों में जीवन्त रूप में रह सका। अतः वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से इनका योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण ठहरता है। यही कारण है कि प्रस्तुत अध्ययन में इन आचार्यों के योगदान पर प्रकाश डाला जा रहा है।

इन वैष्णव भक्ताचार्यों के तमिल ग्रन्थों से ही हमारा विशेष तात्पर्य है, यद्यपि ये तमिल और संस्कृत दोनों के बड़े पंडित थे और इन्होंने दोनों भाषाओं में महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का निर्माण किया है। इन ग्रन्थों में दर्शन विवेचन के साथ ही साथ भक्ति-तत्त्वों का भी विश्लेषण है। इनमें कुछ आचार्यों ने तो तमिल में स्वयं श्रेष्ठ भक्ति-काव्य रचे हैं, तथा तमिल कवियों को वैष्णव भक्ति-प्रधान काव्य रचने की प्रेरणा भी दी है। इन वैष्णव भक्ताचार्यों के अतिरिक्त तमिल-प्रदेश में वैष्णव भक्ति-काव्य रचने वाले कुछ वैष्णव भक्त-कवि (जो दार्शनिक विवेचन से दूर रहकर केवल भक्ति-भावना से प्रेरित होकर सच्चे अर्थ में काव्य-निर्माण करने वाले थे) भी आलोच्य काल में हुए हैं, जिनकी रचनाओं का भी यहां वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाएगा।

आलोच्य युग में तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की एक विशेषता यह रही कि इस युग में भक्ति-प्रचार के हेतु विशेष रूप से श्री वैष्णव संप्रदाय का संगठन हुआ और वैष्णव भक्ति के आचरण-पक्ष को व्यवस्थित और संगठित व्यावहारिक रूप देने के निमित्त अनेक मठों और वैष्णव-मन्दिरों का निर्माण हुआ।

इन केन्द्रों ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को और भी शक्ति प्रदान की। तमिल-प्रदेश के धार्मिक क्षेत्र में श्री वैष्णव संप्रदाय ने अभूतपूर्व कार्य किया और आलवार-प्रतिपादित वैष्णव भक्ति का प्रचार दक्षिण के विविध भागों में ही नहीं, बल्कि उत्तर भारत के प्रमुख धार्मिक केन्द्रों में भी किया। १० वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक के काल में तमिल-प्रदेश में वैष्णव भक्ति का प्रचार चरम सीमा तक पहुंच गया था और सारा वातावरण वैष्णव भक्ति से इतना ओतप्रोत हो गया था कि इस आन्दोलन का समीपवर्ती और दूरवर्ती प्रदेशों में प्रसारित होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया मात्र थी। इस प्रकार यह देखा जाता है कि दक्षिण का वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद दक्षिण से उत्तर की ओर गमन करने लगा और उत्तर की परिस्थितियों के अनुकूल होने के कारण उसे व्यापक रूप में प्रसारित होने का अवसर प्राप्त हुआ। तमिल-प्रदेश के आचार्य-युग के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक रूप का अवलोकन करने से उपर्युक्त कथन की सत्यता स्वतः सिद्ध होगी।

वैष्णव भक्ताचार्यों की परम्परा

नाथमुनि

यह भूलना नहीं चाहिए कि वैष्णव-आचार्यों की जो परम्परा नवीं शताब्दी के बाद चली, उसका मूल-स्रोत तमिल-प्रदेश के आलवारों की परम्परा में ही पाया जाता है। आलवारों के बाद आने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम श्री नाथमुनि माने जाते हैं। ये नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जीवित थे।[१] इनका जन्म—'वीरनारायणपुरम्' नामक स्थान में हुआ था। इनके जीवन का अधिकांश समय श्रीरंगम् में बीता। कुछ लोग मानते हैं कि इनके पूर्वज कदाचित् उत्तरी भारत के किसी प्रदेश से आए थे और वे भागवत धर्मावलम्बी रह चुके थे। नाथमुनि संस्कृत तथा तमिल के बड़े विद्वान् थे। इन्होंने बड़े परिश्रम से आलवार भक्तों के प्रचलित गीतों का संग्रह किया और संपादन किया जो 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि नम्मालवार के पदों को प्राप्त करने के लिए नाथमुनि, आलवार के जन्म-स्थान तिरूनगरी में जब गए[२] तब नम्मालवार ने इन्हें स्वप्न में अपने सभी पद सुनाए। अतः गुरुपरम्परा ग्रंथों और 'दिव्यसूरि चरित' के अनुसार नम्मालवार से नाथमुनि का गुरु-शिष्य सम्बन्ध था।[३] लेकिन नाथमुनि ने नम्मालवार की शिष्य-परम्परा में आने वाले परांकुश मुनि का ही शिष्यत्व ग्रहण किया था और तमिल-वेद का महत्त्व उन्हीं से समझा था। इन्होंने ही श्रीरंगम् के मन्दिर में आलवार के गीतों का ब्राह्मण-मंडली में अध्ययन और अध्यापन का प्रबन्ध किया। आलवारों के गीत वैष्णव मन्दिरों में

१. *Nathmuni : His life and times*—R. Ramanucharya, M. A.. Journal of Annamalai University. Vol. 9, June, 1940.
२. *History of Sri Vaisnavas*—T. A. Gopinatha Rao, p. 8
३. *History af Indian Philosophy*—Dr. S. N. Das Gupta, Vol. III, (2nd Edition), p. 94

गाए गए और उनको तमिल-वेद की संज्ञा दी गई।[1] यह भी प्रसिद्ध है कि नाथ-मुनि ने आलवारों के पदों को वेदों के समान एक निश्चित गीत-पद्धति में गाए जाने की योजना की और श्रीरंगम् में उनके गायकों की नियुक्ति की। ये गायक 'अरयैर' कहलाते थे।[2] नाथमुनि के द्वारा वैष्णव मन्दिरों में प्रबन्धम् के गायन का प्रबन्ध वास्तव में वैष्णव मन्दिरों की उपासना-प्रणाली में एक शांतिपूर्ण क्रांतिकारी घटना थी।[3]

नाथमुनि ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल रखा था। इन्होंने कर्म एवं भक्ति, लोक तथा वेद दोनों में सामंजस्य स्थापित कर भक्ति-मार्ग को विप्र, शूद्र, स्त्री-पुरुष सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। इनके अनेक शिष्य हुए, जिन्होंने भक्ति-मार्ग का प्रचार किया। इनके प्रधान शिष्य ११ थे जिनमें पुंडरीकाक्ष, कुरुकनाथ और श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे। स्वयं नाथमुनि ने उत्तरी भारत के मथुरा, द्वारिकापुरी, बद्रीनाथ आदि प्रमुख स्थानों में भ्रमण कर आलवारों के भक्ति-सिद्धान्तों का प्रचार किया था।

विशिष्टाद्वैतवाद का सिद्धान्त यद्यपि श्रीरामानुज द्वारा प्रतिपादित समझा जाता है, तो भी वास्तव में उस सिद्धान्त की नींव नाथमुनि ने ही डाली थी। प्रसिद्ध आचार्य श्री वेदान्त-देशिक ने नाथमुनि को ही श्री संप्रदाय के संस्थापक के रूप में माना है।[4]

यद्यपि नाथमुनि तमिल के बड़े पंडित थे, तो भी उनकी कोई स्वतन्त्र रचना तमिल में अब उपलब्ध नहीं है। केवल नम्मालवार, पेरियालवार की स्तुति में गाए गए कुछ स्वतन्त्र पद ही मिलते हैं। परन्तु संस्कृत में इनकी लिखी तीन पुस्तकों का उल्लेख मिलता है। 'न्याय तत्त्व', 'पुरुष निर्णय' और 'योग-रहस्य'। 'न्याय तत्त्व' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जो विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्त का प्रथम ग्रंथ माना जाता है। इसमें उस मत के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रारम्भिक विवेचन है।[5]

कहा जाता है कि नाथमुनि को एक विशेष योग-साधना ज्ञात थी, जो मुक्ति प्राप्ति की सरलतम सफल साधना थी। नाथमुनि इस योग-साधना का परिचय अपने पौत्र यामुनाचार्य को देना चाहते थे। परन्तु निश्चित समय में यामुनाचार्य की भेंट उनसे नहीं हो सकी और इस प्रकार वह योग-साधना मानव समाज के

---

१. प्रपन्नामृत—श्लोक १०६, १०७

२. *The Hymns of Alvars*—J. S. M. Hooper, p. 27

३. This innovation effected silent revolution in temple worship, as it raised the status of the Prabhanda to the level of the Veda and liberalized the meaning of revelation." —*The Philosophy of Visista-dvaita*, P.N. Srinivasacharya, p. 511

४. दृष्टेऽप्यह्नुत्यभावादनुमितिविषये लाघवस्यानुरोधा-
च्छास्त्रेणैवावसेये विहृतिविरहिते नास्तिकत्वप्रहाणन्।
नाथोपज्ञं प्रवृत्तं बहुभिरूपचितं यामुनेयप्रबन्धै-
स्त्रातं सम्यगयनीन्द्रैरिदमखिलनमः कर्शनं दर्शनं नः॥

—'तत्त्वमुक्तकल्पः', श्री वेदान्तदेशिक, श्लोक १३६

५. 'न्याय परिशुद्धि', श्री वेदान्तदेशिकाचार्य, पृ० १३

लिए नष्ट हो गई। श्रीनाथ मुनि अपने जीवन के अन्तिम समय में साधना में ही समाधिस्थ हो गए और उनकी इहलोक-लीला ई० ९२० में समाप्त हुई।[1]

नाथमुनि के पश्चात् पुण्डरीकाक्ष (उय्यकोंडार) एवं राममिश्र (मणक्काल-नम्बी) नाम से दो आचार्य हुए। राममिश्र ब्राह्मण थे और पुण्डरीकाक्ष के शिष्य थे। राममिश्र के भी चार शिष्य थे। राममिश्र श्रीरंगम् में रहते हुए भक्ति-मार्ग का प्रचार किया करते थे। राममिश्र के बाद आने वाले एक प्रसिद्ध आचार्य यामुनाचार्य थे। इनका तमिल-नाम 'आलवंदार' है। आलवंदार नाथमुनि के पौत्र थे। तीर्थाटन करते समय मथुरा में यमुना नदी में स्नान कर नाथमुनि इतने प्रसन्न हुए थे कि उसके उपलक्ष्य में अपने पुत्र का नाम 'यामुन' रख दिया। यामुनाचार्य का जन्म सन् ९१८ ई० में और निधन १०३८ में माना जाता है।[2] इन्होंने राममिश्र से वेदों की विद्या प्राप्त की और ये एक सफल तार्किक बन गए। नाथमुनि के समान आध्यात्म निष्णात विद्वान् थे। इन्होंने एक राजा के पुरोहित को शास्त्रार्थ में परास्त किया और राजा से पुरस्कार स्वरूप उसके राज्य का एक हिस्सा प्राप्त किया। फिर ये ठाठ-बाट का जीवन बिताने लगे। राममिश्र ने जब देखा कि यामुन अपने राजसी वैभव में ही दिन-रात बिताते रहे, तब उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ और उन्होंने 'यामुन' को किसी तरह समझा-बुझाकर उनमें अध्यात्म विद्या की अभिरुचि उत्पन्न की और उन्हें भक्ति-शास्त्र का उपदेश देकर अपना शिष्य बनाया।

यामुनाचार्य ने नाथमुनि के शिष्य कुरुकनाथ से अष्टांगयोग की विद्या भी प्राप्त की। रार्मामिश्र के गोलोक वास के अनन्तर यामुनाचार्य (आलवन्दार) ही श्रीरंगम् के आचार्य पीठ पर आरूढ़ हुए। इनके अनेक शिष्य थे जिनमें २१ प्रधान थे। इनके शिष्यों में सभी वर्ण के लोग थे। इन्होंने चोल राजा और उसकी पत्नी को वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित किया। यामुनाचार्य नम्मालवार की रचनाओं के बड़े प्रेमी थे, जिनमें सुरक्षित उच्चकोटि के भावों को लोगों को सुनाते थे। इन्होंने सभी आलवारों के काव्यों के प्रचार, प्रसार और अध्ययन और अध्यापन के अतिरिक्त नवीन ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। यामुनाचार्य ने अनेक स्थानों की यात्रा करके वैष्णव भक्ति का प्रचार किया था। कहा जाता है कि तिरुवनन्तपुरम (केरल) के श्री पद्मनाभ के दर्शनार्थ गए थे और उस क्षेत्र में कुछ समय तक वैष्णव भक्ति का प्रचार कर श्रीरंगम् लौट आए।[3] इनके ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। वे हैं—(१) स्तोत्र रत्नम् (२) चतुः श्लोकी, (३) सिद्धि त्रय (४) आगम-प्रामाण्य (५) गीतार्थ संग्रह, और (६) महापुरुष निर्णय। उनकी रचनाओं में 'सिद्धि त्रय' का श्री वैष्णव संप्रदाय में काफी महत्त्व है। उनकी रचना 'गीतार्थ-संग्रह' में भक्ति और प्रपत्ति का सुन्दर तात्त्विक विवेचन है। यामुनाचार्य के अनुसार गीता का योग-मार्ग भक्ति-मार्ग ही है और भक्ति मुक्ति का एक मात्र साधन

१. *The Philosophy of Visistadvaita*, p. 511
२. *History of Indian Philosophy*, Dr. S. N. Das Gupta, Vol. III, (2nd Edition), p. 97
३. *The Life and Teaching of Ramanujacharya*, C. R. Srinivasa Iyengar, pp. 38-39.

है ।[1] स्तोत्र-रत्न एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है, जिसमें अनेक स्थलों पर नम्मालवार की स्तुति की गई है। और 'प्रबन्धम्' में से आधार लेकर उन्होंने भक्ति तत्त्वों का विवेचन किया है ।[2] स्तोत्र-रत्न, चतुः श्लोकी और गीतार्थ-संग्रह के महत्त्व का प्रमाण यह है कि श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने इन तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैती दर्शन के विवेचन में इन्हें आधार-ग्रन्थ माने हैं।

यामुनाचार्य ने श्री रामानुज के व्यक्तित्त्व से प्रभावित होकर उन्हें अपने उत्तराधिकारी के रूप में चुन लिया था। 'प्रपन्नामृत' कहा गया है कि यामुनाचार्य अपने अन्तिम समय में श्री रामानुज से मिलना चाहते थे। अतः उन्होंने श्री रामानुज को अपने पास बुलाया। परन्तु श्री रामानुज के उनके पास पहुंचने से पहले ही उन्होंने इहलोक-लीला समाप्त कर दी। अतः श्रीरामानुज यामुनाचार्य के मृत शरीर के ही दर्शन कर सके। रामानुज ने (जैसा कहा जाता है) देखा कि आचार्य के हाथ की तीन उंगलियां मुड़ी हुई हैं और उनके संकेत का अर्थ उन्होंने समझ लिया कि यामुनाचार्य उनके द्वारा तीन कार्य करवाना चाहते थे—ब्रह्म-सूत्र तथा विष्णु सहस्र नाम पर भाष्य और आलवारों के दिव्य प्रबन्धों की विस्तृत टीका। रामानुज ने आचार्य की तीनों इच्छाओं की पूर्ति करने की प्रतिज्ञा की।

श्री रामानुजाचार्य

यद्यपि नाथमुनि, यामुनाचार्य जैसे आचार्यों द्वारा श्री वैष्णव मत की रूप-रेखा तैयार हो गई थी, तथापि उसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने और उसका देश व्यापी प्रचार करने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य (तमिल नाम इलैय पेरुमाल) को ही है। श्री रामानुज का जन्म सन् १०१६ में मद्रास के समीप तेरुकुन्दूर नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था में 'यादव प्रकाश' नामक एक अद्वैती विद्वान् के यहां वेदान्त का अध्ययन किया। इस समय वे कांचीपुरम में रहते थे। अद्वैतवाद के विषय में अपने गुरु से मत-भेद हो जाने से उन्हें वहां से हटाना पड़ा। फिर रामानुज ने श्रीरंगम् जाकर आलवारों के प्रबन्धों का भली-भांति अध्ययन किया और श्री वैष्णव मत को अपनाया। उसके पश्चात् ये यामुनाचार्य के शिष्य हुए और श्रीसम्प्रदाय की स्थापना की। यामुनाचार्य के वैकुण्ठवास के पश्चात्, अपनी असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता के कारण वैष्णव मत की गद्दी के उत्तराधिकारी बने। नाथमुनि की तरह श्री रामानुज ने भी उत्तरी भारत के प्रमुख तीर्थ-स्थलों की यात्रा की। श्री रामानुज ने अपने भक्तिविषयक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत में अनेक ग्रन्थों और भाष्यों का प्रणयन किया।

श्री रामानुजाचार्य के जीवन वृत्त और वैष्णव भक्ति प्रचार में उनकी सेवाओं का विस्तृत प्रामाणिक परिचय विविधि स्रोतों से उपलब्ध होता है। प्रमुख रूप से

---

१. 'गीतार्थसंग्रह', श्लोक-१

२. 'स्तोत्र-रत्न' के श्लोक २६ का आधार 'पेरुमाल तिरुमोली', पद ५-१, श्लोक ३४ का आधार 'तिरुवायमोली' पद १०-१०-६ तथा श्लोक ४७ का आधार 'तिरुवायमोली', पद १-५ माना गया है।

(तमिल में गरुड़वाहन पंडित द्वारा रचित) 'दिव्य सूर चरितै', (पिनपलकिय पेरु-माल जीयर लिखित) 'गुरुपरंपरा प्रभावम्, 'रामानुजाचार्य दिव्य चरितै' (तमिल), पेरिय तिरुमुडि अडैवु (आलवारों और आचार्यों पर तमिल में रचित ग्रन्थ), 'प्रपन्नामृत,' प्रबन्धम् पर लिखित विविधि भाष्यों में उपलब्ध रामानुजाचार्य सम्बन्धी उल्लेखों तथा शिलालेखों से श्री रामानुजाचार्य के सम्बन्ध में पर्याप्त विवरण मिलता है। उन्होंने पांच आचार्यों के यहां शास्त्रों का अध्ययन किया था। पेरिय नंबी (महापूर्ण) ही रामानुजाचार्य के प्रमुख गुरु थे। जिन्होंने उन्हें श्री वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित कराया था। उनके दूसरे गुरु तिरुक्कोटियूर नंबी (गोष्ठीपूर्ण) थे, जिनसे उन्होंने सम्प्रदाय के रहस्य-मंत्रों का परिचय प्राप्त किया। अपने गुरु तिरुमलैयाण्डान और आलवन्दार आलवान् से श्री रामानुज ने तिरुवायमोली का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था और बिरुमलै नंबी के यहां रामायण का अध्ययन किया था। इस प्रकार श्री रामानुज का ज्ञान क्षेत्र बहुत व्यापक था।[1] पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन और उनके द्वारा प्रसारित श्री वैष्णव धर्म के वैशिष्ट्य की उन्हें पूरी जानकारी थी। ३२ वर्ष की अवस्था में गृहस्थी को त्यागकर उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और मानव समाज के कल्याण के लिए अपना शेष सारा जीवन सेवा-कार्यों में अर्पित किया। श्रीरंगम् में रहकर उन्होंने श्री वैष्णव सम्प्रदाय को व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया। वहीं यज्ञमूर्ति नामक अद्वैतवादी विद्वान् को शास्त्रीय वाद-विवाद में परास्त किया। बाद में यज्ञमूर्ति श्री रामानुजाचार्य का शिष्य बन गया और उसने तमिल में 'ज्ञान-सार' तथा 'प्रमेयसार' नामक दो ग्रन्थ लिखे।[2]

फिर रामानुजाचार्य ने तीर्थ-यात्रा शुरू कर दी और रामेश्वरम् बद्रीनाथ तक की यात्रा की। पश्चिमी मार्ग से (महाराष्ट्र की तरफ से) उत्तर भारत जाकर पूर्वी मार्ग से (उड़िसा की ओर से) दक्षिण लौट आए। अपने प्रमुख शिष्य कुरंत्तालवार (कुरेश) को भी साथ लेकर श्रीनगर पहुंचे और वहां 'बोधायन वृत्ति' की एक हस्तलिखित प्रति उन्हें प्राप्त हुई। फिर वे श्रीरंगम् लौट आए और 'श्री भाष्य' लिखने लगे। श्रीरामानुजाचार्य से 'श्रीभाष्य' सुनकर उनके शिष्य कुरेश ने ही उसे लिपिबद्ध किया। उसके बाद उन्होंने 'वेदान्त दीप', 'वेदान्तसार', 'वेदार्थ संग्रह', आदि ग्रन्थों की रचना की। श्रीभाष्य की रचना उन्होंने, तिरुक्कोवलूर. तिरुप्पति, अलकरकोविल, तिरुवट्टार, आलवार तिरु-नगरी, तिरूवण परिसारम्, तिरुवनन्तपुरम् आदि प्रसिद्ध (आलवार भक्तों से वर्णित) वैष्णव केन्द्रों की यात्रा करने के पश्चात् ही की थी।[3] फिर उन्होंने दूसरी बार उत्तर भारत की यात्रा शुरू कर दी। अजमेर, मथुरा, वृन्दावन, बद्रीनाथ आदि स्थानों में शास्त्रार्थ में अनेक पंडितों को परास्त किया। फिर वे बनारस और पुरी गए और पुरी में उन्होंने एक मठ की स्थापना भी की।

१, *The Philosophy of Visistadvaita*, P. N. Srinivasachari, p. 516.
२. *A History of Indian Philosophy*, (Vol. 3), Dr. S. N. Dasgupta, p. 102
३, *Gopinatha Rao's Lectures*, p, 34 (foot note)

श्री रामानुज के जीवन-काल की एक प्रमुख घटना चोल राजा प्रथम कुलोत्तुंग के अत्याचार से बचने के लिए मैसूर जाकर वहीं श्रीवैष्णव धर्म के प्रचार में लग जाने की थी। प्रथम कुलोत्तुंग शैव था और बढ़ते हुए वैष्णव धर्म के प्रभाव से जलकर उसने वैष्णवधर्म के आचार्यों को मृत्यु दण्ड तक देने का निश्चय किया था। कुरेश और महापूर्णाचार्य के, जो वैष्णव धर्म को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे, नेत्र निकाल दिए गए। श्री रामानुज किसी न किसी तरह बचकर मैसूर आ गए और उन्होंने वहीं वैष्णव धर्म का व्यापक प्रचार शुरू कर दिया। वहां रहते हुए बहुत-से जैन धर्मावलंबियों को श्री वैष्णव धर्म में दीक्षित कराया। उनके प्रयत्न से होयसला राजा जैन मतावलंबी 'बिट्टि देव' ने श्री वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर अपना नाम 'विष्णुवर्धन देव' रख दिया। इसी राजा की सहायता से श्री रामानुज ने सन् १०९९ में मेलकोट नामक स्थान में प्रसिद्ध तिरुनारायण पेरुमाल वैष्णव मन्दिर (यादवाद्रि) की स्थापना की। यहीं वे बारह वर्ष तक रहे। चोल राजा प्रथम कुलोत्तुंग की मृत्यु के बाद वे श्रीरंगम् लौट आए और वहीं बहुत समय तक रहते हुए श्री वैष्णव संप्रदाय की सेवा में उन्होंने अनेक स्तुत्य कार्य किए। अनेक वैष्णव मन्दिरों का निर्माण कराया और मन्दिरों की उपासना-प्रणाली में 'प्रबन्धम्' को स्थान देकर मन्दिरों के संचालन की अच्छी व्यवस्था की। श्री रामानुज ने दक्षिण के विविध केन्द्रों में अनेक मठों की स्थापना की। इन मठों का श्री वैष्णव संप्रदाय के विकास और विस्तार में तथा वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रचार में बहुत बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने अपने प्रमुख शिष्यों को इन मठों के संचालन और श्री वैष्णव संप्रदाय के सिद्धांतों के प्रचार के लिए मठों के संचालकों के रूप में नियुक्त किया। उनके शिष्यों में सभी जातियों के व्यक्ति थे। आलवार भक्तों की उदार धार्मिक नीति को ही उन्होंने अपनाया। उनके प्रमुख शिष्य ७४ माने जाते हैं, जो विविध मठों के संचालन में लगे हुए थे और सबकी देखभाल स्वयं रामानुज करते थे। उनके मार्ग-निर्देशन पर, हज़ारों की संख्या में उनके अनुयायी वैष्णव भक्ति के प्रचार में लगे हुए थे। रामानुज ने बहुत से शैव धर्मावलंबियों को भी वैष्णव बना दिया था। प्रथम कुलोत्तुंग के बाद का चोल राजा विक्रम चोल (१११८-११३५ ई०) परम वैष्णव था और श्री रामानुज का शिष्य था। अनुमान किया जा सकता है कि राज्याश्रय-प्राप्ति के साथ-साथ श्री रामानुज के अद्भुत व्यक्तित्व के फलस्वरूप उस युग में वैष्णव भक्ति का कितना व्यापक प्रचार रहा होगा। आलवारोत्तर काल अर्थात् आचार्य-युग के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में श्री रामानुज की सेवाएं अनिर्वचनीय हैं। श्री रामानुज की अपार पांडित्य, उदार धार्मिक दृष्टिकोण[1]—तथा उनकी अद्भुत संगठन-

१. उनके गुरु नंबी ने उन्हें 'ओम् नमोनारायण' मंत्र की दीक्षा दी थी और जगदुद्धारक होने के कारण इस मंत्र को गोप्य रखने का आदेश दिया था। उन्हें यह चेतावनी भी दी थी कि इस वचन का पालन न करने पर उन्हें (रामानुज को) नरक मिलेगा। परन्तु श्री रामानुज ने आलवार भक्तों के समान संसार के प्राणियों के विषय-दुखों से उद्धार के निमित्त, अपने गुरु को दिए गए वचन की परवाह भी नहीं करके, उस मंत्र का रहस्य

शक्ति ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को बारहवीं शताब्दी में चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय धार्मिक इतिहास में श्री रामानुजाचार्य के समकक्ष किसी दूसरे महान् वैष्णवाचार्य के दर्शन नहीं होते।

श्री रामानुज की रचनाएं

श्री रामानुज आलोच्य युग के सबसे बड़े चिंतक और वैष्णव आचार्य थे, जिन्होंने श्री वैष्णव संप्रदाय को सुदृढ़ दार्शनिक आधार-भूमि देकर उसे सभी प्रकार से संपन्न कर दिया, जिससे वह परवर्ती शताब्दियों में भी उत्तरोत्तर विकास करता गया। श्री वैष्णव संप्रदाय के लिए श्री रामानुज की रचनाएं उनकी वैयक्तिक सेवाओं के समान ही अमूल्य निधि हैं। उनकी प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं—

वेदार्थ-संग्रह, श्रीभाष्य, वेदान्त दीप, वेदान्तसार, गीता भाष्य, नित्य ग्रन्थ तथा गद्य त्रयम्। (शरणागति गद्य, श्री रंगम् गद्य, और श्री वैकुण्ठ गद्य) आदि। 'वेदार्थ संग्रह' में श्री रामानुज ने अद्वैत तथा शैवमत की कमियों का उल्लेख करके परस्पर विरोधी उपनिषद्-ग्रन्थों के दृष्टिकोण में समन्वय स्थापित करते हुए ईश्वर जीव के संबन्ध में शरीर-शरीरी-तत्त्व का निरूपण किया है। वेदान्त दीप और वेदान्तसार दोनों में वेदों के सारभूत तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन है। श्री रामानुज की सर्वश्रेष्ठ कृति 'श्रीभाष्य' ही है, जिसमें ब्रह्म-सूत्रों के आधार पर विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन का निरूपण है। 'गीता भाष्य' श्री यामुनाचार्य की 'गीतार्थ-संग्रह' का ही विस्तृत निरूपण है और इसमें भक्ति को ही श्रेष्ठ साधना-मार्ग सिद्ध किया गया है। 'शरणागति गद्य' में प्रकृति का काव्यात्मक निरूपण के साथ प्रपत्ति के महत्त्व का विवेचन है। 'श्री रंगम गद्य' में श्री रंगनाथ के प्रति बढ़ी श्रद्धा और भक्ति का समर्पण कर उनके सामीप्य की कामना की गई है। 'वैकुण्ठ गद्य' में परमधाम और परमानन्द पर तीव्र अनुभूतियों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है। 'नित्य ग्रन्थ' में सच्चे वैष्णव भक्त के दैनिक आदर्शों पर प्रकाश डाला गया है। समस्त रामानुज-साहित्य का अध्ययन करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में दार्शनिक विवेचन में आलवार-भक्तों के प्रबन्धम् से बहुत कुछ आधार ग्रहण किया है। आलवार भक्तों के प्रबन्धम् को उन्होंने वैष्णव मन्दिरों की उपासना-प्रणाली में जो महत्त्व दिया है, उससे प्रबन्धम् के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा का पता चल जाता है। चूंकि उनका युग शास्त्रार्थ और शास्त्रीय खण्डन-मण्डन का था, अतः उन्हें शंकराचार्य के मायावाद के खण्डन के लिए तथा भक्ति-मार्ग के तमिलेतर प्रदेशों में प्रचार के लिए संस्कृत में भक्ति और दर्शन के ग्रन्थ लिखने पड़े।

आलवार-प्रबन्धम् के प्रति श्री रामानुज का ऋण

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धांतों के मूल स्रोत प्रबन्धम् ही है। विशेषकर

सबको बताया। उनका कहना था कि गुरु-बचन का पालन न करने पर एक ही तो व्यक्ति (रामानुज) नरक जाएगा, परन्तु समूचे मानव समाज का उद्धार तो हो जाएगा। मेलकोट के मंदिर में उन्होंने निम्नतम जाति के लोगों को भी प्रवेश दे दिया था।

नम्मालवार की तिरुवायमोली को ही श्री वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति और दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ माना गया है। श्री रामानुजाचार्य ने प्रबन्धम् के प्रति पूर्वाचार्यों की पूर्ण आस्था की मान्यता स्वीकार करते हुए प्रबन्धम् में प्रतिपादित वैष्णव भक्ति और दर्शन के मूल सिद्धांतों को अपनी विचारधारा में उचित स्थान दिया और एक प्रकार से प्रबन्धम् के उन्हीं विचारों को युगानुकूल शास्त्रीय विवेचन का रूप दिया।[1] आलवार भक्तों के प्रति श्री रामानुज की आस्था के कारण ही, (श्री रामानुज की स्तुति में उनके समकालीन अमुदनार द्वारा) रचित 'रामानुज नूट्टन्तादि' को प्रबन्धम् के परिशिष्ट के रूप में भक्तों ने स्थान दिया है।

श्री रामानुज की सभी रचनाओं में प्रबन्धम् के विचार बिखरे पड़े हैं। श्री मणवाल मामुनि (१४ वीं शताब्दी) का कथन है कि जहां बातें वेद, उपनिषद् और गीता से स्पष्ट नहीं होतीं, वहां भाष्यकार श्री रामानुज ने द्राविड़-प्रबन्धों का ही सहारा लिया था।[2] प्रबन्धम् और रामानुजाचार्य के विचारों में साम्य को प्रदर्शित करने के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। गीता भाष्य (४ : ८) में 'साधु' लोगों की परिभाषा देते हुए श्री रामानुज ने आलवार भक्तों के दिव्य जीवन की ओर ही संकेत किया है।[3] श्रीभाष्य में परब्रह्म को 'अनन्त गुणसागर' तथा 'अपरिमित गुणसागर' के रूप में श्री रामानुज ने भगवद् गुणों की जो व्याख्या की है, वह पूर्णतः आलवारों से वर्णित भगवद् गुणों के आधार पर ही है, 'तिरुवायमोली' में नम्मालवार ने भगवद् गुणों का जो विशद परिचय दिया है, वही रामानुज के द्वारा अपनाया गया है। भगवान् के सगुण रूप के वर्णन में उनके कमल नयनों का जो वर्णन रामानुज ने प्रस्तुत किया है, उसमें प्रबन्धम्[4] का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। रामानुजाचार्य के 'श्रीरंगम् गद्य' में भगवान् के सृष्टिकर्ता, पालनहार आदि विविध रूपों का जो निरूपण किया गया है, वह निश्चय ही तिरुवायमोली के अनुसार है।[5] श्रीभाष्य के प्रारम्भ और समापन के प्रसंगों में 'तिरुवायमोली' के विचारों का ही अनुसरण किया गया है।[6] गीता-भाष्य में भक्ति-तत्त्वों का विवेचन आलवार-प्रतिपादित वैष्णव भक्ति के अनुरूप ही हुआ है। जीव के एक मात्र भगवदनुग्रह पर निर्भर रहने के संबन्ध में श्री रामानुज की विचारधारा प्रबन्धम् से प्रभावित ही है। 'तिरुवायमोली' के अनेक पदों[7] में इन विचारों का

---

१. "The Alvars provided the soil out of which Ramanuja's teaching naturally sprang and in which later it could bear fruit. He is not really (as has been erroneously asserted) the 'morning star' of the Bhakti movement; that is a name far more fitly given to Alvars; but in him bhakti shines in the full splendour of a great philosophical exposition."—'*The Hymns of Alvars*', J. S. M. Hooper, pp. 7-8

२. 'आचार्यहृदयम् का भाष्य', श्लोक ६५

३. *The Glory of the Tamil Prabandha*, p. 37

४. 'तिरुवायमोली', ८ : ५ : ११

५. वही, १ : ४ : ६

६. *The Glory of the Tamil Prabandha*, pp. 72-86

७. 'तिरुवायमोली', ८-८-१, १-५-७, ८-८-२

मूल रूप ढूंढ़ा जा सकता है। 'शरणागति गद्य' में शरणागति तत्त्वों का पूरा-पूरा विवेचन प्रबन्धम् का अनुसरण ही है।[१] ब्रह्म-सूत्रों के भाष्य में अनेक स्थानों पर प्रबन्धम् के विचार ज्यों के त्यों स्थान पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रबन्धम् के विचारों का ही संस्कृत अनुवाद रखा गया हो।[२] 'नित्य ग्रन्थ' में सच्चे वैष्णव के दैनिक कार्यों में आलवार भक्तों के मीठे पदों का श्रवण करने की ओर भी संकेत हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि श्री रामानुज ने आलवारों की विचारधारा को ही प्रमुख रूप से अपने विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिक विवेचन में आधार मानकर महत्त्व दिया है।[३] सभी विद्वान् यह मानते हैं कि रामानुज के भक्ति-विषयक सिद्धांतों पर आलवारों की विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा है। श्री दिनकर का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि प्रपत्ति तो आलवारों की शरणागति को रामानुज द्वारा दिया हुआ पारिभाषिक नाम है। आलवारों में भक्ति के जो लक्षण थे, उन्हें अन्य भक्तों के लिए भी निर्दिष्ट करने को रामानुज ने 'प्रपत्ति' शब्द निकाला है।[४]

श्री रामानुज की शिष्य-परंपरा

श्री रामानुजाचार्य ने वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए श्री संप्रदाय को सुदृढ़ बनाने के हेतु अनेक शिष्यों को अपने साथ में रखा था। ऐसे उनके ७४ प्रमुख शिष्य थे जो उनके द्वारा विविध-स्थानों में स्थापित ७४ मठों की देखभाल के लिए नियुक्त हुए थे और जिनको 'सिंहासनाधिपति' कहा जाता था। ये सभी शिष्य श्रेष्ठ भक्त और सुयोग्य विद्वान् थे, जो श्री वैष्णव संप्रदाय के सिद्धांतों में पूर्णतः निष्णात् थे। इन शिष्यों ने श्री रामानुज की रचनाओं तथा प्रबन्धम् पर भाष्य और टीकाएं लिखने के साथ ही साथ स्वतंत्र ग्रन्थ भी रचे हैं। रामानुज के इन ७४ शिष्यों के द्वारा वैष्णव-भक्ति आन्दोलन को बड़ी शक्ति प्राप्त हुई। श्री रामानुज के ७४ शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं

१. आलवन्दार का पुत्र चोट्टै नंबी, २. महापूर्ण का पुत्र पुण्डरीक, ३. गोष्ठी-पूर्ण का पुत्र यामुनाचार्य, ४. सुन्दरबाहु, ५. शैलपूर्ण का पुत्र रामानुज, ६. पराशर, ७. आण्डान् का पुत्र रामानुज, ८. मध्यमार्य (नंगविल आलवान), ९. गोमतार्य (कोमडन्तालवान) १०. तिरुक्कोवलूर आलवान्, ११. तिरुमोहूर आलवान्, १२. पिल्लै-पिल्लै आलवान्, १३. वरद विष्णु आचार्य (नाडादूर), १४. विष्णु चित्त (एकलालवान), १५. मरीचार्य (मिलकालवान्), १६. नेय्युण्डालवान्, १७. बालार्य (चिरियालवान्), १८. अनन्तार्य (अनन्तालवान्), १९. वेदान्ती आलवान्, २०. कोयिल आलवान्, २१. उत्कलार्य (उक्कालालवान्), २२. हरणपुरार्य (अरणपुरतालवान्), २३. गोविन्द (एंबार), २४. प्रणाथिर्हार

---

१. *The Glory of Tamil Prabandha*, pp. 94-95

२. वही, पृ० १०४

३. श्री पी० बी० अण्णंगराचार्य स्वामी ने 'द्राविडोपनिषद् प्रभाव सर्वस्वम्' नामक अपने तमिल-ग्रन्थ में प्रबन्धम् से अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि रामानुज-दर्शन का आधार प्रबन्धम् ही है।

४. 'संस्कृति के चार अध्याय', श्री रामधारीसिंह दिनकर, पृ० २९८

(किडांबीयाच्चान), २५. बालार्य (कणियनूर चिरियालवान्), २६. ईच्चम्वाडी आचान, २७. कोंगिलाच्चान, २८. ईच्चम्वाडी जीयर, २९. तिरुपति नल्लान, ३०. चट्टम पिल्लै जीयर, ३१. तिरुवेल्लरै जीयर, ३२. आट्कोण्डीवल्ली जीयर, ३३. तिरुनगरी पिल्लै, ३४. कारांजी सोमयाजी, ३५. अलंकार वेंकटवर, ३६. नंबी करुन्देवर, ३७. देवराज भट्टर, ३८. पिल्लै उरैन्तैयुडैयार, ३९. कुरुकेश (पिल्लान), ४१. वल्लार, ४२. कण्णपुरत्ताचान, ४३. मुनिपेरुमाल, ४४. अम्मंगी पेरुमाल, ४५. मारुतियाण्डान, ४६. मारुनि तिरियाण्डान, ४७. सोमयाजी आण्डान, ४८. जीयर आण्डान, ४९. ईश्वराण्डान, ५०. ईयुण्णी पिल्लैआण्डान, ५१. पेरियाण्डान, ५२. चिरियाण्डान, ५३. कुरिंचिपुरम् आण्डान, ५४. अम्मंगी आण्डान, ५५. आलवन्दार आण्डान, ५६. देवराज मुनि, ५७. तोण्डनूर नंबी, ५८. मरुदूर नंबी, ५९. मलुवूर नंबी, ६०. तिरुकुरुंकुडी नंबी. ६१. कुरुव नंबी, ६२. मुडुम्बैनांबी, ६३. आन्ध्रपूर्ण (वडुक नंबी), ६४. वंगीपुस्तु नंबी ६५. परांकुश नंबी, ६६. अम्मंगी अम्माल, ६७. वरदार्यन्, ६८. उत्कल अम्माल, ६९. चोट्टै अम्माल, ७०. मुडुम्बै अम्माल, ७१. कोमाण्डूर पिल्लै, ७२. कोमाण्डूर इलैय वल्ली, ७३. किडांबी पेरुमाल, और ७४. आर्कोट्टु आलवान्।[1]

श्री रामानुज के प्रमुख शिष्य कुरुकेश ने (जो कुरन्तालवान या पिल्लान के नाम से भी विख्यात थे), श्री रामानुज की प्रेरणा से ही नम्मालवार की 'तिरुवायमोली' पर एक बृहद् भाष्य लिखा।[2] और उसे विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन का मूल ग्रन्थ स्थापित किया। रामानुज के शिष्य (जो ७४ शिष्यों में नहीं थे) यज्ञमूर्ति ने 'ज्ञानसार' तथा 'प्रमेयसार' नामक दो ग्रन्थ तमिल में लिखे। इस प्रकार उनके सभी शिष्यों ने वैष्णव भक्ति के प्रचार में अनेक ग्रन्थों और भाष्यों की रचना की। श्री रामानुज की रचनाओं पर भी परवर्ती काल में अनेक व्याख्या ग्रन्थ निकाले गए। स्वयं रामानुज के निर्देशन में उनके शिष्य राममिश्र देशिक ने 'श्रीभाष्य विवृत्ति' नाम से एक ग्रन्थ लिखा। यह छै अध्यायों में श्री भाष्य के प्रमुख सिद्धांतों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ था। फिर रामानुज के श्रीभाष्य पर सुदर्शन सूरि का प्रसिद्ध भाष्य 'श्रुत प्रकाशिका' निकला। 'श्रुत प्रकाशिका' पर और एक आलोचनात्मक ग्रन्थ श्री वीरराघव दास द्वारा प्रस्तुत हुआ। इस परंपरा में १६वीं शती के शठकोपाराचार्य नामक विद्वान् द्वारा 'भाष्य प्रकाशिका-दूषणोद्धार' के नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। 'श्रुत प्रकाशिका' पर एक और ग्रन्थ वादुल श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत 'तूलिका' के नाम से हुआ। 'श्रुत प्रकाशिका' का सार देने के निमित्त 'श्रुत प्रकाशिका सार संग्रह' के नाम से एक ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। श्री रामानुज के एक दूसरे शिष्य वत्स्य वरदन द्वारा 'तत्त्व-सार' नाम से 'श्रीभाष्य' पर एक टीका-ग्रन्थ लिखा गया। उक्त ग्रन्थ की आलोचना वीर राघवदास ने 'रत्न-सारिणि' नामक ग्रन्थ में की।

---

१. *The Life and Teachings of Sree Ramanujacharya*, C. R. Shrinivasa Aiyengar, pp. 297-98

२. इसे 'सहस्र गीति व्याख्या' कहते हैं, जिसका प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर पड़ा।

वादुल वरदन ने 'तात्पर्य-दीपिका' नाम से एक ग्रन्थ लिखा जो 'श्रीभाष्य' का एक व्याख्या-ग्रन्थ था। रामानुज के सिद्धान्तों का व्यवस्थित विवेचन अप्पय दीक्षित के 'न्याय मुक्ता मालिका' में हुआ। रामानुज के श्रीभाष्य पर परवर्ती प्रमुख आचार्य श्री वेदान्त देशिक ने भी एक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा था, जिसका नाम था 'तत्त्व दीपिका'। वेदान्त देशिक के समकालीन मेघनाद्रि द्वारा इसी विषय पर 'न्याय-प्रकाशिका' नामक एक और ग्रन्थ लिखा गया। इस प्रकार श्रीभाष्य पर निम्नलिखित और भी अनेक व्याख्या ग्रन्थ निकले—'मित प्रकाशिका', 'मूलभाव प्रकाशिका', 'गुरुभाव प्रकाशिका', 'श्रुति दीपिका', 'तत्त्व मार्तण्ड', 'तत्त्व दर्पण', 'भेद दर्पण', 'सिद्धान्त चिन्तामणि', 'न्याय द्वय मणि-संग्रह', 'प्रायोग रत्नमाला', 'भाव दीपिका', 'सुबोधिनी', 'अधिकार चिन्तामणि', 'ब्रह्म-सूत्र दीपिका', 'श्रीभाष्य सारार्थ संग्रह', 'न्याय सिद्ध ज्ञान व्याख्या', 'रामानुज सिद्धांतसार', 'यतीन्द्रमत दीपिका', 'वेदान्त विजय', 'श्रीभाष्य वर्तिका' आदि अनगिनत ग्रन्थ श्री रामानुज की रचनाओं की विशद व्याख्या करने के लिए परवर्ती दो-तीन शताब्दियों में लिखे गए, जिनकी संख्या मात्र से यह स्पष्ट हो जाएगा कि रामानुज की रचनाओं ने परवर्ती आचार्यों और पंडितों को कितना प्रभावित किया था।

रामानुज के परवर्ती आचार्य

एक सौ वीस वर्ष की लम्बी आयु के बाद श्रीरामानुज का जीवन काल ई० १०३७ में समाप्त हुआ। श्री रामानुज के पश्चात् भी श्री वैष्णव संप्रदाय को श्रेष्ठ आचार्यों की अविश्रृंखल परंपरा प्राप्त हुई। इन सभी आचार्यों ने श्री वैष्णव संप्रदाय के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। इनकी सेवाओं के कारण वैष्णव भक्ति-आन्दोलन और भी अधिक प्रसारित हो सका। श्री रामानुज के एक परवर्ती आचार्य राममिश्र अथवा सोमयाजी आण्डान थे जिन्होंने श्रीभाष्य पर 'विवरण' नामक एक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा। उन्हें विवरण-कार भी कहा जाता है। इनकी और भी अनेक रचनाओं का उल्लेख परवर्ती आचार्य श्री वेदान्त देशिक ने किया है। श्री रामानुज के प्रमुख शिष्य कुरेश (कूरत्तालवान) ने भी 'सहस्रगीति व्याख्या' के अतिरिक्त 'श्री वैकुण्ठ स्तवः'. 'अति मानुष्य तत्त्व','सुन्दर बाहुस्तवः', 'वरदराज स्तवः', 'श्री स्तवः' आदि ग्रन्थ लिखे। इन पांच स्तोत्र-ग्रन्थों में आलवार भक्तों की स्तुति गाई गई है और उनमें प्रबन्धम् के अनेक विचार-रत्नों का उल्लेख किया गया है।[१]

पराशर भट्टर १२वीं शताब्दी एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य थे। ये कुरेश के पुत्र थे। परवर्ती प्रमुख आचार्य श्री वेदान्त देशिक को श्री भट्टर की रचनाओं ने बहुत ही प्रभावित किया है। रामानुजोत्तर आचार्यों में श्री वेदान्त देशिक के पहले श्री वैष्णव संप्रदाय में श्री भट्टर का ही विशेष महत्त्व है। कहा जाता है कि इन्होंने एक प्रसिद्ध अद्वैतवादी विद्वान् को नौ दिन के शास्त्रार्थ के उपरान्त

१. *The Glory of the Tamil Prabandha*, p. 123

तर्क में परास्त किया और उन्हें श्री वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित कराया। अद्वैत-वादी विद्वान् के इस प्रश्न पर कि उनके तर्कों का मूल स्रोत क्या था श्री भट्टर ने बताया कि प्रबन्धम् ही उनके सारे पांडित्य का स्रोत है। भट्टर की प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं—'श्रीरंगम् राजस्तव', 'श्री गुण रत्न कोष', 'अष्ट श्लोकी', 'श्री रंगनाथ स्तोत्रम्' तथा 'भगवद् गुण दर्पण'। ये सभी ग्रन्थ भक्ति-परक काव्य-ग्रंथ हैं, जो श्री वैष्णव संप्रदाय की काव्य संपत्ति है। इनके ग्रंथों पर प्रबन्धम् का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। 'भगवद्गुण दर्पण' तथा 'श्रीरंगम् राजस्तव' वास्तव में प्रबन्ध के पदों के ही सार-संग्रह-रूप हैं। इन ग्रंथों के अनेक श्लोक प्रबन्धम् के अनेक पदों से वैचारिक साम्य रखते हैं। प्रबन्धम् के प्रति श्री भट्टर की विशेष आस्था स्पष्ट है।[1] इन स्तुति-ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री भट्टर ने विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिक विवेचनार्थ कुछ दर्शन-ग्रन्थ भी लिखे थे, जिनका उल्लेख श्री वेदान्त देशिक ने अपने ग्रन्थों में किया है। इनमें दो प्रमुख ग्रन्थ 'तत्त्व-रत्नाकर' और 'अध्यात्म काण्ड द्वय विवरण' थे, जो अब उपलब्ध नहीं हैं।[2]

श्री भट्टर के बाद के आचार्य वरद विष्णु मिश्र थे। श्री वेदान्त देशिक ने इनका उल्लेख अपनी रचनाओं में किया। ये बहुत बड़े पंडित थे, जिनके नाम से बहुत-सी रचनाएं मिलती हैं। इन्होंने रामानुज-दर्शन अर्थात विशिष्टाद्वैतवादी चिंतन को पुष्ट करने के निमित्त अनेक ग्रन्थ रचे थे। 'मत-यथात्म्य-निर्णय' इनकी प्रसिद्ध रचना थी जो सुदर्शन सूरि की 'श्रुत-प्रकाशिका' पर टीका परि-लक्षित होती है। इनका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध था। श्री रामानुज के द्वारा नियुक्त ७४ सिंहासनाधिपतियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था।[3] नारायण मुनि के नाम से एक आचार्य थे जो रामानुज के शिष्य श्रीरंगनारायणा-चार्य के प्रिय शिष्य थे। ये भी १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जीवित प्रमुख वैष्णव आचार्य थे। इन्होंने यामुनाचार्य के 'स्तोत्र रत्न' पर भाष्य लिखा था, और अपने गुरु श्रीरंगनारायणाचार्य (वंगीवंगेश्वर) की रचनाओं की विशद व्याख्या भी प्रस्तुत की थी। श्री नारायण मुनि को षष्ठी प्रबन्ध-निर्माता' (६० ग्रन्थों के रचयिता) भी कहा गया है। इनकी रचनाओं में उपलब्ध ४ हैं, जो इस प्रकार हैं—'अष्टश्लोकी-व्याख्या', 'आराधन संग्रह-कारिका', 'भगवद् गीतार्थ संग्रह विभाग' तथा 'भाव प्रकाशिका'। कहा जाता है कि इनको 'नंजीयर' (हमारे संत) की उपाधि श्री पराशर भट्ट ने इनकी अपार विद्वत्ता के उपलक्ष्य में दी थी।[4] श्री वैष्णव संप्रदाय तथा विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन को इनका योगदान बहुत ही श्लाघनीय रहा। अतः श्री वैष्णव संप्रदाय के प्रमुख आचार्यों में नंजीयर की गणना है। कहा जाता है कि नंजीयर ने प्रबन्धम् पर एक बृहद् भाष्य भी तैयार

१. *The Glory of the Tamil Prabandha*, pp. 132-135.
२. *Vedanta Desika, His Life, Works and Philosophy*, Dr. Satyavrata Singh, p. 121
३. वही, पृ० १२३
४. 'श्रीरंगमुम आलवार आचार्यकलुम', एम० आर० राजन, पृ० १०६

किया था। नंजीयर के ग्रंथों पर प्रबन्धम् का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। ये 'उभय वेदान्ती' थे।

वरदाचार्य या वत्स्य वरदन (जो नाडादूर अम्माल के नाम से तमिल में विख्यात थे) रामानुजोत्तर श्री वैष्णव संप्रदाय की आचार्य परंपरा में एक प्रमुख आचार्य थे। ये आत्रेय रामानुज के गुरु थे। ये कांचीपुरम के श्री वरदराज मन्दिर के विशाल भवन में बैठकर श्री संप्रदाय के सिद्धांतों पर व्याख्यान देते थे। इनकी प्रमुख रचनाएं ये हैं—'तत्त्वसार', 'तत्त्व निर्णय', 'आराधना कारिका', 'परमार्थ श्रुति', 'प्रपन्न पारिजात', 'प्रमेय माला' आदि। १३ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक प्रमुख वैष्णव आचार्य सेनेश्वरार्य थे, जिनकी रचनाओं ने वेदान्त देशिक को प्रभावित किया था। प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य सुदर्शन भट्ट वत्स्यवरदन (वरदाचार्य) के शिष्य थे और श्री वेदान्त देशिकाचार्य के समकालीन थे। इनकी रचनाएं इस प्रकार हैं—'श्रुत प्रकाशिका' (श्रीभाष्य पर विस्तृत टीका), 'श्रुत प्रदीपिका', तथा 'तात्पर्य दीपिका'। इन सभी रचनाओं का प्रभाव श्री वेदान्त देशिक पर पड़ा था। ये भी १३ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के प्रमुख आचार्य थे। आत्रेय रामानुज (अप्पुल्लर) श्री वेदान्त देशिक के गुरु थे और रामानुज की शिष्य-परंपरा में चौथे आचार्य थे। ये 'वेदान्त-उदयणाचार्य' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनका जीवनकाल ई० १२२१ से १२९५ तक का था। ये कांचीपुरम में रहते थे। इनकी सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'न्याय-कुलिश' थी। मेघनाद्र सूरि श्री वेदान्त देशिक के समकालीन आचार्य थे। ये वेदान्त देशिक के समय में 'तेन्कलै' दल के प्रमुख प्रसिद्ध आचार्य थे। इन्होंने तीन रचनाएं की थीं—'न्याय प्रकाशिका', 'न्याय द्वय मणि', तथा 'भाव प्रबोध'। रामानुजोत्तर काल के सर्वाधिक प्रसिद्ध आचार्य और श्री वैष्णव संप्रदाय के प्रधान प्रवर्तक श्री वेदान्त देशिकाचार्य थे जिन्होंने श्री वैष्णव संप्रदाय को विकास के शिखर पर पहुंचा दिया था।

'नंजीयर' की शिष्य-परंपरा में उनके प्रमुख शिष्य नंपिल्लै (लोकाचार्य प्रथम) थे, जिन्होंने प्रबन्धम् के प्रचार के हेतु अपने शिष्यों के द्वारा विस्तृत टीकाएं लिखवाईं। नंपिल्लै के प्रमुख शिष्य छः थे—(१) पेरियवाच्चान पिल्लै, (२) वडक्कु तिरुवीथिपिल्लै, (३) पिन्पलकिय पेरुमाल जीयर, (४) ईयुण्णी मादवर (५) कन्दाडै नोलप्पर, तथा (६) तिरुवीथि पिल्लै भट्टर। इन सभी लोगों की विशेष आस्था प्रबन्धम् की ओर थी। पेरियवाच्चान पिल्लै ने प्रबन्धम् पर जो बृहद् भाष्य तमिल में लिखा था, वह 'ईडु इरुपत्तिनालायिरम्' कहलाता है। नंपिल्लै के दूसरे शिष्य वडक्कु तिरुवीथि पिल्लै ने भी तमिल में प्रबन्धम् पर एक विस्तृत भाष्य लिखा था। वडक्कु तिरुवीथि पिल्लै के पुत्र प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य श्री पिल्लै लोकाचार्य थे।

श्री पिल्लै लोकाचार्य

यह स्मरण रहे कि श्री रामानुजाचार्य ने श्री वैष्णव संप्रदाय के मान्य आधारभूत ग्रन्थों में तमिल प्रबन्धम् और संस्कृत के वेद-उपनिषद्-ग्रन्थों को समान

महत्त्व दिया था। रामानुज के परवर्ती आचार्यों में बहुत-से आचार्यों ने यद्यपि तमिल प्रबन्धम् के प्रचार में पर्याप्त सहयोग दिया तो भी उनका विशेष ध्यान संस्कृत में दार्शनिक विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने की ओर ही अधिक गया। यही कारण है कि पिल्लै लोकाचार्य के समय तक वैष्णव आचार्यों ने संस्कृत में अधिकाधिक दर्शन-विवेचन के ग्रन्थ रच डाले। उनका दृष्टिकोण अधिकाधिक दार्शनिक होता जा रहा था। उस युग में शास्त्रार्थ के लिए इस प्रकार के ग्रन्थों की आवश्यकता थी, जो वेद, उपनिषद्, तथा तर्क-शास्त्रों के तत्त्वों पर अधिक आश्रित थे। ऐसा प्रतीत होता था कि इन सिद्धान्तों का मोह संस्कृत और दार्शनिक विवेचन की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था और साधारण जनता की भाषा तमिल और शुद्ध भक्ति-तत्त्वों से उनका ध्यान हटता जा रहा था। इसी समय पिल्लै लोकाचार्य ने विद्वानों का ध्यान फिर से दार्शनिक चिंतन की अपेक्षा भक्ति परक ग्रन्थ लिखने की ओर आकृष्ट किया और आलवार प्रबन्धम् को फिर से सर्वाधिक महत्त्व देना शुरू कर दिया। रामानुजोत्तर काल में आचार्यों का जो दृष्टिकोण गूढ़ दार्शनिक विवेचन की ओर चला गया था, उसे पुनः भक्ति परक बनाने का श्रेय पिल्लै लोकाचार्य को है। कहने का तात्पर्य यह है कि आलवार-काल में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन व्यापक जन-आन्दोलन के रूप में था और रामानुज के समय में उसमें बुद्धि-पक्ष का अधिक समावेश हो गया। रामानुजोत्तर काल के आचार्यों ने उसमें बुद्धि-पक्ष को और भी गंभीर बना दिया था। फिर से उसे भाव मूलक, अनुभूति-परक, हृदय-पक्ष संवलित बनाने का कार्य श्री पिल्लै लोकाचार्य के समय से ही हुआ।[1]

श्री पिल्लै लोकाचार्य का जीवन-काल ई० १२६४ से १३२७ तक था। श्री पिल्लै लोकाचार्य के समय वैचारिक मतभेद के कारण श्री वैष्णव संप्रदाय के अनुयायियों में दो दल हो गए थे—'तेन्कलै' और 'वडकलै'। श्री पिल्लै लोकाचार्य तेन्कलै सिद्धान्त के प्रथम प्रमुख व्याख्याता माने जाते हैं। इनके समय में श्रीरंगम् पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ और श्री वैष्णव भक्तों पर आफत आई। इस संकट काल में श्रीरंगम् मंदिर के भगवद्-विग्रह को सुरक्षित स्थान में ले जाकर फिर संकट के दूर होने पर स्थापित करने का श्रेय इन्हीं को है। इन्होंने तेन्कलै मत के निरूपणार्थ १८ रहस्यों के ग्रन्थ लिखे जो तमिल-संस्कृत मिश्रित मणि-प्रवाल शैली में थे। इन ग्रन्थों में 'अर्थ-पंचकम्' और 'तत्त्व त्रयम्' दार्शनिक पक्ष पर लिखे गए मिलते हैं। इनके सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्री वचन भूषणम्' में सांप्रदायिक भक्तिपरक आचार-पक्ष का निरूपण हुआ है। 'अर्थपंचकम्' में विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन का सरल स्पष्ट विवेचन है। ईश्वर, जीव, पुरुषार्थ उपाय

---

१. "In the days of the Alvars, the Srivaisnava movement was primarily a religious movement of mystic and intoxicating love of God and self-surrender to Him. In the days of Ramanuja it became intellectualized for some time, but it slowly elapsed into the religious position."—*A History of Indian Philosophy*, (Vol. 3), Dr. S. N. Das Gupta, p. 112.

और विरोधी—इस प्रकार छः तत्त्वों के अन्तर्गत विषय-विवेचन है। ईश्वर के पांच रूपों—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार रूपों का विस्तृत परिचय दिया गया है। मोक्ष-प्राप्ति के उपायों में प्रपत्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। सिद्धांत-निरूपण में प्रबन्धम् के विचारों का विशेष रूप से सहारा लिया गया है। 'तत्त्व त्रयम्' में भी दार्शनिक तत्त्वों का विशिष्टाद्वैतवादी प्रबन्धम्-अनुसरणी विवेचन है। 'श्रीवचन भूषणम' में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 'श्री' (लक्ष्मी) का महत्त्व और भगवदनुग्रह-दान में उसकी विशेष कृपा की चर्चा की गई है। द्वितीय अध्याय में भगवदनुग्रह के स्वरूप पर विश्लेषण है। इसमें अहेतुकी प्रपत्ति पर ज़ोर दिया गया है। तृतीय अध्याय में भक्त के द्वारा भगवान् की सेवा में अपने आपको पूर्णरूपेण अर्पित कर देने की घोषणा है। चतुर्थ अध्याय में आचार्य या गुरु के महत्त्व का प्रतिपादन है। इस कृति का समापन वैष्णव-भक्तों तथा आचार्यों के प्रति उनको जाति और कुल का विचार न करके, श्रद्धा और सेवा-भाव रखने के निवेदन के साथ होता है। पिल्लै लोकाचार्य की प्रसिद्ध तमिल-रचनाएं इस प्रकार हैं—(१) 'अमलनादिपिरान व्याख्यानम्', (२) 'कण्णिनुल चिरुतांबु व्याख्यानम्', (३) 'तिरुप्पावै आराइरपडी', (४) 'षट्टोलै' तथा, (५) 'आचार्य हृदयम'।

पिल्लै लोकाचार्य की शिष्य-परंपरा में श्री मणवाल मामुनि का प्रमुख स्थान है, जिन्होंने 'तेन्कलै' सिद्धांत का और भी व्यापक रूप में प्रचार किया और वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को सच्चे अर्थ में जन-आन्दोलन का रूप दिलाया। पिल्लै लोकाचार्य के तेन्कलै मत के सशक्त प्रचारक और लोकप्रिय आचार्य श्री मणवाल मामुनि थे। इन सभी आचार्यों ने अपने उदार भाव के कारण वैष्णव भक्ति के क्षेत्र को सभी निम्न जातियों के लोगों के लिए भी खोल रखा था, जिसके फल-स्वरूप १४ वीं शताब्दी में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन सर्वाधिक शक्तिशाली सार्व-जनीन आन्दोलन बन गया था।[१]

'तेन्कलै' और 'वडकलै'

यह बताया जा चुका है कि पिल्लै लोकाचार्य के समय में श्री वैष्णव संप्रदाय के अनुयायियों में वैचारिक सिद्धांत-भेद के कारण दो दल हो गए थे—'तेन्कलै' और 'वडकलै'। श्री वैष्णव संप्रदाय में आलवारों की भक्ति-पद्धति में प्रतिपादित प्रपत्ति ही स्वीकृत थी। परन्तु रामानुजोत्तर कुछ आचार्य प्रपत्ति को भी 'भक्ति-योग' के समान 'प्रपत्ति-योग' मानकर संस्कृत के शास्त्रों से प्रमाण देकर उसकी शास्त्रीय व्याख्या करने लगे थे। श्री पिल्लै लोकाचार्य ने आलवार भक्तों की निर्हेतुकी प्रपत्ति को ही श्री वैष्णव संप्रदाय की भक्ति-भावना का स्वरूप मान कर प्रपत्ति की विस्तृत व्याख्या की। अपने सिद्धांतों के निरूपण के लिए प्रबन्धम् को ही आधार भूत ग्रन्थ ठहराया। परिणामतः इस सैद्धांतिक भेद को लेकर श्री

१. "The Chief contribution of Tenkalaism to the cause of Sri Vaisnavism consists in its democratic dissemination to all people, of the truths of the 'darsana' confined till then to the higher castes."
—*The Philosophy of Visistadvaita*, P. N. Srinivasachari, p. 524

वैष्णव संप्रदाय के अनुयायियों में दो दल हो गए। श्री पिल्लै लोकाचार्य की प्रबन्धमानुमोदित निर्हेतुकी प्रपत्ति को मानने वाले 'तेन्कलै' कहलाने लगे। फिर संस्कृत शास्त्र-ग्रन्थों पर अधिक आधारित रहने वाले पंडित-वर्ग के लोग 'वडकलै' कहलाने लगे।[1] प्रबन्धम् में आलवार भक्तों के पदों के शरणागति-तत्त्व का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह संपूर्ण शरणागति या प्रपत्ति ही है और वही प्रपत्ति का आदर्श स्वरूप है। आलवार भक्तों ने अपने वास्तविक अनुभव के आधार पर ही संपूर्ण शरणागति को उचित सिद्ध किया था। आलवारों के अनेक पदों में 'शरणागति तत्त्व' पर विशेष जोर दिया गया है। आत्मदोषों पर पश्चात्ताप प्रकट करना, अपनी आश्रयहीनता का अनुभव करना, भगवान को ही एक मात्र सहारा समझना और उद्धार की प्रार्थना करते रहना ही प्रपत्ति या शरणागति है। शरणागति में भगवान् का अनुग्रह विशेष अपेक्षित है। यद्यपि भक्ति और प्रपत्ति—दोनों में भगवान् के अनुग्रह और प्रेम का प्रकर्ष होता है और दोनों का फल भगवान् ही है, तथापि दोनों में अंतर यह है कि भक्ति में साधन विशेष का स्वीकार है, प्रपत्ति में साधनानुष्ठान का स्वीकार नहीं है, केवल भगवान् का स्वीकार है। प्रपत्ति में भगवत्सेवा, भगवान् के नाम-जप-कीर्तन आदि निषेध नहीं, लेकिन कार्य आवश्यक भी नहीं हैं। सामान्य रूप से शरणागति तत्त्व के अन्तर्गत स्व-दोषों का प्रकाशन, भगवान् की भक्तवत्सलता पर दृढ़ विश्वास, उद्धार की प्रार्थना, भगवान् से शरण की याचना, आत्मसमर्पण आदि अंग रूप में आते हैं। आत्म-दोष तथा अपनी अकिंचनता का प्रकाशन करते हुए अभिमान के त्याग, दीनता, तथा आत्म निवेदन सहित भगवान् से शरण पाने की आर्तपुकार ही आलवारों की प्रपत्ति का सार है। इसमें निर्हेतुकी प्रपत्ति ही परिलक्षित होती है। यही तेन्कलै वालों का मत है। वडकलै मत वाले भगवदनुग्रह प्राप्त करने के लिए भक्त को स्वयं परिश्रम करने की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं। भगवदनुग्रह को भक्त के परिश्रम का फल मानते हैं। तेन्कलै वालों के अनुसार जब भक्त निस्सहाय होकर भगवान् की शरण में अपने को पूर्ण रूप से समर्पित करता है, तब भक्त का उद्धार कर उसकी रक्षा करने का भार भगवान् पर ही है। यह तर्क वडकलै वालों को मान्य नहीं है। इस तात्त्विक भेद को लक्ष्य करके तेन्कलै वालों की प्रपत्ति संबंधी मान्यता को बिल्ली और उसके बच्चे के संबंध के (मार्जार-न्याय) और वडकलै की मान्यता को बन्दर और उसके बच्चे के संबंध के (मर्कट-न्याय) उदाहरणों से सधारणतया समझाया जाता है।

तेन्कलै वाले भगवदनुग्रह को प्राप्त करने में 'श्री' को हासयिका शक्ति के रूप में मानते हैं। वडकलै वालों को यह मान्य नहीं है तमिल-प्रवन्धम् का अध्येता होना ही प्रपन्न होना है यह तेन्कलै मत है, परन्तु वडकलै का दावा है कि केवल

१. तमिल-प्रदेश में संस्कृत को 'वडमोली' अर्थात् उत्तरी भाषा और तमिल को 'तेन्मोली' अर्थात् दक्षिणी भाषा कहा जाता है। इसी भाषा-भेद के आधार पर ही इन दो दलों के नाम पड़े हैं। संस्कृत के शास्त्र-ग्रन्थों पर आश्रित रहनेवाले 'वडकलै' के अनुयायी हो गए और तमिल-प्रबन्धम् पर आधारित रहनेवाले 'तेन्कलै' के अनुयायी बन गए।

प्रबन्धम् का पाठ करने से कोई प्रपन्न बन नहीं सकता। श्रेष्ठ प्रपन्न चाहे वह म्लेच्छ क्यों न हो, साधारण ब्राह्मण से भी अधिक सेव्य है, यह तेन्कलै मत है। वडकलै मत के अनुसार निम्न जाति के प्रपन्न को आदर देना चाहिए, परन्तु ब्राह्मण के समकक्ष उसे रखा नहीं जा सकता। इस प्रकार इन दोनों दलों में जहां भेद शुरू में सैद्धान्तिक रहा, वहां वह कालान्तर में व्यावहारिक क्षेत्र में भी उतर आया। फिर परवर्ती कुछ आचार्यों ने वडकलै और तेन्कलै के भेदों को स्पष्ट करने में ही अपनी विद्वता समझी। यद्यपि आचार्यों में मत-भेद केवल सैद्धान्तिक क्षेत्र में ही था, तो भी कालान्तर में वह भेद अनुयायियों के बीच में व्यावहारिक क्षेत्र में और भी गहरा होता गया। वडकलै और तेन्कलै के तात्त्विक भेदों की संख्या अठारह मानकर, इन अठारह भेदों पर विस्तार से प्रकाश डाला जाने लगा। ये १८ भेद इस प्रकार माने गए हैं।

भेदः स्वामिकृपाफलान्यगतिषु　　श्रीव्याप्त्युपायत्वयोः
तद्वात्सल्यदयानिरुक्तिवचसाः　न्यासे च　तत्कर्तरि।
धर्मत्यागविरोधयोः　　स्वविहितन्यासाङ्गहेतुत्वयोः
प्रायश्चित्तविधौ　　तदीयभजनेऽसुव्याप्तिकैवल्योः॥[१]

वास्तव में देखा जाए तो यह भेद केवल सैद्धांतिक है और रामानुजोत्तर कुछ आचार्यों की नई खोज का परिणाम है।[२] श्री वैष्णव संप्रदाय में मूलतः आलवारों की भक्ति-भावना का ही आदर्श प्रारंभ से ही स्वीकृत है। उसमें शास्त्रीय विवेचन का कोई महत्त्व नहीं है। आलवार भक्तों ने आत्म-गौरव-अभिमान के भाव को पूर्ण रूप से त्यागकर जाति-पांति, ऊंच-नीच के भेदभाव को मिटाकर संपूर्ण शरणागति को ग्रहण करने का जो आदर्श अपने प्रबन्धम् में प्रस्तुत किया है, वही श्री संप्रदाय की लोकप्रियता और व्यापकता का मूल रहस्य है। आलवारों की इस प्रपत्ति या संपूर्ण शरणागति रामायण में पूर्णरूप से परिलक्षित होती थी। यही कारण है कि श्री संप्रदाय में दीक्षित स्वामी राघवानन्द तथा उनके शिष्य रामानन्द ने रामोपासना में ही आलवार प्रतिपादित शरणागति तत्त्व को चरितार्थ माना। जब श्री वैष्णव-संप्रदाय में शरणागति तत्त्व को लेकर वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ था तथा तेन्कलै पक्ष में मान्य आलवार-अनुमोदित शरणागति-तत्त्व को ही लोक-रुचि के अनुसार अधिक प्रचार मिला, तब उसी काल-खण्ड की प्रधान-आवृत्ति के अनुसार ही श्री राघवानन्द तथा रामानन्द ने रामोपासना को (संपूर्ण शरणागति तत्त्व को पूर्ण रूप से निरूपित करने के कारण)

---

१. 'अष्टभेद संग्रहम्', लेखक : कन्दाडै अप्पन स्वामी
Gopalakrishnamacharya Commemoration Volume, page 3/01

२. "..... the so called differences between the Alvars and Ramanujists on the cardinal points of religious faith are a discovery of later research, when the writings of the Alvars had developed a huge commentary literature and Ramanuja's own writings had inspired many scholars to make commentaries on his works or to write independent treatises elucidating his doctrines."—*A History of Indian Philosophy*, (Vol. 3) Dr. S. N. Das Gupta, p. 86

स्वीकार कर उसी का प्रचार उत्तर भारत में किया। श्री राघवानन्द तथा रामानन्द द्वारा रामोपासना को स्वीकार कर उत्तरी भारत में राम-भक्ति के प्रचार में लग जाने की पूरी प्रेरणा को ठीक उसी समय श्री संप्रदाय में विद्यमान तात्त्विक परिसंवाद के संदर्भ में आलवारों के शरणागति तत्त्व को प्राप्त मान्यता का स्वाभाविक परिणाम ही समझना चाहिए। इस विषय पर उत्तरी भारत के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में श्री रामानन्द के योगदान की चर्चा करते समय आगे और भी विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

श्री वेदान्तदेशिकाचार्य

श्री रामानुजाचार्य के बाद श्री वैष्णव संप्रदाय के सर्वाधिक प्रसिद्ध और सफल प्रवर्तक श्री वेदान्तदेशिकाचार्य थे। देशिकाचार्य केवल दार्शनिक आचार्य ही न थे, बल्कि उच्चकोटि के कवि और सशक्त समाज-सुधारक भी थे। देशिकाचार्य का जन्म ई० १२६४ में कांचीपुरम के निकट तुप्पुल नामक स्थान में हुआ। कहा जाता है कि उनके माता-पिता ने तिरुप्पति जाकर श्री वेंकटेश्वर के दर्शन किए थे और पुत्र-लाभ की प्रार्थना की थी। श्री वेंकटेश्वर ने स्वप्न में उनकी माता को दर्शन देकर एक छोटा-सा घण्टा प्रदान किया था और उसे निगलने का आदेश देकर पुत्र-लाभ होने का आशीर्वाद भी दिया। इस घटना के बारह वर्ष के उपरान्त श्री देशिक का जन्म हुआ तो माता-पिता ने पुत्र का नाम वेंकटनाथ ही रखा। उपर्युक्त जनश्रुति के आधार पर संप्रदाय में वेंकटनाथ या वेदान्तदेशिक को विष्णु या वेंकटेश्वर के घण्टे का अवतार माना गया है। वेदान्तदेशिक के पिता का नाम आनन्द सूरि था और उनकी माता का नाम तोत्तारम्मा। देशिक की माता प्रसिद्ध आचार्य आत्रेय रामानुज की बहन थीं, जो वत्स्य वरदन के बाद श्री रामानुज के द्वारा स्थापित गद्दी के उत्तराधिकारी थे। श्री देशिक को विष्णु के घण्टे का अवतार मानने का प्रमाण यह भी है कि उन्होंने वैष्णव धर्म को व्यापक क्षेत्रों में घण्टे की ध्वनि के समान प्रसारित किया। परंपरा से ही उन्हें अच्छी ज्ञान-संपत्ति प्राप्त थी, जिसे उन्होंने अपने परिश्रम से और भी संपन्न किया। पांच वर्ष की अवस्था में ही देशिक ने अपनी विद्वत्ता और ज्ञान-गरिमा के कारण श्री संप्रदाय के तत्कालीन बड़े आचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। कहा जाता है कि इनकी अद्भुत ज्ञान-गरिमा से आश्चर्यचकित होकर श्री वरदाचार्य (वत्स्य वरदन) ने श्री रामानुज के समान ही श्री वैष्णव सप्रदाय के बड़े आचार्य हो जाने की भविष्यवाणी दी थी।

अपने बाल्यकाल में ही देशिक ने सभी शास्त्रों और धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर पूर्ण पांडित्य हासिल कर लिया था। उनके जीवन का ध्येय प्रमुख रूप से रामानुज-दर्शन का प्रचार ही था। दर्शन, धर्म, भक्ति तथा तर्क संबंधी तमिल और संस्कृत में अपने समय में उपलब्ध सभी ग्रन्थों का गहरा अध्ययन उन्होंने किया। श्रेष्ठ काव्य का रसास्वादन करने की भी विशेष रुचि उनमें थी। कालिदास, भवभूति तथा आलवार भक्तों के काव्यों का उन्होंने बड़ी तत्परता से अध्ययन किया था। नम्मालवार की रचनाओं की ओर उनकी विशेष रुचि

परिलक्षित होती थी। विविध-शास्त्रों का अध्ययन करके उन्होंने एक कुशल तार्किक की योग्यता भी अर्जित की थी। श्री देशिक श्री वरदाचार्य को अपने आदर्श गुरु के रूप में मानते थे। अध्ययन-काल के उपरान्त देशिक ने वैवाहिक जीवन में प्रवेश किया और उनका वैवाहिक जीवन बड़ा ही सन्तोषपूर्ण था। श्री आत्रेय रामानुज के देहान्त के बाद श्री देशिक कांचीपुरम की सांप्रदायिक गद्दी के उत्तराधिकारी बने। उस समय श्रीरंगम् की आचार्य-गद्दी के उत्तराधिकारी के रूप में श्री सुदर्शनाचार्य थे।

श्री देशिक ने कांचीपुरम में रहते हुए संस्कृत में अनेक दर्शन-ग्रन्थों का निर्माण किया और उनकी ख्याति बढ़ती जा रही थी। उन्हें 'वडकलै' मत के आचार्य मानकर तेन्कलै मत वालों को उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता और कीर्ति से ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। यही कारण था कि श्री देशिक ने कांचीपुरम से तिरुवयिन्तिपुरम जाकर वहां अपना केन्द्र स्थापित किया। तिरुवयिन्तिपुरम में रहते हुए उन्होंने तमिल और संस्कृत में अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया और श्री वैष्णव संप्रदाय के सर्वाधिक सशक्त दार्शनिक व्याख्याता तथा भक्त के रूप में उनका यश चारों ओर फैलने लगा। कहा जाता है कि १५ वर्ष तक वे तिरुवयिन्तिपुरम में रहे। वे १३ वीं शताब्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय भक्ताचार्य के रूप में माने जाते हैं।[1] तिरुवयिन्तिपुरम में रहते हुए उनके द्वारा तमिल में रचित भक्ति-पदों का बड़ा प्रचार हुआ और उनकी भक्तिपरक रचनाओं ने वैष्णव भक्तों को बहुत ही आकृष्ट किया। उनके कवि-रूप और आचार्य-तार्किक रूप को लक्ष्य करके ही उन्हें 'कवि तार्किक केसरी' कहा गया है।

कांचीपुरम श्री देशिक के वैष्णव भक्ति-प्रचार का प्रमुख केन्द्र रहा और वहां के वरदराज मन्दिर के प्रति देशिक का बड़ा आकर्षण था। कांचीपुरम में रहते हुए भी उन्होंने उच्चकोटि के काव्य-ग्रंथों का निर्माण किया। उनके श्रेष्ठ और बहुचर्चित ग्रन्थों की रचना यहीं पर हुई। कांचीपुरम में वैष्णव भक्ति-प्रधान वातावरण को युग-युग तक बनाए रखने का श्रेय श्री देशिक को ही है। कहा जाता है कि उन्होंने यहां एक जादूगर को भी तंत्र-मंत्र में परास्त किया था और इसी कारण से उन्हें सर्व-तंत्र-स्वतंत्र कहा गया है। कांचीपुरम से कुछ समय तक वे तिरुप्पति गए थे। तिरुप्पति के प्राकृतिक और भक्तिमय वातावरण ने उनको बहुत आकृष्ट किया था और उन्हें उच्चकोटि के काव्य-ग्रन्थ लिखने का उन्मेष दिया था।

श्री देशिकाचार्य के ग्रन्थों में उनके द्वारा दिए गए विवरणों से पता चलता है कि वे उत्तर भारत के प्रमुख विद्या-केन्द्रों से परिचित थे। सांप्रदायिक ग्रन्थों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि उन्होंने उत्तर भारत के प्रमुख भक्ति-केन्द्रों की यात्रा की थी। कहा जाता है कि मुनि विद्यारण्य से भी उनकी भेंट हुई थी और उन्होंने द्वारका आदि उत्तर भारत के प्रमुख धार्मिक केन्द्रों की तीर्थ

---

१. *Vedanta Desika, His Life, Works and Philosophy*, Dr. Satyavrata Singh, p. 14

यात्रा की थी। गुजरात की पतित धार्मिक दशा को देखकर उन्हें बड़ी चिंता हुई।[1] द्वारका-वास के समय के अपने अनुभवों का वर्णन भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। द्वारका में उन्हें ऐसे पंडित (कक्षावलम्बित पुस्तकाः) और भक्त (विस्तारित कूर्चभाराः) मिले जो छोटे-छोटे शासकों से आश्रय प्राप्त करने के हेतु सब कुछ करने को तैयार थे।[2] अपनी यात्रा के समय मथुरा की धार्मिक स्थिति का भी परिचय दिया है, जो उनके अनुसार सच्चे धार्मिक व्यक्ति के लिए रहने योग्य स्थान नहीं बना था। उन्होंने बद्रीनाथ की भी यात्रा की थी। बद्रीकाश्रम तथा हरिद्वार की यात्रा का भी विशद वर्णन श्री देशिक ने अपने ग्रन्थों में किया है। अयोध्या की यात्रा करने पर उसकी धार्मिक स्थिति को देखकर उन्हें बड़ी निराशा हुई। अयोध्या में उसकी भूतपूर्व धार्मिक कीर्ति का निशान तक उन्हें नहीं मिला।[3] श्री देशिक ने वाराणसी की स्थिति का भी चित्रण किया है। उस समय (१३वीं-१४वीं शती) भी वाराणसी की बहुत कुछ वही स्थिति थी, जो आज है। मोक्ष-प्राप्ति के हेतु साधकों का घूमना, मठाधिपतियों का पाखण्ड-पूर्ण व्यवहार, संस्कृत-शिक्षण का तथाकथित प्रचार, संन्यासियों के द्वारा धन-राशि का व्यर्थ व्यय, जनता का नैतिक पतन आदि बातों ने देशिकाचार्य को बहुत ही दुःखी बनाया।[4] प्रयाग के भी दर्शन उन्होंने किए थे। वहां संगम में पांडे लोगों के धार्मिक व्यभिचार पूर्ण व्यवहार को देखकर उन्हें बड़ी चिंता हुई।[5] उन्हें एक विचित्र योगी प्रयाग में देखने को मिला, जिसका परिचय उन्होंने "अष्टगयाश्राद्ध भोजननिरन्तराध्मातकुक्षिः" कहकर दिया है। आर्यावर्त और मध्य प्रदेश की धार्मिक स्थिति बहुत ही पतित थी और उन्हें उधर एक भक्ति-आन्दोलन की आवश्यकता दीख पड़ी। श्री देशिकाचार्य के द्वारा १३वीं-१४वीं शताब्दियों में उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण के सम्बन्ध में दिए गए प्रामाणिक विवरणों से हमारा तात्पर्य उस युग में हिन्दी-प्रदेश की धार्मिक स्थिति का तुलनात्मक परिचय कराना है, जबकि दक्षिण में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन चरमोत्कर्ष पर था। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन जिन परिस्थितियों में आलवारों के द्वारा प्रारम्भ किया गया था, लगभग वही परिस्थितियां १३वीं-१४वीं शताब्दियों में हिन्दी-प्रदेश में थीं। इस बात का प्रमाण श्री देशिकाचार्य के उत्तर भारतीय यात्रा-विवरण से मिल जाता है। बहुत संभव है कि वेदान्तदेशिकाचार्य ने अपनी उत्तर भारतीय यात्रा के समय विविध स्थानों में श्री वैष्णव-संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांतों का भी प्रचार किया होगा।

उत्तर से लौटकर वे दक्षिण के विविध केन्द्रों की यात्रा करने लगे। कांचीपुरम, तिरुवयिन्तिपुरम, तिरुप्पति और श्रीरंगम् में तो देशिक ने अनेक वर्ष

१. 'सर्वार्थसिद्धि', श्लोक, ५-१३

२. वही, ५-१४

३. "पाषण्डिमण्डलप्रचारखण्डितकार्तयुगधर्मोदेशः", 'सर्वार्थसिद्धि ६. २९

४. *Vedanta Desika, His Life, Works and Philosophy*—Dr. Satyavrata Singh, p. 20

५. 'सर्वार्थसिद्धि', ५-३३

बिताए। मैसूर के मेलकोट नामक (जहां रामानुज ने आचार्य-पीठ स्थापित किया था) स्थान के भक्तिमय वातावरण ने उन्हें आकृष्ट किया, जिसको वे दक्षिणी 'बद्रीकाश्रम' कहते थे। वे तिरुवनन्तपुरम् (केरल में) के प्रसिद्ध वैष्णव मंदिर के दर्शनार्थ गए थे और वहां के भक्तिमय वातावरण ने उन्हें प्रभावित किया था। दक्षिण के विविध वैष्णव-केन्द्रों की यात्रा कर श्री संप्रदाय के अनुयायियों के बीच उत्पन्न वडकलै-तेन्कलै-भेद को मिटाकर समन्वय कराने का प्रयत्न किया।

कहा जाता है कि श्रीरंगम् के श्री सुदर्शन भट्ट, पेरियाच्चान पिल्लै जैसे तेन्कलै मत के आचार्यों को जब कुछ अद्वैतमतवादी आचार्यों का सामना शास्त्रार्थ में करने में कठिनाई महसूस हुई, तब श्री देशिक को श्रीरंगम् बुलाया गया। इस निमंत्रण पर वे कांचीपुरम् से श्रीरंगम् गए। वहां उन्होंने तेन्कलै-वडकलै के सांप्रदायिक भेद को भूलकर रामानुज-दर्शन की सफल व्याख्या की और गौरव प्राप्त किया। वहीं उन्होंने एक प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य को परास्त किया। श्री सुदर्शन भट्ट (श्रीभाष्य के प्रसिद्ध व्याख्याता) ने उन्हें श्रीरंगम् की गद्दी भी प्रदान की और इस प्रकार कांचीपुरम् और श्रीरंगम् दोनों केन्द्रों के आचार्य-पीठों के वे संचालक हुए। श्रीरंगम् में उनका कार्य-क्षेत्र और भी व्यापक हो गया। यहीं उनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जो श्री वैष्णव-संप्रदाय की अमूल्य निधि है। श्रीरंगम् में रहते हुए उनकी बढ़ती हुई ख्याति से जलकर तेन्कलै मत के कुछ अनुयायी उन्हें कष्ट देने लगे, तो वे श्रीरंगम् छोड़कर कुछ समय के लिए सत्यमंगलम नामक स्थान में जाकर रहने लगे। यहीं की आचार्य-गद्दी उन्होंने अपने पुत्र वरदनाथ को दे दी और उसे श्री वैष्णव-संप्रदाय की सेवा में लगाया। यहीं उनका एक प्रिय शिष्य परकालन उन्हें मिला था, जिसने बाद में मैसूर में परकाल-मठ की स्थापना कर गुरु देशिक के भक्ति-दर्शन का प्रचार किया। सत्यमंगलम से लौटकर फिर श्रीरंगम् आते समय एक बड़ी ही असन्तोषजनक घटना हुई। मुसलमान आक्रमणकारियों ने ई० १३२७ के लगभग श्रीरंगम् के मन्दिर को लूटा और वहां के वैष्णव-भक्तों को अनिर्वचनीय कष्ट दिया। इस संकटकाल में देशिक मैसूर के मेलकोट चले गए थे और श्रीरंगम् की स्थिति के ठीक होने पर लौट आए। श्रीरंगम् में ई० १३६९ में श्री देशिक ने अपनी इहलोक-लीला समाप्त की।

श्री वैष्णव-संप्रदाय को श्री देशिकाचार्य की सेवा महान् थी। श्री देशिक अपने अपार पांडित्य, कुशल कवित्व, उदार दृष्टिकोण तथा नम्र व्यवहार के कारण अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय आचार्य माने गए थे। उन्होंने श्री वैष्णव-संप्रदाय के अनुयायियों के बीच समन्वय कराने का प्रयत्न किया। दोनों दलों में श्रेष्ठ आचार्य के रूप में उन्हें श्रद्धांजलि दी जाती है।[1] आचार्य-युग के

१. श्री देशिक की स्मरणांजलि करने के हेतु सन् १९६८ ई० में श्री वैष्णव संप्रदाय (दोनों दल) के अनुयायियों ने उनकी सप्तम जन्म शताब्दी के महोत्सव का देश-भर में आयोजन किया था। श्री संप्रदाय में श्री देशिक के महत्त्वपूर्ण स्थान को आज भी वैष्णव-जगत् श्रद्धा समेत मानता है।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से श्री देशिकाचार्य के योगदान के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उन्होंने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को पूरे दक्षिण भारत में ही नहीं, बल्कि उत्तर भारत के प्रमुख केन्द्रों में भी पहुंचाने का प्रयत्न किया था और उनकी महान् सेवाओं के कारण दक्षिण में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन उनके समय में चरमोत्कर्ष पर पहुंच सका।

श्री देशिकाचार्य की रचनाएं

देशिकाचार्य केवल दार्शनिक व्याख्याता न थे, बल्कि उच्चकोटि के कवि थे। उन्होंने तमिल में और तमिल-संस्कृत मिश्रित 'मणिप्रवाल' में तथा संस्कृत में अनेक श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थों का निर्माण भी किया है। अतः भक्त-कवि के नाते भी उनका महत्त्व है। उनके संबंध में एक और बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने आलवार भक्तों के प्रबन्धम् के प्रति बड़ी आस्था दिखाई थी और प्रबन्धम् के प्रचार में उत्साह लिया था।[1] यह बात कई प्रमाणों से स्पष्ट हो जाती है। वे सच्चे अर्थ में 'उभयवेदान्ती' थे। तमिल के वैष्णव भक्ति-साहित्य में देशिकाचार्य की भक्तिपरक रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तमिल की उनकी काव्य-प्रतिभा उच्चकोटि की थी, जो उनकी तमिल-कृतियों में परिलक्षित होती है। आलवार प्रबन्धम् ने उन्हें इतना प्रभावित किया था कि प्रबन्धम् पर उन्होंने संस्कृत में आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे, जिससे प्रबन्धम् का महत्त्व केवल संस्कृत जानने वाले पंडित भी जान सकें। प्रबन्धम् संबंधी उनकी तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं जो वैष्णव भक्ति-साहित्य की अमूल्य निधि हैं—'द्रामिडोपनिषद् तात्पर्य रत्नावली', 'द्रामिडोपनिषद् सारम्' और 'गौदा-स्तुति'। भक्त-कवि के रूप में उनके महत्त्व को सिद्ध करने वाले बहुत-से तमिल काव्य-ग्रन्थ हैं। उन्होंने तमिल और संस्कृत में एक सौ से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। डा० सत्यव्रत सिंह ने अपने ग्रन्थ में देशिक की ११९ कृतियों की सूची दी है।[2] वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के सन्दर्भ में तमिल और संस्कृत दोनों में रचित देशिक के ग्रन्थों का समान महत्त्व है। यहां विस्तार-भय से केवल उनके तमिल-ग्रन्थों का ही संक्षिप्त परिचय देना उचित समझते हैं। उनके संस्कृत-ग्रन्थों की सूची मात्र यहां दी जाती है—हयग्रीव स्तोत्रम्, गरुड़ पंचासत्, अच्युत शतकम्, देवनायक पंचासत्, वरदराज पंचासत्, दयाशतकम, शरणागति दीपिका, न्यास तिलकम्, यथोत्कारीस्तोत्र, अष्टभुजाष्टक, परमार्थ-स्तुति, दशावतार स्तोत्र, रघुवीर गद्य, गोपालविंशती, भगवधानसोपान, श्री स्तुति, भूस्तुति, गोदास्तुति, सुदर्शनाष्टक, न्यास-दशक, गरुड़ दंडक, न्यास विंशती, यतिराजसप्तति, वैराग्य पंचक, पादुका सहस्रम, द्रामिडोपनिषद् तात्पर्य रत्नावली, द्रामिडोपनिषद् सारम्, हंस सन्देश, यादावाभ्युदय, संकल्प सूर्योदय, परमत भंगम्, विरोध-परिहारम्, श्रीमद् रहस्य त्रय सारम्, मीमांसा पादुका,

---

१. 'गोदा-स्तुति', 'द्रामिडोपनिषद्', 'द्रामिडोपनिषद् तात्पर्य रत्नावली', 'द्रामिडोपनिषद् सारम्' आदि देशिक की रचनाएं आलवारों के प्रति उनकी आस्था के प्रमाण हैं।

२. *Vedanta Desika, His Life, Works and Philosophy,* Dr. Satyavrata Singh, pp. 39-41

न्ताय परिशुद्धि, न्याय-सिद्ध ज्ञान, तत्त्वमुक्तालाभ, सर्वार्थसिद्धि, तात्पर्यचन्द्रिका, गीतार्थ-संग्रह-रक्षा, स्तोत्र रत्न भाष्य, तत्त्व-टीका, अधिकरणसारावली, शतदूषणी, निक्षेप-रक्षा, रहस्य-रक्षा, सच्चरित्र रक्षा तथा श्री पंचरात्र-रक्षा।

वेदान्तदेशिक के तमिल-भक्ति-ग्रन्थ[1]

१. *रहस्य त्रय सारम्*—यह तमिल में लिखित श्री देशिक का विशिष्टाद्वैत-वादी दर्शन की व्याख्या करने वाला बहुचर्चित ग्रन्थ है, जो वडकलै मत का आधार-ग्रन्थ माना जाता है। श्री वैष्णव संप्रदाय में इस ग्रन्थ का बड़ा प्राधान्य है।

२. *अभिरुत रंजनी*—इसमें ३४ पद्य हैं। यह वैष्णव भक्तों के लिए भक्ति-रसामृत सिन्धु है।

३. *अधिकारसंग्रहम्*—यह श्री संप्रदाय के सिद्धांतों का परिचय देने वाला रहस्य-ग्रन्थ है, जिसमें भक्ति-दर्शन का सरस विवेचन है।

४. *अभिरुतआस्वादिनि*—इसमें ३७ पद्य हैं। इसमें श्री वैष्णव-संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांतों में शरणागति तत्त्व का विशेषकर विवेचन है। रामायण के प्रसंगों का उल्लेख कर शरणागति-तत्त्व की व्याख्या की गई है।

५. *परमपद सोपानम्*—इस ग्रन्थ में परम पद अर्थात् परमधाम को पहुंचने के सोपानों का विवेचन है। विवेक, विरक्ति, निर्वेद, प्रसाद, उत्क्रमण, इत्यादि नौ सोपानों की चर्चा है और अंतिम सोपान परब्रह्म-प्राप्ति है।

६. *परमतङ्गम्*—इसमें २४ अध्याय हैं। सरल तमिल शैली में दूसरे मत-मतान्तरों की कमियों की ओर संकेत कर श्री वैष्णव संप्रदाय के सिद्धांतों की श्रेष्ठता का निरूपण किया गया है।

७. *मेइवरद माम्मियम्*—यह तमिल में रचित विष्णु-स्तुति गीतों का संग्रह है। नाटकीय शैली में यह काव्य प्रारंभ होता है। भगवान् विष्णु की विविध लीलाओं की ओर संकेत है।

८. *अडैक्कल पत्तु*—इसमें दस पद्य हैं जो शरणागति तत्त्व का सरल शैली में विश्लेषण करते हैं, भगवान् की शरण में जाने के अपने अनुभव का भी देशिक ने इसमें वर्णन किया है।

९. *अर्थपंचकम्*—यह तमिल में रचित सरस सिद्धांत-ग्रन्थ है। भगवत्स्व-रूप, जीव का स्वरूप, मोक्षोपाय, आदि पांच तत्त्वों का दस पद्यों में विवेचन है।

१०. *श्री वैष्णव-दिनसरी*—श्री वैष्णव धर्मानुयायी के दैनिक कर्तव्यों की चर्चा है। बहुत ही सरल शैली में सार-गर्भित ग्रन्थ है।

११. *तिरुचिन्नमालै*—इसमें भगवान् के चिह्नरूपी 'तिरुमन्त्रद्वयम्', 'चरमश्लोक' आदि तत्त्वों का तमिल में सुन्दर परिचय दिया गया है। यह भग-वान् के 'करुणानिधान' होने के कई उदाहरण देकर सुन्दर गेय पद-शैली में रचित काव्य-ग्रन्थ है।

---

१. श्री वेदान्तदेशिक की कृतियों पर आलोचनात्मक विवरण 'श्री वेदान्तदेशिक सप्तम जन्म शताब्दी स्मारिका' में संकलित कुछ साहित्यिक निबन्धों में दिए गए हैं। ये द्रष्टव्य हैं।

१२. *पन्निरु नामम्*—इसमें भगवान् के बारह पवित्र नामों की विशेषताओं की व्याख्या है। स्तोत्र शैली में रचित तमिल का श्रेष्ठ भक्ति-काव्य है।

१३. *तिरुमंतिर चुरुक्कु*—इस ग्रंथ में तोंडरडीपोडी आलवार की रचना तिरुमालै का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'तिरुमंत्र' अर्थात् पवित्र मंत्र का इसमें वर्णन है। सांप्रदायिक तत्त्वों का विवेचन है।

१४. *द्वय चुरुक्कु*—इसमें भगवान् की शरण में जाने का सन्देश है। 'श्री' की कृपा-दृष्टि का भी उल्लेख है।

१५. चरम श्लोक चुरुक्कु—इसमें गीता के उपदेशों का संक्षिप्त रूप है। जीव के कल्याण के लिए इन उपदेशों को स्वीकार करने का सन्देश है।

१६. *गीतार्थ संग्रहम्*—इसमें श्रीमद्भगवद्गीता के १८ अध्यायों में बताए गए विषयों का संग्रह है। यह गीतार्थ संग्रहम् तमिल में रचित बहुत ही महत्त्व-पूर्ण भक्ति-ग्रंथ है।

१७. *मुम्मणिक्कोवै*—श्री देशिक की तमिल-रचनाओं में काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व है। 'अंतादि' छन्द में तमिल में रचित इस काव्य के केवल दस पद्य ही अब उपलब्ध हैं। ये मधुर भक्ति को लक्ष्य करने वाले पद्य हैं। भक्तिरस का यह एक महान् काव्य-ग्रंथ है।

१८. *नवमणिमालै*—इसमें तिरुवयिन्तिपुरम् मन्दिर के विष्णु भगवान् के अर्चावतार रूप की स्तुति में नौ पद्य हैं। प्रत्येक पद्य में एक रत्न का उल्लेख किया गया है। इसमें देशिकाचार्य ने नायिका-भाव से प्रिय मिलन के लिए आतुरता प्रकट की है। यह मधुर भक्ति-भाव का एक उत्कृष्ट काव्य है।

१९. *प्रबन्ध सारम्*—इस तमिल भक्ति-ग्रंथ में प्रबन्धम् के पदों में निहित सार-गर्भित तत्त्वों का महत्त्व स्पष्ट किया गया है और कुछ पदों में आलवार भक्तों की बड़ी श्रद्धा के साथ स्तुति की गई है।

२०. *आहार-नियमम्*—इसमें वैष्णव-भक्तों को शुद्ध खाद्य पदार्थों के संबंध में धार्मिक दृष्टि से उचित नियम बताए गए हैं। वैष्णव भक्तों के सदाचार के हेतु यह ग्रंथ रचा गया प्रतीत होता है।

२१. *संप्रदाय-परिशुद्धि*—यह श्री वैष्णव संप्रदाय के आचरण पक्ष पर प्रकाश डालने वाला ग्रंथ है। संप्रदाय के उद्देश्यों को स्पष्ट करके प्रत्येक अनुयायी के कर्तव्यों की ओर संकेत है।

२२. *तत्त्व पदवी*—श्री वैष्णव संप्रदाय के प्रमुख तत्त्वों का सरल शैली में विवेचन है।

२३. *रहस्य पदवी*—यह तमिल के 'कुरल' छन्द में रचित भक्ति-काव्य है। इसमें प्रमुख वैष्णव तत्त्वों का परिचय दिया गया है।

२४. *तत्त्व-नवनीतम्*—विशिष्टाद्वैतवादी तत्त्वों का विवेचन तमिल की सरस शैली में किया गया है। इस ग्रंथ का नाम पूर्णरूप से सार्थक सिद्ध होता है।

२५. *रहस्य-नवनीतम्*—संप्रदाय के तात्त्विक रहस्यों का इसमें उद्घाटन हुआ है। गुरु-महिमा पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

२६. *तत्त्व-मातुकै*, और २७. *रहस्य-मातुकै*—इन दोनों ग्रंथों में भक्ति-दर्शन के सिद्धांतों के उदाहरण आलवार आचार्यों के जीवन-वृत्तों तथा वचनों से दिए गए हैं।

२८. *तत्त्व सन्देशम्*, और २९. *रहस्य-सन्देशम्*—इन दोनों ग्रन्थों में परमपद-प्राप्ति के लिए मुमुक्षु के जीवन-आदर्शों को स्पष्ट करने के लिए तत्त्वों का सरल शैली में परिचय दिया गया है।

३०. *रहस्य-सन्देश विवरणम्*—ब्रह्मानुभव-प्राप्ति के हेतु आलवार-प्रबन्धों के रहस्यों का सन्देश सार-रूप में दिया गया है।

३१. *तत्त्व रत्नावली*—विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के तत्त्वों का विश्लेषण है। प्रमुख तत्त्वों को बहुत स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

३२. *तत्त्व रत्नावली प्रतिपाद्य संग्रहम्*,

३३. *रहस्य रत्नावली*,

३४. *रहस्य रत्नावली हृदयम्*,

३५. *तत्त्व त्रय चुलकम्*,

३६. *रहस्य त्रय चुलकम्*,

३७. *रहस्य शिखामणि*,

३८. *अंजलि वैभवम्*,

३९. *उपहार संग्रहम्*,

४०. *सार संग्रहम्*,

४१. *प्रधान शतकम् (इन सब ग्रन्थों में भक्ति-तत्त्वों का विवेचन है)*।

४२. *मुनिवाहनभोगम्*—इसमें तिरुप्पाण आलवार के जीवन-वृत्त की ओर संकेत किया गया है। तिरुप्पाण आलवार की भक्ति-भावना के माहात्म्य को स्पष्ट करके उनकी स्तुति की गई है।

४३. *सारसारम्*—यह मूल-मंत्र-अष्टाक्षर मंत्र के महत्त्व को स्पष्ट करने वाला ग्रंथ है। इसमें श्रेष्ठ भक्त की तीव्र अनुभूतियों के दर्शन होते हैं। इसमें श्रीरंगनाथ की महिमा का गायन है।

४४. *अभयप्रदान सारम्*—रामायण-माहात्म्य को स्पष्ट करके शरणागति तत्त्व का विवेचन कवि ने इस ग्रंथ में किया है। इसमें दस अध्याय हैं। परतत्त्व निर्णय, शरणागति तात्पर्य निर्णय, शारण्य वैभव प्रकाश, परम धर्म निर्णय आदि दस अध्यायों में शरणागति-तत्त्व का विवेचन है। अंत में गुरु-कृपा पर प्रकाश डाला गया है।

४५. *हस्तगिरि माहात्म्यम्*—श्री रंगनाथ भगवान् के गुण-माहात्म्य का गायन है। सारा काव्य भक्ति-रस से सिंचित है।

उपर्युक्त ४५ तमिल भक्ति-ग्रंथों के अतिरिक्त श्री वेदान्तदेशिक ने तमिल में और भी अनेक भक्ति-ग्रन्थों की रचना की थी। ऐसे जो प्रमुख ग्रंथ उनके द्वारा तमिल में रचे गए और आज अनुपलब्ध हैं, वे इस प्रकार हैं—'मधुरकवि हृदयम्', 'निगम परिमलम', 'अधिकरण दर्पणम्', 'सार-दीपम्', 'पंदुप्पा', 'कलर्पा', 'अम्मा-

नैप्पा'; 'ऊसलपा' इत्यादि।

श्री मणवालमामुनि (ई० १३७०-१४४३)—श्री वेदान्तदेशिक और पिल्लै लोकाचार्य के समय के पश्चात् तेन्कलै और वडकलै मतावलंबियों के बीच सैद्धांतिक वैभिन्न्य और भी बढ़ गया। देशिकाचार्य के वडकलै मत की शिष्य परंपरा में प्रमुख रूप से वरदाचार्य (श्री वेदान्तदेशिक के पुत्र) ब्रह्मतंत्र-स्वतंत्र उनके अन्य शिष्य हुए। तेन्कलै मत के आचार्यों में पिल्लै लोकाचार्य के बाद प्रमुख स्थान श्री मणवालमामुनि का है। वास्तव में तेन्कलै मत के प्रधान आचार्य मणवालमामुनि ही हैं। इनका जन्म आलवार तिरुनगरी में हुआ था। ये पिल्लै लोकाचार्य के छोटे भाई थे। इनके पिता तोताद्रि (वडक्कु तिरुवीथिपिल्लै) श्रीरंगनाथ के बड़े भक्त थे। मणवालमामुनि को तेन्कलै संप्रदाय में श्री रामानुज के बराबर का स्थान दिया गया है। मणवालमामुनि ने बचपन में ही सभी शास्त्रों का अध्ययन किया और अपने गुरु श्री शैल अथवा तिरुवायमोली पिल्लै से नम्मालवार कृत तिरुवायमोली (तमिल-वेद) का सारा मर्म सीखा। श्रीरंगम् में रहकर मामुनि ने श्री संप्रदाय की सेवा में अपने को पूर्णरूपेण लगा दिया और वैष्णव-भक्ति प्रचार के लिए सभी प्रकार की सेवाएं कीं।

श्री रामानुज के प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा थी, जिसके कारण इन्होंने श्री रामानुज की स्तुति में 'यतिराजविंशती' नामक ग्रंथ लिखा। इन्हें इसी कारण से 'यतीन्द्र प्रवण' भी कहा गया है। इन्होंने संन्यास ग्रहण कर अपना सारा समय प्रबन्धम् के प्रचार में ही लगा दिया। श्री पिल्लै लोकाचार्य के भक्ति-सिद्धांतों को लोकप्रिय बनाने के हेतु इन्होंने बहुत ही आकर्षक शैली में 'तत्त्व-त्रय', 'श्रीवचन भूषण', 'आचार्य हृदयम्', तथा 'तिरुवायमोली' पर विस्तृत टीकाएं लिखीं। इनकी एक स्वतंत्र रचना 'उपदेश रत्नमाल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में आलवारों के विचार-रत्नों की माला प्रस्तुत की गई है। तेन्कलै मत वाले पूर्णतः प्रबन्धम् को ही श्री संप्रदाय का आधारभूत भक्ति ग्रन्थ मानते थे। अतः मणवालमामुनि की विशेष रुचि प्रबन्धम् के वास्तविक महत्त्व को प्रकाश में लाने की ओर थी। इनकी दूसरी रचनाओं में 'श्री देवराज मंगलम्' तथा 'आर्थी प्रबन्धम्' उल्लेखनीय हैं। वास्तव में श्री संप्रदाय को सार्वजनीन, सार्वभौमिक और लोकप्रिय धार्मिक रूप देने का श्रेय मणवालमामुनि को ही है। आलवारों के अनुभूतिपरक उदार वैष्णव धर्म को फिर से जन-साधारण के लिए आकर्षक और ग्राह्य रूप में प्रस्तुत कर मामुनि ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को अभूतपूर्व बल प्रदान किया। वैष्णव भक्ति के प्रचार में इनकी सेवाएं बड़े महत्त्व की हैं और अपने अनेक शिष्यों के द्वारा इन्होंने श्री संप्रदाय को और सुदृढ़ आधार भूमि प्रदान की। इनके प्रमुख शिष्य आठ थे, जिनको 'अष्ट दिग्गज' कहा जाता है, जो आठ दिशाओं में जाकर श्री वैष्णव संप्रदाय के आलवार-प्रतिपादित सरल और आकर्षक भक्ति-तत्त्वों का प्रचार करते थे। इनके आठ शिष्यों के नाम इस प्रकार थे—१. वानमामलै जीयर, २. पट्टर पिरान जीयर, ३. तिरुवेंकट रामानुज जीयर, ४. कोयिल अण्णन, ५. प्रतिवादी भयंकर अण्णन,

६. एरुम्पियप्पा, ७. अप्पिल्लै, और ८. अप्पिल्लार।

श्री मामुनि के मार्ग-दर्शन में श्री संप्रदाय उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त करता गया। इनके द्वारा विविध स्थानों में स्थापित आचार्य-पीठों ने वैष्णव भक्ति के प्रचार में बड़ा सहयोग दिया। इसके स्वाभाविक परिणाम के रूप में १४वीं और १५वीं शताब्दियों में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन समस्त दक्षिण भारत में एक बड़ा ही शक्तिशाली जन-आन्दोलन बन गया था। श्री संप्रदाय के आचार्यों ने वैष्णव भक्ति तथा श्री संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार देश के नाना भागों में जाकर किया था, जिसके फलस्वरूप श्री संप्रदाय दक्षिण भारत में ही नहीं सीमित होकर उत्तर-पश्चिम और पूरब की दिशाओं की ओर भी प्रसारित हुआ। इन दूरवर्ती प्रदेशों की अनुकूल परिस्थितियों के कारण दक्षिण से आनेवाला श्री संप्रदाय-प्रेरित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन और भी शक्ति संगृहीत करने लगा।

आलोच्य युग के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को वैष्णव-मठों और मन्दिरों का योगदान

वैष्णव मठों की परंपरा

आचार्य-युग के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वैष्णव-भक्ति के प्रचार के लिए तथा भक्तिमय वातावरण को बनाए रखने के लिए आचार्यों के द्वारा सांप्रदायिक संगठन को व्यवस्थित रूप दिया गया। पहले यह कहा जा चुका है कि श्री वैष्णव संप्रदाय के विकास और वैष्णव भक्ति के प्रचारार्थ श्री रामानुज ने अपने ७४ शिष्यों (सिंहासनाधिपतियों) की देख-भाल में विविध स्थानों में आचार्य-पीठ या मठों की स्थापना की थी। कहना नहीं होगा कि इन मठों ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रसार में बड़ा सहयोग दिया है। इन मठों के द्वारा वैष्णव भक्ति के प्रचार में अनेक प्रकार के सेवा-कार्य अपनाए गए। ये मठ वास्तव में वैष्णव भक्ति-साहित्य के अध्ययन और अध्यापन के सशक्त केन्द्र थे। इन मठों के अध्यक्ष श्रेष्ठ आचार्य थे जो वैष्णव भक्ति-वाङ्मय के निष्णात थे। इनमें संगठन-शक्ति भी अपार थी और इन्होंने वैष्णव भक्ति के प्रचार में अपना तन-मन-धन सब कुछ लगा दिया था। इनके साथ इनके अनगिनत शिष्य भी रहते थे, जो गुरु के द्वारा दिए गए निर्देशों को कार्यान्वित करने में दत्त-चित्त रहते थे। मठों में भक्ति-साहित्य के अध्ययन और अध्यापन के कारण सदा भक्तिमय वातावरण ही विराजमान रहता था। आचार्यों का एक प्रमुख कर्तव्य वैष्णव धर्म-प्रचार के साथ संप्रदाय के सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिए ग्रन्थ-निर्माण भी था, अतः इन मठों के भक्तिमय वातावरण में विपुल भक्ति-साहित्य का भी निर्माण हो सका। विशेषकर श्री वैष्णव संप्रदाय के मठों में आलवार प्रबन्धम् के अध्ययन तथा विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के विवेचन के लिए अनेकानेक सहायक ग्रंथ निर्मित हुए। इन मठों के अध्यक्ष मठों में स्थाई रूप से नहीं रहकर विविध स्थानों की यात्रा भी करते थे और सामान्य रूप से वैष्णव

भक्ति के प्रचार के साथ सांप्रदायिक सिद्धांतों का भी निरूपण करते थे। दूसरे मतावलंबियों के साथ परिसंवाद में भी भाग लेते थे और शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित करने की कोशिश करते थे।

ये आचार्य प्रमुख वैष्णव भक्ति-केन्द्रों के वैष्णव मन्दिरों के दर्शनार्थ जाया करते थे और अपने संपर्क में आने वाले सभी लोगों को श्री वैष्णव संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांतों का परिचय देकर उन्हें संप्रदाय में दीक्षित करा लेते थे। यह ध्यान देने की बात है कि ये आचार्य केवल दक्षिण में नहीं, बल्कि उत्तर भारत के अनेक प्रमुख भक्ति-केन्द्रों का भी भ्रमण करते थे, और वहां अपने अनुयायियों की संगोष्ठी आयोजित करते थे और उनके द्वारा संप्रदाय का विस्तार करने का प्रयत्न करते थे। इन मठों के आचार्य वैष्णव भक्ति-प्रचार के लिए भाषण दिया करते थे और उनके भाषण को सुनने के लिए भक्तजन बड़ी संख्या में एकत्र होते थे। धार्मिक संगोष्ठियों और विराट् सभाओं का आयोजन करते थे, जिनमें भाग लेने के लिए भक्त और पंडित आया करते थे। शिलालेखों से इस बात के अनेक प्रमाण मिले हैं कि दक्षिण के इन मठों के द्वारा संचालित विद्यालयों तथा मन्दिरों के दर्शनार्थ तथा ज्ञानार्जन के लिए भक्त उत्तर भारत से भी आते थे। विशेषकर श्रीरंगम् के भक्ति-केन्द्रों से इन उत्तर भारतीय संतों का संबंध रहता था।[१] इन मठों से तीर्थयात्रा करने वाले भक्तों को एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र को जाने के लिए तथा उनकी आवश्यकता के लिए हर प्रकार से सहायता मिलती थी। यह स्मरण रखने की बात है कि स्वयं श्री रामानुजाचार्य तथा उनके परवर्ती प्रमुख वैष्णवाचार्य उत्तर भारत के प्रमुख भक्ति-केन्द्रों की यात्रा करते थे, और वहां उन्होंने अपने संप्रदाय के केन्द्र भी स्थापित किए थे, जिनमें इनके अनुयायियों द्वारा श्री संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांतों का प्रचार होता था। यही कारण है कि १२वीं, १३वीं और १४वीं शताब्दियों में भी इन मठों के द्वारा उत्तर और दक्षिण के प्रमुख भक्ति-केन्द्रों के बीच संबंध स्थापित हो चुका था।

पुराने ज़माने के बौद्ध-विहारों की भांति इन मठों ने जन-हितार्थ बहुत-से कार्य किए थे।[२] इन मठों का कार्य-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत था। ये भक्ति-साहित्य के प्रचार के साथ सामाजिक स्तर पर भी अनेक सेवाएं साधारण जनता को पहुंचाते थे। इन मठों में रहनेवाले भक्त तथा संत साधारण जनता के संपर्क में थे। श्री वैष्णव संप्रदाय के उदार धार्मिक सिद्धांतों ने इन मठों की ओर जन-साधारण

---

१. "Both epigraphy and tradition point out to a fairly large immigration of Battas from North India to important religious centres in the South, particularly to Srirangam...Generally the Mathas which maintained their North Indian Contacts belonged to various schools..."—*Development of Religion in South India*, K.A. Nilakanta Sastri, p. 118

२. "The *Matha* (Monastery) which corresponded to the *Vihara* of Buddhism, was an important institution basically religious but with many ramifications in the intellectual and economic life of contemporary society."—*Development of Religion in South India*, K. A. Nilakanta Sastri, p. 116

को आकृष्ट किया था। इन मठों में गरीब वैष्णव भक्तों के निवास तथा भोजन का भी प्रबन्ध होता था। श्री संप्रदाय की धार्मिक उदारता के कारण निम्न जाति के बहुत-से लोगों को यहां आश्रय मिलता था और शास्त्रों का अध्ययन करने और शांतिपूर्वक जीवन बिताने का अवसर मिलता था। ऐसे लोग अपने को वैष्णवदास कहा करते थे और मठों के अध्यक्षों के निर्देशों पर स्थान-स्थान पर जाकर भक्ति-परक गीत (विशेषकर आलवार-प्रबन्धम्) गाया करते थे, जिससे धार्मिक वातावरण जारी रह सका। इन मठों के अध्यक्षों तथा भक्तों की निजी संपत्ति कुछ नहीं थी। पर मठों के सामान्य सेवा-कार्यों के लिए धनी भक्तों तथा शासकों से आवश्यक आर्थिक अनुदान मिलता था। इन मठों के नाम से पर्याप्त जायदाद रहती थी, जिसकी आय से मठों का संचालन होता था। संपन्न गृहस्थ भी इन मठों को उदारतापूर्वक दान देते थे, क्योंकि इस कार्य से उन्हें भगवत्सेवा के फल की आशा थी। इस प्रकार यह देखा जाता है कि भक्तिमय वातावरण को बनाए रखने के लिए इन मठों ने महान् सेवा की है। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रसार में निश्चय ही इन वैष्णव मठों का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाएगा।

दक्षिण भारत के वैष्णव आन्दोलन के इतिहास में वैष्णव मठों की विविध सेवाओं का कार्य-क्षेत्र अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रकार के वैष्णव-मठों की स्थापना प्रमुख रूप से श्री रामानुजाचार्य के समय हुई थी। श्री रामानुज ने बड़ी दूरदर्शिता से वैष्णव भक्ति के प्रचार के निमित्त इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना कर अपने सुयोग्य शिष्यों को इन केन्द्रों के कार्यों की देखभाल के लिए नियुक्त किया था। रामानुज के बाद में भी विविध आचार्यों के समय में पुराने मठों के अतिरिक्त नये मठों की स्थापना होती रही और उनकी शिष्य-परंपरा निरन्तर चलती रही। (और आज भी वर्तमान है) श्री वैष्णव संप्रदाय के इन मठों के अध्यक्षों को जीयर (संत अथवा धार्मिक अध्यक्ष) कहा जाता है। दक्षिण के प्रमुख वैष्णव मठों का संक्षिप्त परिचय यहां देना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि इन वैष्णव मठों ने आचार्य-युग में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को बहुत ही जीवन्त रखा।

मेलकोट मठ

श्री वैष्णव संप्रदाय के पांच प्रमुख मठ कर्नाटक प्रान्त में स्थापित हुए जो इस प्रकार थे—बेतूर का विजयनारायण मठ, तलकाट का कीर्तिनारायण मठ, तोडनूर का यादवनारायण मठ, मेलकोट का तिरुनारायण मठ तथा गडगु का लक्ष्मीनारायण मठ। इतिहास से पता चलता है कि इन मठों के साथ वैष्णव मन्दिरों का निर्माण भी विष्णुवर्द्धन (१२ वीं शती) ने किया था। श्री रामानुज का विशेष संबंध मेलकोट के मठ और मंदिर से था, जहां वे १४ वर्ष तक रहे थे। श्री रामानुज के प्रभाव के कारण मेलकोट के श्री वैष्णव मंदिर और मठ का महत्त्व बढ़ गया था। श्री रामानुज के समय के प्रमुख वैष्णव केन्द्रों में मेलकोट का भी स्थान था। यह बहुत प्रसिद्ध बात थी कि श्री रामानुज ने यहां के

वैष्णव मन्दिर में शूद्रों और निम्न जाति के भक्तों को भी प्रवेश दिलाया था।

यंदुगिरि मठ

कहा जा चुका है कि श्री रामानुज को चोल राजा प्रथम कुलोत्तुंग के अत्याचार से वचने के लिए मैसूर जाना पड़ा। मैसूर के निकट के मेलकोट में उन्होंने अपना केन्द्र बनाया। यदुगिरि मेलकोट मे कुछ दूरी पर स्थित मठ है और इस मठ के भी संस्थापक श्री रामानुज ही थे। इस मठ में तमिल-प्रबन्धों के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इस मठ के साथ निर्मित वैष्णव मंदिर में तमिल प्रबन्धों के गायन का प्रवन्ध श्री रामानुज ने किया था। इस मठ की स्थापना (ई०११०३) में करके इसके संचालन की व्यवस्था श्री रामानुज ने की थी।[1] मेलकोट छोड़कर श्रीरंगम् जाते समय श्री रामानुज ने अपने प्रिय शिष्य (देशाद्रि) तिरुनारायण जीयर को यहां नियुक्त किया था। तभी से लेकर आज तक इस मठ ने वैष्णव भक्ति के प्रचार में उल्लेखनीय सहयोग दिया है।

परकाल मठ

इस मठ का प्रधान केन्द्र मैसूर है। श्री वेदांतदेशिक के प्रमुख शिष्य परकाल द्वारा इस मठ की स्थापना हुई और इस मठ में वेदान्तदेशिक की रचनाओं का विशेष अध्ययन होता रहा। साथ ही विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन तथा तमिल-प्रबन्धों के प्रचार के हेतु भी अनेक ग्रन्थों का निर्माण इस मठ के तत्त्वावधान में हुआ।

श्री वानमामलै मठ

श्री मणवाल मामुनि (१४ वीं शती के उत्तरार्ध) इस मठ के संस्थापक थे। इस समय यह तेन्कलै मत वालों का एक प्रमुख साम्प्रदायिक मठ माना जाता है। श्री मणवाल मामुनि ने इस मठ के प्रथम जीयर के रूप में अपने शिष्य श्री रामानुज जीयर को नियुक्त किया था और तेन्कलै सिद्धान्तों का प्रचार उत्तर भारत में जाकर करने का आदेश भी उन्हें दिया था।[2] इस मठ के प्रथम जीयर से लेकर परवर्ती काल के सभी आचार्य (जीयर) देश के नाना भागों में जाकर श्री वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार करते थे। उत्तर भारत के अनेक केन्द्रों में इन आचार्यों ने अपने मठ की शाखाएं स्थापित की थीं। इस मठ के पांचवें जीयर श्री वेंकट रामानुज जीयर ने आलवार तिरुनगरी में एक और मठ स्थापित किया और आलवारों के नाम पर मन्दिरों की स्थापना की थी। इस मठ के एक परवर्ती आचार्य ने वृन्दावन में एक मठ स्थापित किया। स्पष्ट है कि इन मठों के आचार्यों ने वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रचार में उल्लेखनीय योगदान दिया है। इसी मठ के तत्त्वावधान में ही श्री सम्प्रदाय से सम्बन्धित मठों की स्थापना द्वारका, काशी, अयोध्या, हरिद्वार, ऋषिकेश, कानपुर तथा प्रयाग में हुई।

---

१. The Vaishnava Maths in South India, *Vedanta Kesari*, 1957, p. 168

२. वेदान्त केसरी, १९५७, पृ० १७१

अहोविला मठ

अहोविला मठ की स्थापना श्री श्रीनिवासाचार्य के द्वारा ई० १३६८ में अहोविला नामक स्थान में हुई। इसके संस्थापक श्रीनिवासाचार्य एक बड़े वैष्णव भक्त थे, जो शठकोप महादेशिकन के नाम से भी प्रसिद्ध थे। वे वेद और तमिल-प्रबन्धों के अच्छे ज्ञाता माने जाते थे। उन्होंने कांचीपुरम जाकर पांच वर्ष तक अध्ययन किया था। श्रीनिवासाचार्य के अनेक शिष्यों ने इस मठ के तत्त्वावधान में अनेक अच्छे कार्य किए थे, जिनके कारण यह मठ बहुत अल्प समय में ही बहुत प्रसिद्ध हो गया था। श्रीनिवासाचार्य ने काफी भ्रमण कर देश के विविध केन्द्रों में इस मठ की शाखाएं खोलीं और अपने विशेष पांडित्य से भक्तों और पंडितों को प्रभावित किया। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए विपुल मात्रा में वैष्णव भक्ति-साहित्य का निर्माण भी इस मठ के द्वारा कराया गया। इस मठ के संस्थापक श्रीनिवासाचार्य बड़े ही प्रभावशाली व्यक्ति थे और उन्होंने विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के प्रचार के लिए दक्षिण भारत और उत्तर के अनेक केन्द्रों में इस मठ की शाखाएं स्थापित कीं। इस मठ के दूसरे जीयर श्रीनारायण शठकोप भी बड़े विद्वान् आचार्य थे। उन्होंने ६० भक्ति-प्रधान ग्रन्थों की रचना की थी। अतः उन्हें 'षष्टि-प्रबन्ध निर्माता' भी कहा जाता था। यह बहुत प्रसिद्ध है कि इस अहोबिला मठ के सातवें जीयर के समय में श्री चैतन्य महाप्रभु अपनी दक्षिण भारतीय यात्रा के समय अहोबिला मठ गए थे और वहां के जीयर के अतिथि के रूप में कुछ दिन ठहरे। अहोबिला मठ में तमिल प्रबन्धम् तथा विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के अध्ययन और अध्यापन में लगे पंडितों और मठ के विविध कार्य-कर्ताओं से श्री चैतन्य बहुत प्रभावित हुए। अहोबिला मठ के इतिहास में इस घटना का उल्लेख है।[१]

उडपि के मठ

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के साथ ही १३ वीं शताब्दी में दक्षिण में एक दूसरे सम्प्रदाय की स्थापना हुई जो माध्व सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इसके संस्थापक मध्वाचार्य दर्शन के क्षेत्र में द्वैतमत के प्रवर्तक थे। माध्व मत भी वैष्णव मत था। श्री माध्वचार्य श्रीकृष्ण के बड़े आराधक थे और उन्होंने द्वैत मत की व्याख्या के लिए अनेक महान ग्रन्थों की रचना की। वैष्णव भक्ति तथा द्वैत मत के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक मठों की स्थापना की। उनके द्वारा स्थापित आठ मठ बहुत प्रसिद्ध हैं। इन मठों के संचालन के लिए उनके शिष्य नियुक्त किए गए, जो बड़े भक्त और विद्वान् पुरुष थे। इन मठों के संचालकों की प्रेरणा से द्वैत मत तथा वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए भक्ति-साहित्य बड़ी मात्रा में निर्मित हुआ। इस मठ के बहुत से आचार्य स्वयं कवि भी थे। उन्होंने कन्नड़ में अनेक भक्ति-काव्य भी रचे हैं।

---

१. The Vaishnava Maths in South India, *Vedanta Kesari*—1957, p. 165

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को वैष्णव मन्दिरों का योगदान

यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि आलोच्य युग में तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को सशक्त बनाने में आचार्यों के द्वारा स्थापित वैष्णव मठों का पर्याप्त योगदान रहा। केवल वैष्णव मठ ही नहीं, बल्कि शैव मठ भी स्थापित थे जो अपने सम्प्रदाय के विस्तार के लिए भक्ति-प्रचार में लगे थे। इन वैष्णव मठों के साथ ही अनेक प्रमुख वैष्णव मन्दिरों ने भी वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जीवन्त रखने में उल्लेखनीय सहयोग दिया है। दक्षिण के प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिरों के दर्शनार्थ दूर-दूर से वैष्णव भक्त आते थे और इन मन्दिरों में उपलब्ध भक्तिमय वातावरण उन्हें आकृष्ट करता रहा। विशेषकर श्री रामानुजाचार्य के समय से वैष्णव मन्दिरों की उपासना-प्रणाली और उनकी प्रशासनिक व्यवस्था में बहुत-कुछ नये आकर्षक तत्त्व जोड़ दिए गए थे, जिससे उनके संचालन का संबन्ध मठों के आचार्यों से हो गया था। आचार्य इन मन्दिरों में भक्त-गोष्ठियां चलाते थे और ऐसे अनेक कार्यों की व्यवस्था करते थे, जिससे वैष्णव मन्दिर भक्तों के लिए आकर्षक केन्द्र बने रहें। स्मरण रखने की बात है कि यद्यपि आलोच्य युग के वैष्णव आचार्य दूसरे दार्शनिक मतों का सामना करने के लिए दार्शनिक चिंतन और वाद-विवाद में अधिकतर पड़े रहे और दार्शनिक ग्रन्थों की रचना करते रहे, तो भी दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में साधारण जन को आकृष्ट करने के हेतु वैष्णव मन्दिरों में अनुकूल वातावरण बनाने का भी बड़ा प्रयत्न करते थे।

आलोच्य युग में विविध वैष्णव मन्दिरों के संबन्ध में तमिल में और संस्कृत में रचे गए स्तुति-ग्रन्थों (स्थल-पुराणों) की बहुत बड़ी संख्या को देखने से इस बात का पता चलता है कि ये वैष्णव मन्दिर बहुत ही प्रसिद्ध थे और भक्तों को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट करने का जादू इनमें था। यही कारण है कि वैष्णव मन्दिरों के इतिहास और वहां के आराध्य देवों से सम्बन्धित पौराणिक उल्लेखों को लेकर अनेक स्तुति-ग्रन्थ तमिल में और संस्कृत में लिखे मिलते हैं। विशेषकर श्री रामानुजाचार्य के बाद के युग में इस प्रकार के स्थल-पुराण ग्रन्थों की रचना बड़ी संख्या में हुई और इस काल को तमिल साहित्य के इतिहास में 'पुराण-काल' की संज्ञा भी विद्वान् देते हैं। इन मन्दिरों की प्रसिद्धि ने भक्तों को इनके दर्शन करने के लिए प्रेरित किया था और इसी कारण भक्तों की गोष्ठियां मन्दिरों के दर्शनार्थ घूमा करती थीं। यहां पर केवल दो प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिरों के भक्तिपरक सेवा-कार्यों का संक्षिप्त परिचय देने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को इनका कितना बड़ा योगदान था।

श्रीरंगम् तथा तिरुप्पति के वैष्णव मन्दिरों के सेवा-कार्यों का विस्तृत परिचय देनेवाले, आचार्य-युग में परंपरागत रूप में लिखित तथा सुरक्षित रखे जानेवाले 'कोइल ओलुकु' (मन्दिर-विवरण ग्रन्थ) नामक ग्रन्थों से इस मन्दिर के क्रमिक

इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। श्रीरंगम् मन्दिर से सम्बन्धित 'कोइल ओलुकु'[1] में प्रारंभ में श्रीरंगम् मन्दिर का माहात्म्य बताया गया है।[2] पौराणिक उल्लेखों के बाद में इस ग्रन्थ में आलवारों से सम्बन्धित वृत्तान्त दिए गए हैं। इस मन्दिर के विविध भागों के निर्माता तथा उनके सेवा-कार्यों का परिचय दिया गया है। तिरुमंगै आलवार के द्वारा इस मन्दिर के उद्धार का विवरण मिलता है। फिर श्री नाथमुनि (९ वीं शती के उत्तरार्ध और १० वीं शती के पूर्वार्द्ध) के द्वारा इस मन्दिर में आलवार प्रबन्धों के गायन की व्यवस्था का परिचय मिलता है। आलवार-प्रबन्धों के विविध पदों का गायन विविध वेलाओं में होता था, जिसके लिए 'गायक' (अरैयर) नियुक्त किए गए थे। श्री नाथमुनि के बाद के आचार्यों (प्रमुखतया उय्यकोंडार, मनक्काल नंबी तथा यामुनाचार्य) द्वारा इस मन्दिर की सेवा में भक्ति-क्षेत्र में किए गए विविध कैंकर्यों का विस्तृत परिचय मिलता है। यामुनाचार्य के बाद श्री रामानुजाचार्य के द्वारा इस मन्दिर की उपासना-प्रणाली (पूजन-विधि) तथा व्यवस्था में किए गए अनेक सुधारों का बहुत ही विस्तार से वर्णन मिलता है। मन्दिर की दैनिक देखभाल के लिए श्री रामानुज ने अपने शिष्य आलवान् को नियुक्त किया था। उन्होंने श्रीरंगम् मन्दिर का विस्तार किया और उसमें और भी इमारतें जोड़ दीं। श्री रामानुज ने वैखानस पूजन-विधियों को छोड़कर पांचरात्र पूजा-विधि को चलाने के लिए नये सिरे से आराधकों को शिक्षित किया और सुयोग्य पुरोहितों को पूजन-कार्य के लिए नियुक्त किया। आलवार भक्तों के लिए अलग-अलग से मन्दिर भी प्रधान मन्दिर के समीप उन्होंने निर्मित किए और उनकी मूर्तियों की स्थापना कर उनके पूजन की परिपाटी भी चलाई। विशेष अवसरों पर 'तिरुवायमोली' उत्सव का आयोजन होता था। इस उत्सव के समय आलवारों की मूर्तियों को जुलूस में ले जाया करते थे और प्रबन्धम् का गायन भी सामूहिक रूप में होता था। नाथमुनि के समय श्रीरंगम् मन्दिर में पांच प्रकार के सेवक होते थे। श्री रामानुज ने १० प्रकार के सेवकों की नियुक्ति कराकर प्रत्येक वर्ग के सेवकों के कर्तव्यों को निर्धारित किया, जिससे मन्दिर की व्यवस्था में प्रगति हुई।

श्री रामानुज के द्वारा श्रीरंगम् मन्दिर के भक्ति-कैंकर्यों के निमित्त नियुक्त किए गए दस प्रकार के सेवक इस प्रकार थे—तिरुप्पडियार : ये ऐसे भक्त थे, जिनका संबंध श्रीरंगम् मन्दिर के अतिरिक्त दूसरे वैष्णव मन्दिरों से भी था। बड़े सवेरे मन्दिर में प्रवेश कर वहां पूजा की सामग्रियों की व्यवस्था करके दीपक जलाते थे। मन्दिर से सम्बन्धित विविध-विविध धार्मिक उत्सवों के समय विशिष्ट पूजाओं के लिए ये व्यवस्था करते थे और प्रसाद का वितरण करते थे। तिरुप्पणीचेइवार : प्रबन्धम् का गायन करनेवालों को तिरुप्पणीचेइवार कहा जाता था। तीसरे वर्ग के सेवक 'भागवन नंबी' कहलाते थे। इनके काम अर्चावतार विग्रह से संबंधित

१. डा० बी० एन० हरिराव ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद और संपादन किया है, जो 'कोइल ओलुकु' के नाम से ही प्रकाशित है।

२. 'कोइल ओलुकु', पृ० ५२-५४

वस्त्राभूषणादि बदलवाना, स्नान कराना, नैवेद्य लगाना आदि सेवाएं थीं। विशेष उत्सवों के समय इनका उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता था। चौथे वर्ग के सेवकों को 'उल्लूरार' कहा जाता था, जो अर्चक होते थे। पांचवें वर्ग में 'विण्णप्पम चेइवार' अर्थात् गायक या संगीतज्ञ होते थे जो वाद्य-यंत्रों को बजाकर प्रबन्धम् के पदों का गायन नियमानुसार विविध वेलाओं में करते थे। इनको 'अरैयर' भी कहा जाता था। विशिष्ट उत्सवों के समय जब भगवद्विग्रहों को जुलूस में दूसरे भक्त ले जाते थे, तब ये अभिनयपूर्ण ढंग से (नाटकीय ढंग से) भगवल्लीलाओं का वर्णन करते थे। ये मन्दिर की नर्तकियों के नाच के समय, उचित ढंग से वाद्य-यंत्र भी बजाते थे। छठे और सातवें वर्गों के सेवक 'तिरुक्करवकैयार' और 'स्थानतार' होते थे, जिनके भी अनेक निर्दिष्ट काम थे। अष्टम वर्ग के सेवकों को 'भट्टाल' कहा जाता था जो श्रीरंगम् माहात्म्य, ब्रह्मसूत्र, मीमांसासूत्र, श्रीभाष्यम्, गीता-भाष्य आदि का पाठ करते थे। नौवें वर्ग में कई प्रकार के सेवक होते थे जिनको 'दास नंबी' की संज्ञा दी गई थी। इनमें एक वर्ग में 'एकांगी' अर्थात् ब्रह्मचारी होते थे, जिनके मन्दिर से संबंधित अनेक कार्य निर्धारित हुए थे। दासनंबी भक्तों में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर जातियों के लोग भी होते थे। दसवें वर्ग में देवदासियों का भी स्थान था, जिनके रहने के लिए मन्दिर में अलग निर्धारित से स्थान किया गया था। वे बड़े सवेरे स्नान करके मन्दिर के प्रमुख प्रांगण में आती थीं और विविध प्रकार का नर्तन भगवद्विग्रह के सामने करती थीं। विशेष अवसरों पर ये गीति-नाट्य-शैली में रासक्रीड़ा आदि का अभिनय भी करती थीं। वसन्तोत्सव के समय विविध कृष्ण-लीलाओं की ओर संकेत करने वाले नृत्य भी करती थीं।

उपर्युक्त विवरण से कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। श्रीरंगम् के मन्दिर के दैनिक कैंकर्यों को व्यवस्थित कर श्री रामानुज ने, भक्तजनों को आकृष्ट करने के निमित्त मन्दिर में विविध कार्यक्रम का प्रबन्ध किया था। विविध धार्मिक उत्सवों को बड़ी धूमधाम से मनाने से और नृत्य और संगीत जैसे कलात्मक कार्यक्रम का भी प्रबन्ध कर देने से भक्तों को धार्मिक वातावरण में तल्लीन रहने की रुचि सहज ही हो जाती थी। यह सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि इसी धार्मिक वातावरण ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जीवन्त रखने में निश्चय ही बड़ा सह-योग दिया होगा।

श्रीरंगम् मन्दिर के समान ही तिरुप्पति श्री वेंकटेश्वर मन्दिर से सम्बन्धित अनेक 'ओलुकु' विवरण-ग्रन्थ तथा स्तुति-ग्रन्थ (स्थलपुराण) मिलते हैं जिनके आधार पर आलोच्य युग में इस तिरुप्पति मन्दिर के प्राधान्य का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इन स्तुति-ग्रन्थों से तिरुप्पति मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान् के अर्चावतार रूप के संबंध के पौराणिक विवरणों के साथ-साथ समय-समय पर विविध भक्तों द्वारा किए गए भगवद् कैंकर्यों और मन्दिर के विस्तार और संचा-लन के लिए शासकों द्वारा किए गए अनुदानों का भी पता चलता है। आलवार भक्तों के इस मन्दिर के अर्चावतार भगवद् रूप की स्तुति में गाए गए अनेक पद प्रबन्धम् में हैं। आलवारों के पदों ने ही इस मन्दिर के माहात्म्य को चारों दिशाओं

में प्रसारित किया। आलोच्य युग में तिरुप्पति के वेंकटेश्वर के प्रधान मन्दिर के निकट आलवार भक्तों के लिए भी अलग-अलग मन्दिर स्थापित किए गए और प्रबन्धम् के गायन का भी प्रबन्ध हुआ। श्रीरंगम् मंदिर का परिचय देते समय श्री रामानुजाचार्य के द्वारा किए सुधारों और पक्के प्रबन्ध की जो चर्चा हमने ऊपर की थी, उसी प्रकार अनेक सुधार इस मन्दिर की व्यवस्था-प्रणाली में श्री रामानुज के निर्देशन में हुए। मन्दिर में अनेक उत्सवों का कार्यक्रम निश्चित हुआ। इन धार्मिक उत्सवों की एक लंबी परम्परा भी है। वार्षिक उत्सव के समय दूर-दूर से हजारों की संख्या में उस युग में भक्तजन आते थे। वेंकटेश्वर मन्दिर में प्रवेश करने के पहले एक कुंड में स्नान करके ही भक्त ऊपर सीढ़ियों पर चढ़ते थे। वह पवित्र कुंड 'आलवार तीर्थ' कहलाता था। श्री वेदान्तदेशिकाचार्य और श्री पिल्लै लोकाचार्य के समय से श्री वैष्णव सम्प्रदाय के केन्द्र तेलुगु और कर्नाटक में भी स्थापित होने लगे थे। इन आचार्यों ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय के उदार सिद्धांतों के प्रचार के लिए तेलुगु और कर्नाटक प्रान्तों में भी अपने शिष्य भेजे थे, जिनके द्वारा तिरुप्पति मन्दिर के साथ तेलुगु और कर्नाटक प्रदेशों के वैष्णव भक्तों का घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया था। इन समीपवर्ती प्रान्तों में भी श्री वेंकटेश्वर के नाम से अनेक मन्दिर निर्मित हुए और यहां के वैष्णव भक्त भी तिरुमलै और श्री वेंकटेश्वर के नाम को धारण करने में गौरव समझने लगे थे। इन समीपवर्ती प्रदेशों की निम्न जातियों के लोगों को भी श्री वैष्णव सम्प्रदाय में दूसरे भक्तों की समानता का स्थान दिया जाने लगा, तो श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में बड़ी वृद्धि हुई। परिणामतः तेलुगु भाषी श्री वैष्णव भी तमिल न जानते हुए भी आलवार प्रबन्धम् के पदों को तेलुगु लिपि में लिखकर उनका गायन करते थे और उनके बीच में भी प्रबन्धम् का प्रचार हो सका। मैसूर के परकाल मठ की स्थापना से श्री वैष्णव संप्रदाय का मैसूर में बड़ा प्रचार हुआ और वहां के महाराजा इस मठ के संरक्षक और यहां के आचार्यों के हितैषी शिष्य बने रहे। तेलुगु-प्रदेश के श्री वैष्णव मठों के द्वारा वैष्णव भक्ति का क्षेत्र विस्तृत किया गया और अनेक तेलुगु भक्त-कवियों को वैष्णव भक्ति-काव्य के प्रणयन के लिए प्रोत्साहन दिया गया। तेलुगु-प्रदेश से श्री वैष्णव संप्रदाय का विस्तार उड़ीसा तक हुआ।[१] इन प्रदेशों में स्थापित सभी श्री वैष्णव मठों का संबंध तिरुप्पति वेंकटेश्वर मन्दिर से था और इन सबके केन्द्र यहां पर स्थित थे। कहने का तात्पर्य यह है कि १३ वीं, १४ वीं तथा १५ वीं शताब्दियों में तिरुप्पति एक प्रमुख वैष्णव केन्द्र था, जिसने तेलुगु और कर्नाटक प्रदेशों के वैष्णव भक्तों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर धार्मिक वातावरण को जीवन्त रखने में बड़ा सहयोग दिया।

---

१. *History of Tirupati*, Vol. I—T. K. T. Viraragavacharya, p. 549

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को दक्षिण के भक्ति-संप्रदायों का योगदान

सांप्रदायिक संगठन का आविर्भाव

आलवारोत्तर काल में अर्थात् आचार्य-युग में वैष्णव भक्ति के प्रचार के क्षेत्र में संप्रदायों का संगठन एक महत्त्वपूर्ण बात है। आलवार भक्त भावुक सहृदय कवि थे, जो भक्ति के भावावेश में आत्म-विभोर होकर गाते थे। उनके पदों में भक्त-हृदय को अनायास ही आकृष्ट करने की शक्ति थी। उन्हें भक्ति संबंधी तात्त्विक विवेचन के झमेले में पड़ने की आवश्यकता नहीं थी, न उनसे इसकी आशा भी की जा सकती थी। आलवारों के द्वारा प्रसारित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन भाव-प्रधान अनुभूति पक्ष पर अधिक आधारित था। परन्तु आलवारों के बाद के वैष्णव आचार्यों के युग में भक्तिपरक तात्त्विक चिंतन और दार्शनिक विवेचन की आवश्यकता इसलिए पड़ गई थी कि आलवार युग के अंतिम चरण में स्वामी शंकराचार्य ने मायावाद को लेकर तत्त्वचिंतन के क्षेत्र में एक नई क्रांति पैदा कर दी थी। अतः उनके मायावाद का खण्डन कर आलवारों की भक्ति-परंपरा को फिर से महत्त्व देने और उसे सुदृढ़ दार्शनिक आधारभूमि देने की आवश्यकता वैष्णव आचार्यों के सामने थी। इसी परिस्थिति ने वैष्णव-आचार्यों को दार्शनिक चिंतन और वाद-विवाद के क्षेत्र की ओर भगा दिया था। परन्तु नाथमुनि से प्रारंभ होने वाली आचार्य-परम्परा ने आलवार भक्तों की विचार-धारा का ही अनुसरण कर उसी की नींव पर श्री वैष्णव-दर्शन अथवा विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन का महल खड़ा किया। ऊपर हमने आलवारों के प्रति आचार्यों की आस्था को स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। उनके आधार पर तो यह निर्विवाद रूप से मान्य बात हो जाती है कि रामानुज-दर्शन अर्थात् विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन की आधारभूमि आलवारों की विचारधारा ही है। रामानुज जैसे बुद्धि-प्रगल्भ चिंतकों ने भक्ति-मार्ग के प्रसार के लिए तथा शंकर के मायावाद के खण्डन के लिए एक ओर दार्शनिक ग्रन्थों की रचना कर विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन का निरूपण तो किया, पर दूसरी ओर उन्होंने आलवारों से प्रसारित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जीवन्त रखने के हेतु आचरण-पक्ष को लेकर श्री वैष्णव संप्रदाय का संगठन भी किया। इस प्रकार रामानुजाचार्य का दर्शन विशिष्टाद्वैत कहलाया और उसका धार्मिक आचरण-पक्ष श्री संप्रदाय के नाम से अभिहित हुआ।

श्री रामानुजाचार्य ने श्री संप्रदाय का संगठन करके वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू कर दिया था। यह ऊपर देखा जा चुका है कि श्री रामानुजाचार्य के परवर्ती आचार्यों के प्रयत्न से (१२ वीं, १३ वीं और १४ वीं शताब्दियों में) श्री वैष्णव संप्रदाय का प्रसार निकटवर्ती कर्नाटक तथा तेलुगु-प्रदेशों में भी हुआ और श्री संप्रदाय के विस्तार के हेतु अनेक वैष्णव मठों की स्थापना हुई और इन मठों के द्वारा भक्ति-प्रचार खूब हुआ। यह मान्य बात

है कि सांप्रदायिक संगठन श्री रामानुज की देन थी और श्री संप्रदाय ही दक्षिण का प्रथम वैष्णव संप्रदाय हुआ। रामानुज के समय के उपरान्त जब श्री संप्रदाय का विस्तार कर्नाटक और तेलुगु प्रदेशों में होने लगा, तब वहां भी दो प्रमुख आचार्य स्वामी शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन करने के लिए दार्शनिक चिंतन को लेकर अवतरित हुए। परन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि उन आचार्यों के आविर्भाव के पहले ही श्री संप्रदाय का प्रसार उन आचार्यों की जन्म-भूमि में हो चुका था। अतः उन आचार्यों की दार्शनिक चिंतनधारा का भी विशिष्टाद्वैत-वादी दर्शन से संबंध था या यों कहना चाहिए कि उन्होंने विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन से प्रभावित होकर या प्रेरणा लेकर अपनी चिंतन-धाराओं को नये रूप और नये नाम दिए। हमारा संकेत कर्नाटक में जन्म लेने वाले मध्वाचार्य और निंबार्का-चार्य की ओर है। इन आचार्यों का भी मूल उद्देश्य मायावाद का खण्डन करके भक्ति-मार्ग को प्रशस्त करना था। अपनी दार्शनिक चिंतनधारा को इन्होंने नये नाम तो दिए, परन्तु इनका भी आचरण-पक्ष अर्थात् भक्ति-सिद्धांत बहुत कुछ श्री संप्रदाय का ही था। इन आचार्यों ने भी अपने क्षेत्र में अलग-अलग संप्रदायों का संगठन किया और इनके संप्रदायों के द्वारा भी दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दो-लन को (आलोच्य युग में) बहुत बड़ा बल मिला। वैष्णव भक्ति के इतिहास में ऐतिहासिक क्रम में श्री संप्रदाय ही प्रथम हुआ, जिसको लक्ष्य करके ही परवर्ती वैष्णव भक्ति-वाङ्मय में दक्षिण के चार प्रमुख संप्रदायों का क्रम इस प्रकार माना गया है—श्री संप्रदाय, माध्व संप्रदाय, विष्णुस्वामी संप्रदाय, और निंबार्क संप्रदाय। पद्म पुराण में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—

श्री ब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमाः॥

'प्रमेय रत्नावली' में इन चारों संप्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यः चतुर्मुखः।
श्री विष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥

अब आलोच्य युग के दक्षिण के इन चारों संप्रदायों के सिद्धांतों और वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को इनके योगदान पर प्रकाश डाला जाएगा।

श्री संप्रदाय और विशिष्टाद्वैत मत

श्री संप्रदाय दक्षिण का प्रथम वैष्णव संप्रदाय है, जिसका प्रारंभ आलवार भक्तों से माना जाता है। फिर भी उसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय श्री रामानुजा-चार्य को ही है। श्री संप्रदाय का दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैतवाद शुद्ध रूप से नीरस दर्शन नहीं होकर भक्ति-संवलित धार्मिक मत भी है।[1] वह धर्म और दर्शन

---

१. "Visistadvaita is neither pure philosophy nor pure religion, but is really a philosophy of religion."—*The Philosophy of Visistadvaita*, P. N. Srinivasachari, p. 1

का समन्वय करने वाला उदार दृष्टिकोण से युक्त मत है।[1] इसमें हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों का सुन्दर सामंजस्य है। हृदय-पक्ष आलवारों की देन है और बुद्धि-पक्ष का समावेश शास्त्रीय विवेचन से हुआ। सार्वभौमिक और सार्वजनीन होने के कारण ही वह मध्ययुग का सर्वाधिक आकर्षक मत सिद्ध हुआ। इस प्रकार से विशिष्टाद्वैत-अद्वैत की प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित दर्शन था। श्री रामानुज ही इसके सशक्त व्याख्याता थे। श्री रामानुज का विशिष्टाद्वैतवादी व्याख्या इस प्रकार थी—

रामानुज के अनुसार सत्य का केवल एक ही दृष्टिकोण है और ज्ञान का समस्त विषय जात सत्य है। विषय और विषयी का भेद ज्ञान का एक मौलिक और नित्य भेद है, अतः किसी भी अवस्था में इस भेद का निराकरण नहीं किया जा सकता। यह भेद व्यावहारिक ही नहीं पारमार्थिक भी है। जिस प्रकार विषय और विषयी का भेद नित्य है, उसी प्रकार उपास्य और उपासक का भेद भी सनातन है। अस्तु, रामानुज के अनुसार ब्रह्म के साथ-साथ जीव और जगत् भी सत्य हैं। जीव और जगत् माया की व्यावहारिक सृष्टि नहीं, वरन् नित्य और परमार्थिक सत्ताएं हैं, किन्तु जीव और जगत् सत्य और सनातन होते हुए भी परमेश्वर के अधीन हैं। वे स्वतंत्र नहीं हैं। परमेश्वर अंगी है और जीव और जगत् उसके अंग हैं। अस्तु, एक परब्रह्म परमेश्वर ही पूर्ण स्वतंत्र और परम सत्ता है। अतएव रामानुज मत भी इस दृष्टि से अद्वैतवाद ही है। किन्तु रामानुज का परब्रह्म शंकराचार्य के ब्रह्म की भांति निर्गुण निर्विशेष चिन्मात्र नहीं है, वरन् वह सविशेष और सगुण परमेश्वर है। इसी विशिष्टता के कारण यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

यह जीव और जगत् से विशिष्ट परमेश्वर अखिल सत्ता का अन्तर्यामी है। वह विश्व की आत्मा है। जीव और जगत् उसका शरीर है। जिस प्रकार देह आत्मा के अधीन है, उसी प्रकार जीव और जगत् भी परमेश्वर के अधीन हैं। जिस प्रकार आत्मा देह का अन्तर्यामी है, उसी प्रकार परमेश्वर भी जीव और जगत् का अन्तर्यामी है। यह परमेश्वर सगुण और उपास्य है, निर्गुण और निर्विशेष नहीं। इस सगुण परमेश्वर की प्राप्ति ही जीवन का परम साध्य है। यही परमार्थ अथवा मोक्ष है। रामानुज के अनुसार जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य मोक्ष नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य असंभव और अकल्पनीय है। जीव परमेश्वर का अंश है और उसके अधीन है तथा उससे अविभक्त होते हुए भी उसकी एक विविक्त सत्ता है। मोक्ष की अवस्था में भी जीव का विविक्त अस्तित्व रहता है, यद्यपि उसका ज्ञान-परिच्छेद विलीन हो जाता है। तादात्म्य रूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञान द्वारा नहीं, भक्ति द्वारा साध्य है। अतएव रामानुज भक्ति को मोक्ष का परम साधन मानते हैं। ज्ञान और कर्म सहकारी साधनों के रूप में सहायक हो सकते हैं।

---

१. "Visistadvaita as a philosophy of Synthesis."—*JSVOI*, Vol. 14, (1953) (Supplement), Dr. K. C. Varadachari, p. 1

रामानुज के मत में माया मान्य नहीं है। रामानुज और उनके अनुयायियों ने शंकराचार्य के मायावाद का कठोर खंडन किया है। विशिष्टाद्वैत मत में जगत् वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है। ईश्वर माया से उपहित अपर ब्रह्म नहीं, वरन् साक्षात् परब्रह्म है। यह परमेश्वर ही पारमार्थिक सत्य है। रामानुज को पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियों का भेद मान्य नहीं है। सत्य की एक ही कोटि और उसका एक ही दृष्टिकोण है। रामानुज का परमेश्वर अद्वैत के निर्गुण ब्रह्म की भांति अवैयक्तिक परमतत्त्वमात्र नहीं है, वरन् वह व्यक्तित्ववान् परम पुरुष है। दिव्य वैकुण्ठ लोक उसका मुख्य निवास है, यद्यपि अन्तर्यामी रूप से वह प्रत्येक जीव के हृदय में वास करता है। इस करुणामय की उपासना से मनुष्य वैकुण्ठ लोक की प्राप्ति कर सकता है और वैकुण्ठ के अनन्त आनन्द का भागी बन सकता है। विशिष्टाद्वैत मत में ईश्वर के लोक की प्राप्ति ही मोक्ष है और भक्ति उसका परम साधन है।

रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म दो विविक्त सत्ताएं हैं। विविक्त होने के साथ-साथ जीव और ब्रह्म दोनों ही चरम सत्य हैं, यद्यपि समान रूप से स्वतंत्र नहीं है। चैतन्य जीव और ब्रह्म दोनों का समान धर्म है, किन्तु दोनों के चैतन्य की सीमा में भेद है। ब्रह्म अथवा ईश्वर का चैतन्य असीम है, जीव का चैतन्य सीमित है। जीवन चेतन होते हुए भी अणु है। जीव का सीमित चैतन्य और परिच्छिन्न व्यक्तित्व अविद्या-जनित भ्रांति नहीं, वरन् एक वास्तविक तथ्य है। जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं है, वरन् वह ईश्वर का एक अंश है। जीव ईश्वर के अनन्त आलोक की एक रश्मिमात्र है। वह परमेश्वर की चैतन्य ज्वाला का एक प्रदीप्त स्फुलिंगमात्र है। जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म के अपृथक सिद्ध विशेषण हैं। उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वे ईश्वर के अधीन हैं। ईश्वर अन्तर्यामी है और वही जीव के कर्मों का प्रेरक तथा वास्तविक कर्ता है। अतएव अहंकार, भोक्तृत्व आदि के बन्धन से मुक्ति ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है, ज्ञान से नहीं। रामानुज ब्रह्म के साथ जीव के तादात्म्य ही को मोक्ष नहीं मानते। वे जीव को ब्रह्म (ईश्वर) का अंश मानते हैं। जीव की स्वतंत्र सत्ता तथा पृथक् अस्तित्व नहीं है।[१]

रामानुज ब्रह्म के पांच रूप मानते हैं। पहला रूप पर है, जिसमें वह वैकुण्ठ में शेषनाग पर विराजता है। वह लक्ष्मी, भू तथा लीला से घिरा हुआ एवं शंख-चक्रादि से विभूषित होता है। उसके दर्शन केवल मुक्त आत्माओं को होते हैं। दूसरा रूप 'व्यूह' रूप है जिसे वह सृष्टि की उत्पत्ति आदि के लिए धारण करता है। तीसरा प्रमुख रूप वह है जिसमें वह पृथ्वी पर अवतार लेता है। चौथा मुख्य रूप है अन्तर्यामी का जिसमें वह मनुष्यों के हृदयों में स्थित है, योगियों को दर्शन देता है। पांचवें मुख्य रूप में वह मूर्तियों और प्रतिमाओं में स्थित है। यह उसका अर्चावतार रूप है।

आत्माओं की तीन श्रेणियां हैं—नित्य, मुक्त और बद्ध। बद्ध आत्माओं में

१. 'रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतिक भक्ति-दर्शन'—डा० सरनाम सिंह शर्मा, पृ० ४-६

से कुछ तो सांसारिक वैभव के पीछे पड़ी हैं, कुछ स्वर्गीय सुख की खोज में हैं और कुछ मुक्त होना चाहती हैं। इस अंतिम श्रेणी की आत्माओं के लिए अपना मनोरथ सिद्ध करने के दो उपाय हैं—एक तो कर्मयोग और तदनन्तर ज्ञान-योग द्वारा भक्ति की प्राप्ति और दूसरा प्रपत्ति मार्ग। कर्म-योग में बिना किसी प्रकार की कामना अर्थात् बिना फल-प्राप्ति की इच्छा किए अपने-अपने धर्म या कर्तव्य का पालन करना आवश्यक है। इस प्रकार कार्य करने से मनुष्य ज्ञान-योग का अधिकारी हो जाता है, जिससे उसे अपने-आपका ज्ञान हो जाता है, और तब वह भक्ति प्राप्त कर सकता है। परमेश्वर की प्राप्ति का साधन उसकी प्रीतिपूर्वक भक्ति तथा उपासना है, किन्तु ज्ञान इस भक्ति का सहकारी हो सकता है। परमेश्वर के दिव्य गुणों के ज्ञान से उसके प्रति भक्ति उत्पन्न हो सकती है। भक्ति ही मोक्ष का परम साधन है। इसके अतिरिक्त प्रपत्ति और ईश्वरानुग्रह का भी इस मत में बड़ा स्थान है। श्रवण और निष्काम कर्म द्वारा सत्व-शुद्धि ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति की योग्यता का साधन है, किन्तु प्रपत्ति इसका परम साधन है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। सब कुछ छोड़कर एकमात्र ईश्वर का आश्रय ग्रहण करना पूर्ण प्रपत्ति है। श्री संप्रदाय के 'तेन्कलै' मत में प्रपत्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

श्री रामानुजाचार्य ने श्री संप्रदाय के अनुयायी वैष्णव भक्तों के लिए सदाचार-संहिता भी दी थी। उन्होंने भक्तों के लिए कुछ नियम बनाए थे कि वे शरीर पर शंख-चक्र की छाप तथा मस्तक पर तिलक धारण करें, महामंत्र का जप करें, भक्तों की सेवा करें, एकादशी व्रत रखें, चरणामृत ग्रहण करें, देवमूर्ति पर तुलसी चढ़ावें और केवल भोग लगाकर ही भोजन करें। सांप्रदायिक नियमों के अनुष्ठान[१] की आवश्यकता पर उन्होंने ज़ोर दिया था, जिससे व्यवस्था ठीक प्रकार से की जा सके। इस प्रकार श्री संप्रदाय आचरणपक्ष पर भी विशेष ज़ोर देता है।

मध्वाचार्य और उनका संप्रदाय

श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत के पश्चात् आचार्य शंकर के मायावाद के विरोध में निकलने वाला दक्षिण भारत का दूसरा प्रमुख मत द्वैत मत है।[२] इसके प्रतिष्ठापक श्री मध्वाचार्य थे। भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से श्री मध्वाचार्य द्वारा स्थापित द्वैत मत की बड़ी महत्ता है। श्री मध्वाचार्य ने न केवल शंकर के अद्वैत मत का तीव्र विरोध किया, बल्कि भक्ति की पूरी प्रतिष्ठा के लिए श्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत को भी अस्वीकार कर दिया और द्वैत मत की स्थापना की। इस कारण दक्षिण के आचार्यों में श्री मध्वाचार्य का एक विशिष्ट स्थान

१. श्री संप्रदाय के अनुयायी की दिनचर्या तथा उसके धार्मिक कर्तव्यों का विस्तृत परिचय 'दि श्री वैष्णवा ब्राहमन्स' नामक पुस्तक में दिया गया है।
The Srivaisnava Brahmans, K. Rangachari (Bulletin of Madras Govt. Museum)

२. "The work of Sri Madhvacharya is but a continuation of that of Sr Ramanuja and his school." *Vedanta Kesari*, Vol. 29, pp. 151-52

है। श्री मध्व का जन्म सन् ११९७ में कर्नाटक के 'उडुपि' नामक स्थान में हुआ।[1] इनका पहला नाम आनन्दतीर्थ था और वेद-वेदांगों की विद्या पाकर उन्होंने दक्षिण और उत्तरी भारत के सभी प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। तत्पश्चात् उडुपि लौट आए और अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने 'प्रस्थानत्रयी' पर अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे और कुल मिलाकर ३७ ग्रन्थ रच डाले।

माध्व मत के अनुसार परमात्मा विष्णु है, जो अनन्त गुण सम्पूर्ण हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, आवरण, बोधन, बन्धन तथा मोक्ष इन आठों कार्यों पर केवल परमात्मा का ही अधिकार है। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही उनके शरीर हैं। विष्णु परमात्मा स्वतन्त्र और अद्वितीय हैं। परमात्मा में अनेक रूप धारण करने की शक्ति है, जो जीव में नहीं है। उसके मूल रूप तथा अवतरित रूप में कोई भेद नहीं है। "मत्स्य कूर्मादि स्वरूपों से, कर-चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान् अत्यन्त अभिन्न हैं, अतएव भगवान् और उनके अवतारों में भेद-दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।"[2]

लक्ष्मी, "परमात्म भिन्ना तन्मात्राधीन लक्ष्मीः" नामक उक्ति के अनुसार परमात्मा से भिन्न होकर भी उसके अधीन रहती है। वह विष्णु (परमात्मा) की मायारूपिणी शक्ति है। वह भी नित्य, मुक्त, अप्राकृत, अक्षर, दिव्य और व्यापक है। परमात्मा के इंगितानुसार उसके कार्य-विधान का संपादन करती है। लक्ष्मी ही मुक्त और अमुक्त—सबको उनकी योग्यता के अनुसार सृष्टि के समय आनन्द प्रदान करती है। भगवान् लक्ष्मी में स्त्री-भाव रखते हैं।

माध्वमत के अनुसार जगत् सत्य है, जीव भगवान् के किंकर हैं। जीवों की संख्या अनन्त मानी गई है। जीव तीन श्रेणियों में आते हैं—(१) भक्ति योग्य, (२) नित्य संहारी, (३) तमोयोग्य। तीनों प्रकार के जीवों की मुक्ति का रूप भी अलग-अलग है। "मुक्तिर्नेज सुखानुभूतिः" अर्थात् वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मध्वाचार्य ने कर्मक्षय, उन्क्रान्ति लय, अर्चिशदिमार्ग और भोग नामक मुक्ति के चार प्रकार माने हैं। भोग-मुक्ति के भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक चार प्रकार हैं।

मध्वाचार्य के अनुसार उपासना के दो रूप हैं—(१) शास्त्रानुशीलन, और (२) ध्यान। कुछ साधक शास्त्रानुशीलन से अपरोक्ष ज्ञान पाते हैं और दूसरे भगवान् के अखण्ड स्मरण में लीन रहकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। शास्त्राभ्यास से अज्ञान का आवरण हट जाता है और वास्तविक ज्ञान का बोध होता है। यह ज्ञान परमात्मा के अधीन है। अपरोक्ष ज्ञान के मिलने पर ही परम भक्ति प्राप्त हो सकती है, जो भगवान् की कृपा पर निर्भर है। माध्व मत में मुक्ति का सर्वोच्च

---

१. मध्वाचार्य के जीवन-काल के विषय में विद्वानों में मत-भेद है। देखिए—
The Date of Madhavacharya—B. N. Krishnamurti, *Annamalai University Journal*, Vol. III (1934), p. 245

२. 'भारतीय दर्शन', श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६१

साधन 'अमला भक्ति' है। वह दोषरहित निर्मल भक्ति है। यह भक्ति अनन्य और अहेतुकी होनी चाहिए। मध्वाचार्य ने पांचरात्र के तत्त्वों को विशेष महत्ता नहीं दी। उन्होंने भागवत-पुराण के साधन-मार्ग को ही अपनाया। माध्व मत में राम, कृष्ण आदि सभी अवतारों की उपासना का विधान है, परन्तु राधाकृष्ण का उल्लेखन नहीं मिलता।

मध्वाचार्य का द्वैत मत भारतीय धर्म-साधना में अपना अलग महत्त्व रखता है। मध्व ने मायावाद का खण्डन किया, जिससे भक्ति-पथ निष्कंटक हुआ। उन्होंने श्री शंकर और श्री रामानुज की तरह अपने मत में मठों की स्थापना करके संन्यासियों का संगठन किया। उनके पश्चात् उनके शिष्य पद्मनाभाचार्य महाध्यक्ष हुए और फिर संप्रदाय में क्रमशः अन्य आचार्यगण हुए। दक्षिण भारत में ही नहीं, बल्कि उत्तरी भारत में भी माध्व मत का प्रचार हुआ। इस मत के अनुयायी अब विशेषकर कर्नाटक (मैसूर) प्रान्त में और कुछ उत्तर भारत में वृन्दावन आदि स्थानों में पाए जाते हैं।

यद्यपि मध्वाचार्य ने अपने दार्शनिक मत का नाम द्वैतवाद रखा तो भी उनका भक्ति-सिद्धान्त बहुत कुछ श्री संप्रदाय का ही था। कर्नाटक में श्री मध्वाचार्य के आविर्भाव-काल तक श्री संप्रदाय का पर्याप्त प्रचार हो चुका था और श्री संप्रदाय के अनेक मठ स्थापित भी हो चुके थे। अतः श्री संप्रदाय का जो थोड़ा-बहुत प्रभाव माध्व संप्रदाय पर पड़ा, वह स्वाभाविक था। श्री मध्वाचार्य ने भी अनेक मठों की स्थापना कर वैष्णव भक्ति का बड़ा प्रचार किया था। (माध्व मठों का परिचय पहले दिया जा चुका है।) चूंकि कर्नाटक में माध्व संप्रदाय का विशेष प्रचार रहा, अतः कन्नड़ भाषा के अनेक भक्त कवि माध्व मत से प्रभावित हुए। इन भक्तों को 'दास-कवि' कहते थे। इनमें प्रसिद्ध कनकदास प्रारंभ में श्री संप्रदाय के ही अनुयायी थे।[1] माध्व संप्रदाय में श्रीमद्भागवत की मान्यता है। माध्व मत का प्रचार परवर्ती शताब्दियों में उत्तर भारत में अधिक हुआ। इस संप्रदाय के परवर्ती आचार्यों का वृन्दावन से संबंध था, जिससे इस मत का प्रचार उत्तर भारत में अधिक हो सका। उत्तर भारत के चैतन्य संप्रदाय का संबंध इसी माध्व-संप्रदाय से माना जाता है।[2]

निम्बार्काचार्य और उनका संप्रदाय

सनक संप्रदाय अथवा निम्बार्क संप्रदाय के प्रवर्तक श्री निम्बार्क आचार्य थे। श्री निम्बार्क के समय का अभी तक निर्णय हो नहीं सका। डा० भांडारकर के अनुसार उनका निधन सन् ११७२ में हुआ था। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि ये श्री रामानुजाचार्य के बाद आविर्भूत हुए। ये तेलुगु ब्राह्मण थे। इनका जन्म

१. 'हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन', डा० हिरण्मय, पृ० १६७

२. "The Gaudiya Vaishnava Community which seeks to follow the teachings of Mahaprabhu Chaitanya is historically descended from Madhva Community."

—*Sri Chaitanya Mahaprabhu, Tridanti Bhishnu Bhakti Pradipa*, p. 3

कर्नाटक प्रान्त के अन्तर्गत बल्लारी नाम ज़िले के 'निम्बापुर' नगर में हुआ था। कुछ विद्वानों के अनुसार निबार्क स्वामी का जन्म आन्ध्र-प्रदेश में गोदावरी के तटवर्ती वैदूर्यपत्तन नामक स्थान में हुआ था।[1] इनके कई नाम मिलते हैं। निम्बार्काचार्य, निम्बादित्य, निम्बभास्कर और नियमानंदाचार्य आदि। यद्यपि ये कर्नाटक में अवतरित हुए थे, तो भी इनके जीवन का अधिकतर समय वृन्दावन में ही बीता। संप्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि निम्बार्काचार्य श्री विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार हैं।

श्री निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित मत द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद कहलाता है। यह भी शंकर के मायावाद के विरोध में खड़ा हुआ था। इन्होंने अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे—(१) वेदान्त पारिजात-सौरभ, और (२) सिद्धान्त रत्न। प्रथम ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रों पर संक्षिप्त भाष्य के रूप में है। द्वितीय ग्रन्थ का दूसरा नाम 'दशश्लोकी' है।

निम्बार्क मत के अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तो भी जीव तथा जगत् का व्यापार एवं अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित है। जीवात्मा अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। जीवात्मा अणुरूप है, विभिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है, अनन्य विशिष्ट और ज्ञानी है। यह जीवात्मा अनादिमाया से बद्ध रहता है और तीन गुणों से संयुक्त रहता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है।

इस मत के अनुसार ब्रह्म अद्वैत, अविभक्त और सदा निर्विकार है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सब गुणों का आश्रय भी है। यद्यपि ब्रह्म निर्विकार है तो भी माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपों में अनुभूत होता है। ब्रह्म में ऐसी शक्ति है कि वह अपने को अविकृत एवं अविभक्त रखते हुए नाना रूपात्मक पदार्थों में उत्पन्न करके आनन्द का उपभोग कर सकता है। जीव और ईश्वर का संबंध शक्ति और शक्तिमान तथा अंश और अंशी का है। नारायण, भगवान्, कृष्ण, परब्रह्म, पुरुषोतम, आदि परमात्मा के ही विविध नाम हैं। ब्रह्म के चार रूप माने गए हैं। 'पर अमूर्त' अर्थात् परम अक्षरत्व, 'अपर अमूर्त' अर्थात् सर्वस्रष्टा, और 'अपर मूर्त' अर्थात् जीव रूप है। इन्हीं कारणों से ही यह मत भेदाभेद वा द्वैताद्वैत कहलाता है।

निम्बार्क-मत की साधनारूपिणी भक्ति श्री रामानुज के श्री संप्रदाय के भक्ति-योग से साम्य रखती है। इस मत में भी प्रपत्ति अथवा शरणागति तत्त्व पर विशेष ज़ोर दिया गया है। जीव प्रपत्ति द्वारा ही भगवान् के अनुग्रह का अधिकारी होता है। भगवत्कृपा से आत्मा के अन्दर भक्तिभाव का आविर्भाव होता है जिससे भगवान् के साक्षात्कार की सिद्धि होती है। जीव का जब तक शरीर से सम्बन्ध है तब तक भगवद्-भावोत्पत्ति सम्भव नहीं है; अतः जीवन्मुक्ति की दशा भी संभव नहीं है।[2] श्री निम्बार्क के अनुसार भक्ति किसी भी भाव से की जा

१. 'निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त कवि', डा० नारायणदत्त शर्मा, पृ० २१

२. 'वेदान्त रत्न-मंजूषा', दशश्लोकी के ६ वें श्लोक पर टीका

सकती है, साधक के लिए किसी विशेष भाव को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। नवधा भक्ति के अभ्यास से भगवान् के प्रति प्रेम अथवा रति मिलती है। प्रेम-भक्ति इस सम्प्रदाय में पांच भावों से पूर्ण कही गई है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और उज्ज्वल। श्री निम्बार्क-कृत 'वेदान्त पारिजात' की 'सिद्धान्त-रत्नांजलि' टीका में इन पांच रसों का सुन्दर परिचय दिया गया है। यद्यपि प्रथम चारों भक्ति-भावों के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई गई है तो भी अन्तिम भाव-माधुर्य या 'उज्ज्वल भाव' को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस संप्रदाय में परम उपास्य-देव श्रीकृष्ण हैं, जिनके चरणारविन्दों को छोड़कर भक्तों के लिए और कोई गति नहीं हैं। ब्रह्मा, शिव आदि भी उनकी वन्दना करते हैं। भक्तों की इच्छा से वे कृष्ण-भक्तों के ध्यान के योग्य आकार धारण करते हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य और अप्रमेय है। श्रीकृष्ण केवल स्मरणमात्र से अविद्या पर्यन्त समस्त अनर्थों के हरने वाले हैं। अतः वे हरि कहलाते हैं।

निम्बार्क संप्रदाय के भक्ति-मार्ग की एक विशेषता राधा की उपासना है। इस सम्प्रदाय में उपास्य देव श्रीकृष्णचन्द्र हैं जो अपनी प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी स्वरूपा शक्तियों से परि-वेष्टित रहते हैं। राधा के स्वरूप का विवेचन इस संप्रदाय के अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया है। निम्बार्क ने श्री राधा को 'अनुरूप-सौभगा' माना है अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। श्रीकृष्णचन्द्र जिस तरह सर्वेश्वर हैं, उसी तरह राधा भी सर्वेश्वरी है। राधिका वृषभानु की कन्या है जो कृष्ण के वामांग में सुशोभित हैं, हज़ारों सखियों से परिसेवित हैं और सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं। निम्बार्क ने राधा को स्वकीया और विवाहिता माना है। परन्तु यह अवतार-लीला के विषय में ही सत्य है, नित्य लीला में तो स्वकीया और परकीया में भेद नहीं रहता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जहां तक निम्बार्क संप्रदाय की भक्ति-साधना का शरणागति अथवा प्रपत्ति से सम्बन्ध है, वह श्री रामानुज की भक्ति से मिलती-जुलती है। किन्तु उसमें एक अन्तर दीख पड़ता है। जहां रामानुजाचार्य ने भक्ति-भाव को उपनिषदों में विहित उपासना की कोटि तक पहुंचा दिया है और उसके मौलिक रूप को बदल दिया, वहां श्री निम्बार्क ने भक्ति के सहज मूल भाव को सुरक्षित करने की चेष्टा की है। रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य के सिद्धांतों में एक और अन्तर यह है कि जहां रामानुज ने भक्ति को नारायण-लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखा—वहां निम्बार्क ने कृष्ण और सखियों द्वारा परिवेष्टित राधा को प्रधानता दी है। निम्बार्क संप्रदाय में प्रेम-लक्षण-रागात्मिका परा भक्ति ही भक्ति-साधना का चरम लक्ष्य है। कह सकते हैं कि उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण-भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन करने का पूर्ण श्रेय श्री निम्बार्काचार्य को ही मिलना चाहिए।

निम्बार्क संप्रदाय का संबंध श्री संप्रदाय से माना जाता है। तेलुगु-प्रदेश में श्री संप्रदाय का पर्याप्त प्रचार श्री निम्बार्क के आविर्भाव-काल के पहले ही हो

चुका था। इन दोनों सम्प्रदायों के भक्ति-सिद्धांतों में विशेष अन्तर नहीं है। निम्बार्क संप्रदाय में राधाकृष्ण की उपासना का महत्त्व परिस्थिति विशेष तथा लोक-रुचि के अनुसार ही स्थापित हुआ। श्रीमद्‌भागवत का प्रभाव निम्बार्क संप्रदाय पर पड़ा था, क्योंकि उस समय तक भागवत का प्रचार हो चुका था। यद्यपि निम्बार्क दक्षिण के थे, तो भी इस संप्रदाय का विकास उत्तर भारत में हुआ। वास्तव में निम्बार्क स्वामी के दार्शनिक मत का स्पष्ट रूप उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य के समय से ही मिलने लगा। इस प्रकार दक्षिण में जन्म लेने वाले इस संप्रदाय की विकास-भूमि उत्तरी भारत है।

विष्णुस्वामी और उनका सम्प्रदाय

रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य के साथ दक्षिण के वैष्णव आचार्यों में श्री विष्णुस्वामी का नाम भी उल्लेखनीय है, जो रुद्र संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। लेकिन खेद की बात है कि अभी तक विष्णुस्वामी के ऐतिहासिक अस्तित्व का न तो सम्यक् परिचय प्राप्त हो सका है और न उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक सिद्धांतों का विश्लेषण और विवेचन ही हुआ है। विष्णुस्वामी के व्यक्तित्व, उनके समय, उनके मत एवं सम्प्रदाय के विषय में मत-भेद देखकर कभी-कभी एक से अधिक विष्णुस्वामियों की भी कल्पना की जाती है। इस प्रकार अब चार विष्णुस्वामियों का उल्लेख किया जाता है। एक विष्णुस्वामी तमिल-प्रदेश के पाण्ड्य राजा के राजगुरु देवेश्वर भट्ट के पुत्र थे जिन्होंने सर्वप्रथम वेदान्त सूत्रों पर 'सर्वज्ञ सूक्त' नामक भाष्य लिखा था। इनका पूर्व-नाम देवनन्द भी बताया जाता है। दूसरे विष्णुस्वामी कांचीपुरम निवासी राजगोपाल विष्णुस्वामी थे जिन्होंने कांचीनगर में श्री वरदराज की मूर्ति की स्थापना की। इनके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने द्वारिका में रणछोड़जी तथा सप्त-नगरियों में से अन्य छः नगरियों में विष्णु की मूर्तियां स्थापित कीं। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीकृष्ण कर्णामृत' के रचयिता लीलाशुक विल्वमंगल को इन्हीं का शिष्य बताया जाता है। 'वल्लभ-दिग्विजय' में विल्वमंगल को विष्णुस्वामी संप्रदाय का अनुयायी बताया गया है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि विल्वमंगल कृत 'कृष्णकर्णामृत' (११ वीं १२ वीं शती) ही चैतन्य संप्रदाय में मधुरभक्ति के राधा-तत्त्व का आधारभूत ग्रन्थ माना गया है।[1] एक तीसरे विष्णुस्वामी का उल्लेख मिलता है जो वल्लभ संप्रदाय के लोगों के विश्वास के अनुसार वल्लभाचार्य की गुरु परम्परा के एक प्राचीन आचार्य थे।[2] डा० दीनदयालु गुप्त ने 'भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऐनल्स' में

१. *Sources of Esctatio Devotional Aspects of Gaudiya Vaisnavism*—Dr. Sambidananda Das, pp. 1-4

२. प्रो० भट्ट श्री वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की शिष्य-परंपरा में नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—"...The connection between Vishnuswami and Vallabhacharya cannot therefore be accepted as historically and philosophically correct." —Prof. G. H. Bhatt, (8th Oriental Conference, Mysore)

प्रकाशित एक लेख के आधार पर यह बताया है कि माधवाचार्य और सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर थे जिनका दूसरा नाम विष्णुस्वामी था।[1]

डा० भण्डारकर ने विष्णुस्वामी का समय १३ वीं शताब्दी में माना है।[2] प्रो० भट्ट ने कुछ प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि विष्णुस्वामी १० वीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे।[3] किन्तु फिर भी पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में विष्णुस्वामी के विषय में निश्चित रूप से यह बताना कठिन है कि विष्णु-स्वामी संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य विष्णुस्वामी का आविर्भाव कब हुआ और कहां हुआ। इतना तो निश्चित रूप से बताया जा सकता है कि विष्णुस्वामी का जन्म तमिल-प्रदेश में हुआ था और उनका जीवन-काल आलवारों के बाद में ही था। एक जनश्रुति यह भी है कि महाराष्ट्र में प्रचार पाने वाला भागवत-धर्म जो कि आगे चलकर 'वारकरी' संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसके अनुयायी ज्ञानदेव तथा नामदेव आदि भक्त थे, वस्तुतः विष्णुस्वामी मत का रूपान्तर ही था। इस संबंध में नाभादास के निम्नलिखित प्रसिद्ध छप्पय का उल्लेख किया जाता है—

नाम तिलोचन शिष्य, सूरससि सदृश उजागर।
गिरा गंग-उन्हारि काव्य रचना प्रेमाकार।।
आचारज हरिदास अतुलबल आनन्द दाइन।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पाधित पराइन।।
नवधा प्रधान सेवा सुहृद मन वच क्रम हरिचरण रति।
विष्णुस्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति।। *(छप्पय-४८)*

परन्तु इसमें सत्यांश कितना है, यह कहा नहीं जा सकता। एक अन्य जनश्रुति है, जिसके अनुसार विष्णुस्वामी तमिल-प्रदेश के ब्राह्मण थे और कावेरी नदी के किनारे पर रहते थे। इसी कारण उनको कावेरा विष्णुस्वामी भी कहा जाता है।[4] कहते हैं कि ये वेद-वेदांगों का अध्ययन कर आचार्य बने। भगवान् के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हुआ और इन्हें ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान तथा भक्ति-मार्ग की अनुभूति हुई थी। कहा जाता है कि विष्णुस्वामी ने बहुत समय तक भक्ति-मार्ग का प्रचार किया था और वे भक्ति को मुक्ति से अधिक महत्त्व देते थे। उन्होंने वेद, उपनिषद्, स्मृति, वेदांत, योग आदि समस्त ज्ञान-साहित्य के सार-रूप में भक्ति को ही माना।

विष्णुस्वामी के लिखे अनेक ग्रन्थों के नाम बताए जाते हैं। परन्तु अभी तक उनकी लिखी बताई जाने वाली पुस्तकों में केवल 'सर्वज्ञ सूक्त' ही एक ऐसी रचना है, जो प्रामाणिक ठहरती है। इस ग्रन्थ से विष्णुस्वामी संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांतों और भक्ति-पद्धति का परिचय मिलता है। श्रीधर ने अपनी टीकाओं में

१. 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' (भाग १), पृ० ४२
२. *Vaishnavism, Saivism and other Miner Religious Sects*, p. 77
३. *Vishnuswami and Vallabhacharya.* (7th All India Oriental Conference, Baroda)—Prof. G. H. Bhatt, p. 449
४. Prof. Kane's *History of Darma Sutra*, Vol. I, p. 271

इस ग्रन्थ का उल्लेख इस प्रकार किया है, जिससे स्पष्ट होता है यह विष्णुस्वामी की ही रचना है। 'सर्वज्ञ सूक्त' पर लिखित श्रीधरी टीका के आधार पर विष्णु-स्वामी संप्रदाय के वास्तविक स्वरूप का भली-भांति स्पष्टीकरण हुआ है। विष्णु-स्वामी के अनुसार 'ईश्वर' सच्चिदानन्द स्वरूप है और वे अपनी 'ह्लादिनी संविद् शक्ति' के द्वारा आश्लिष्ट है। 'माया' ईश्वर के अधीन है। विष्णुस्वामी के इस ईश्वर को सत्, चित्, नित्य, निजार्चित्य एवं पूर्णानन्दमय विग्रह धारी नृसिंह भी कहा गया है। विष्णुस्वामी के इष्टदेव इस प्रकार नृसिंहावतार भगवान् जान पड़ते हैं।[1] जीव, विष्णुस्वामी के अनुसार 'स्याविद्यासंवृत' अर्थात् अपनी अविद्या द्वारा आच्छादित है और घिरा हुआ है। वह 'संक्लेशनिराकर' अर्थात् क्लेशों का आगार-स्वरूप है। वह स्वयं आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है और स्वयं दुख भी भोगा करता है। अतः ईश्वर और जीव में परस्पर भेद है। कुछ अंशों में विष्णु-स्वामी का दार्शनिक मत माध्व मत से मिलता-जुलता दीख पड़ता है।

आलोच्य युग में निर्मित तमिल का संप्रदाय-मुक्त वैष्णव भक्ति-काव्य

आलोच्य युग में तमिल-प्रदेश में वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में जो भक्ति प्रधान ग्रन्थ लिखे गए थे, (जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है), उन पर श्री संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांतों का स्पष्ट प्रभाव तो दिखाई देता है। वह युग एक प्रकार से वैष्णव भक्ति के प्रचार का युग था। अतः प्रचार को, सिद्धांतनिरूपण को ध्यान में रखते हुए तमिल में भक्ति-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। बहुत से ग्रन्थ तो प्रबन्धम् के भाष्य या उससे सम्बन्धित थे। इनके अतिरिक्त आलोच्य युग में प्रधानतया शुद्ध काव्यात्मक दृष्टिकोण को लेकर कुछ अच्छे वैष्णव भक्ति-काव्य-ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ, जिनका वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को सजीव रखने में पर्याप्त योगदान माना जाएगा। विस्तार-भय से विशेषकर ऐसे केवल दो महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थों का ही इस संदर्भ में उल्लेख किया जा सकता है—एक महाकवि कंबर कृत रामायण और दूसरा महाकवि विल्लिपुत्तूरार कृत 'महाभारत'।

कंबर के पहले भी तमिल में राम-काव्य की परंपरा प्रारंभ हो चुकी थी। आलवार भक्तों के काव्य में राम-भक्ति काव्य के उत्कृष्ट अंश देखने को मिल जाते हैं। तमिल की राम काव्य-परंपरा में आलवारों के बाद कंबर का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। कंबर का रामायण-काव्य केवल राम-भक्ति ग्रन्थ ही नहीं, बल्कि उच्चकोटि के काव्य-गुणों से युक्त सरस काव्य है, जिसकी तुलना में तमिल का कोई दूसरा काव्य रखा नहीं जा सकता।

कवि कंबर के जीवन-काल के संबंध में विद्वानों में मत-भेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय नवीं शताब्दी है। दूसरा मत यह है कि उनका समय ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी था।[2] कई प्रमाणों से दूसरा मत ही अधिक समी-चीन लगता है। यह तो निश्चित है कि उनका समय आलवार भक्तों के युग के

१. 'वैष्णव-धर्म', श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९४-९५

२. 'तमिल चूड़ामणिकल', एस० वैयापुरि पिल्लै, पृ० १२७-१३१

वाद ही था। क्योंकि कंवर ने अपने काव्य में आलवार भक्तों के काव्य के अंशों का अनुकरण भी किया है तथा कंवर के संवंध में यह वहुत ही प्रसिद्ध है कि उन्होंने नम्मालवार की स्तुति में 'शठकोपरन्तादि' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी। ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी के भक्तिमय वातावरण में कंबर के रामायण-काव्य का रचित होना ही अधिक संगत दिखाई देता है। जिस समय वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में—श्री संप्रदाय में—प्रपत्ति या शरणागति तत्त्व को लेकर विशेष चर्चा चल रही थी, उसी समय में राम-भक्ति परक उपासना का विशेष प्रस्फुटन हुआ। इसी सन्दर्भ में कंबर के राम-भक्ति-काव्य का रचित होना ही अधिक स्वाभाविक दीखता है।

तमिल साहित्य के लिए कंवर का जन्म एक चमत्कार समझना चाहिए। वर्तमान तंजौर जिले में उनका जन्म हुआ था। उनकी जीवनी के बारे में प्रामाणिक रूप में कुछ भी विदित नहीं, कई दन्त-कथाएं प्रचलित हैं। इन कथाओं के द्वारा कंवर के व्यक्तित्व की ओर अवश्य संकेत मिलता है। कंबर की कृतियों के कुछ अन्तस्साक्ष्यों के आधार पर भी थोड़ा-वहुत जाना जा सकता है। वे 'आदवन' नामक एक पुजारी के पुत्र थे। जन्म से गरीव होने पर भी विद्याव्यसनी थे। कला और कविता के प्रति वचपन से ही उनका अगाध प्रेम था। उन्होंने विविध विद्वानों से तमिल साहित्य के सभी ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्होंने संस्कृत साहित्य का भी आवश्यक परिचय प्राप्त कर लिया था। उस समय कवियों के आश्रयदाता कई नरेश थे। परन्तु कंवर स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति होने के कारण किन्हीं के दरवार में बहुत दिन तक रह नहीं सके। चोल और चेर राजाओं के यहां कुछ समय तक रहे थे। उन्होंने अपनी महान् कृति 'रामायण' को अपने आश्रयदाता 'चडयप्प वल्लल' को अर्पित किया है। यह उस सज्जन के प्रति कंबर की कृतज्ञता का प्रकाशन था।

कंबर की और रचनाएं हैं–'शठकोपरन्तादि', 'आरेलुपदु', 'शिलै एलुपद', और 'सरस्वती अन्तादि'। परन्तु कंबर की कीर्ति का आधारस्तंभ 'रामायण' ही है। इस रचना के संबंध में एक समालोचक का कथन है कि कंबर इस काव्य की रचना में कला-सौन्दर्य की जिस ऊंचाई पर पहुंचे थे, वह साहित्य की उत्तमता का निर्णय करने के लिए मापदण्ड बनी है। कंबर की कृति में एक ओर तमिल साहित्य-परंपराओं का चरम उत्कर्ष पर पहुंचा हुआ रूप दृष्टिगत होता है तो दूसरी ओर संस्कृत काव्य-पद्धतियों के समन्वय से उत्पन्न काव्य-प्रौढ़िमा दृष्टिगत होती है और साथ ही रामचरित के अवतारी रूप के साथ परिपूर्ण मानव का दृश्य भी उपस्थित किया गया है।

कंबर ने अपनी रामायण में घटनाओं और प्रसंगों का वही क्रम रखा है, जो वाल्मीकि की कृति में है। मुख्य पात्र राम, सीता, दशरथ, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, सुग्रीव, रावण, जनक, आदि का जो व्यक्तित्व कंबर की कृति में परिस्फुट हुआ है, उसके निर्माण में मूल ग्रन्थ से बहुत कुछ सामग्री ली गई है। फिर भी कंबर की मौलिकता उनकी वर्णन-शैली में है। प्रत्येक घटना के चित्रण

में परिस्थितियों को उपस्थित करने में, पात्रों के संभाषण में, प्राकृतिक दृश्यों के उपस्थापन में, एवं पात्रों की मनोभावना की अभिव्यक्ति करने में कंबर ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है। रामचरित का गान कर वाल्मीकि ने संसार के सम्मुख 'पुरुष-पुरातन का' ही नहीं, अपितु एक महामानव का चित्र उपस्थित किया था। कंबर के युग तक आते-आते वही आदर्श नर या महामानव परमात्मा के अवतार रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। वैष्णव भक्ति का ज्यों-ज्यों समाज में आदर बढ़ा, त्यों-त्यों राम के प्रति आस्था अधिकाधिक बद्धमूल होती गई। कंबर ने समयुगीन भावनाओं को भली-भांति पहचाना था। जनता की भक्ति-प्रेरित भावना के कारण रामचन्द्र के चरित्र में जो महानता और परम-परिपूर्णत्व उत्पन्न हो गए थे, उन्हें कंबर ने अपने काव्य के द्वारा परिपुष्ट कर दिया। यह कोई साधारण कार्य नहीं था। केवल यह कहते रहने से कि 'राम परमात्मा हैं' अथवा स्थान-स्थान पर दैवी विशेषणों को जोड़ते रहने से, यह ज्ञान हो सकता है कि राम परमात्मा के अवतार हैं, किन्तु उससे पाठकों पर राम के चरित्र का मानवोचित प्रभाव संभव नहीं है, रस-पोषण की दृष्टि से भी इस प्रकार की पुनरुक्ति से बाधा पड़ने की संभावना है। राम के दैवीत्व का साहित्यिक या कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करना, पूरे काव्य में सब प्रसंगों के मध्य उस दैवीत्व का निर्वाह करना एवं साथ ही मानव-जीवन की विविध सुख-दुखात्मक परिस्थितियों के साथ उस दैवीत्व की संगति बैठाना—यह एक अनन्य प्रतिभावान् कवि का ही कार्य है। हिन्दी के गोस्वामी तुलसीदास और तमिल के कविचक्रवर्ती कंबर दोनों ऐसे ही महाकवि हैं, किन्तु कंबर में कुछ ऐसी विशेषता भी है, जो तुलसी में भी नहीं है।

गोस्वामी जी ने शिव-पार्वती के प्रसंग की उद्भावना करके राम की पारमात्मिकता का निरूपण किया। पर कंबर ने ऐसे प्रसंग की उद्भावना नहीं की। कंबर की अपनी एक विशिष्ट शैली है। रामचन्द्र जब माया-मृग के पीछे दौड़ रहे हैं, जब कंबर कहते हैं कि "राम अपना वह पग बढ़ा रहे हैं जिससे उन्होंने तीनों लोकों को नापा था।" मिथिला में धनुर्भंग होने के पूर्व जब रामचन्द्र विश्वामित्र के संग वीथि में जा रहे थे, तब कन्या-प्रासाद पर सीता खड़ी थीं। सीता और राम के नयन क्षण-भर के लिए मिल गए और इस सन्दर्शन से दोनों के मन परस्पर के प्रति आकृष्ट हुए। इस प्रसंग में लिखते हैं—"अति सुन्दरी सीता एवं अकलंक प्रभु राम, दोनों इस परस्पर सन्दर्शन से दो शरीर किन्तु एक प्राण हो गए। विशाल क्षीरसागर में आदि शेष के पर्यंक पर साथ रहने वाले दोनों एक-दूसरे से वियुक्त हो गए थे और अब पुनः उनका समागम हो रहा है, तो फिर इनके प्रेम का वर्णन क्या आवश्यक है।"

श्री रामचन्द्र के आदर्श चरित्र को चित्रित कर उन्हें श्रेष्ठ 'महामानव' अथवा 'पूर्णमानव' सिद्ध करना ही कंबर का उद्देश्य था। रामचन्द्र को राज्य देने का निर्णय जब दशरथ करते हैं, तब वाल्मीकि ने लिखा है—राम बड़ी प्रसन्नता से अपनी माता कौशल्या के पास जाते हैं और उन्हें समाचार देते हैं। इस समय हुए लक्ष्मण और राम के संभाषण में भी राम का उल्लास प्रकट होता है। किन्तु कंबर

ने इस प्रसंग में भी रामचन्द्र के गंभीर रहने की बात कही है। कंबर के राम शालीनता, उदारता, गंभीरता और धीरता की मूर्ति हैं। उनकी इस उदारता एवं धीरता में किसी भी प्रसंग में कुछ कमी उत्पन्न नहीं हुई हैं। कैकेयी ने जब राम से यह कहा कि तुम्हें राज्य छोड़कर अरण्य में जाना है और वहां चौदह वर्ष बिताने हैं, तब किसी के लिए अवर्णनीय गुणों वाले रामचन्द्र के सुन्दर मुखमण्डल की उस समय की जो शोभा थी, उसका वर्णन कंबर इस प्रकार करते हैं—"रामचन्द्र पहले विशुद्ध ज्ञान वाले चक्रवर्ती की आज्ञा का उल्लंघन होने से डरकर ही इस अन्धकारमय संसार के राज्य के दुख को स्वीकार करने के लिए सन्नद्ध हुए थे। अब वे इस भार से मुक्त होकर ऐसे लगे जैसे कोई वृषभ चक्रवाले शकट के स्वामी के द्वारा जोता गया हो, पर किसी करुणामय व्यक्ति के द्वारा बन्धन से छुड़ा दिया गया हो।" चरित्र की रक्षा करने के लिए इस प्रसंग में कंबर की काव्य-कुशलता अद्भुत है। शूर्पणखा के प्रसंग में राम का चरित्र-चित्रण अत्यन्त मनोहर एवं मौलिक बना है। राम, जो कभी विनोद में भी किसी का अपमान नहीं करते, शूर्पणखा जैसी दुश्चरित्र स्त्री के भी स्त्रीत्व का आदर करते हैं। शूर्पणखा के साथ उनका व्यवहार धीरोदात्त नायक के अनुकूल है। कंबर की रचना में राम शूर्पणखा के नाक-कान काटने का निमित्त नहीं बनते।

'कंब रामायण' में रावण का चरित्र, तुलसी और वाल्मीकि की कृतियों में वर्णित रावण से अत्यन्त विलक्षण बना है। रावण महान् वीर है, शिव-भक्त है। उसे अपनी प्रजा का आदर प्राप्त है। परन्तु रावण के चरित्रगत एक भारी कमी परनारी-आसक्ति को कंबर ने पुष्ट कर दिया है। यों यह प्रकट किया है कि कोई चाहे कितना भी पराक्रमी और वैभव-संपन्न क्यों न हो, यदि उसमें कामुकता है तो उस दुर्गुण से ही उसका अधःपतन होता है। प्रत्येक पात्र की हृदयगत सूक्ष्म भावनाओं को पूरा-पूरा समझने की शक्ति कंबर में है। उनके कथन में ऐसा लगता है जैसे पात्र स्वयं बोल रहे हों। वर्णनात्मकता के अधिक होने पर भी उपर्युक्त कारण से एवं घटनाओं को उपस्थित करने में कंबर की दिखाई गई विलक्षण चातुरी से इस काव्य में नाटकीयता के दर्शन होते हैं। इसलिए तमिल के विद्वान् इस काव्य को 'कंबनाटकम्' भी कहते हैं।

'कंब रामायण' के प्रणयन में एक प्रमुख लक्ष्य कवि का रामराज्य के आदर्शों की स्थापना करना भी था। इस लक्ष्य की ओर संकेत करने वाले अनेक प्रसंग कंब रामायण में हैं।[१]

कुछ विद्वानों ने कंब रामायण में भक्ति के अंश कम देखे हैं और काव्य-गुण अधिक। ऐसे विद्वान कंबर को 'भक्त-कवि' कहने की अपेक्षा 'कवि-भक्त' की संज्ञा देते हैं। परन्तु यह निर्विवाद है कि कंबर के रामकाव्य का निर्माण राम-भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ही हुआ है। कंबर की भक्ति-भावना कंब रामायण के अनेक स्थानों पर बड़े ही स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। राम को 'महामानव' चित्रित करते हुए भी उन्हें परब्रह्म विष्णु के अवतार मानकर ही कंबर ने स्थान-

१. *A History of Tamil Literature*, T. P. Meenakshi Sundaram, p. 107

स्थान पर अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शित की है। उदाहरण के लिए सुन्दरकाण्ड के मंगलाचरण पद में कंबर का कहना है—"हमारे जन्मों की यह परंपरा पंचभूतों के विविध विवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है तथा विविधता से मुक्त है। माला को देखकर जिस प्रकार सर्प की भ्रांति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अमात्मक ज्ञान से यह परंपरा संयुक्त है। ऐसी यह जन्म-परंपरा जिस परमात्मा के दर्शनमात्र से मिट जाती है, उसी वेदों के परम अर्थभूत भगवान् ने कर में चाप धारण कर लंका में युद्ध किया था।"

ब्रह्म-तत्त्व निरूपण के कुछ प्रसंगों में कंबर ने नम्मालवार की विचार-धारा और वर्णन-शैली को अपनाया है।[1] कंबर का कथन है—"वह परमात्मा ऐसा है कि यदि कहा जाए कि वह एक है, तो वह एक है। यदि कहा जाए कि वह अनेक है, तो वह अनेक है। यदि कहा जाए कि वह अमुक जैसा है, तो वह वैसा ही है। यदि 'नहीं है' कहा जाए, तो नहीं है। 'है' कहा जाए तो वह है—अहो, उस भगवान् की अवस्थिति भी विचित्र है। हम जैसे लोगों के लिए उसे जानना और उत्तम जीवन (अर्थात्, मोक्ष पद) पाना कैसे संभव हो सकता है?"[2] इसका भावार्थ यह है कि–"भगवान् के तत्त्व को समझना हमारे लिए संभव नहीं है। जब तक भगवान् अपनी कृपा से हमारा उद्धार न करें, तब तक मोक्ष पाना भी हमारे लिए संभव नहीं है।" कंबर ने अपने काव्य में रामावतार के अतिरिक्त विष्णु के अन्य अवतारों का भी उल्लेख किया है और सर्वत्र अपने को परम वैष्णव-भक्त सिद्ध किया है।

कंब रामायण तमिल साहित्य की अमूल्य निधि है। उसका सांस्कृतिक महत्त्व अपार और अनुपम है। महाकवि कंबर का नाममात्र तमिल साहित्य के किसी भी रसग्राही पाठक के मन को उमंगों से भर देने वाला है। कंबर की और उनकी अनुपम रचना की जो महत्ता है, उसका यही प्रमाण हो सकता है कि रचना-काल से ही दिनोंदिन 'कंब रामायण' का प्रचार बढ़ता जा रहा है और पंडितों, कवियों रसिक पाठकों और भक्तों के बीच समान रूप से उसकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। जहां आलोच्य युग में आचार्यों के भक्तिपरक तमिल-ग्रन्थों ने वैष्णव भक्तों को धार्मिक दृष्टि से अधिकाधिक आकृष्ट किया था, वहां वैष्णवेतर तमिल जनता को भी काव्यात्मक दृष्टि से आकृष्ट करने में कंब रामायण का विशेष महत्त्व था। परवर्ती युग में कंब रामायण का बड़ा प्रचार रहा। विद्वानों ने इस बात के अनेक प्रमाण दिए है कि केरल तथा कर्नाटक प्रदेशों में कंब रामायण के अनुकरण पर अनेक राम काव्य लिखे गए हैं।[3]

कंब रामायण के रचना-काल के पश्चात् का तमिल का अधिक लोकप्रिय वैष्णव भक्ति-काव्य श्री विल्लिपुत्तूरालवार कृत 'महाभारतम्' है। कहा जाता है

१. 'तमिलुम वैणवमुम', एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ६७

२. 'कंब रामायण', युद्ध-काण्ड, मंगलाचरण पद्य तथा 'तिरुवायमोली', १ : १ : ६

३. *A History of Tamil Literature*, T. P. Meenakshi Sundaram, pp. 103-104

कि विल्लिपुत्तूरालवार के पहले पेरुन्देवनार नामक कवि ने तमिल में 'महाभारत' की रचना नवीं शताब्दी में की थी। किन्तु वह अब उपलब्ध नहीं है। श्री विल्लि-पुत्तूरालवार का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है।[1] ये विल्लि-पुत्तूर नामक स्थान के निवासी महाकवि थे। ये कविवर अपने स्थान के नाम से ही विख्यात हैं। ये ब्राह्मण थे और विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन से कुछ प्रभावित थे।

वरपति नामक एक दानी व्यक्ति की प्रेरणा से इन्होंने 'महाभारत' की रचना तमिल में की थी। विल्लिपुत्तूरालवार के 'महाभारत' में अब केवल दस पर्व ही उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शेष आठ पर्वों का प्रणयन नहीं किया था। यह तमिल महाभारत काव्य-सौन्दर्य में उत्तम कोटि का ग्रन्थ है। कंब रामायण के जैसे ही यह भी वर्णवृत्तों में लिखा गया है। इसकी भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग यह सूचित करता है कि यह निश्चय ही १४वीं शताब्दी के आस-पास रचित ग्रन्थ है। विभिन्न घटनाओं के अनुकूल कोमल और कठोर तथा प्रवाहमयी भाषा-शैली का प्रयोग इस काव्य की विशिष्टता है। घटनाओं के चित्रण में तमिल-प्रदेश एवं परंपरा का रंग पर्याप्त दिखाई पड़ता है। राजदरबार, राजकाज के काम, नीति, धर्म, उपदेश, आदि बातों में विशेष सुन्दरता दिखाई देती है। किन्तु कथानक में मूल का ही सर्वत्र अनुसरण किया गया है। कवि का प्रधान उद्देश्य महाभारत की कहानी सुनाना है। संस्कृत महाभारत के द्वारा जिस प्रकार भारतीय संस्कृति या धर्म का प्रचार संभव हुआ, उसी प्रकार वह उद्देश्य तमिल के इस महाभारत के द्वारा भी संभव हुआ है। आज भी तमिल-प्रदेश के गांवों में 'द्रौपदी' के मन्दिर विद्यमान है। (तंजौर जिले के गांवों में अधिक संख्या में हैं) इनमें द्रौपदी की पूजा होती है। वहां वर्ष में एक-दो महीने नित्य प्रति इस तमिल महाभारत का पाठ होता है, जिसे सुनने के लिए गांव की जनता बड़ी संख्या में एकत्र होती है। स्पष्ट है कि विल्लिपुत्तूरालवार का महाभारत भक्त जनों के बीच बहुत ही लोकप्रिय काव्य था।

---

१. 'तमिलुम वैणवमुम', एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० १०५

षष्ठ अध्याय

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का दूसरा प्रमुख स्रोत : 'श्रीमद्भागवत'

(और प्रबन्धम् से उसकी तुलना)

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का एक प्रमुख स्रोत 'प्रबन्धम्' रहा। पिछले अध्यायों में मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करनेवाले 'प्रबन्धम्' के तत्त्वों और परवर्ती वैष्णव भक्ति-साहित्य तथा वैष्णव भक्ति-आन्दोलन पर 'प्रबन्धम्' के व्यापक प्रभाव का सम्यक् परिचय दिया जा चुका है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को 'प्रबन्धम्' के समान ही प्रभावित करनेवाला एक दूसरा प्रमुख स्रोत श्रीमद्भागवत रहा है। श्रीमद्भागवत का इतना व्यापक प्रभाव मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन पर पड़ा है कि समस्त भारतीय भाषाओं का वैष्णव भक्ति-साहित्य श्रीमद्भागवत से अनुप्राणित हुआ है। समस्त पुराण-साहित्य में एकमात्र श्रीमद्भागवत ही ऐसा व्यापक और लोकप्रिय तथा विख्यात भक्ति-ग्रन्थ ठहरा, जिससे मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को व्यापक क्षेत्र में प्रसारित होने का अवसर मिला। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनों को शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा।"[1] श्रीमद्भागवत ने 'प्रबन्धम्' की तरह रूढ़िगत भक्ति-भावना में उद्दाम प्रेम और रोमांचकारी तत्त्वों का समावेश कर भक्ति को पूर्णतया हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों के अनुसार बना दिया और लोक-रुचि और वातावरण को अनुकूल पाने के कारण जन-मानस को इतना अधिक प्रभावित किया कि मध्ययुग में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन आलवार-युग के तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के समान या उससे कहीं अधिक व्यापक रूप में जन-आन्दोलन हो गया।

संस्कृत भक्ति-वाङ्मय में वेद, उपनिषद् और गीता के उपरान्त श्रीमद्भागवत ही एक अनल्प माहात्म्यशाली ग्रन्थ ठहरा। परन्तु गीता और भागवत के बीच में लगभग एक सहस्र वर्ष की लम्बी अवधि है। इस बीच में भक्ति के नवीन भावमूलक आकर्षक रूप का विकास हुआ, जिसका समावेश श्रीमद्भागवत में हुआ। गीता और श्रीमद्भागवत के बीच में भक्ति के क्षेत्र में भक्ति को आन्दोलन का रूप देकर नवीन आकर्षक तत्त्वों का समावेश कर देने का श्रेय 'प्रबन्धम्' को ही है। मूल प्रबन्धम् के तमिल भाषा में होने के कारण बहुत से विद्वान्

1. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १७

प्रबन्धम् के वास्तविक महत्त्व को सही रूप में समझने में असमर्थ रहे हैं। अतः बहुत से विद्वान् गीता और श्रीमद्भागवत के बीच की लम्बी अवधि देखकर विस्मय मिश्रित भ्रम में पड़े हैं। यदि ईसा की पांचवीं-छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के तमिल-प्रदेश के प्रबन्धम्-प्रेरित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन पर प्रकाश डाला जाए और प्रबन्धम् के महान् और आकर्षक भक्ति-तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया जाए तो विद्वानों को कदापि उक्त भ्रम की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। प्रबन्धम् ने स्वयं वेद, उपनिषद् और गीता से आवश्यक विचार ग्रहण कर बदलती परिस्थितियों के अनुसार नवीन आकर्षक तत्त्वों का समावेश करके वैष्णव भक्ति को एकदम ऐसा नवीन रूप दे दिया था, जिसके फलस्वरूप श्रीमद्भागवत की रचना के पहले ही वैष्णव भक्ति-आन्दोलन तमिल-प्रदेश में व्यापक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर चुका था। आलवारोत्तर काल में भी प्रबन्धम् पर लिखी गई अनगिनत टीकाओं से 'प्रबन्धम्' के बढ़ते हुए प्रभाव का पता चलता है। यद्यपि 'प्रबन्धम्' पर बहुत-सी संस्कृत-टीकाएं निकलीं और वैष्णव-आचार्यों के द्वारा प्रबन्धम् का सीधा प्रभाव उत्तर भारत में पहुंचाया गया,[1] तो भी मूल प्रबन्धम् के तमिल भाषा में होने के कारण संस्कृत-आश्रित आर्य भाषाओं के भक्ति-साहित्यों के सीधे सम्पर्क में आने में कुछ कठिनाई थी। यह बताया जा चुका है कि आलवारोत्तरकाल में श्री सम्प्रदाय में 'प्रबन्धम्' की कितनी अधिक मान्यता थी और १२वीं और १३वीं शताब्दियों में प्रबन्धम्-प्रेरित श्री सम्प्रदाय का विस्तार तमिलेतर प्रदेशों में भी होने लगा। स्मरण रहे कि तमिलेतर सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास ११वीं-१२वीं शताब्दी के बाद ही हुआ और इन सब पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा है। अतः संस्कृत के माध्यम से ही इन आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्यों तक किसी भी महान् कृति का प्रभाव पहुंच सकता था। एक प्रकार से प्रबन्धम् के द्वारा प्रतिपादित वैष्णव भक्ति के नवीन आकर्षक तत्त्वों को इन आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्यों तक पहुंचाने का माध्यम श्रीमद्भागवत सिद्ध हुआ। वैष्णव भक्ति के विकास में इस प्रकार गीता और भागवत के बीच में 'प्रबन्धम्' का स्थान है। श्री 'दिनकर' ने ठीक ही लिखा है—"गीता और भागवत तथा गीता और रामानुज के बीच की कड़ी, यही आलवार संत हैं। भक्ति का दर्शन आलवारों के तमिल-प्रबन्धम् से आया है और, कदाचित् भागवत भी उसी प्रबन्धम् से प्रेरित है।···प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रंथ क्यों माना जाए इसका संकेत भी भागवत ही देता है। क्योंकि उसका भी मत है कि भक्ति का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था।"[2]

हम आगे देखेंगे कि मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करने-वाले प्रबन्धम् के भक्ति-तत्त्वों (जिनका विस्तृत परिचय चौथे अध्याय में दिया जा चुका है) और भागवत के भक्ति-तत्त्वों में कितना गहरा साम्य है भागवत में उद्दाम प्रेम और रोमांचकारी तत्त्वों का जो समावेश हुआ है, वह प्रबन्धम् की ही देन है।

१. 'संस्कृति के चार अध्याय', 'दिनकर', पृ० २९८
२. वही, पृ० २९६

इन नवीन तत्त्वों के दर्शन हमें प्रबन्धम्-पूर्व अथवा भागवत-पूर्व संस्कृत के भक्ति-वाङ्मय में कहीं नहीं होते। वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में इन नवीन तत्त्वों का उदय अथवा निर्वाह 'प्रबन्धम्' में ही पहली बार हुआ। डा० श्रीधर कुलकर्णी ने लिखा है—"भागवत पुराण में प्रतिपादित मधुरा भक्ति पर आलवारों की मधुरा भक्ति का विशेष प्रभाव रहा है। भागवत[1] और पद्म पुराणों में द्राविड़ देश के नारायणीय भक्तों का उल्लेख संभवतः आलवारों को लेकर ही हुआ है।"[2]···आलवारों की मधुरा भक्ति तथा भागवत के रासवर्णन के योग से ही समस्त भारत में चौदहवीं शताब्दी में (और बाद में भी) समस्त शास्त्रों एवं दर्शनों को एक ओर ठेलकर कृष्ण-भक्ति की प्रचण्ड धारा प्रवाहित हो उठी।[3] इस प्रकार मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के दो प्रमुख स्रोत प्रबन्धम् और भागवत सिद्ध हुए हैं। वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में पहले प्रवन्धम् का सीधा प्रभाव १३वीं-१४वीं शताब्दी तक और परवर्ती शताब्दियों में श्रीमद्भागवत का प्रभाव अक्षुण्ण रूप में रहा है। चूंकि आधुनिक आर्य भाषाओं के क्षेत्र में १४वीं शताब्दी और बाद के वैष्णव-भक्ति-साहित्य का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत श्रीमद्भागवत रहा है, अतः श्रीमद्भागवत का अध्ययन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से बहुत ही आवश्यक प्रतीत होता है।

भागवत का रचना-काल

श्रीमद्भागवत की अतिशय लोकप्रियता और प्रसिद्धि ने इसके रचनाकाल के अनुसंधान की ओर अनेक देशी और विदेशी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। श्रद्धालु भक्तों की धारणा उसे बहुत प्राचीन ग्रन्थ मानने की है। परन्तु अधिकतर आधुनिक विद्वानों का मत है कि यह एक परवर्ती रचना है, जो ईस्वी नवीं शताब्दी के पहले की नहीं है।[4] कुछ विद्वान् तो भागवत को १३ वीं शताब्दी की रचना मानते हैं, जिनमें विल्सन, मेक डॉनल, कोलब्रुक तथा बर्नाफ उल्लेखनीय हैं। कुछ विद्वान् भागवत को बोपदेव (१३ वीं शती) कृत मानते हैं। चूंकि बोपदेव के पहले ही श्रीमद्भागवत का उल्लेख कई जगह मिल जाता है, अतः इन विद्वानों के मत

१. उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डितांकका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥
—'श्रीमद्भागवत-माहात्म्य', अध्याय १, श्लोक ४८-४९ व ५०

२. 'नाथांचा भागवत धर्म', डा० श्रीधर कुलकर्णी, पृ० १४२

३. 'हिन्दी-मराठी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन', डा० रा० श० केलकर, पृ० १०९

४. (i) C. V. Vaidya, *JBRAS* (1925), p. 144 ff.
(ii) R. G. Bhandarkar—"*Vaishnavism, Saivism...*," p. 49
(iii) Pargiter—"*Ancient Indian Historical Tradition*," p. 80
(iv) *Farquhar—Outline of Religious Literature of India*, p. 229 ff

(जो १३ वीं शती की रचना मानते हैं) का निराकरण हो चुका है।[1] हमें यहां समीचीन मतों का परिचय देकर तटस्थ रूप से श्रीमद्भागवत की रचना-तिथि का निर्णय करना है।

अलबरूनी (१०३० ई०) ने अपने भारत-वर्णन में पुराण-सूची में 'वासुदेव-भागवत' का नामोल्लेख किया है।[2] बल्लालसेन (१०५० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'दानसागर'[3] में एक 'भागवत पुराण' का उल्लेख किया है। उनकी स्थापना है कि 'मैंने भागवत से इसलिए कोई उद्धरण ग्रहण नहीं किया कि उसमें दान विषय पर कोई प्रकरण नहीं हैं।' बल्लालसेन के कथन का संकेत श्रीमद्भागवत की ओर ही है। अतः भागवत का रचना-काल ई० १०५० के पूर्व पड़ता है।[4] चूंकि मध्वाचार्य ने भागवत पुराण पर टीका लिखी थी, अतः यह मानना पड़ेगा कि निश्चित रूप से वह मध्वाचार्य के पहले की रचना है और मध्वाचार्य के समय तक वह प्रचार में आ चुका था। यह ध्यान देने की बात है कि भागवत में तमिल-प्रदेश के वैष्णव (आलवार) भक्तों की बड़ी स्तुति की गई है और उनकी भावमूलक उद्दाम प्रेम-युक्त भक्ति-भावना की बड़ी सराहना की गई है।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भागवत का रचना-काल आलवार-युग के बाद ही है। मत्स्य पुराण और पद्मपुराण में भी श्रीमद्भागवत का उल्लेख है। पद्मपुराण में दिए गए रुचिकर विवरण[6] से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव भक्ति की जन्मभूमि तमिल-प्रदेश है और भागवत ने तमिल-प्रदेश के वैष्णव संतों से (जिनका समय ५वीं शती से ९वीं शती तक है) और तमिल-प्रदेश के भक्तिमय वातावरण से बहुत अधिक प्रभाव ग्रहण किया है। अनेक विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार भी किया है कि श्रीमद्भागवत में परंपरागत वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत भावमूलक (Emotional) भक्ति का समावेश तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से ही हुआ और तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का भावावेश युक्त भक्तिमय वातावरण उसकी रचना का प्रेरणा-स्रोत रहा है। डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य के अनुसार श्रीमद्भागवत की रचना-सामग्री तमिल-प्रदेश के भक्तों की कृतियों से ही बहुत कुछ संगठित हुई है और तमिल वैष्णव भक्तों की भावमूलक भक्ति का समावेश करके ही श्रीमद्भागवत के वर्तमान रूप का प्रणयन हुआ है। उनकी यह भी

---

१. R. C. Hazra, *New Indian Antiquary* (1938-39), Vol. I, p. 522

२. Sachan, *Alberuni's India*, p. 131

३. India Office, Ms, File 3B

४. 'हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव', डा० विश्वनाथ शुक्ल, पृ० १५

५. कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।
क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः॥
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी॥
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः॥ —'श्रीमद्भागवत', ११-५-३८, ३९, ४०

६. 'पद्मपुराण', १९३ : ३८-५४ और १९४ : १२-६३

मान्यता है कि भागवत का कोई पूर्व रूप रहा होगा और तमिल-प्रदेश के वैष्णव संतों के प्रभाव के बाद ही उसका वर्तमान अंतिम रूप स्थिर हुआ।[१] सर् हारेसे आर्थर रोज़ लिखते हैं—"It can hardly have been written after 900 A. D. and must be due to a community of singers in the Tamil country."[२]

श्रीमद्भागवत के रचना-स्थल तथा रचना-काल के सम्बन्ध में डा० फर्कुहर का मत है—"The Bhagavata Purana is really a great work... Bhakti in this work is a surging emotion which chokes the speech, makes the tears flow and hair thrill with pleasurable excitement. It thus seems natural to conjecture that the Bhagavata was written about 900 A. D. in the Tamil country in some community of ascetics, belonging to the Bhagavata sect who felt and gave expression to the Bhakti characteristic of the work."[३]

भागवत के रचना-काल के विषय में उपर्युक्त अधिकांश मतों का सार यही है कि श्रीमद्भागवत के वर्तमान रूप की रचना आलवार-युग के बाद ही हुई है। आगे जब हम प्रबन्धम् और भागवत के विचार-साम्य दिखाएंगे, तब यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी कि भागवत निश्चित रूप से प्रबन्धम् से प्रभावित है और एक प्रकार से वह प्रबन्धम् का ही परिवर्द्धित व्यवस्थित संस्कृत संस्करण है। आलवार भक्तों का समय ईस्वी ८५० के आस-पास समाप्त होता है और उसके पश्चात् आचार्य-युग प्रारंभ होता है। हम देख चुके हैं कि नाथमुनि से लेकर रामानुजाचार्य के समय तक प्रबन्धम् का वास्तविक महत्त्व व्यापक रूप में प्रकाश में आया और प्रबन्धम् पर सैकड़ों टीकाएं निकलीं। वास्तव में इसी युग में तमिल-प्रदेश के संस्कृत पंडितों का आकर्षण प्रबन्धम् की ओर विशेष रूप से हुआ और इसी वातावरण में भागवत का निर्माण श्री रामानुज के आविर्भाव-काल (ई० १०१७ के बाद) में हुआ मानना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। चूंकि अलबरूनी (ई० १०३०) ने भागवत का उल्लेख किया है, अतः भागवत का रचना-काल उससे कुछ पूर्व पड़ता है। यह मानना ही हर प्रकार से तटस्थ दृष्टिकोण है कि ई० १००० के लगभग (ई० ९७५ और १००० के बीच) श्रीमद्भागवत की रचना तमिल-प्रदेश के किसी श्रेष्ठ संस्कृत पंडित के द्वारा हुई, जो प्रबन्धम् से बहुत प्रभावित थे और रामानुजपूर्व विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन से परिचित थे। चूंकि श्री रामानुज ने श्रीमद्भागवत का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है, अतः यह स्पष्ट होता है कि रामानुज के समय में श्रीमद्भागवत बहुत प्रचार में नहीं आया था। फिर श्री संप्रदाय

---

१. *The Philosophy of Srimad Bhagawata,* Part I—Dr. Siddhesvara Bhattacharya, Introduction, p. XIV-XV

२. *Encyclopaedia Brittanica* (4th Ed.) Vol. 12, p. 162

३. *The Religious Quest of India*—Dr. J. N. Farquhar, pp. 230-32.

में श्रीमद्भागवत को वह मान्यता प्राप्त नहीं है, जो अन्य वैष्णव संप्रदायों में उसे प्राप्त हुई। इसका कारण यह है कि भागवत के पूर्व से ही प्रबन्धम् श्री संप्रदाय में एक अतिशय माहात्म्यशाली ग्रन्थ माना गया था और जन-भाषा तमिल में प्रबन्धम् के होने के कारण अधिकांश अनुयायियों को प्रबन्धम् ही अधिक आकर्षक ग्रन्थ रहा। प्रबन्धम् के मुकाबले में तमिल-जनता के बीच श्रीमद्भागवत को विशेष महत्त्व मिल न सका। यही कारण है कि श्री संप्रदाय में श्रीमद्भागवत को विशेष मान्यता (प्रबन्धम् की तुलना में) प्राप्त न हो सकी। स्मरण रहे कि १६ वीं शती के आस-पास जाकर भागवत का अनुवाद तमिल में हुआ। परन्तु इस बीच में १२ वीं शती से ही भागवत ने तमिलेतर अन्य प्रदेशों के वैष्णव भक्तों को आकृष्ट करना शुरू कर दिया था। तमिल-प्रदेश के श्री संप्रदाय में श्रीमद्भागवत की विशेष चर्चा न होने का कारण यह भी है कि तत्त्वतः प्रबन्धम् और भागवत में कोई विशेष अंतर नहीं है। प्रबन्धम् की भक्ति-पद्धति के दो प्रमुख तत्त्वों—मधुर भक्ति और प्रपत्ति का ही भागवत में भी विशेष निर्वाह हुआ है। श्री संप्रदाय में तत्का-लीन लोक-रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार प्रपत्ति को ही अधिक मान्यता मिली। यही कारण है कि भागवत को तमिल-प्रदेश के बाहर अपने व्यापक प्रभाव का क्षेत्र ढूंढ़ना पड़ा, जिसमें मधुर भक्ति के लिए विशेष वातावरण मिल सके।

'भागवत' के रचयिता और रचना-स्थल

भारतीय परंपरा वेदव्यास को श्रीमद्भागवत का रचयिता मानती है।[1] सभी पुराणों के रचयिता वेदव्यास हैं। व्यास के नाम के साथ तीन भिन्न अभिधान जुड़े हुए हैं—(१) वेदव्यास, (२) बादरायण व्यास और (३) कृष्णद्वैपायन व्यास। कुछ विद्वान् इन तीनों को अलग-अलग व्यक्ति मानते हैं। अधिकतर लोग तीनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। परन्तु 'व्यास' एक ऐसा नाम है जो गद्दी से चलता है, आज भी कथावाचक पंडित प्रायः इसी नाम से प्रसिद्ध होते हैं। श्रीमद्भागवत के रचयिता के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित किए नहीं जा सकते।

श्रीमद्भागवत एक ही व्यक्ति की रचना होने के लक्षणों से युक्त है। इसकी सुश्रृंखलित शैली एवं संघटित रचना-विधान को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। सारे ग्रन्थ में पूर्वापर सम्बन्ध बना हुआ है। श्रीमद्भागवत की भाषा-शैली के आधार पर उसे दसवीं शताब्दी की रचना मानते हुए डॉ० हरवंशलाल लिखते हैं—"श्रीमद्भागवत की भाषा अन्य सभी पुराणों से प्रौढ़, दुरूह, संक्षिप्त और आलं-कारिक है। तभी पंडितों में 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' वाली उक्ति का प्रचार हुआ। भागवत के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि इसका रचना-स्थल दक्षिण भारत है। इसके वर्णन दक्षिण भारत के नैसर्गिक रूप से अधिक मेल खाते हैं। उत्तर भारत का वर्णन प्रत्यक्ष दर्शन की अपेक्षा श्रुत और परंपरा प्राप्त ज्ञात होता है। ब्रज का वर्णन भी श्रुति परंपरा से आया मालूम होता है और उसमें उत्तरी भारत के दृश्य की अपेक्षा दक्षिण भारत का दृश्य ही अधिक प्रतिबिंबित

१. 'श्रीमद्भागवत', १२-४-४२

होता है—

वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः।
जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः॥
क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति।
निर्विश्य भागवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः॥

('श्रीमद्भागवत' १०–२०–२७–२८)

भील किरातादि जातियों का निवासस्थान तथा गिरिकन्दराओं का बाहुल्य ब्रज-भूमि की अपेक्षा दक्षिण भारत में ही है, यह स्पष्ट ही है, नदी, पर्वतों, घने वनों, खर्जूर आदि वृक्षों का आधिक्य दक्षिण प्रायद्वीप और विन्ध्याचल के आस-पास ही है। पुष्पों के वर्णन से भी श्रीमद्भागवत का रचना-स्थल दक्षिण भारत ही प्रतीत होता है। अनेक स्थलों पर ऐसे ही पुष्पों की नामावली[1] आई है, जो अधिक-तर दक्षिण भारत में ही पाए जाते हैं। कुरवक, अशोक, नाग, पुन्नाग, चम्पक, मालती, मल्लिका, जाती, यूथिका, आदि पुष्पों के उल्लेख से स्पष्ट है कि इनकी बहुल उत्पत्ति दक्षिण भारत में ही होती है। कवि को जिन पदार्थों का दर्शन प्रत्यक्ष और सुलभ होता है, वे ही उसकी रचनाओं में वर्णित होते हैं, यह नितांत स्वा-भाविक है। अतः श्रीमद्भागवत के विविध वर्णनों और भौगोलिक ज्ञान के आधार पर इसका रचना-स्थल दक्षिण भारत ही प्रतीत होता है।[2]

'प्रबन्धम्' और 'भागवत'

प्रबन्धम् और भागवत में अद्भुत विचार-साम्य को देखकर आश्चर्य होता है और यहां तक कहने का साहस होता है कि भागवत प्रबन्धम् का ही परिवर्द्धित व्यवस्थित संस्कृत संस्करण है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करने वाले जिन प्रमुख तत्त्वों का हमने चौथे अध्याय में विवेचन किया है, वे ही तत्त्व भागवत के भी प्रतिपादित हैं। भागवत ने भी इन्हीं आकर्षक तत्त्वों के कारण ही मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को, विशेषकर वैष्णव भक्ति-साहित्य को, प्रभावित किया है। प्रबन्धम् और भागवत में एक अंतर यह है कि प्रबन्धम् एक व्यक्ति की रचना नहीं है और विविध समयों में भक्ति के भावावेश के क्षणों में गाए गए पदों का संकलन है, जबकि भागवत एक ही व्यक्ति की रचना होने के कारण प्रबन्धम् की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित रूप में है। यही कारण है कि प्रबन्धम् में कृष्ण-चरित क्रम-बद्ध रूप में नहीं मिलता और भागवत में कृष्ण-चरित क्रम-बद्ध रूप से वर्णित है।[3] भागवत में भक्ति तथा दर्शन के तत्त्वों का विवेचन शास्त्रीय ढंग से

१. 'श्रीमद्भागवत', १०-३०-६, तथा १०-३०-८
२. भागवत दर्शन, डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ८४
३. 'प्रबन्धम्' में मिलनेवाले कृष्णचरित संबंधी विवरणों को क्रम-बद्ध रूप से रखा जाए तो 'भागवत' और 'प्रबन्धम्' के वर्ण्य विषय में कोई अन्तर भी नहीं रहेगा। इस प्रकार का प्रयत्न भी हुआ है। 'प्रबन्धम्' के कृष्ण-चरित संबंधी प्रसंगों के उल्लेखों को क्रम-बद्ध रूप से रखकर उसका एक ऐसा अलग रूप भी परवर्ती युग में निकला, जिसको 'अरुलिचेयल भागवत' अथवा 'प्रबन्ध भागवत' का नाम दिया गया।

व्यवस्थित रूप में हुआ है। परन्तु ये ही तत्त्व प्रबन्धम् में बिखरे पड़े हैं, जिनको आधार मानकर विशिष्टाद्वैतवादी विचार-धारा फूट पड़ी। जहां भागवत में भक्ति की परिभाषा, भक्तों के लक्षण, भक्ति के भेद, तथा दार्शनिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है, वहां ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत के रचयिता ने प्रबन्धम् को दृष्टि पथ में रखकर ही इन तत्त्वों का निरूपण किया हो। आगे जब हम प्रबन्धम् और भागवत के भक्ति तत्त्वों का तुलनात्मक परिचय देंगे, तब यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी। प्रबन्धम् में संकलित आलवार भक्तों के पद भक्ति-भावना के भावावेश के समय निसृत वाणी हैं। अतः उनमें शास्त्रीय विवेचन की आशा की नहीं जा सकती थी। परन्तु भागवत में भक्ति-दर्शन का सुव्यवस्थित शास्त्रीय विवेचन है। यह तथ्य भी भागवत के दसवीं शताब्दी में रचित होने की ओर संकेत करता है, क्योंकि प्रबन्धम् के भक्ति-तत्त्वों का शास्त्रीय विवेचन दसवीं शती के लगभग ही प्रारंभ हुआ।

भागवत की रचना अपार पांडित्य के स्तर पर व्यवस्थित रूप में की गई है,[1] जबकि प्रबन्धम् भक्ति-साधना की सीधी अभिव्यक्ति है। स्पष्ट है कि भागवत प्रबन्धम् से प्रभावित शास्त्रीय ग्रन्थ ठहरता है और प्रबन्धम् के भागवत से प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि भागवत का वर्तमान रूप यदि उस समय मिला होता तो आलवार भक्त उससे अवश्य लाभ उठा सकते थे और अवश्य भागवत का अनुकरण कर क्रम-बद्ध रूप में कृष्ण-चरित प्रस्तुत करते। परन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता है। उल्टे भागवत में कृष्ण-कथा को व्यवस्थित रूप में और भक्ति का शास्त्रीय विवेचन देखकर ऐसा अनुमान करना पड़ता है कि भागवतकार ने अपने ग्रन्थ को भक्ति के लक्षण-ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करना चाहा है और इस संबंध में भागवतकार का पूर्व लक्ष्य-ग्रन्थ प्रबन्धम् ही ठहरा है। प्रबन्धम् के भक्ति-प्रधान पदों का प्रचार पांचवीं, छठी शताब्दी से ही होना, भागवत में प्रबन्धम् में वर्णित सभी विषयों का प्राप्त होना तथा भागवत की रचना का दक्षिण भारत में होना, हमारी इस मान्यता को पुष्ट कर देते हैं कि भागवतकार ने अवश्य ही प्रबन्धम् से समुचित रूप में प्रभाव ग्रहण किया है। प्रबन्धम् का आद्योपांत अध्ययन करने से मालूम होता है कि प्रबन्धम् के रचयिताओं को श्रीमद्भागवत से प्रभावित होने की आवश्यकता ही नहीं थी। प्रबन्धम् में ऐसी बहुत-सी चीजें हैं, जो भागवत में नहीं है। कृष्ण की कुछ ऐसी लीलाओं का भी प्रबन्धम् में वर्णन मिलता है, जो भागवत में नहीं हैं। भागवत में 'राधा' का उल्लेख भी नहीं है, परन्तु प्रबन्धम् में 'नप्पिन्ने' के नाम से राधा का ही वर्णन है। बाद के साहित्य में राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का जो वर्णन है, वह पहले से ही प्रबन्धम् में है।[2]

---

१. संस्कृति के चार अध्याय', श्री दिनकर, पृ० २९८

२. गोपालकृष्ण और राधा के व्यक्तित्व के विकास में तमिल-प्रदेश की देन की जो चर्चा हमने द्वितीय अध्याय में की है, उसके परिप्रेक्ष्य में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'भागवत' में वर्णित 'गोपाल कृष्ण' और परवर्ती वैष्णव-साहित्य में वर्णित 'राधा' के स्वरूप का भी विकास आलवार-साहित्य के द्वारा ही हुआ है।

भागवत प्रबन्धम् से कितना प्रभावित है, यह शोध का स्वतंत्र विषय है। इस संबंध में हमें इस प्रसंग में अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। प्ररन्तु इतना कह देना उचित मानते हैं कि प्रबन्धम् और भागवत की विचार-धारा बहुत-कुछ एक ही है और कहीं अन्तर है तो केवल कथन-शैली में है। आगे के पृष्ठों में हम देखेंगे कि मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले भागवत के भक्ति-तत्त्व और दार्शनिक विचार बहुत कुछ वही थे, जो प्रबन्धम् के थे (जिनका परिचय चौथे अध्याय में दिया जा चुका है)। भागवत को ही प्रमाण और आधार मानकर १३वीं शताब्दी के बाद जो विभिन्न वैष्णव संप्रदाय उत्पन्न हुए, उनके भक्ति-तत्त्व मूलतः एक समान थे और उनमें केवल न्यूनाधिक रूप में प्रदेश-विशेष की लोक-रुचि और वातावरण का ही अन्तर दिखाई पड़ता है। चूंकि श्रीमद्भागवत की रचना तमिल-प्रदेश (दक्षिण भारत) में और ऐसे व्यक्ति से हुई जो प्रबन्धम् और संस्कृत दोनों के विद्वान् थे, अतः भागवत में श्री संप्रदाय के भक्ति-दर्शन के तत्त्वों के दर्शन होने में कोई आश्चर्य नहीं है। चूंकि प्रबन्धम् से भागवत और श्री संप्रदाय दोनों ही का विचार-पक्ष प्रभावित है, अतः श्री संप्रदाय के विचारों को भागवत में ढूंढ़ना कठिन नहीं है। तात्त्विक चिंतन के क्षेत्र में भागवत बहुत श्री संप्रदाय के वडकले मत के अनुसार ही है। श्री संप्रदाय के दार्शनिक और भक्ति-सिद्धांत भागवत के अनुरूप ही बैठते हैं।[1]

श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य : तत्त्व-ज्ञान और भक्ति-दर्शन (प्रबन्धम् से तुलना सहित)

भागवत पुराण की रचना का उद्देश्य, जैसा कि स्वयं भागवतकार ने लिखा है, यह है कि जब व्यास जी ने देखा कि महाभारत में नैष्कर्म्य-प्रधान धर्म का जो निरूपण किया गया है, उसमें भक्ति का यथावत् वर्णन नहीं है तो उनका मन उदास हुआ और उन्होंने नारद की प्रेरणा से भागवत की रचना की।[2] इसलिए इस व्यक्ति से श्रीमद्भागवत भक्ति-प्रधान ग्रन्थ ठहरता है। भागवत के मंगला-चरण के प्रथम तीन श्लोकों में यह संकेत है कि श्रीमद्भागवत वेदान्तार्थ और ब्रह्मसूत्रों का भाष्य है। पहले श्लोक में 'सत्यं परं धीमहि' कहा गया है अर्थात् भागवतकार ग्रन्थ-रचना के पहले भगवान् के उस सत्य स्वरूप का ध्यान करते हैं, जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय होती है, क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थों में अनुगत है और सभी असत् पदार्थों से पृथक् है, वह जड़ नहीं चेतन है, परतंत्र नहीं, स्वयं प्रकाश है, जो ब्रह्म तथा हिरण्यगर्भ नहीं, प्रत्युत उन्हें अपने संकल्प से ही जिसने वेद-ज्ञान दिया है, जिसके सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं। जैसे तेजोमय सूर्य-रश्मियों में जल का, जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता है वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणामयी जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति रूपा सृष्टि मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान सत्ता में सत्यवत् प्रतीत हो रही

१. 'भागवत दर्शन', डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १६५
२. 'श्रीमद्भागवत', प्रथम स्कन्ध, अध्याय ४-५

है और जो अपनी स्वयं प्रकाश-ज्योति से सर्वदा माया और माया-कर्म से मुक्त है।

फिर दूसरे श्लोक में कहा गया है कि इस भागवत महापुराण में मोक्ष-पर्यन्तफल की कामना से रहित परम धर्म का निरूपण हुआ है। तीसरे श्लोक में कहा गया है कि यह श्रीमद्‌भागवत वेदरूप कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है। श्री शुकदेव रूपी शुक (तोते) के मुख का सम्बन्ध होने से यह परमानन्दमयी सुधा से परिपूर्ण हो गया है। इसमें छिलका, गुठली आदि त्याज्य अंश तनिक भी नहीं हैं। यह मूर्तिमान रस है। जब तक शरीर में चेतना रहे, तब तक इस दिव्य भागवत रस का निरन्तर पान करते रहना चाहिए। इन तीनों श्लोकों में ही भागवत का तत्त्व आ गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को समस्त श्रुतियों का सार कहा गया है। इसके आदि, मध्य और अंत में वैराग्य उत्पन्न करने वाली बहुत-सी कथाएं हैं, उनके सेवन से सत्पुरुषों और देवताओं को बड़ा आनन्द आता है। यह समस्त उपनिषदों का सार है। यह ब्रह्म और आत्मा का एकत्व प्रतिपादक ग्रन्थ है। यही श्रीमद्‌भागवत का प्रतिपाद्य विषय है। इसके निर्माण का प्रयोजन है एक-मात्र कैवल्य मोक्ष।[१] फिर आगे कहा गया है कि जो इस वेदान्त-सार-रूप भागवत के रस से तृप्त होता है, वह फिर और कहीं नहीं रम सकता।

श्रीमद्‌भागवत का प्रतिपाद्य ब्रह्म अथवा भगवान् है। ग्रन्थ में इस प्रतिपाद्य तत्त्व को शास्त्रीय भाषा में 'आश्रय' कहा गया है। आश्रय का साधारण वाच्यार्थ 'शरण-स्थान' है। ब्रह्म या भगवान् ही समस्त चराचर जगत् का एकमात्र शरण्य है। ब्रह्म ही आभास और निरोध का अधिष्ठान, निरपेक्ष और निर्लिप्त साक्षी है। श्रीमद्‌भागवत में इस आश्रय तत्त्व ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान और उपलब्धि के लिए नौ विषयों का विवेचन हुआ है।[२] वे हैं—(१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) ऊति, (६) मन्वन्तर (७) ईशानुकथा, (८) निरोध, और (९) मुक्ति। दसवां तत्त्व स्वयं आश्रय तत्त्व है। सर्ग विसर्गादि के सविस्तार निरूपण द्वारा ब्रह्म के साक्षित्व और भगवान् की अनन्त विभूति महिमा का ज्ञान कराया गया है। यों तो श्रीमद्‌भागवत के बारह स्कन्धों में से प्रत्येक में आश्रय-तत्त्व ब्रह्म का निरूपण किया गया है, पर विशेषतया उसके सगुण और साकार रूप का वर्णन दशमस्कन्ध में तथा निर्गुण और निराकार रूप का वर्णन द्वादशस्कन्ध में प्राप्त होता है। दशमस्कन्ध में श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन एवं लीलागान है। श्रीकृष्ण ही श्रीमद्‌भागवत के अनुसार सगुण, साकार ब्रह्म हैं। वही 'आश्रय' हैं। श्रीमद्‌भागवत में सर्ग विसर्गादि तत्त्वों के अन्तर्गत तत्त्व-ज्ञान और भक्ति-दर्शन का ही प्रतिपादन है, जो पौराणिक परिपाटी के अनुसार वर्णित है।

श्रीमद्‌भागवत के आश्रय-तत्त्व ब्रह्म निरूपण में वेद, उपनिषद् और गीता के विचार ही स्वीकृत हुए हैं।[३] स्मरण रहे कि प्रबन्धम् के रचयिता आलवार संतों

१. 'श्रीमद्‌भागवत', स्कन्ध १२, अध्याय १३, श्लोक ११, १२

२. वही, २-१०-१, २

३. "The wealth of ideas, glistening through the Vedas, The Brahmanas

के विचार भी वेद, उपनिषद् तथा गीता से प्रभावित थे। अतः दार्शनिक विचार-धारा में प्रबन्धम् और भागवत का प्रतिपाद्य लगभग एक-सा है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य में जो दार्शनिक मत प्रतिपादित हुए हैं, वे लगभग समान हैं और प्रबन्धम् अथवा भागवत से प्रभावित मालूम पड़ते हैं।

भागवत उपनिषद् वाले ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप को ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीनों रूपों में व्यक्त करता है।[१] भागवत में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा हैं। वे ही सत्य की आत्मा हैं। दशमस्कन्ध में स्वयं भगवान् उद्धव से कहते हैं—"मैं सबका उपादान कारण होने से सबकी आत्मा हूं, सबमें अनुगत हूं, इसलिए मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसार के सभी भौतिक पदार्थों में आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी ये पांचों भूत व्याप्त हैं, इन्हीं से सब वस्तुएं बनी हैं और यही उन वस्तुओं के रूप में है, वैसे ही मैं मन, प्राण, पंचभूत, इन्द्रिय और उनके विषयों का आश्रय हूं। वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूं और सच पूछो तो मैं ही उनके रूप में प्रकट हो रहा हूं।" श्रीकृष्ण से अन्य स्थान पर कहलाया गया है—"जगत् का परम कारण मैं ही ब्रह्मा और महादेव हूं। मैं सबका आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूं तथा स्वयं प्रकाश और उपाधिशून्य हूं। अपनी त्रिगुणात्मिका माया को स्वीकार करके मैं ही जगत् की रचना, पालन और संहार करता हूं। और मैंने ही उन कर्मों के अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शंकर ये नाम धारण किए हैं। ऐसा ही भेद रहित विशुद्ध परब्रह्म स्वरूप हूं।"

आलवार भक्तों ने भी ब्रह्म-निरूपण में ये ही विचार प्रकट किये हैं, दूसरे शब्दों में नम्मालवार कहते हैं—"मेरे भगवान् ही सर्वलोक रक्षक हैं, वे ही सर्व-श्रेष्ठ हैं, उनकी तुलना किसी से की नहीं जा सकती। शिव, ब्रह्मा, इन्द्र आदि सवों के पालक वे ही हैं।"[२] वे ही परम् ज्योति हैं, जगत् के कर्ता हैं, गोविन्द हैं। वे महान् से महान् हैं, वे ही पूर्ण ब्रह्म हैं। वे श्रेष्ठ गुणों के आगार हैं, अच्छाई के सागर हैं। वेद उन्हीं की स्तुति करते हैं। वे ही सर्वज्ञानी हैं। वे ही सभी चित्-अचित् प्राणियों के आधार हैं। वे देवों के अधिपति हैं। तीनों लोकों की सृष्टि, पालन और संहार वे ही करते हैं।[३]

श्रीमद्भागवत में अनेक स्थान पर जीव और ईश्वर की अद्वैतता स्वीकार की गई है। भागवत में जीव के सम्बन्ध में कहा गया है—"जीव नित्य और अहंकार रहित है। यह जीव नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म, सबका आश्रय और स्वयं प्रकाश है।"[४] शरीर को ही आत्मा समझ लेना अज्ञान है। भागवत में कहा गया है—"सब प्रकार से शरीर रहित आत्मा को शरीर समझ लेना यही तो अज्ञान

---

and the Upanishads may be brought to bear upon the philosophy of the Srimad Bhagawata."—*The Philosophy of Srimad Bhagawata*, Part I, Dr. Siddhesvara Bhattacharya, p. 21.

१. Ibid, p. 23
२. 'तिरुवायचिरियम्', छन्द ७
३. 'तिरूवायमोली', ८-४-२
४. 'श्रीमद्भागवत', ६-१६-८, ९

है। इससे प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुओं का मिलना और बिछुड़ना होता है। इसी से कर्मों के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण संसार में भटकना पड़ता है।"[१] जीव और ईश्वर की अभिन्नता दिखाते हुए भागवत में स्वयं भगवान् कहते हैं—"मित्र, जो मैं (ईश्वर) हूं, वही तुम (जीव) हो। तुम मुझसे भिन्न नहीं हो और तुम विचारपूर्वक देखो, मैं भी वही हूं, जो तुम हो। ज्ञानी पुरुष हम दोनों में थोड़ा-सा भी अंतर नहीं देखते।"[२]

प्रबन्धम् में भी जीव और ईश्वर की अद्वैतता को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है। तिरुमलिशै आलवार ने जीव और ब्रह्म के बीच अंश और अंशी का संबंध बताते हुए कहा है—"समुद्र में तरंगें उठती हैं और वे उसी में समा जाती हैं। तरंगों का समुद्र से अलग अस्तित्व नहीं है। उसी प्रकार जीव भी भगवान् से जन्म लेते हैं और अंत में उसी में लीन हो जाते हैं। उनका अलग अस्तित्व नहीं है। जीव भगवान् के अंश-रूप हैं।"[३] परब्रह्म का अंश रूप जीव इस संसार की माया में पड़कर अपने सत्य स्वरूप को विस्मृत कर देता है। वह जीव अपनी आत्मा में स्थित, किन्तु प्रच्छन्न आनन्दांश और ईश्वरीय ऐश्वर्यादि गुणों को भूल जाता है। घट-घट में व्याप्त ईश्वर के अन्तर्यामी स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। वह यह भी नहीं जानता कि मैं ब्रह्म का अंश हूं। अविद्या के कारण वह यह नहीं जान पाता कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।[४]

भागवत के अनुसार भी जीव ईश्वर का ही अंश है।[५] जीव भी ईश्वर के समान चेतनस्वरूप है, किन्तु जीव और ईश्वर की सामर्थ्य में बड़ा अंतर है। ईश्वर ज्ञान, ऐश्वर्य आनन्दादि में जीव से अनन्तगुण अधिक है। जीव नित्य बद्ध है, कर्म-फलों को भोगता है और अविद्या युक्त है। उपनिषद् के समान श्रीमद्भागवत में भी ईश्वर और जीव को दो पक्षियों का रूपक दिया गया है। ये दोनों पक्षी एक ही वृक्ष पर स्वेच्छा से घोंसला बनाकर रहते हैं। ये दोनों तत्त्वतः समान और एक दूसरे के सखा हैं। किन्तु इनमें से एक तो (जीव) उस वृक्ष के फलों (सुखदुःखादि) को खाता है और दूसरा (ईश्वर) निराहार (कर्म फलादि से असंग, साक्षी मात्र) रहकर भी बल में पहले पक्षी (जीव) से अधिक है।[६]

श्रीमद्भागवत में ब्रह्म और जगत् में अद्वैतता दिखाई गई है। एक स्थान पर लिखा है—"यद्यपि व्यवहार में पुरुष और प्रकृति—द्रष्टा और दृश्य के भेद से दो प्रकार का जगत् जान पड़ता है, तथापि परमार्थ दृष्टि से देखने पर यह एक अधिष्ठन स्वरूप ही है।"[७] भागवतानुसार जगत् का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। विभिन्न मतों

१. 'श्रीमद्भागवत', ७-२-२५
२. वही, ४-२८-६२
३. 'तिरुच्चन्तविरुत्तम', १०
४. 'पेरियतिरुवन्तादि', ३
५. 'श्रीमद्भागवत', ११-४-३
६. वही, ११-११-६,७
७. वही, ११-२८-१

में जगत् के उपादान-कारण रूप में द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव, जीव आदि जो तत्त्व माने गए हैं, वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। जब सगुण ब्रह्म अनेक रूप होने की इच्छा करता है तो यह अपनी माया-शक्ति से सत्व, रज और तमोगुणों को क्रमश: जगत् की स्थिति, उत्पत्ति और संहार के लिए स्वीकार करता है। यह वैशिष्ट्य है कि उक्त तीनों गुण भी निर्गुण ब्रह्म के हैं।[१]

प्रबन्धम् में भी जगत् के सम्बन्ध में यही विचार व्यक्त हुए हैं। आलवारों ने ईश्वर को हीं निमित्त और उपादान कारण माना है। नम्मालवार कहते हैं--"सबसे पहले कोई जगत् न था, न कहीं जीव था, केवल ब्रह्म ही था। ब्रह्म को अपनी लीला के विस्तार की इच्छा हुई, तब उसने ब्रह्मा की उत्पत्ति की और ब्रह्मा ने अन्य देवों, तीनों लोक (जगत्) आदि की सृष्टि की।"[२] ब्रह्म और जगत् की अद्वैतता को स्पष्ट करते हुए तिरुमलिशै आलवार ने कहा है—"तुम्हीं जगत् हो, जगत् तुम्हीं में है। तुम्हीं देवों के अधिपति हो। तुम्हीं वायु, अग्नि, दिशा आदि हो।"[३] नम्मालवार कहते हैं—"ब्रह्म ही इस जगत् का सर्जन, इसका पालन और संहार करते हैं।"[४] "हे भगवान्! तुम्हीं इस जगत् का आधार हो, तुम्हीं जगत् हो, जगत् के प्राण तुम्हीं हो।"[५]

श्रीमद्भागवत में दो प्रकार की माया के कृत्यों का वर्णन हुआ है। एक ब्रह्म की आदिशक्तिस्वरूपा माया का, जो सृष्टि का सृजन, पालन और लय करती है। और दूसरी उस माया का जो मनुष्य से अहंता ममतात्मक संसार की सृष्टि कराकर उसके ईश्वरीय गुणों का आच्छादन करती है। भागवत में अविद्या माया के विषय में लिखा है—"जगत् में जितनी विभिन्नताएं दिखाई पड़ती हैं वे सब माया की हैं। माया का निषेध कर देने पर केवल परम् सुख के साक्षात्कार स्वरूप आप ही अवशेष रहते हैं। परन्तु जब विचार करने लगते हैं तब आपके स्वरूप में माया की उपलब्धि निर्वचन नहीं हो सकता अर्थात् माया भी आप ही हैं। अतः सारे नाम और सारे रूप आप ही के हैं।[६] अविद्या माया के संबंध में भागवत में लिखा है कि माया द्वारा जब तक मनुष्य जीव को ईश्वर से भिन्न देखता है तब तक वह इस संसार से छुटकारा नहीं पाता—"जब तक मनुष्य इन्द्रिय और विषय रूपी माया के प्रभाव से आप (ईश्वर) से अपने को भिन्न देखता है, तब तक उसके लिए इस संसार-चक्र की निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि यह मिथ्या है, तथापि कर्मफल-भोग का क्षेत्र होने के कारण उसे विभिन्न प्रकार के दुखों में डालता रहता है।"[७] भागवत में आगे लिखा है कि "यह माया उनकी (वासुदेव की) आंखों

१. 'श्रीमद्भागवत', २-५-१४ और १८
२. 'तिरुवाचिरियम', पद, ४
३. 'नानमुखन तिरुवन्तादि', १
४. 'तिरुवायमोली', ८-४-२
५. वही, ६-६-७
६. 'श्रीमद्भागवत', ६-४-२८
७. वही, २।६।६

के सामने ठहरती ही नहीं, झेंपकर दूर से भाग जाती है। परन्तु संसार के अज्ञानी जन उसी से मोहित होकर 'यह मैं हूं', 'यह मेरा है', इस प्रकार बकते रहते हैं।"[१]

प्रबन्धम् में भी माया के संबंध में ये ही विचार व्यक्त हुए हैं। नम्मालवार कहते हैं—"जब कोई जगत् नहीं था, कोई जीव नहीं था, केवल ब्रह्म ही था, तब ब्रह्म ने अपनी शक्ति स्वरूपा माया से प्रेरित होकर सृष्टि-विकास के हेतु पहले ब्रह्मा की उत्पत्ति की, जिसने समस्त जगत् और जीव की सृष्टि ब्रह्म के आदेश पर की। वही मायायुक्त आदिदेव ही मेरे स्वामी हैं"[२]···सुख-दुःखपूर्ण संसार, क्लेशपूर्ण नरक, आनन्दपूर्ण स्वर्ग, नाना जीव आदि विविध सृष्टि रचकर खेल ही तुम दिखाते हो। तुम्हारी माया विचित्र है।"[३] आलवार भक्तों ने जिस दूसरी माया की चर्चा की है, वह जीव को भ्रम में डालने वाली है। यही माया जीव को लौकिक विषयों में फंसाकर उसको अज्ञान में डालती है। यही माया जीव को अनेक नाच नचाती है और उस जीव से भ्रमपूर्ण संसार की सृष्टि कराकर दुःख-जाल में उसे बांधे रहती है। नम्मालवार कहते हैं—"अज्ञान के कारण ही मैं समझ बैठा था कि सब कुछ मैं हूं, सब कुछ मेरा ही है। मैं अपने वास्तविक स्वरूप को भी भूल गया था।"[४] अहंता ममतात्मक संसार की सृष्टि करने वाली माया का वर्णन जैसा कि नम्मालवार ने किया है अन्य आलवार भक्तों ने भी किया है। इस माया को उन्होंने सत्य को भुलानेवाली, मिथ्या में मोह उत्पन्न करनेवाली बताया है। इस माया के अनेक रूप हैं: जैसे—मन की मूढ़ता, तृष्णा, ममता-मोह, अहंकार, काम-क्रोध, लोभ तथा अनेक मानसिक विकार। नम्मालवार कहते हैं—"क्या कहूं, मायाजन्य इस संसार के विषय में। समस्त जगत् की सृष्टि कर उसका पालन करने वाले सर्वशक्तिमान् भगवान् का स्मरण नहीं कर, जीव अपने अल्पज्ञान (अज्ञान) के कारण हत्या, अत्याचार आदि कृत्य कर सुख-दुःख की चिंता लिए माया के वश होकर माया में ही भटकते फिरते हैं।"[५] तिरुमंगै आलवार का कथन है—"माता-पिता, सन्तान आदि के मोहपाश में पड़कर मैंने कष्ट भोगा है। मृग-नयनियां के मोह-जाल में पड़कर मैंने संसार में ही नरक पहुंचाने योग्य नाना पाप-कर्म किए हैं।"[६] नम्मालवार कहते हैं—"विचित्र है इस माया-जन्य संसार की हालत। बुरे लोग सुख भोगते हैं और अच्छे लोग दुख भोगते हैं और यह संसार उन्हीं को कष्ट पहुंचाता है।"[७] आमोद-प्रमोद को, धन को, स्त्री-सुख को, जीवन को नाशवान् देखकर भी यह सांसारिक जीव मोहवश कुछ समझ नहीं पाता।"[८]

१. 'श्रीमद्भागवत', २-५-१३
२. 'तिरुवाचिरियम', ४
३. 'तिरुवायमोली', ३-१०-७
४. वही, २-६-६
५. 'तिरुवाचिरियम', ६
६. 'पेरियतिरुमोली', १।६।१
७. 'तिरुवायमोली', ४।६।१
८. वही, ४।६।३

इसी प्रकार सभी आलवार भक्तों ने अविद्या रूपिणी माया का, जो जीव को भ्रम-पूर्ण संसार की सृष्टि कराकर अनेक दुःख जाल में बांधे रहती है, बहुत चित्रण किया है।

श्रीमद्‌भागवत में मोक्ष या कैवल्य मुक्ति का वर्णन तो है ही। इसके अतिरिक्त पांच प्रकार की मुक्तियों का वर्णन भी है। वे हैं—(१) सालोक्य मुक्ति, (२) सार्ष्टि मुक्ति, (३) सामीप्य मुक्ति, (४) सारूप्य मुक्ति, और (५) सायुज्य मुक्ति।[१] भगवान् के नित्य चिन्मय धाम में निवास करना सालोक्य मुक्ति है। भगवान् के समान ऐश्वर्य प्राप्त कर लेना सार्ष्टि मुक्ति है। भगवान् का सतत् सामीप्य प्राप्त करना सामीप्य मुक्ति है। भगवान् के समान ही रूप प्राप्त कर लेना सारूप्य मुक्ति है। भगवान् में लीन हो जाना, युक्त हो जाना सायुज्य मुक्ति है। इन पांचों प्रकार की मुक्तियों के अनेक उदाहरण श्रीमद्‌भागवत में प्राप्त होते हैं।

प्रबन्धम् में यद्यपि मुक्ति के इन भेदों को नहीं गिनाया गया है, तो भी इन सभी भेदों के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य इन चारों मुक्तियों की अनुभूति आलवार भक्तों ने पूर्ण रूप से की है, इसमें कोई सन्देह नहीं। नम्मालवार कहते हैं—"हे भगवान्! मेरी एकमात्र प्रार्थना है—जो मोक्ष तुम अपने भक्तों को देना चाहते हो, क्या वह तुम्हारे स्मरणमात्र से मुझे मिलने वाले आनन्द से अधिक सुखपूर्ण है?"[२] (मैं मोक्ष नहीं चाहता, केवल आपका स्मरण करते रहने में ही मुझे अपूर्व सुख प्राप्त है) श्रेष्ठ भक्त, भक्ति से जो आनन्द मिलता है, उसकी तुलना में मोक्ष के सुख को तुच्छ समझते हैं। तोंडरडीपोडी आलवार कहते हैं—"सुन्दर शरीरयुक्त घनश्याम भगवान् का गुण-गान करते रहने में जो सुख उपलब्ध है, उसके बदले अगर इन्द्रलोक पर शासन करने का सुख (मोक्ष का सुख) दिया जाए, तो भी उसे मैं नहीं चाहूंगा।"[३] तिरु-मलिशै आलवार का कहना है—"भगवान् से मिलने की इच्छा के अतिरिक्त मुझे किसी दूसरे मोक्ष-सुख की कामना नहीं है।"[४] सायुज्य मुक्ति की कामना कर तिरुमंगै आलवार कहते हैं कि जिस प्रकार गरम किए हुए लोहे पर पानी की बूंदें डालने से वे स्वयं आकृष्ट होकर लोहे में विलीन हो जाती हैं और फिर उनका अस्तित्व ही नहीं रहता, उसी प्रकार मैं भी भगवान् में लीन होना चाहता हूं।[५] आलवार भक्तों ने अपने कुछ पदों में विरहासक्ति में लगी भक्त स्वरूपा नायिका का कृष्ण के साथ एकीकरण दिखाया है और विरहिणी नायिका से कहलवाया है कि विरह-सुख और परमार्थ-मोक्ष में कोई अंतर नहीं है। उसको विरह में ब्रह्मानन्द से अधिक आनन्द मिलता है। आण्डाल के अनेक पदों में इस प्रकार

१. 'श्रीमद्भागवत', ३।२६।१३
२. 'पेरिय तिरुवन्तादि', ५३
३. 'तिरुमालै', २
४. 'तिरुच्चान्त विरुत्तम', १०८
५. 'तिरुकुरुन्ताण्डकम', ५

का भाव व्यंजित है। सामीप्य मुक्ति की कामना करते हुए कुलशेखरालवार कहते हैं—"मुझे पुनः मांस-संपुष्ट नश्वर नर-जीवन धारण करने की कामना नहीं है। मैं अपने को धन्य समझूंगा, यदि उस वेंकटगिरि में जिसमें शेषशायी भगवान् का निवास है, अगले जन्म में एक बगुला बनने का सौभाग्य प्राप्त हो।[1] क्षीर सागर की धवल तरंगों को परिपूत करके प्रोल्लसित भगवान् शेषशायी के पावन पद-कमलों के दर्शनार्थ गीत-रस लहरी में निमज्जित भ्रमर-समूह के झंकार-गूंजित वेंकट पर्वत की वाटिका में एक चंपक कुसुम बन जाऊं।"[2] आलवार भक्तों ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए भगवान् के अनुग्रह की आवश्यकता बताई है। 'प्रबन्धम्' में और 'भागवत' में मिलने वाले मुक्ति संबंधी उदाहरणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि भागवतकार के सामने मुक्ति के भेदों की चर्चा करते समय आलवारों के पद दृष्टि-पथ में अवश्य ही थे।

श्रीमद्भागवत में अवतार-विवेचन बहुत ही वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ढंग से किया गया है। श्रीमद्भागवत में अवतारों के तीन भेद किए गए हैं—(१) पुरुषावतार, (२) गुणावतार, और (३) लीलावतार। पुरुषावतार में संकर्षण, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध हैं।[3] वासुदेव श्रीकृष्ण स्वयं अवतारी हैं। प्रबन्धम् में भी इसी प्रकार सभी अवतारों की ओर संकेत है, परन्तु कोई वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है। श्रीमद्भागवत में भगवान् के अवतार के हेतु बताए गए हैं। गीतोक्त "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" आदि कारणों का समर्थन तो श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर है ही।[4] इसके अतिरिक्त भी भगवान् के अवतार के अनेक प्रयोजन बताए गए हैं—(१) केवल लीला-विस्तार, (२) देव-कार्य संपादन[5], (३) प्राणियों को मोक्ष-दान,[6] (४) भक्तों पर अनुग्रह[7] और (५) भक्तों के प्रति मैत्री-निर्वाह।[8] प्रबन्धम् में भी ये ही अवतार-प्रयोजन बताए गए हैं। कृष्णावतार के कारण बताते हुए आलवार कहते हैं—"देवलोक के देवगणों की वेदना को दूर करने के लिए, पृथ्वी और पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों के उद्धार के लिए, भूदेवी के कष्ट को दूर करने के लिए, अपने ही अंशभूत अनगिनत जीवों को अपना दर्शन-सुख प्रदान करने के लिए, देवगणों की प्रार्थना पर बन्धु-बान्धवों को सताने वाले कंस का वध करने के लिए, क्षीरसागर-वासी श्री विष्णु का श्रीकृष्ण के रूप में अवतार हुआ।"

प्रबन्धम् में ब्रह्म के जो रूप वर्णित हैं, वे (भागवत में दिए गए) पांच भेदों के अन्तर्गत ही हैं—(१) परब्रह्म रूप (२) व्यूह रूप, (३) अन्तर्यामी रूप, (४) विभव

---

१. 'पेरुमाल तिरुमोली', ४ : १

२. वही, ४ : ४

३. 'श्रीमद्भागवत', ३-२६

४. वही, १०-३-१०, १०।५०।१४, १०।७०।२७

५. वही, ११।७।२ तथा १०।४६।२३

६. वही, १०।५७।४६ तथा १०।७०।३६

७. वही, १०।३५।२३

८. वही, १०।६६।१७

रूप और (५) अर्चावतार रूप। प्रबन्धम् के इसी तथ्य ने विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन में ब्रह्म के इन विविध रूपों की व्याख्या के लिए प्रेरणा दी है। अर्चावतार रूप के उदाहरण प्रबन्धम् में अधिक मात्रा में मिलते हैं। विविध विष्णु-मन्दिरों की मूर्तियों को अर्चावतार मानकर ही आलवारों ने उनकी स्तुति में गीत गाए हैं। अतः यह अर्चावतार की महिमा का गायन ही है। भागवत में इस प्रकार की प्रणाली नहीं है।

इस संबंध में हमें विशेष रूप से मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से श्रीमद्भागवत के योगदान का मूल्यांकन करना है। श्रीमद्भागवत ने १३वीं शताब्दी के बाद के वैष्णव आचार्यों को बहुत ही अधिक प्रभावित किया, जिन्होंने विविध वैष्णव संप्रदायों का संगठन किया। श्रीमद्भागवत के भक्ति-तत्त्वों ने इन वैष्णव आचार्यों को बहुत ही आकृष्ट किया और भागवत को आधार-ग्रन्थ मानकर ही इन सभी आचार्यों ने अपने-अपने संप्रदायों में भक्ति के स्वरूप का निर्धारण किया। इन संप्रदायों में भक्ति का स्वरूप मूलतः एक ही है, यद्यपि आराध्य के विविध रूपों को लेकर अलग-अलग से दार्शनिक व्याख्या की गई है। यही कारण है कि भागवत सभी संप्रदायों में समान रूप से मान्य ग्रन्थ हो सका।

पहले हम यह बता चुके हैं कि प्रबन्धम् और भागवत के वर्ण्य-विषय या प्रतिपाद्य में कोई अन्तर नहीं है। केवल अन्तर शैली और भाषा का ही है। संस्कृत में होने के कारण आर्य भाषा-भाषी क्षेत्र में श्रीमद्भागवत का सरलता से स्वागत हुआ। प्रबन्धम् और भागवत के भक्ति-तत्त्व भी समान हैं, और प्रबन्धम् से भागवत का वर्तमान रूप प्रभावित है, यह हम पहले बता चुके हैं। भागवत की विशेषता यह है कि संस्कृत भक्ति-वाङ्मय में उपलब्ध पूर्व परंपरा का प्रबन्धम् की भक्ति-परम्परा के साथ बड़ी कुशलता से समन्वय कराया गया है। यही कारण है कि भागवत एकदम भक्ति की नवीन व्याख्या में पूर्व परंपरा से कुछ भिन्न दिखाई देता है और अधिक आकर्षक दिखाई देता है। यह भिन्नता या नवीनता का अंश निश्चय ही आलवार-प्रेरित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की देन है। हमने मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करनेवाले प्रबन्धम् के जिन तत्त्वों का विवेचन (पहले चौथे अध्याय में) किया है, वे ही तत्त्व सामान्य रूप से भागवत के भी हैं। भागवत के मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करनेवाले तत्त्वों का यहां संक्षेप में परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। सुविधा की दृष्टि से और प्रबन्धम् और भागवत के प्रतिपाद्य-साम्य को स्पष्ट करने के उद्देश्य से भी, उन्हीं शीर्षकों में भागवत के विविध तत्त्वों का विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत पहले दिए गए प्रबन्धम् के विचारों पर भी पुनः साथ ही साथ दृष्टि डालने से प्रबन्धम् और भागवत के प्रतिपाद्य-साम्य का स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाएगा।

१. भक्ति का सर्वोपरि महत्त्व

श्रीमद्भागवत' में भक्ति का माहात्म्य सर्वत्र प्रतिपादित है। श्रीकृष्ण में

निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति ही मनुष्य का सर्वोच्च धर्म है। भक्ति से वैराग्य और शुष्क तर्कादि रहित विशुद्ध ज्ञान की उपलब्धि होती है। यदि सम्यक् अनुष्ठित धर्म भगवद्भक्ति उत्पन्न न करे तो केवल श्रममात्र ही है। धर्म की चरम सिद्धि तो भक्ति द्वारा भगवान् को तुष्ट करना ही है।[१] भक्ति-योग से भगवत्तत्व का ज्ञान होता है, उससे जीव की हृदय-ग्रन्थि (अहंकार) खुल जाती है, संशय छिन्न हो जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्मों का नाश हो जाता है। अतः मनीषी जन भक्तियोग ही ग्रहण करते हैं।[२] भक्ति की पावनकारिणी शक्ति की कोई इयत्ता नहीं है। पतितात्मा भगवद्भक्ति से जितना शुद्ध होता है उतना बार-बार प्रायश्चित करने से नहीं हो सकता। प्रायश्चित तो कुंजर-शौचवत् (हाथी के स्नान के समान) व्यर्थ है। उद्धार का एकमात्र साधन भक्ति है। सूर्य जैसे नीहार को नष्ट करता है, वैसे ही भक्ति पापों का आत्यन्तिक ध्वंस कर देती है। भक्तिमार्ग ही सर्वथा भयरहित सर्वश्रेष्ठ कल्याणमय राजमार्ग है।[३] भागवत में श्रीकृष्ण कहते हैं—"कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान-धर्म तथा अन्यान्य श्रेष्ठ साधनों से जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग अथवा मेरा परमधाम आदि प्राप्त होते हैं, वह सब यदि इच्छा करे तो मेरा भक्त मेरी भक्ति द्वारा सुगमता से प्राप्त कर सकता है। मेरे अनन्य भक्त मेरे देने पर भी भक्ति के अतिरिक्त कैवल्य की भी कामना नहीं करते।"[४]

२. नाम-महिमा

श्रीमद्भागवत में भगवन्नाम की महिमा का विस्तृत वर्णन है। मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य में नाम-महिमा का तत्त्व सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्ति-साहित्यों में स्वीकृत है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"मध्ययुग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। मध्ययुग की समस्त धर्म-साधना को नाम की साधना कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों, चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम-जप के बारे में किसी को सन्देह नहीं। इस अपार भवसागर में एक मात्र नाम ही नौका रूप है।[५] श्रीमद्भागवत में भगवन्नाम की महिमा अनेक प्रसंगों और स्थलों पर कही गई है। अजामिल के उपाख्यान के वर्णन में भगवन्नाम की अपार दुरित-क्षयकारिणी अमोघ शक्ति का आभास मिलता है। कहा गया है कि जिस प्रकार बलवान् और गुणकारी औषधि बिना गुण जाने सेवन किए जाने पर भी लाभ पहुंचाती है, उसी प्रकार मंगलमय भगवन्नाम का प्रभाव ज्ञान-सहित ग्रहण किया जाए या बिना जाने, अपना कल्याणकारी फल अवश्य ही देता है।[६] भगवन्नामों के उच्चारण से भगवान् के अनेक दिव्य गुणों का ज्ञान होता

१. 'श्रीमद्भागवत', ६।३।२२ तथा ४।२६।४४
२. वही, १।२।२० तथा १।२।२२
३. वही, ६।१।१६
४. वही, ११।२०।३२-३४
५. 'मध्यकालीन धर्म-साधना', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५
६. 'श्रीमद्भागवत', ६।२।१६

है।[1] लौकिक-वैदिक कर्मों में प्रवृत्त मनुष्य के हृदय में स्थित होते हुए भी भगवान् उससे दूर रहते हैं, किन्तु सतत् गुण-गान करनेवाले भक्त के अत्यन्त निकट रहते हैं।[2] भगवन्नाम का उच्चारण न करनेवाले मनुष्य की जिह्वा मेंढक की जिह्वा के समान है।[3]

३. स्तुति

स्तुति की परंपरा वैदिक ऋचाओं से मिलती है। भगवत्-स्तवन भक्ति का एक प्रधान अंग माना गया है। आर्त होकर भगवान् की असीम शक्ति, भगवान् की वत्सलता और भगवान् के श्रेष्ठ गुणों का बारम्बार स्तवन करने से भक्त को शांति प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवत में भगवान् की स्तुति का महत्त्व अनेक स्थानों पर वर्णित है। कहा गया है कि बिना स्तुति-युक्त वैधी भक्ति के भगवान् की प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त होना संभव नहीं है।[4] भक्ति के साधनों में स्तुतिगान एक प्रमुख और अनिवार्य साधन बताया गया है।[5] श्रीमद्भागवत में भगवान् की जितनी अधिक संख्या में और जितनी सुन्दर स्तुतियां हैं, वैसी अन्य पुराणों में दुर्लभ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भगवद्गुणानुवाद के लिए प्रणीत एक विशाल स्तोत्र ही है। समस्त ग्रन्थ आदि मध्यावसान में स्तुतिपरक ही है। मध्ययुग में जो विशाल भक्ति-परक कीर्तन साहित्य उपलब्ध है, उस पर भागवत की स्तुति परंपरा का ही प्रभाव है। भगवान् के नाम, गुण, माहात्म्य, लीला, धाम तथा भगवद्भक्ति के यश का प्रेम और श्रद्धा के साथ कथन, स्तुति, उच्च स्वर से पाठ तथा गान कीर्तन कहलाता है। भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने इस साधन को भी परमानन्द प्राप्ति का एक उपाय कहा है और इसकी बड़ी प्रशंसा की है।[6]

४. शरणागति या प्रपत्ति

आत्म-दोषों पर पश्चात्ताप प्रकट करना, आश्रयहीनता का अनुभव करना, भगवान् को ही एकमात्र सहारा समझना और उद्धार की प्रार्थना करते रहना ही प्रपत्ति या शरणागति है। शरणागति में भगवान् का अनुग्रह विशेष अपेक्षित है। श्रीमद्भागवत में 'आश्रयतत्त्व' के निरूपण में 'पोषण तत्त्व'[7] के अन्तर्गत तथा अन्य अनेक आख्यानों में भगवान् की अनन्त अहैतुकी कृपा का वर्णन किया गया है। यद्यपि भक्ति और प्रपत्ति—दोनों में भगवान् के अनुग्रह और प्रेम का प्रकर्ष होता है, और दोनों का फल भगवान् ही है, तथापि दोनों में अन्तर यह है कि

---

१. 'श्रीमद्भागवत', ६।२।११
२. वही, १०।८६।४७
३. वही, २।६।२०
४. वही, ७।६।५०
५. वही, ११।१६।२०
६. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५६२
७. 'पोषणं तदनुग्रह' पर ही 'पुष्टिमार्ग' का सिद्धांत आधारित है। भागवत २।१०।४

भक्ति में साधन-विशेष का स्वीकार है, प्रपत्ति में साधनानुष्ठान का स्वीकार नहीं है, केवल भगवान् ही स्वीकार है। प्रपत्ति में भगत्सेवा, भगवान् के नाम-जप-कीर्तन आदि निषेध नहीं, लेकिन ये कार्य आवश्यक भी नहीं हैं। सामान्य रूप से शरणागति तत्त्व के अन्तर्गत स्व-दोषों का प्रकाशन, भगवान् की भक्तवत्सलता पर दृढ़ विश्वास, उद्धार की प्रार्थना, भगवान् से शरण की याचना, आत्म-समर्पण आदि अंग रूप में आते हैं।

शरणागति या प्रपत्ति-तत्त्व ने मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को बहुत प्रभावित किया है। यह तत्त्व विशेष रूप से प्रबन्धम् की देन है। श्रीमद्भागवत में इस तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले अनेक प्रसंग हैं। भागवत में कहा गया है कि भक्त अपने आपको पूर्ण रूप से भगवान् की शरण में अर्पित कर दे और इस आत्म-समर्पण से उसे भगवत्कृपा प्राप्त होगी और शांति प्राप्त होगी।[1] यह आत्म-समर्पण उसे भगवान् की भक्ति में लीन रहने के लिए उसे अग्रसर कर देगा।[2] अकिंचन होकर भगवान् की शरण लेने से उसकी रक्षा करने का भार भगवान् पर आता है और भगवदनुग्रह उसे प्राप्त होता है। इस प्रकार से अहेतुकी भक्ति ही प्रपत्ति है। भागवत में इसी अहेतुकी भक्ति का माहात्म्य वर्णित है।[3]

५. गुरु-महिमा

आध्यात्मिक साधन के सभी मार्गों में गुरु की आवश्यकता और उसकी महिमा का गायन हुआ है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों, चाहे निर्गुण मार्ग के संत हों, चाहे हठयोगी साधक हों, चाहे सूफी प्रेमी—सभी ने मुक्त कंठ से आध्यात्मिक साधना में गुरु की आवश्यकता मानी है। गुरु आध्यात्मिक जीवन का पथ-प्रदर्शक है। अज्ञान-तिमिर में गुरु ज्ञान-दीपक है। गुरु की सहायता के बिना मन का मैल दूर नहीं हो सकता और परमात्मा की प्राप्ति असंभव है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि गुरु भगवत्स्वरूप ही है। साधारण मनुष्य समझकर उसकी किसी बात की अपेक्षा या अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।[4] उसे अपना शरीरादि सर्वस्व निवेदन करते हुए, सर्वदा अनुगमन करते हुए, अत्यन्त तुच्छ सेवक के समान अहर्निश गुरु की शुश्रूषा में संलग्न रहना चाहिए।[5] भगवत्तत्त्ववेत्ता, शान्त और भगवत्स्वरूप गुरु सर्वदा उपास्य है।[6] गुरु-सेवा से सर्वान्तर्यामी परमेश्वर जितना तुष्ट होता है, उतना यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप और उपशम आदि किसी अन्य साधन से नहीं होता।[7] ज्ञान-दीप का दान करनेवाले भगवद्रूप गुरु में मनुष्य-बुद्धि

---

१. 'श्रीमद्भागवत', ११।१४।१२
२. वही, ५।७।७
३. वही, १।२।६
४. वही, ११।१७।२७
५. वही, ११।१७।२८-३२
६. वही, ११।१०।५
७. वही, १०।८०।३२-३४

करनेवाले मनुष्य का समस्त शास्त्र श्रवणजन्य ज्ञान हाथी के स्नान के समान निष्फल है।[१] गुरु के चरणों का आश्रय लिए बिना मनोनिग्रह करने का प्रयत्न करनेवाले मनुष्य उसी प्रकार विपत्ति-ग्रस्त हो जाते हैं, जिस प्रकार बिना कर्णधार की नौका पर यात्रा करनेवाले वणिक्जन।[२]

६. सत्संग

ज्ञान, योग और तप की तरह भक्ति की एकाकी साधना नहीं होती, वह व्यक्ति-धर्म ही नहीं है, समाज-धर्म है। सांसारिक विषयों के प्रलोभनों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे समाज में रहा जाए, जहां भक्ति-विरोधी परिस्थितियां नहीं हों। साधु-महात्माओं के साथ बैठने से आत्मा को शांति मिलती है उनके उपदेशों से लोक-लिप्सा का ह्रास होता है। उनकी सेवा और अनुकरण से भगवान् के ज्ञान का साक्षात्कार होता है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि भगवद्भक्तों की एक क्षण की संगति के सामने स्वर्ग और अपवर्ग भी कोई महत्त्व नहीं रखते, फिर मनुष्य-जीवन में प्राप्त होनेवाले भोगों की तो गणना ही क्या है। भगवद्भक्त संतों के चरणों से तीर्थ भी पवित्र हो जाते हैं। भव-भय से मुक्त होने के लिए सत्संग रामबाण औषधि है।[३] जिसे जन्म-मरण रूप अति दुःखसाध्य रोग के सर्वश्रेष्ठ वैद्य (भगवान्) के पास पहुंचना हो, उसे सत्संग के मार्ग से जाना चाहिए।[४] यदि बुद्धिमान साधक भगवान् से कुछ चाहता है तो यही कि यदि भगवन्माया से प्रेरित होकर स्वकर्मानुसार वह संसार में भटकता रहे, तब भी जन्म-जन्मान्तर तक उसे सत्संग प्राप्त हो।[५] क्योंकि साधुओं का समागम श्रोता और वक्ता दोनों ही को अभिमत होता है, उनके प्रश्नोत्तर सभी प्राणियों के कल्याण करते हैं।[६] वेदोक्त कर्मों में आसक्त पुरुष जब तक महापुरुषों की चरणधूलि का सेवन नहीं करते, तब तक उनकी बुद्धि चरम ध्येय (भगवान्) तक पहुंच नहीं सकती।[७] इस प्रकार श्रेयोमार्ग के पथिक के लिए श्रीमद्भागवत में सत्संग की अनिवार्यता का उल्लेख किया गया है। भक्ति की प्राप्ति में चाहे अन्य साधन असफल हो जाएं, किन्तु सत्संग मोघ नहीं होता।[८] सत्संग की सबसे बड़ी विशेषता है, उसका सर्वसंगनिवारकत्व। सत्संग हो जाने पर फिर अन्य संग की इच्छा ही नहीं रहती। सत्संग के द्वारा ही विभिन्न युगों में दैत्य, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, शूद्र और अन्त्यजों ने भगवत्प्राप्ति की। सर्वसाधनहीन, निरक्षरा

---

१. 'श्रीमद्भागवत', ७।१५।२६
२. वही, १०।८७।३
३. वही, ४।३०।३४-३७
४. वही, ४।३०।३८
५. वही, ४।३०।३३
६. वही, ५।१२।१२
७. वही, ७।५।३२
८. वही, ११।११।२५

गोपियों ने केवल सत्संग-जनित-भक्ति भाव से ही परम पद प्राप्त कर लिया था।[1]

७. वैराग्य

भक्ति-पथ के पथिक के लिए सांसारिक विषयों को तथा उन विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों को त्यागकर उनके प्रति वैराग्य-भाव रखना परमावश्यक है। पूर्ण ज्ञान या पूर्ण-आनन्द-अवस्था में तो संसार के राग-द्वेषों से, अपने आप छुटकारा मिलता है। परन्तु साधन-अवस्था में वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता होती है। जब तक मनुष्य का मन सांसारिक विषय-वासनादि में लीन रहता है, तब तक वह ईश्वरोन्मुख नहीं हो सकता। मनुष्य को ईश्वरोन्मुख होने में बाधा डालनेवाले अनेक पदार्थ हैं जिन पर विजय प्राप्त करना ही वैराग्य है। श्रीमद्भागवत में वैराग्योत्पादन के लिए विविध उपाख्यानों का वर्णन और विषयों का निरूपण किया गया है। वैराग्य के अनेक साधनों में श्रीमद्भागवत में पंचेन्द्रियों पर विजय, नारी के मोहक रूप की निन्दा, अर्थ-निन्दा तथा शरीर की नश्वरता का बोध आदि वर्णित हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि यह दुर्मति जीव अपने नाशवान् शरीर से सम्बन्ध रखने वाले गृह, धन आदि को मोहवश नित्य मानता है। जिस-जिस योनि में जन्म लेता है, उसी-उसी में आनन्द मानने लगता है और उससे वैराग्य नहीं होता। यह अज्ञ जीव अपने स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन, और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त होकर अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता है। कुलटा और मायाविनी स्त्रियों की चिकनी-चुपड़ी बातों, छोटे बालकों के कल-भाषणों से आक्षिप्त मन वाला यह प्राणी गृहस्थ के प्रति दुखदायी कर्मजाल में फंसकर भी बड़ी सावधानी से दुःखों का प्रतिकार करता हुआ अपने को सुखी मानता रहता है। किन्तु जब दुर्भाग्य से इसका कोई प्रयत्न काम नहीं देता और वह धनहीन हो जाता है तो कुटुम्ब के भरण-पोषण में असमर्थ यह पुरुष अत्यन्त हीन होकर दीर्घ श्वास छोड़ने लगता है। श्रीमद्भागवत में देह-गेह में आसक्त मनुष्य की दयनीय दशा का वर्णन कर मुमुक्षु पुरुष के हृदय में वैराग्य का संचार करने का प्रयत्न दृष्टिगत होता है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जीव का सबसे बड़ा बन्धन नारी है। नारी के मंदिर आकर्षण की शक्ति का उल्लेख कर उसके मादक रूप की ज्वाला से साधक और मुमुक्षु पुरुष को निरन्तर सचेत रहने का आदेश दिया गया है। यह स्त्री रूपिणी भगवन्माया अत्यन्त प्रबल है। योगी के लिए तो यह नरक का द्वार है और तृण से आच्छादित मरण-कूप है।[2] श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि वैराग्य के लिए धन-नाश प्रथम सोपान है।[3] अर्थ के कारण ही मनुष्य पन्द्रह अनर्थों का शिकार होता है। अतः कल्याण-कामी पुरुष को अर्थ का परित्याग कर देना चाहिए। धन-नाश से मनुष्य में वैराग्य का संचार हो सकता है और वैराग्य से

१. 'श्रीमद्भागवत', ११।१२
२. वही, ३।३१।४२
३. वही, ११।२३।१२

भगवत्प्राप्ति होती है। धन-मद के कारण ही मनुष्य की सात्विकता नष्ट हो जाती है और वह पूर्णतया भगवद् विमुख हो जाता है। अत: साधक को अनर्थों के आश्रम रूप धन में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।[१] श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि देह अनित्य है, किन्तु परम पुरुषार्थ का साधन है। अत: अनेक जन्मों के अनन्तर इस दुर्लभ नर-देह को पाकर बुद्धिमान पुरुष पुन: मृत्यु-मुख में जाने से पूर्व नि:श्रेयस का प्रयत्न कर ले। विषय-सुखों को प्राप्त करने में इस अमूल्य वस्तु (नर देह) का उपयोग न करे।

८. नवधा भक्ति

यह कहा जा चुका है कि 'श्रीमद्भागवत' में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन हुआ है। उसमें साधना-पक्ष को ध्यान में रखकर भक्ति के नौ भेद माने गए हैं, जो 'नवधा भक्ति' के नाम से अभिहित हैं। इस 'नवधा भक्ति' के प्रकार हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन।[२] प्रथम तीन श्रवण, कीर्तन, स्मरण—श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति के सहायक हैं। पादसेवन, अर्चन, वन्दन रूप सम्बन्धी साधन हैं तथा दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन भाव सम्बन्धी साधन हैं। दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन 'रागात्मिका भक्ति' से सम्बन्ध रखते हैं और श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन और वन्दन 'वैधी भक्ति' के अंग हैं। अंतिम आत्म-निवेदन इस 'नवधा भक्ति' की चरम परिणति है। आत्म-निवेदन में साधन और साध्य एक हो जाते हैं। वैधी भक्ति का पर्यावसान रागात्मिका भक्ति होता है और रागात्मिका भक्ति आत्म-निवेदन में पूर्णता को प्राप्त करती है। यही आत्म-निवेदन आत्मसमर्पण में परिवर्तित होता है, जिसमें शरणागति का भाव सर्वोपरि रहता है। श्रीमद्भागवत की इस 'नवधा भक्ति' ने परवर्ती अनेक भक्त-कवियों को प्रभावित किया है। भागवत-प्रतिपादित भक्ति के इन सरल रूपों ने मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को व्यापक रूप देने में सहयोग दिया है। बहुत से परवर्ती भक्त-कवियों ने भागवत-प्रतिपादित 'नवधा भक्ति' का विशेष उल्लेख भी किया है। अत: मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करने वाली भागवत की इस 'नवधा भक्ति' का विवेचन यहां आवश्यक है।

श्रवण

भगवान् के नाम, यश, महत्ता, गुण तथा उनकी लीलाओं को श्रद्धापूर्वक सुनना श्रवण-भक्ति है। श्रवण-भक्ति की चरम अवस्था वह है जब बिना भगवान् के गुण और चरित्र के सुने भक्त बेचैन हो जाता है। भागवत में 'आश्रय तत्त्व' के

१. 'श्रीमद्भागवत', ११।२३।२३

२. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं सख्यात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्ये घीतमुत्तमम् ॥ —'श्रीमद्भागवत', ७।५।२३, २४

अन्तर्गत 'ईशानुकथा' में इसी श्रवण-भक्ति का ही विस्तृत विवेचन है। भागवत में कहा गया है कि भगवद्गुण-माहात्म्य का श्रवण करने से अस्पृश्य व्यक्तियों को भी मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।[1] भगवन्नामों के श्रवणमात्र से भक्त के सारे कष्ट दूर हो जाते हैं।[2] भगवल्लीलाओं का श्रवण करने से ब्रह्मानुभव की गहराई में भक्त का मन चला जाता है।[3]

कीर्तन

भगवान् के नाम, गुण, माहात्म्य, लीला आदि का वर्णन, गान तथा उच्च स्वर से पाठ 'कीर्तन' कहलाता है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि केवल भगवन्नामों के उच्चारणमात्र से भक्त की इच्छा की पूर्ति भगवान् कर देता है।[4] भगवान् के गुणों का कीर्तन ही भक्त का चरम लक्ष्य है।[5] इस कीर्तनमात्र से भगवान् भक्त का निमंत्रण स्वीकार कर उसके मन में प्रवेश करता है।[6] भगवान् के कीर्तन-भजन से रहित स्थान तो कौओं के रहने योग्य स्थान है और ऐसे स्थान से भगवद्भक्त दूर रहते हैं।[7] भागवत में कहा गया है कि भगवान् के संकीर्तन मात्र से भगवान् का रूप भक्त के नेत्रों को आनन्द देने वाला है और एक बार दर्शन करने पर स्थाई रूप में भक्त के हृदय में वह रहता है और भक्त उस रूप में लीन हो जाता है।[8] भगवन्नाम कीर्तन का माहात्म्य भागवत में विशेष रूप से कहा गया है। भागवत-प्रतिपादित इस कीर्तन ने परवर्ती भक्तों को बड़ी मात्रा में प्रभावित किया है। मध्ययुग का कृष्ण-भक्ति-साहित्य तो एक प्रकार से कीर्तन-साहित्य ही है। मध्ययुग में संगीत का समावेश भी हो गया तो कीर्तन-साहित्य ने भक्तों को आत्मविभोर कर दिया। चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन पक्ष को अपनी भक्ति में बड़ा महत्त्व दिया है। उन्होंने लिखा है कि "श्रीकृष्णनामकीर्तन चित्त-रूपी दर्पण का मार्जन करता है, संसार रूप महादावाग्नि का शमन करता है, श्रेय रूप कुमुद को विकसित करनेवाली चन्द्रिका का प्रकाश करता है, विद्या-वधू का जीवन है, आनन्द-सिन्धु को बढ़ानेवाला है, प्रतिपद में पूर्णामृत का आस्वादन देता है एवं आत्मा को सर्व प्रकार से निमग्न करता है, ऐसा श्रीकृष्ण नाम संकीर्तन परम विजय को प्राप्त हो।"[9]

---

१. न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः।
यन्नामसकृच्छ्रवणात् पुक्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥ —'श्रीमद्भागवत', ६।१६।४४

२. वही, ३।७।१४

३. वही, ४।९।३०

४. कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते। —वही, ११।५।३६

५. वही, १।५।२२

६. वही, १।६।३४

७. वही, १।५।१०

८. वही, ११।३०।३

९. 'श्री चैतन्य शिक्षाष्टक', प्रथम श्लोक

स्मरण

भगवान् के नाम, उनके गुण, माहात्म्य, उनकी सर्वव्यापकता, लीलादि का ध्यान रखना तथा उन्हीं के स्मरण में लीन रहना 'स्मरण-भक्ति' है। इस भक्ति के साधन में भगवान् के नाम का विशेष महत्त्व है। साधक की चित्तवृत्ति इस ध्यान में इतनी रम जानी चाहिए कि चलते-फिरते, खाते-पीते इष्टदेव ही का स्मरण बार-बार आना चाहिए। हरि-स्मरण का भी श्रीमद्भागवत में विशेष महत्त्व दिखाया गया है। भागवत के ११वें स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"जो पुरुष विषय चिंतन करता है, उसका चित्त विषयों में फंस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है वह मुझमें तल्लीन हो जाता है।"[१] दशम स्कन्ध में भगवान् की स्तुति करते हुए देवता कहते हैं—"हे भगवान्! जो पुरुष आपके मंगलमय नामों और रूपों का स्मरण, कीर्तन और ध्यान करता है और आपके चरण-कमलों की सेवा में ही अपना चित्त लगाए रहता है उसे फिर जन्म-मृत्यु रूप संसार में नहीं आना पड़ता।"[२] श्रीमद्भागवत में यहां तक कहा गया है कि भगवान् का स्मरण न करने वाले का हृदय पत्थर की तरह मृत है।[३] हरि-स्मरण का जादू है कि सांसारिक विघ्न-बाधाएं सब दूर हो जाती हैं।[४]

पाद-सेवन

जो लोक-सेवा एक स्वाभाविक सेवक अपने स्वामी की करता है, और श्रद्धा-पूर्वक स्वामी के चरणों में अपने मन को लगाता है, भगवान् के प्रति भक्त की ठीक उसी प्रकार की सेवा 'पाद-सेवा' है। लोक में सेवक का जो व्यवहार अपने स्वामी के प्रति होता है, वैसा कार्य भगवान् के लिए भक्त को करना चाहिए। इस सेवा के लिए भगवान् का बाह्य अथवा मानस प्रत्यक्ष स्वरूप होना आवश्यक है। पाद-सेवा की आरंभिक अवस्था मूर्तिपूजा, गुरुपूजा और वैष्णव पूजा में होती है। इन सेवा के अभ्यासों के बाद जब भक्त को दास्य-प्रेम में एकाग्रता आ जाती है तब वह मानसिक जगत् में भगवान् के अभौतिक चरणों की सेवा करता है। श्रीमद्भागवत में पाद-सेवन का विस्तृत विवेचन है। दशम स्कन्ध में ब्रह्मा जी भगवान् से कहते हैं—"हे देव! जो लोग आपके उभय चरण-कमलों का लेश पाकर अनुगृहीत हुए हैं, वे भक्तजन ही आपकी भक्ति के महत्त्व को जान सकते हैं। उनके सिवा अन्य कोई चिरकाल तक विचार करने पर भी आपके तत्त्व को जान नहीं सकता।"[५] इसी स्कन्ध में शुकदेव की उक्ति है,—"जिसका यश महान् पुण्यप्रद है उस मुरारि श्रीकृष्ण के चरण-कमल संसार सागर में नौका रूप हैं, जो लोग उस चरण-कमल-नौका के आश्रित हैं, उनके लिए संसार सागर गौ के खुर-चिह्न के समान है। वे उसी नौका के सहारे परम पद को पहुंच सकते हैं। फिर उन्हें

१. 'श्रीमद्भागवत्', ११।१४।२७
२. वही, १०।२।३७
३. वही, २।३।१८
४. वही, १।२।१५.
५. वही, १०।१४।१६

पद-पद पर विपत्ति के धाम इस संसार में नहीं आना पड़ता।"[१] इस प्रकार श्रीमद्भागवत में पाद-सेवा का बहुत महत्त्व बताया गया है।

अर्चन

श्रद्धा और आदर के साथ भगवान् के स्वरूप की पूजा 'अर्चन-भक्ति' कहलाती है। अर्चावतार रूप में, भगवान् की मूर्ति में, सद्गुरु और भक्तजनों में विराजते हैं। इन तीनों रूपों को भगवान् का स्वरूप समझकर भक्त अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु उन्हें अर्पित करता है। भक्त अपने प्रेम को प्रदर्शित करने के लिए जो भी कार्य करता है, उसमें त्याग का भाव प्रधान रूप से निहित है। मानसिक अर्चना में भगवत् का ध्यान और आत्म-समर्पण पर्याप्त हैं। उसमें बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्थूल रूप की पूजा में अनेक उपचारों की आवश्यकता है। चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, आदि के समर्पण द्वारा अर्चन-भक्ति की जाती है। गीता में कहा गया है--

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥[२]

श्रीमद्भागवत में दशम स्कन्ध में कहा गया है—स्वर्ग मोक्ष, पृथ्वी और रसातल की संपत्ति तथा समस्त योग-सिद्धियों की प्राप्ति का मूल भगवान् के चरणों का अर्चन है।[३] भागवत के नवें स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में अम्बरीश की अर्चन भक्ति का उल्लेख है।

वन्दन

भगवान् के माहात्म्य को हृदय में धारण कर उनकी स्तुति करना, नतमस्तक होकर विनय करना तथा उनको प्रणाम करना वन्दन-भक्ति है। बहुधा अर्चन, वन्दन साथ-साथ हुआ करते हैं। लौकिक व्यवहार में बड़ों के प्रति जो विनय और आदरसूचक प्रणाम करते हैं, वही सम्मान और विनय भक्त भगवान् के प्रति प्रदर्शित करते हैं। कीर्तन करते समय जब भक्तों के हृदय में प्रेम-रस प्रवाहित होता है, तब वे नाच उठते हैं। श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर वन्दन-भक्ति का महत्त्व वर्णित है। एकादश स्कन्ध में कवि नामक योगेश्वर कहते हैं—"संसार में भगवान् के जन्म की और लीलाओं की बहुत मंगलमयी कथाएं प्रचलित हैं, उनको सुनते रहना चाहिए, उन गुणों और लीलाओं का स्मरण दिलाने वाले भगवान् के बहुत से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच को छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति साधारण लोगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है। लोगों की मान्यताओं और धारणाओं से परे हो जाता है और ढंग से ही नहीं, स्वभाव से ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हंसने लगता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी ऊंचे स्वर से भगवान् को पुकारने लगता है और कभी अपने प्रियतम को अपने नेत्रों के सामने समझ उन्हें रिझाने के लिए नृत्य भी

---

१. 'श्रीमद्भागवत', १०।१४।५८
२ 'गीता', अध्याय ६, श्लोक २६
३. 'श्रीमद्भागवत', १०।८१।१६

करने लगता है ! ·· इत्यादि ।[1] चैतन्य महाप्रभु की ऐसी ही स्थिति थी । भागवत की स्तुतियों में यह वन्दन-भक्ति पूर्णरूप से आ जाती है ।

दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन

नवधा भक्ति के अंतिम तीन प्रकार––दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन मानसिक हैं जो वास्तव में भक्ति-रस के उत्पादक हैं । श्रीमद्भागवत के इसी आधार को मानकर ही परवर्ती युग में श्री रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' में भक्ति रस का विशद् विवेचन किया है । यों तो भक्ति के अनेक मानसिक भाव हैं और सारे भाव भगवान् के सम्बन्ध से अलौकिक हो जाते हैं । फिर भी दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन-भावों से विशेष मानसिक स्थिति का परिचय मिलता है ।

दास्य-भक्ति के अन्तर्गत उन सभी भावों की व्यंजना होती है जिन्हें एक स्वामिभक्त सेवक, आज्ञापालक पुत्र और शिष्य अपने प्रभु, माता-पिता और गुरु के प्रति विभिन्न परिस्थितियों में प्रकट किया करते हैं । अपने इष्टदेव को अपना दयालु प्रभु, पिता, गुरु समझकर भक्त उनके सामने अपनी अज्ञानता, दीनता, अपने दुर्गुण, दोष आदि का वर्णन करने में, अपनी रक्षा और उद्धार के लिए नाना प्रकार से याचना करने में विशेष आनन्द पाते हैं । भक्त भगवान् की सर्व सामर्थ्य को ध्यान में रखकर उन पर अपनी अनन्याश्रयता प्रकट कर नाना प्रकार से उनकी कीर्ति का गान करते हुए उनकी कृपा-दृष्टि पाने के लिए सदा कातर रहते हैं । भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण कर अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं । उनकी शरण में रहते हुए उन्हीं में विलीन हो जाने के शुभ अवसर की प्रतीक्षा में सदा रहते हैं ।

श्रीमद्भागवत में भक्तों के जितने चरित्र हैं, वे सभी दास्य-भक्ति के उदाहरण हैं । यहां तक कि गोप-गोपिकाओं में भी दास्य-भक्ति का ही प्राधान्य है । यद्यपि भागवत में कृष्ण को गोप-गोपियों का मित्र बताया गया है, जैसा कि दशम स्कन्ध के इस श्लोक में स्पष्ट होता है :

> **अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।**
> **यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम् ॥**[2]

अर्थात् अहो ! नन्द आदि गोपों के भाग्य धन्य हैं, वास्तव में उनका अहोभाग्य है, क्योंकि परमानन्द स्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म आप उनके अपने सगे-संबंधी और सुहृद् हैं । परन्तु भागवतकार भगवान् कृष्ण में अलौकिकता दिखाकर इस सख्य में भी दास्य का सन्निवेश कर देते हैं ।

लौकिक व्यवहार में जो मित्रता का आदर्श उपस्थित किया जाता है, उसी आदर्श भाव को सख्य-भक्ति में भक्त भगवान् के प्रति रखता है । मित्रता के उच्च आदर्श के अनुसार मित्रों में परस्पर किसी प्रकार के स्वार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। अतएव सख्य भाव द्वारा निःस्वार्थ भक्ति की पुष्टि पूर्णरूप से होती है । जिस प्रकार

१. 'श्रीमद्भागवत', ११।२।३६, ४०

२. वही, दशम स्कन्ध, अध्याय २४, श्लोक ३२

वात्सल्य भक्ति के अन्तर्गत भक्त भगवान् के साथ पूरी स्वतन्त्रता से व्यवहार करता है, उसी प्रकार सख्य भाव की भक्ति में भक्त भगवान् के सम्मुख अपने हृदय की बातों को व्यक्त करने में किसी भी प्रकार संकोच, भय अथवा छोटे-बड़े का अनुभव नहीं करता। क्योंकि दोनों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होता है, उसमें समानता के भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा है। यही सख्य भाव की भक्ति का महत्त्व है। सुदामा की सख्य-भक्ति तो प्रसिद्ध है। इसका वर्णन भागवत में पर्याप्त विस्तार से हुआ है।[१]

भागवत की साधन-रूपा भक्ति के नौ अंगों में आत्म-निवेदन का बड़ा महत्त्व है। भागवत में भक्तों की जितनी कथाएं हैं, उनमें शरणागति का भाव ओतप्रोत है। वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में है और रागात्मिका भक्तिपूर्ण समर्पण के रूप में परिणत हो जाती है। गोपियों ने वैधी भक्ति का अनुष्ठान किया था। परन्तु उनका हृदय रागात्मिका भक्ति से भरा हुआ था। भागवत की चीर-हरण-लीला और रासलीला इस पूर्ण समर्पण के ही रूप हैं। भागवत में स्थान-स्थान पर आत्म-निवेदन का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। कृष्ण भगवान् को अर्पित करने से हमारे सब भाव कृष्णमय हो जाते हैं और हमारी वासनाओं से मुक्ति हो जाती है। श्रीमद्भागवतगीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इस आत्म-निवेदन का उपदेश स्थान-स्थान पर दिया है। आत्मनिवेदन के पश्चात् भक्त भगवान् को सर्वत्र देखता है जैसा कि गीता में कहा गया है—"यो मां सर्वत्र-सर्वत्र मयि पश्यति।"[२] भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में भी इसी भाव को बताया है—"जो अपने मन में भेद-भाव नहीं रखता कि मैं अलग हूं, भगवान् अलग हैं और सब लोग भिन्न हैं, किन्तु जो सब प्राणियों में यह भाव रखता है कि भगवान् और मैं दोनों एक हैं और जो समझता है कि सब प्राणी भगवान् में और मुझमें भी हैं, वही सब भागवतों में श्रेष्ठ है।[३] भागवत के एकादश स्कन्ध में आया है कि काया वाणी और मन, इन्द्रिय, बुद्धि या आत्मा की प्रवृत्ति से अथवा स्वभाव के अनुसार जो कुछ हम किया करते हैं, वह सब परस्पर नारायण को अर्पण कर दिया जावे।[४] सारांश यह है कि अध्यात्म शास्त्र में जिसे ज्ञान कर्म समुच्चय पक्ष अथवा ब्रह्मार्पण पूर्वक कर्म कहते हैं, उसी को भक्ति-मार्ग में कृष्णार्पण पूर्वक कर्म कहा जाता है। कुछ आचार्यों ने इस आत्म-निवेदन को शरणागति अथवा प्रपत्ति भी माना है।

भागवत में जिस नवधा भक्ति का विशद् वर्णन है, उसका बड़ा प्रभाव परवर्ती भक्ति-साहित्य पर पड़ा। भागवत के इसी वर्गीकरण से प्रभावित होकर अनेक परवर्ती शास्त्रकारों ने भक्ति का वर्गीकरण एवं उसकी व्याख्या अपने-अपने

१. 'श्रीमद्भागवत', १०।८०
२. 'गीता', ६, २६
३. 'भागवत', ११।२।४५ तथा ३।२।४०
४. वही, ११।२।३६

ढंग से की है।[1] भक्ति के इन सरल रूपों ने मध्ययुग में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को लोकप्रिय और व्यापक रूप देने में पर्याप्त सहयोग दिया। भागवत की इस नवधा भक्ति को आधार मानकर परवर्ती युग में वैष्णव-भक्त कवियों ने विपुल मात्रा में भक्ति-साहित्य का निर्माण किया।

ऊपर हमने श्रीमद्भागवत के जिन तत्त्वों का विवेचन किया है, वे तत्त्व सामान्य रूप से मध्ययुगीन समस्त भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले हैं। श्रीमद्भागवत का अधिकतर प्रभाव मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति-साहित्य पर ही पड़ा है। श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण-चरित, गोपी-कृष्ण प्रेम तथा कृष्ण की विविध लीलाओं ने मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को अधिक प्रभावित किया है। बहुत से मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त-कवियों ने अपने काव्य-प्रणयन का आधार भागवत को ही माना है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि विविध कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में श्रीमद्भागवत की मान्यता प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में रही है। इन संप्रदायों में दीक्षित भक्त-कवियों ने श्रीमद्भागवत से प्रभावित होकर ही कृष्ण भक्ति-परक काव्य रचा है। श्रीमद्भागवत का विशेष प्रभाव १३वीं शताब्दी से ही सभी भारतीय भाषाओं के कृष्ण-भक्ति-साहित्य पर पड़ने लगा। भागवत के कृष्ण-भक्ति-परक कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिन्होंने परवर्ती आचार्यों और भक्त-कवियों को विशेष रूप से आकृष्ट किया है। परवर्ती कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करनेवाले भागवत के विशिष्ट तत्त्वों का यहां विवेचन करेंगे।

मध्ययुगीन समस्त कृष्ण-भक्ति-साहित्य में कृष्ण की विविध लीलाओं का जो विशद् वर्णन है, उसका प्रेरणा-स्रोत श्रीमद्भागवत है। भागवत में वर्णित कृष्ण की बाल-लीलाओं और गोपी-प्रेम-क्रीडाओं ने कृष्ण-भक्त-कवियों को बहुत ही आकृष्ट किया था। अतः श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध ही मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त-कवियों का प्रधान उपजीव्य रहा है। दशम स्कन्ध में भी पूर्वार्द्ध वर्णित कृष्ण-चरित और कृष्ण-लीला मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त-कवियों का प्रियतम वर्ण्य विषय है। मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करनेवाले 'प्रबन्धम्' के जिन विशिष्ट तत्त्वों का हमने विवेचन किया था, वे ही तत्त्व प्रमुख रूप से भागवत के भी हैं। मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य को प्रभावित करनेवाले भागवत के प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं—

१. श्रीकृष्ण की विविध लीलाएं
२. श्रीकृष्ण की अलौकि रूप-माधुरी
३. श्रीकृष्ण का परमेश्वरतत्त्व

---

१. 'भक्ति-आन्दोलन', डा० रतिभानुसिंह, 'नाहर' पृ० १२५

(अ) 'सा परानुरक्तिरीश्वरे', (शांडिल्य भक्ति सूत्र-२)
'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा', (नारद भक्ति सूत्र-२)
'भक्तिरस्य भजनं एतस्मादिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनः कल्पतम्' ('गोपाल पूर्वतापनी उपनिषद्', २-१), मनोजनिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिलुप्ता। अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी ('नारदपांचरात्र')

४. श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का अलौकिक प्रेम
५. मुरली, वृन्दावन, गोपी, लीला आदि के प्रतीकार्थ

श्रीकृष्ण की विविध लीलाएं

श्रीमद्भागवत में कृष्ण तत्त्व का विकास वयःक्रम से दिखाया गया है। प्रारंभ में जो कृष्ण—शैशव की मनोरम लीलाओं के कारण अनन्त वात्सल्य और सख्य का केन्द्र होता है, कैशोर में वही माधुर्य का निधान बन जाता है और तारुण्य एवं प्रौढ़ावस्था में वही प्रेम एवं श्रद्धा के सीमान्त पर दिखाई देता है। लीला सगुण ब्रह्म भगवान् का अचिन्त्य चरित है। निर्गुण और निराकार ब्रह्म को लीला में कोई सरोकार नहीं है, किन्तु भक्तों का भगवान् भक्तों का अनुरंजन करने के लिए नाना क्रीडाएं करता है। भक्तगण भी उसकी क्रीडा में सम्मिलित होते हैं। भक्तों का भगवल्लीला में भाग लेना और भगवल्लीलाओं का गान करना अत्यन्त प्रिय कृत्य है। भगवान् की दिव्य लीलाओं का ज्ञान हो जाने पर भक्त का पुनर्भव नहीं होता। भगवल्लीलाओं के गान द्वारा भक्त जो सबसे बड़ी वस्तु प्राप्त करता है, वह है भगवान् का प्रेम। श्रीमद्भागवत में एकाधिक स्थलों पर यह बात कही गई है। भगवल्लीलाएं त्रिभुवन को पवित्र करनेवाली हैं।[1] श्रीमद्भागवत में भगवल्लीला का अनन्त माहात्म्य वर्णित है और दशम स्कन्ध का लक्ष्य ही प्रत्यक्ष कृष्णलीला गान है।[2]

कहा जा चुका है कि भागवत में कृष्ण की लीलाएं वयःक्रम से दी गई हैं। कृष्ण का जन्म, गोकुल में कृष्ण का जन्मोत्सव, पूतना-वध, शकट-भंजन, तृणावर्त-वध, दैत्य-वध, विविध बाल-सुलभ चेष्टाएं, उलूखल-बन्धन, बकासुर-वध, कालिय दमन, चीरहरण, गोवर्धनधारण, रासलीला, मथुरा-गमन, कुब्जा पर अनुकंपा, कंस-वध, उद्धव-ब्रज प्रेषण, एवं गोपियों को सन्देश, रुक्मिणी की प्रेम-परीक्षा, कृष्ण द्वारा सुदामा का आतिथ्य, आदि प्रसंगों में श्रीमद्भागवतकार के विशद् वर्णनों ने मध्ययुगीन भक्त-कवियों को बहुत ही प्रभावित किया था। बाल-लीला का मुख्य उद्देश्य भक्त को दिव्य आनन्द में मग्न करना है। सभी श्रेणी के भक्त कृष्ण की मनोरम और नैसर्गिक लीलाओं में प्रमुदित होते हैं। इन लीलाओं में प्रमुख भाग लेनेवाले गोप-बालक हैं। किशोर लीला का मुख्य उद्देश्य प्रगाढ़ प्रेमा भक्ति का उद्रेक करना है, जिसे प्राप्त करने के लिए लोक-परलोक के विधि-निषेधों का अतिक्रमण कर सर्वात्मना कृष्णार्पण हो जाना अनिवार्य है। इस लीला में प्रमुख भाग लेनेवाली ब्रज की गोपियां हैं। कृष्ण की इन विविध लीलाओं में कृष्ण और विष्णु का एकत्व सर्वत्र प्रतिपादित है और वैष्णव-सिद्धांत एवं माहात्म्य अन्य साधना-मार्गों से श्रेष्ठतर बताया गया है।[3]

---

१. 'श्रीमद्भागवत', १०-६९-३९
२. वही, १०-१-३ तथा १०-१-७
३. 'हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव',—डा० विश्वनाथ शुक्ल, पृ० १५८

श्रीकृष्ण की अलौकिक रूप-माधुरी

कृष्ण-भक्ति-साहित्य में कृष्ण का सर्वांग सुन्दर व्यक्तित्व कुछ ऐसी आधार-भूत धारणा पर चित्रित हुआ है कि कवि द्वारा सौंदर्य की जितनी कल्पना की जा सकती है, श्रीकृष्ण के वास्तविक रूप वर्णन में वह सब अपर्याप्त और अशक्त ही सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को अनन्त सौंदर्य के निधान के रूप में चित्रित किया गया है।[1] अपनी योगमाया से परब्रह्म ने श्रीकृष्ण रूप में मानव लीला के योग्य जो दिव्य विग्रह धारण किया था, उसके सौंदर्य से वे स्वयं ही विस्मित थे, फिर इतर प्राणियों का तो कहना ही क्या है। समस्त सौभाग्य लक्ष्मी का आश्रय रूप उनका दिव्य विग्रह अपने अंग-प्रत्यंगों से आभूषणों को भी सुशोभित करता था। सौंदर्य का इससे अधिक सारगर्भित वर्णन क्या हो सकता है। कृष्ण-भक्त-कवियों ने कृष्ण का वह चतुर्भुज विष्णु रूप तो ग्रहण किया ही है, किन्तु विशेषकर जिस वनमालाधारी, मोर-मुकुटधारी, नटवरवेषधारी बाल और किशोर कृष्ण को चित्रित किया है, उसका आधार दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में वर्णित गोपाल कृष्ण है।[2]

श्रीकृष्ण अपने सजल जलधर के समान श्याम-वर्ण शरीर पर विद्युत की-सी कांति वाला पीताम्बर पहनते हैं। गले में वैजयन्तीमाला और कानों में कर्णिकार पुष्प के आभूषण पहनते हैं। सिर पर मोर-मुकुट और हाथ में वेणु लिए हुए हैं। पीताम्बर के फेंटे में बांसुरी कसे हुए, सींग और बेंत बगल में दवाए हुए बाएं हाथ में नवनीत दधि और ओदन का स्निग्ध कवल लिए अंगुलियों में फल आदि दबाए हुए बाल-कृष्ण की गोप शिशु-सखाओं के साथ वन-भोजन की झांकी का बड़ा ही सजीव चित्र श्रीमद्भागवत में विद्यमान है। कृष्ण और बलराम अपने शरीर की शृंगार सज्जा कभी-कभी नूतन आम्रपल्लव, मयूरपिच्छ और फूलों के गुच्छों से करते थे। स्थल और जल में उत्पन्न होनेवाले कमलों की मालाएं पहनते थे। मस्तक पर सुन्दर तिलक था। पुष्पों के कर्णाभरण उन्हें विशेष शोभा प्रदान करते थे···इत्यादि। श्रीमद्भागवत की भीष्म स्मृति में श्रीकृष्ण के सौंदर्य का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। भीष्म ने अपने प्राणात्यय के समय त्रिभुवन-कमनीय, तमालवृक्ष के समान श्याम वर्ण, सूर्य-रश्मियों के समान तेजो-वर्ण पीताम्बरधारी, सुन्दर अलकावली से आवृत्त मुख कमल वाले श्रीकृष्ण का ध्यान किया था। गोपियां भी इसी कृष्ण की सुललित गति दिव्य विलास मनोहर मुसकान और प्रणय कटाक्षों से मुग्ध होकर प्रेमोन्मादवश उसकी लीलाओं का अनु-करण करती तन्मय हो गई थीं। गोपियां तो कृष्ण के सौंदर्य-रस का पान करना ही नेत्रों का परम लाभ मानती हैं।

---

१. 'श्रीमद्भागवत', १०।२६।४०

२. वही, दशम स्कन्ध, अध्याय ११,१२,१३,१४

श्रीकृष्ण का परब्रह्म-परमेश्वरत्व और राम-कृष्ण अभेदभाव

श्रीमद्भागवत में प्रतिपद पर श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का ख्यापन हुआ है और उन्हें स्पष्ट रूप से भगवान् कहा गया है। सप्तम स्कन्ध में युधिष्ठिर-नारद संवाद में नारद द्वारा कृष्ण को मनुष्य रूप में छिपा हुआ साक्षात् परब्रह्म बताया गया है।[1] नारद ने युधिष्ठिर से कहा है कि योगियों का अनुसंधेय, अद्वितीय और निरुपाधिक परमानन्दानुभव रूप परब्रह्म ही श्रीकृष्ण रूप में उन पाण्डवों के प्रिय, सुहृद, मातुलेय आत्मीय, पूज्य, आज्ञाकारी और गुरु—सभी रूपों में दिखाई पड़ रहे हैं। नारद के इस कथन पर युधिष्ठिर को विस्मय हुआ था। भागवत के दशम स्कन्ध में, जिसमें कृष्णलीला सांगोपांग वर्णित है—कृष्ण के परब्रह्मत्व और परमेश्वरत्व की प्रतिष्ठा कृष्ण के अतिमर्त्य और अद्भुत कार्यों के आधार पर की गई है। भागवतकार स्थान-स्थान पर कृष्ण के परमेश्वर-परब्रह्म होने की ओर संकेत करता है और उनके दूसरे अवतारों का भी उल्लेख करता है। अवतारों में भी सबसे अधिक महत्त्व भागवतकार ने राम और कृष्ण अवतारों को ही दिया है।

भागवत में भी 'प्रबन्धम्' की तरह दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण का अभेदभाव प्रतिपादित हुआ है और भगवान् के विविध अवतारों का एकत्व स्थापित किया गया है। भागवत के इसी दृष्टिकोण ने मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त-कवियों को और मध्ययुगीन हिन्दू जन-मानस को कृष्ण परब्रह्मत्व और परमेश्वरत्व को स्वीकार करने के साथ ही इन अवतारों की एकता मानने के लिए बाध्य किया है। इस प्रकार भागवत ने इन अवतारों की एकता को मान्यता प्रदान की है। श्रीमद्भागवत में दिए गए उद्धरणों से वासुदेव कृष्ण और दाशरथि राम आदि का एकत्व मध्ययुगीन भक्त कवियों के लिए आवश्यक पूर्व पीठिका का कार्य करता हुआ प्रतीत होता है।

श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम-भावना

श्रीमद्भागवत में कृष्ण और गोपियों के प्रेम को सबसे अधिक उदात्त रूप में बहुत ही विस्तृत भाव-पटल पर चित्रित किया गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "कथा को विस्तार देने में और गोपी प्रेमलीला को इतना उदात्त रूप देने में भागवत पुराण अद्वितीय है।"[2] श्रीकृष्ण और गोपियों का पारस्परिक प्रेम कृष्ण-भक्ति-साहित्य का मेरुदण्ड है। कृष्ण-भक्ति साहित्य में किसी भी अन्य बात पर उतना ज़ोर नहीं है, जितना गोपीभाव की भक्ति को प्राप्त करने पर। यद्यपि आगे चलकर वैष्णव संप्रदायों में और भी सूक्ष्म 'सहचरी भाव' आदि प्रतिष्ठित हुए, किन्तु एक सामान्य प्रेम-भावना के लिए गोपी ही प्रतिनिधि स्वरूपा है।[3] वास्तव में गोपी परम गोपनीय प्रेम-धन का अक्षय भण्डार है। इस प्रेम की जितनी

---

१. 'श्रीमद्भागवत', ७।१५।७५

२. 'मध्यकालीन धर्म-साधना', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२३

३. 'हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव', पृ० १७३

अवस्थाओं और रूपों की कल्पना की जा सकती है, उन सब का अधिष्ठान गोपी का विशाल हृदय है—वात्सल्य, दाम्पत्य, सख्य, दास्य—सभी भावों के रूप में एक विशुद्ध प्रेम तत्त्व का अगाध सागर ही गोपी के हृदय में मौजें मारता रहता है। यही नहीं, गोपी तो समस्त मनोरागों—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान आदि को भी कृष्णानुराग गाढ़रंग में रंगकर उनका पृथक् अस्तित्व ही समाप्त कर देती है। गोपी का समस्त क्रिया-व्यापार देहेन्द्रिय प्राण धारण—इसी प्रेम को प्राप्त करने के लिए है।

यद्यपि श्रीमद्भागवत की गोपियों का प्रमुख भाव श्रीकृष्ण के प्रति उनका मधुर दाम्पत्य भाव ही है, तथापि वात्सल्य के दर्शन भी उनमें होते हैं। अवस्था भेद से श्रीमद्भागवत की इन वात्सल्यमयी गोपियों की आयु प्रौढ़ अथवा वृद्धा-वस्था ही अनुमान की जा सकती है। कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा चित्रित गोपियों में यशोदा के अतिरिक्त अन्य गोपियों में श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य के स्थान पर मधुर भाव का ही प्राधान्य है, परन्तु भागवत में यशोदा के अतिरिक्त कुछ अन्य सामान्य व्रज-गोपिकाओं का श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव बहुत ढंग से व्यक्त हुआ है।

गोपियों के हृदय में प्रधान रूप से श्रीकृष्ण के प्रति जो मधुर कान्ता भाव है, उससे वे निरन्तर 'मधुर रस' का आस्वादन करती रहती हैं। भक्ति शास्त्रों में मधुर रस को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। यह मधुर रस नितान्त दिव्य, आत्मा-नन्द है जिसका जड़ जगत् से कोई संबंध नहीं है इस रस के एकमात्र आलम्बन श्री-कृष्ण हैं और उनकी प्रियाएं ब्रज गोपिकाएं हैं। ये ब्रज गोपिकाएं किशोरियां हैं। इनमें माधुर्य का नवोन्मेष होता रहता है। इनका हृदय सतत प्रणय-तरंगों से आन्दोलित होता रहता है। ये कृष्ण को रमण-भाव से भजती हैं। ये प्रणम्य हैं। श्रीमद्भाग-वत की गोपियों में ये ही सभी लक्षण मिलते हैं। भागवत में आया है कि नन्द-ब्रज की कुमारिकाओं ने हेमन्त में कात्यायिनीदेवी का पूजन करके उससे वर-याचना की थी कि नन्दकुमार कृष्ण को उनका पति बनाए।[1] इस प्रकार गोपिकाओं ने प्रारंभ से ही श्रीकृष्ण को कान्त-भाव से भजा। कान्तासक्ति में भक्ति के अन्य प्रकारों का बड़े ही सहज भाव से समावेश हो जाता है और भागवत की गोपियों में इन सबके उदाहरण प्राप्त होते हैं।

कहना नहीं होगा कि श्रीमद्भागवत में वर्णित गोपियों के वात्सल्य और मधुर भावों ने ही मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों को विशेष रूप से आकृष्ट किया है। गोपीभाव को लेकर परवर्ती युग में और भी गहराई में जाकर प्रेम-रस की शास्त्रीय व्याख्या हुई।

गोपी, रास, मुरली आदि के प्रतीकार्थ

भागवत में पुरुषावतार कृष्ण की विविध लीलाओं को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न हुआ है। भागवतकार ने बड़े ही सजग रूप से विविध लीलाओं के प्रसंगों

१. 'श्रीमद्भागवत', १०।२२।१,४

में आध्यात्मिक व्याख्या कर लौकिक क्रीडाओं पर ऐसा आध्यात्मिक रंग चढ़ा दिया, जिससे मध्ययुगीन भक्तिमय वातावरण में विविध वैष्णव संप्रदायों में श्रीमद्भागवत को भी ब्रह्म-सूत्रों की भांति प्रामाणिकता अथवा मान्यता प्राप्त हो सकी। भागवत की प्रेरणा से परवर्ती युग में कृष्ण की लीलाओं को दार्शनिक रूप दिया जाने लगा और उन लीलाओं की अधिक विस्तार से आध्यात्मिक व्याख्या होने लगी। यहां तक कहा जा सकता है कि यदि भागवत के दशम स्कन्ध में 'रास पंचाध्यायी' की रचना हुई नहीं होती और भागवतकार ने आध्यात्मिक व्याख्या नहीं दी होती तो वैष्णव धर्म का रूप ही कुछ और हुआ होता और संभवत: अनेक वैष्णव संप्रदायों का उद्भव भी होता या नहीं, इसमें भी सन्देह रहता।

श्रीमद्भागवत में कृष्ण की सभी लीलाओं में अध्यात्म का आरोप किया गया है। श्रीमद्भागवत में इस तत्त्व का निर्देश स्थान-स्थान पर मिलता ही है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की सारी लीलाएं प्रच्छन्न रूप में किसी न किसी उद्देश्य को लेकर की जा रही थीं। गोप-गोपिकाएं आदि सभी प्रच्छन्न रूप में असाधारण अथवा अतिमानव थे। यहां तक कि असुर भी किसी विशेष प्रयोजन से उस लीला पुरुषोत्तम नटवर के सम्पर्क में आते थे। माखन-चोरी, उलूखल-बंधन, दामोदर-लीला, चीरहरण-लीला, वेणुवादन आदि सब पर ही आध्यात्मिक आरोप हुए हैं। गोपियों के पूर्व जन्म की कथाएं तो पुराणों में भरी पड़ी हैं। इन गोपियों ने भगवान् के लिए कल्पों तक साधना करके गोपी-तन प्राप्त किया था और उनकी अभिलाषा पूर्ण करने के लिए ही भगवान् ने लीलाएं की थीं। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ३२वें अध्याय के २२वें श्लोक में स्वयं भगवान् ने गोपियों से कहा है—"हे गोपियो, तुमने लोक-परलोक के सारे बन्धनों को काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है, यदि मैं तुममें से प्रत्येक के लिए अलग-अलग अनन्त काल तक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेम का बदला चुकाना चाहूं तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूं और ऋणी ही रहूंगा। तुम अपने साधु स्वभाव से ऋण रहित मानकर और भी ऋणी बना दो।"

भागवत के दशम स्कन्ध में कृष्ण के श्रृंगारिक रूप के चित्रण की काव्यात्मक योजना की गई है। वेणुवादन, चीरहरण, रास या महारास आरम्भ करने के पूर्व भागवतकार एक सफल कवि की तरह वर्षा और शरद ऋतुओं का वर्णन करता है और इससे एक ऐसी लौकिकता एवं अलौकिकता मिश्रित वातावरण की सृष्टि करता है, जिसमें भावी श्रृंगारिकता को आध्यात्मिक स्तर पर लाया जा सके। यहां उत्प्रेक्षा अलंकारों की योजना करके ही उक्त लक्ष्य की प्राप्ति की गई है। इसी पृष्ठभूमि में भागवतकार ने आगे का श्रृंगारिक वर्णन प्रस्तुत किया है। इक्कीसवें अध्याय में प्रकृति के अत्यधिक उद्दीपक रूप को चित्रित करते हुए वेणु-गीत की योजना की गई है जिसे सुनकर गोपियां एकान्त में अपनी सखियों से उनके (कृष्ण के) रूप, गुण और वंशी-ध्वनि के प्रभाव का वर्णन करने लगीं, पर स्मरण करते ही गोपियों का मन हाथ से निकल जाता है और वे मन ही मन कृष्ण के पास पहुंच जाती हैं। यहां भागवतकार ने गोपियों के परस्पर आलाप द्वारा

कृष्ण और बलराम का मोहक चित्र खींचते हुए उन्हें चतुर नट तक की उपमा दी है, पर कृष्ण के वेणुवादन का लोकोत्तर प्रभाव दिखाने में भी कोई चूक हुई नहीं है। भागवतकार कहीं भी आध्यात्मिकता से दूर नहीं होता है। कृष्ण की वंशी से पशु-पक्षी, स्वर्ग की देवियां आदि सभी मूर्च्छित हो जाती हैं, फिर बेचारी गोपियों की क्या बिसात। सारी नारी-जाति कृष्ण के रूप पर मोहित है। बाइसवें अध्याय में चीरहरण का प्रसंग कृष्ण-चरित्र में एक आश्चर्यजनक नवीनता ला देता है। इस प्रसंग को लेकर भी अनेक आचार्यों एवं पंडितों को आध्यात्मिक व्याख्या के लिए, अनेक उद्भावनाएं करनी पड़ी हैं।

चीरहरण-लीला के विषय में भी अनेक प्रकार से आध्यात्मिकता का आरोप किया गया है। यद्यपि श्रीकृष्ण की आयु चीरहरण-लीला के समय केवल आठ-नौ वर्ष की थी और उस समय कामोत्तेजना का प्रश्न उपस्थित नहीं होता, परन्तु अध्यात्मवादी लोग इन लीलाओं को भौतिक रूप में नहीं देखते। वे तो कृष्ण को आत्मा के रूप में देखते हैं और गोपियों को वृत्तियों के रूप में। वृत्तियों का आवरण नष्ट होना ही 'चीरहरण-लीला' है और उनका आत्मा में रम जाना ही 'रास' है। गोपियां ब्रह्मानुवेपकारिणी भक्ति साधिका हैं। अनेक जन्मों के पुण्यफल स्वरूप उन्हें परमात्मा श्रीकृष्ण प्राप्त हुए हैं। उनकी अहं बुद्धि को छुड़ाने के लिए भगवान् ने यह लीला की।[1]

भगवान् ने चीरहरण-लीला में गोपियों की साधना को पूर्ण किया है। गोपियां कृष्ण के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण चाहती थीं। परन्तु उनके समर्पण में कमी थी। वे निरावरण रूप से श्रीकृष्ण के सम्मुख नहीं जा रही थीं। उनमें कुछ झिझक थी। उनकी साधना को पूर्ण बताने के लिए उन्हें निरावरण करना आवश्यक था। भक्ति की दृष्टि से भी वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में है और रागात्मिका भक्ति की परिणति पूर्ण आत्म-समर्पण में है। गोपियों ने वैधी भक्ति का अनुष्ठान किया था और उनका हृदय रागात्मिका भक्ति से परिपूर्ण था। चीरहरण-लीला से पूर्ण आत्म-समर्पण का कार्य सम्पन्न हुआ। गोपियों की इस दिव्य लीला का जीवन उच्च कोटि के साधक के लिए आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीव के एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं। उनकी यह लीला अपार और अप्राकृत है। श्रीकृष्ण उनके वस्त्रों के रूप में उनके समस्त संस्कारों के आवरण अपने हाथ में लेकर पास ही कदम्ब के वृक्ष पर चढ़कर बैठ गए। गोपियां जल में थीं। वे जल में सर्वव्यापक सर्वदर्शी भगवान् से मानो अपने को प्रच्छन्न समझ रही थीं। यह उनकी भूल थी। इसी का सुधार श्रीकृष्ण करना चाहते थे। हम संसार के अगाध जल में आकण्ठ मग्न हैं और भगवान् को भूल गए हैं। भगवान् यही बतलाते हैं कि भक्तो! संस्कार शून्य होकर, निरावरण होकर, माया का परदा हटाकर मेरे पास आओ। तुम्हारा मोह का परदा मैंने छीन लिया है अब तुम परदे के मोह में क्यों पड़े हो। यह परदा ही तो परमात्मा और जीव के बीच बड़ा व्यवधान है यह केवल भगवत्प्रेम से ही दूर हो सकता है। भगवान् के संपर्क से यह परदा भी प्रसाद

१. 'श्रीमद्भागवत', १०-२२-२७

रूप हो जाता है। यही चीरहरण लीला का आध्यात्मिक पक्ष है।

भागवत में रास-लीला की भी आध्यात्मिक व्याख्या हुई है। ब्रजलीला की पराकाष्ठा रासलीला में है। आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा राधिका है। वंशी उनकी प्रेम रूपिणी है। जिस प्रकार वालक अपने प्रतिविम्व के साथ क्रीड़ा करता है उसी प्रकार कृष्ण ने वहुधा विभक्त आत्मा-रूपिणी ब्रज गोपिकाओं के साथ रासलीला करने के लिए सुखमयी रजनी में सुन्दर यमुना-पुलिन पर प्रेमवंशी के शब्द से संकेत-ध्वनि की। 'रास' शब्द का मूल 'रस' है, और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। 'रसो वै स:'। जिस दिव्य क्रीड़ा में अनेक रस एक ही रस में होकर अनन्त रस का आस्वादन करे, एक रस ही रस समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं आस्वाद्य-आस्वादक लीला-धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करे उसका नाम रास है। विश्व की नियमवद्ध गति को भी रास कहा गया है। विश्व में गति ही प्रधान है। यह गति नियमवद्ध होती है। इसी नियमवद्ध गति से विश्व का प्रादुर्भाव और इसीमें विलय है जो इसका रहस्य समझता हुआ इसमें प्रवृत्त होता है वही इसके सच्चे आनन्द का अनुभव कर सकता है। भगवान् अपने मधुर आह्वान से प्रत्येक व्यक्ति को रास के लिए बुलाते हैं। जो अपना अहंभाव छोड़ कर इस ओर अग्रसर होता है वही इस आनन्द की प्राप्ति करता है।

परवर्ती सांप्रदायिकों ने रास को केवल एक रूपक या कल्पनामात्र ही नहीं, वल्कि उसे सत्य भी स्वीकार किया है। भेद केवल इतना है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुष का मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्द-विग्रह निरंकुश स्वेच्छाचारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन और उनकी नायिक थी स्वयं उनकी आह्लादिनी शक्ति राधिका और उनकी यह लीला अप्राकृत थी। शुकदेव ने परीक्षित के प्रश्नों के उत्तर में इस बात का समर्थन किया है। रासलीला को वैज्ञानिक रूप भी दिया गया है।

एक मुख्य केन्द्र के आकर्षण के अनुसार उसके चारों और गतिमान् श्रुतियों की जो गति होती है उसे 'रास' कहते हैं। जैसे सौर जगत् में सूर्य केन्द्र है, उसके आस-पास ग्रह और उपग्रहों की मण्डली है जो अपने केन्द्र सूर्य के आकर्षणानुसार अपनी विशेष गति से गतिमान् है। उनकी यह गति उनकी रासलीला है। सौर जगत् की ही भांति मनुष्य के अन्दर भी रासलीला हुआ करती है। मनुष्य के शरीर में उसका हृदय केन्द्र है और विभिन्न अंग उससे शक्ति-लाभ करते हुए समग्र शरीर की रक्षा के लिए अपने-अपने जो कर्तव्य करते हैं, वह भी एक रास-लीला है। इसी प्रकार विश्व रूप वृत्त में भगवान् श्रीकृष्ण परम केन्द्र हैं, प्रकृति उसकी परिधि है और जीवात्मा गण इस प्राकृतिक चक्र में पड़कर अपने केन्द्र को बिलकुल भूल गए हैं। पीछे ज्ञान के द्वारा उनकी आत्मविस्मृति दूर होती है और ये जीवात्मा रूप सरल रेखाएं परिधि को त्याग कर अपने केन्द्र से आकृष्ट होकर केन्द्र की ओर जाती हैं। यह अपने केन्द्र की ओर आना ही विश्व की आध्यात्मिक रासलीला है जो नित्यप्रति होती रहती है। इसी नित्य रासलीला का अभिनय

ब्रज में रासोत्सव के रूप में किया गया। यह अभिनय गोपीरूप जीवात्माओं का अपने परमकारण परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण के साथ युक्त होना था। यह आत्मा और परमात्मा का मिलन था न कि दो स्थूल शरीरों का। इसलिए इस रासलीला में प्रवेश करने का अधिकार उसीको है जिसने प्राकृतिक नानात्व की वासना और ममता तथा स्वकीय अहंभावरूप पुरुषभाव को सर्वथा त्याग दिया है और अपनी आत्मा को भगवान् की शक्तिमात्र मानकर उनकी दी हुई वस्तु उन्हींको समर्पित करने के लिए सदा लालायित रहता है। यही गोपी-भाव है। इस गोपी-भाव में पगे हुए अपने भक्त के बिना भगवान् को चैन नहीं पड़ता और जब यथासमय वे उसका आह्वान करते हैं तो दोनों का मिलन होता है जिसे रासलीला कहते हैं।

भ्रमरगीत

भागवतकार ने भ्रमरगीत तथा उद्धव-सन्देश की भी योजना कर दी थी, जिसे लेकर आने वाली पीढ़ी नाना प्रकार की उक्तियां गढ़ सकी। श्रीमद्भागवत का भ्रमरगीत प्रसंग गोपी-प्रेम के गंभीर रूप की जननी, तीव्र विरह-भावना और तन्मयता के लिए अद्वितीय है। इसमें उद्धव द्वारा गोपियों की प्रेम-लक्षणा भक्ति का महत्त्व स्वीकार किया गया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम, जो इस प्रसंग में रूपासक्ति, तन्मयासक्ति और परम विरहासक्ति इन तीनों रूपों में दृष्टिगोचर होता है, अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया है। कृष्णभक्त कवियों की भ्रमरगीत संबंधी रचनाओं का आधार श्रीमद्भागवत का यही प्रसंग है। यही भ्रमरगीत—साहित्य का उद्गम स्थल है। यद्यपि परवर्ती भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा से इस काव्य विषय को बहुत विशाल और मनोहर बना दिया और देशकाल की परिस्थितियों से मूल वस्तु में यत्किंचित् परिवर्तन भी हुए तो भी इससे मूल वस्तु का महत्त्व कम नहीं होता। इस प्रकार भागवत में वर्णित भ्रमरगीत के मूल प्रसंग ने मध्ययुगीन कृष्णभक्त कवियों को भ्रमरगीत काव्य-रचना के लिए बड़ी प्रेरणा दी है।

विभिन्न संप्रदायों में श्रीमद्भागवत की मान्यता

हमारी दृष्टि में श्रीमद्भागवत का सबसे अधिक महत्त्व मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के एक प्रमुख प्रेरणा-स्रोत के रूप में ही है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को व्यापक रूप देने में विविध वैष्णव संप्रदायों का बड़ा हाथ रहा है। दक्षिण में संगठित चार प्रमुख वैष्णव सम्प्रदायों का तो हमने परिचय दे दिया है। इन संप्रदायों का संबंध उत्तर भारत से भी रहा और १५वीं और १६वीं शताब्दियों में इन संप्रदायों की अवान्तर शाखाओं के रूप में और स्वतंत्र रूप में उत्तर भारत में कुछ वैष्णव संप्रदाय संगठित हुए, जिनको तात्त्विक रूप से पोषित करने का श्रेय श्रीमद्भागवत को ही है। अगले अध्याय में हम उत्तर भारत या हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि और वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का लोकप्रिय रूप प्रदान करने वाली

परिस्थितियों पर प्रकाश डालेंगे। तब यह स्पष्ट होगा कि रामानन्द (१४वीं-१५वीं शती) के द्वारा वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप देने के पश्चात् उसे और भी व्यापक और संगठित रूप में बनाए रखने का कार्य उत्तर भारत में आयोजित विविध वैष्णव संप्रदायों का था, जिनको धार्मिक क्षेत्र में आधारभूत ग्रन्थ के रूप में मार्ग-दर्शन देने का श्रेय श्रीमद्भागवत को ही है। १५वीं-१६वीं शताब्दियों के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को लोक-रुचि के अनुसार जन-आन्दोलन का रूप देकर विभिन्न वैष्णव संप्रदायों में विपुल मात्रा में भक्ति-साहित्य का निर्माण कराने का सर्वाधिक सशक्त प्रेरणा-स्रोत श्रीमद्भागवत ही रहा। एक प्रकार से १३वीं शताब्दी से ही विविध संप्रदायों पर भागवत का प्रभाव पड़ने लगा था। जैसे-जैसे भागवत का प्रचार बढ़ता गया, वैसे-वैसे देश के कोने-कोने में वैष्णव धर्म का प्रचार भी होता गया। कहीं प्राचीन स्थानीय धर्म-मतों ने अपने प्राचीन मत में कुछ हेर-फेर करके इसे स्थान दिया, तो कहीं किसी सर्वथा नवीन वैष्णव मत की ही स्थापना की गई, जिसमें पूर्व प्रचलित साधनाओं को या तो बिलकुल त्याग दिया गया या फिर उन्हें पूर्णतया वैष्णवात्मक बना लिया गया।

श्रीमद्भागवत की लोकप्रियता और धार्मिक मान्यता का परिचय. भागवत पर परवर्ती काल में निकली अनगिनत टीकाओं से सरलता से हो सकता है। हमारी दृष्टि में संपूर्ण भारतीय वैष्णव भक्ति वाङ्मय में केवल 'प्रबन्धम्' और 'श्रीमद्भागवत' पर ही सर्वाधिक संख्या में टीका-ग्रन्थ और अनुवाद-ग्रन्थ निकले हैं। केवल यही एक तथ्य इन दोनों ग्रन्थों को वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के दो प्रमुख प्रेरणा-स्रोत मानने के लिए पर्याप्त है।

दक्षिण और उत्तर के वैष्णव संप्रदायों में न्यूनाधिक रूप में भागवत की मान्यता रही है। इन संप्रदायों के आचार्यों के द्वारा भागवत पर अपने-अपने सिद्धांत निरूपण की दृष्टि से विविध टीकाएं भी प्रणीत हुईं। इनमें कुछ संप्रदायों का संगठन १४वीं-१५वीं शताब्दी के बाद (स्वामी रामानन्द के द्वारा उत्तरी भारत में दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को प्रसारित करने के उपरांत) ही हुआ। प्रसंगवश यहां श्रीमद्भागवत के सन्दर्भ में उन संप्रदायों का परिचय दिया जा रहा है, यद्यपि वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के क्रमिक इतिहास में उनका समय स्वामी रामानन्द के बाद ही पड़ता है।

तमिल-प्रदेश में श्री संप्रदाय के 'वडकलै' तथा 'तेन्कलै' विभाजन के पश्चात् ही १४वीं शती के उत्तरार्ध में वडकलै (संस्कृत पर आधारित रहने वाले) अनुयायी श्री वीररावचाचार्य के द्वारा श्रीमद्भागवत पर एक टीका प्रस्तुत की गई। परन्तु श्री संप्रदाय में जहां तक सांप्रदायिक सिद्धांतों की मान्यता है वहां अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में भागवत नहीं, बल्कि प्रबन्धम् ही स्वीकृत है। श्री संप्रदाय में प्रबन्धम् ही सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ है। श्री वीरराघवाचार्य की टीका 'भागवत चन्द्रिका' कहलाती है।

निंबार्क संप्रदाय में श्रीमद्भागवत की पर्याप्त मान्यता है। निंबार्क संप्रदाय

के आदि आचार्य हंसावतार भगवान् नारायण हैं। इनका सनकादि से गुरु-शिष्य भाव भागवतसम्मत ही है। भागवत के एकादश स्कन्ध के त्रयोदश अध्याय में चौदहवें श्लोक में इसका स्पष्ट उल्लेख है। इसी अध्याय में आगे चलकर श्रीकृष्ण भगवान् ने हंसावतार नारायण और सनकादि के संवाद का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। निंबार्क संप्रदाय में श्रीमद्भागवत को ही मूल ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। आचार्य शुकदेव ने श्रीमद्भागवत की टीका 'सिद्धांत प्रदीप' के उपक्रम में भागवत का महत्त्व बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादित किया है।[1]

निंबार्क संप्रदाय में अष्टादशाक्षर गोपाल मंत्र की दीक्षा परम्परा प्राप्त है। कहा जाता है कि आचार्य निंबार्क ने इस मंत्र की दीक्षा नारद जी से प्राप्त की थी। 'प्रपन्नकल्पबल्ली' में इस मंत्र की तथा श्री मुकुन्दशरण मंत्र की व्याख्या बड़ी सुन्दरता से की गई है। निम्बार्क संप्रदाय के कई आचार्यों ने भागवत के दशम स्कन्ध के रासलीला आदि के प्रसंगों की बड़ी सरस व्याख्या की है। केशव कश्मीरी की भागवत टीका प्रसिद्ध है परन्तु अब केवल वेद स्तुति का ही भाष्य उपलब्ध है। इसी संप्रदाय के श्रीभट्ट ने सबसे पहले ब्रज-भाषा में कृष्ण की लीलाओं का गान किया। जिसका वर्णन हम अगले अध्यायों में करेंगे।

जिस प्रकार भागवत में कृष्ण और गोपियों का संबंध आत्मा-आत्मीय भाव, तथा बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव माना गया है उसी प्रकार निम्बार्क संप्रदाय में राधा और कृष्ण का संबंध माना गया है। अपनी मान्यता के पक्ष में निम्बार्क संप्रदाय के आचार्य भागवत से ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

अनपायिनी भगवतः श्री साक्षादात्मनो हरेः, तथा

रेमे रमेशो ब्रज सुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।[2]

भागवत के अनुसार इस संप्रदाय में प्रेम-लक्षणा अनुरागात्मिक पराभक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। सख्यभाव की भक्ति भी इस संप्रदाय में विधेय है।

माध्व संप्रदाय में श्रीमद्भागवत की बड़ी मान्यता है। स्वयं श्री मध्वाचार्य ने भागवत के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसके गूढ़ रहस्य के उद्घाटन के लिए 'भागवत तात्पर्य निर्णय' नामक एक विस्तृत ग्रन्थ की रचना की। उनका विश्वास था कि श्रीमद्भागवत महापुराण ब्रह्म-सूत्र, महाभारत, गायत्री और वेद से संबद्ध है।[3] श्री मध्वाचार्य ने ब्रह्माण्ड पुराण के उद्धरणों से भी बताया है कि वेद एक विशाल वृक्ष है, जिसमें धर्म रूपी पुष्प, अर्थ रूपी पत्ते, काम रूपी पल्लव और मोक्ष रूपी फल लगते हैं। इन फलों को महर्षि कृष्णाद्वैपायन व्यास ने लोक में महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि के रूप से तोड़कर वितरित कर दिया है। उन्हीं फलों को शुक (तोते अथवा शुकदेव मुनि) ने अपनी रसमयी वाणी से आर्द्र कर दिया है। ग्रन्थ में गुरुप्रोक्त उक्त वेदार्थों की व्याख्या कर दी है। 'भागवत तात्पर्य निर्णय' में श्रीमद्भागवत के अधिकारी विषय, प्रयोजन और फल का सम्यक्

१. 'श्रीमद्भागवत सिद्धांत प्रदीप', पृ० २६
२. 'श्रीमद्भागवत', १०।३३।३७
३. 'भागवत तात्पर्य निर्णय', पृ० ७८९

सविस्तार विवेचन किया गया है। 'भागवत तात्पर्य निर्णय' में श्रीमद्भागवत के अनुसार ही बारह स्कन्धों का विभाजन है और भागवत के प्रत्येक स्कन्ध के प्रत्येक अध्याय का तात्पर्य आवश्यकतानुसार संक्षेप और विस्तार से लिखा गया है। माध्व संप्रदाय के प्रसिद्ध परवर्ती आचार्य विजयध्वजतीर्थ ने श्रीमद्भागवत पर 'पदरत्नावली' नामक प्रसिद्ध टीका लिखी है। श्रीमद्भागवत के संबंध में उनकी मान्यता है कि कालदोषों से लुप्त भागवत धर्मों का पुनरुत्थान इसी महापुराण के द्वारा होना संभव है। परवर्ती युग में माध्व संप्रदाय की महत्त्वपूर्ण शाखा चैतन्य संप्रदाय में श्रीमद्भागवत को और भी महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हुआ।

वल्लभ संप्रदाय में श्रीमद्भागवत की अत्यधिक मान्यता है। श्रीमद्भागवत श्री वल्लभाचार्य का सर्वाधिक प्रिय स्वाध्याय-ग्रन्थ था। उत्तर भारत में भागवत के व्यापक प्रचार में वल्लभ संप्रदाय का बड़ा हाथ रहा है। आचार्य वल्लभ ने संपूर्ण देश में भ्रमण कर भागवत का प्रचार किया और देश में ८५ स्थानों पर इस महा-पुराण का पारायण किया। वल्लभ ही पहले आचार्य थे जिन्होंने भागवत पुराण को 'प्रस्थान त्रयी' के समकक्ष मानकर उसे 'प्रस्थान चतुष्टय' की संज्ञा दी।

वेदाः श्रीकृष्ण वाक्यानि व्यास सूत्राणि चैव हि।
समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।

(त० दी० नि०, पृ० १)

वल्लभ संप्रदाय में आचार्य वल्लभ को श्री भागवत गूढ़ार्थ-प्रकाशन–परायण कहा जाता है। तत्त्वदीप निबन्ध तथा सुबोधिनी में भागवत की अनेकशः प्रशंसा की गई है तथा इसे समस्त वेदों का आभरण रूप बताया है। इतना ही नहीं, उन्होंने इस महापुराण को लीलापुरुषोत्तम का साक्षात् विग्रह स्वीकार किया है। भागवत के द्वादश स्कन्धों को अपने सेव्य श्रीनाथ जी के बारह अंगों के रूप में स्वीकार किया है।

वल्लभाचार्य ने भागवत महापुराण के विषय-विश्लेषण के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—१. श्रीभागवत सुबोधिनी, २. श्रीभागवत सूक्ष्म टीका, ३. तत्त्वदीप निबन्ध का श्रीभागवतार्थ प्रकरणम् ४. श्री दशम स्कन्धानुक्रमणिका ५. श्री पुरुषोत्तम नामसहस्रम् तथा ६. त्रिविध लीला नामावली। वल्लभाचार्य जी के पुत्र विट्ठलनाथ जी ने अपने पूज्य पितृ चरणों के ग्रन्थों के गूढ़ रहस्य का उद्घाटन किया तथा कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। 'भक्ति हंस' तथा 'भक्ति निर्णय' में भागवत की भक्ति का विशेष रूप से प्रतिपादन किया। विट्ठलनाथ जी भी अपने पिता के समान संस्कृत में प्रौढ़ विद्वान थे तथा उन्होंने अपने पिता के समान देश में अट्ठाईस बैठकें स्थापित कीं। वल्लभा-चार्य जी ने पुष्टि संप्रदाय की स्थापना मर्यादामार्गीय संप्रदाय से भिन्न रूप में की। यहां तक कि संप्रदाय के नामकरण की प्रेरणा भी उन्हें श्रीमद्भागवत से ही मिली। भागवत के द्वितीय स्कन्ध दशम स्कन्ध के चतुर्थ श्लोक में आया है— 'पोषणं तदनुग्रहः' अर्थात् भगवान् के अनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहते हैं। भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है। इसलिए भक्त

को अपना सब कुछ भगवान् को ही समर्पण करना पड़ता है जिससे भगवान् के प्रति उसकी अनन्यता हो सके। यही पुष्टि मार्ग कहलाता है। यह स्पष्ट है कि वल्लभ संप्रदाय में श्रीमद्भागवत का कितना अधिक महत्त्व है।

वल्लभ संप्रदाय के समान ही श्रीमद्भागवत को अत्यधिक मान्यता प्रदान करनेवाला संप्रदाय चैतन्य संप्रदाय है। चैतन्य संप्रदाय के आचार्यों को श्रीमद्-भागवत के रूप में एक ऐसा अप्रतिहत शास्त्र मिल गया था कि उसके सहारे वे भक्ति का प्रचार बड़े आत्म-विश्वास से कर पाए थे। चैतन्य संप्रदाय की निश्चय मान्यता है कि बादरायण भगवान् व्यास ने ब्रह्म-सूत्रों का निर्माण कर उसके भाष्यभूत श्रीमद्भागवत की रचना की और उसे श्रीशुकदेव को पढ़ाया।[1] इस संप्र-दाय में ब्रह्म-सूत्र की व्याख्या के रूप में श्रीमद्भागवत को महत्त्व दिया गया है।[2] चैतन्य संप्रदाय के एक प्रमुख आचार्य श्री जीव गोस्वामी ने अपने 'श्रीभागवत सन्दर्भ' या 'षट् सन्दर्भ' में श्रीमद्भागवत का सांगोपांग अर्थ और रहस्योदघाटन किया है। 'श्रीभागवत सन्दर्भ' में ६ सन्दर्भों द्वारा श्रीमद्भागवत की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। श्री जीवगोस्वामी ने भागवत को परम निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए विचारणीय बताया है और पौर्वापर्य्य के अविरोध के साथ अपने षट् संदर्भ में उसका विस्तृत व्याख्यान किया है। उन्होंने श्रीधर स्वामी की टीका का अनुसरण किया है। साथ ही तमिल-प्रदेश के विख्यात भक्तों (आलवारों), श्री (लक्ष्मी) से प्रवृत्त श्री वैष्णव सप्रदाय के आचार्य श्री रामानुजाचार्य के श्री भाष्यादि में उल्लिखित मतों का भी प्रामाण्य स्वीकार किया है।[3] श्री जीव गोस्वामी ने 'भाग-वत सन्दर्भ' में श्रीमद्भागवत का प्रयोजन भगवदासक्ति जनक भगत्प्रेम ही बत-लाया है। और वह प्रेम भगवल्लीला श्रवणादि लक्षण भगवद्जन से ही उत्पन्न होता है। श्रीमद्भागवत के उन श्लोकों को ही श्री जीव गोस्वामी ने उद्धृत किया है जिनसे श्रीमद्भागवत का भक्तिपरकत्व सिद्ध होता है।[4]

चैतन्य संप्रदाय के एक दूसरे आचार्य श्री सनातन गोस्वामी ने 'बहृद भावा-मृत' नामक विशाल ग्रन्थ लिखा है, जिस पर बलदेव विद्याभूषण की 'दिग्दर्शिनी' नामक विस्तृत टीका भी निकली है। 'बृहद् भागवतामृत' में पूर्णतया श्रीमद्भाग-वत को ही आधार ग्रन्थ मानकर उसके समस्त भक्ति-तत्त्वों का सांगोपांग वर्णन किया गया है और चैतन्य सिद्धांत की प्रामाणिकता के लिए श्रीमद्भागवत के वचन ही उद्धृत किए गए हैं। इसी संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्री रूप गोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' लिखा है, जिसमें भागवत के आधार पर अनेक विषयों का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। 'लघुभागवतामृत' को श्रीमद्भागवत का निचोड़ कहा जा सकता है। श्रीरूप गोस्वामी ने भागवत के भक्ति-रस-विवेचन से प्रभावित होकर ही 'भक्ति रसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलामणि' नामक भक्ति-रस

१. श्री बलदेव विद्याभूषण कृत 'भागवत सन्दर्भ' की टीका, प्रथम तत्त्व, सन्दर्भ ३
२. *Sri Chaitanya's Teachings*, Siddhanta Sarawati, p. 333
३. 'तत्त्वसन्दर्भ', पृ० २१
४. 'श्रीमद्भागवत', १।७।६-७

विवेचन ग्रन्थ लिखे हैं, जो वैष्णव भक्ति-साहित्य में अमूल्य निधि है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर और दक्षिण के वैष्णव संप्रदायों में श्रीमद्भागवत की महती मान्यता है। इन संप्रदायों के आचार्यों की प्रेरणा से अनगिनत भक्त-कवियों ने श्रीमद्भागवत से प्रभावित होकर विपुल मात्रा में भक्ति-साहित्य का निर्माण किया है। उत्तर के वल्लभ संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय के अतिरिक्त राधावल्लभ संप्रदाय और हरिदासी संप्रदाय में भी भागवत की बड़ी मान्यता है। इन संप्रदायों के भागवत-प्रेरित भक्ति-सिद्धांतों ने मध्ययुगीन (१५वीं और १६वीं शताब्दियों में) उत्तर भारतीय वातावरण को भक्तिमय बना दिया। इसी कारण से हम श्रीमद्भागवत को मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के दूसरे प्रमुख स्रोत के रूप में मानते हैं।

विविध भारतीय भाषाओं के वैष्णव भक्ति-काव्य पर श्रीमदभागवत का प्रभाव

श्रीमद्भागवत का अत्यधिक प्रभाव मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं के वैष्णव भक्ति-साहित्य पर पड़ा है, यह निर्विवाद है। हिन्दी के मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति-साहित्य का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत भागवत ही रहा, जिसका विस्तृत परिचय आगे दिया जाएगा। यहां हिन्दीतर भाषाओं में निर्मित भागवतानुसारी साहित्य का ही संक्षिप्त परिचय आवश्यक है, जिसके आधार पर समस्त भारतीय वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को श्रीमद्भागवत के ब्यापक योगदान का सम्यक् परिचय प्राप्त हो सकेगा। श्रीमद्भागवत ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसने मध्ययुगीन सभी भारतीय भाषाओं के वैष्णव भक्ति-काव्यों को समान रूप से प्रभावित किया है।[१] और उनमें भावात्मक एकता स्थापित करने का महान् कार्य किया है। यहां विस्तार-भय से विविध भारतीय भाषाओं में उपलब्ध मध्ययुगीन (१४वीं शती के बाद के) भागवतानुसारी साहित्य की ओर केवल संकेत मात्र किया जाएगा।

दक्षिणी भाषाओं में भागवतानुसारी साहित्य का निर्माण अधिक मात्रा में तेलुगु में ही हुआ है। तेलुगु में भागवत विषयक साहित्य के अन्तर्गत मडिकिसिंगन्न का भागवत दशम स्कन्ध का अनुवाद कदाचित् सर्वप्राचीन है। मडिकिसिंगन्न का समय ई० १३७५ से १४३५ तक माना जाता है। उक्त अनुवाद के केवल तीन काण्ड ही उपलब्ध हैं—मथुरा काण्ड, कल्याण काण्ड और जगदभिरक्षा काण्ड। प्रथम काण्ड में अक्रूरकृत कृष्ण-स्तुति से लेकर जरासंघ के मथुरा पर द्वितीस आक्रमण तक, दूसरे में रुक्मिणी के विवाह-प्रसंग से उषाहरण तक तथा तृतीय में नृग-शाप से लेकर शिशुपाल-वध तक का वर्णन है। बम्मेर पोतन्न (१४५०-१५१०ई०) तक अमरकृति 'महाभागवत' तेलुगु साहित्य का एक अत्यन्त प्रदीप्त रत्न है। पोतन्न की यह तेलुगु कृति संस्कृत के श्रीमद्भागवत का पद्यानुवाद मात्र ही नहीं है। इसमें कवि की मौलिक कल्पनाओं एवं रंगीन विचारोत्तेजक भावनाओं का

१. *The Bhagavata and Indian Culture*, —Trivedi Krishnaji *Vedanta Kesari*, Vol. 48, pp. 438-440

समावेश होने के कारण जो नवीनता और रमणीयता आ गई है, वह किसी सहृदय पाठक से छिपी रह नहीं सकती। आकार की दृष्टि से भी यह अपने आधार ग्रन्थ भागवत की अपेक्षा अधिक विशाल है। इसमें भक्ति भावातिरेक से ओतप्रोत स्थलों में प्रह्लाद-कथा, गजेन्द्र, मोक्ष, वामनावतार, कुचेलोपाख्यान (सुदामा चरित) तथा संपूर्ण दशम स्कन्ध उल्लेखनीय हैं। पोतन्न के अतिरिक्त १६वीं शताब्दी में तेलुगु में अन्य अनेक कवि हुए हैं, जिनके वैष्णव भक्ति-काव्य पर भागवत का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

तमिल में भी भागवत की रचना हुई। १६वीं शती के उत्तरार्ध में चैव्वैचूडुवार नामक कवि ने संस्कृत से भागवत का अनुवाद तमिल में किया। ये रामनाडु ज़िले के बेंवत्तूर नामक स्थान के निवासी थे। नेल्लिनगर के निवासी वरदराज अय्यंरार ने भी भागवत की रचना (लगभग ई० १५४३) की। यह अनुवाद न होकर अय्यंगार की मौलिक रचना है, जो भागवत पर आधारित है।

मलयालम भाषा में भी मध्ययुग में पर्याप्त मात्रा में भागवतानुसारी साहित्य उपलब्ध है। प्रसिद्ध निर्णय कवियों (तीन कवियों) में रामपणिक्कर (१५ वीं शती) ने अपने अन्य अनेक ग्रन्थों के साथ 'भागवत दशम स्कन्ध' की भी रचना की थी। 'कृष्ण गाथा' के रचयिता के चेरुश्शेरी तंपूतिरि को मलयालम के भक्त-कवियों में एक गौरवपूर्ण स्थान है। 'कृष्ण गाथा' मलयालम के समस्त कृष्ण भक्ति-साहित्य में सर्वाधिक सुन्दर कृति मानी गई है। यह भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर ही रचित है। फिर भी कवि की मौलिकता का परिचय भी मिलता है। मलयालम भाषा के साहित्य में महाकवि तुंचत्तु एलुत्तच्छन (१६ वीं शती) की महत्त्वपूर्ण कृतियों में 'अध्यात्म रामायण', 'भारतम्', श्रीमद्भागवतम्', 'चिंता-संतानम्', 'हरिनामकीर्तनम्' आदि मुख्य हैं। एलुत्तच्छन रचित 'भागवतम्' श्रीमद्भागवत का कोरा अनुवाद नहीं है। पौराणिकता के शुष्क पंजर में सरस भावनाओं और मनोरम कल्पनाओं के प्राण फूंककर उन्होंने घटनाओं को जो सजीवता प्रदान की है वह अत्यन्त स्तुत्य है। नवधा भक्ति के अनेकानेक उदाहरण एलुत्तच्छन की भागवतम् कृति में उपलब्ध हैं। मलयालम के एक दूसरे प्रसिद्ध कवि पून्तानम नंपूतिरि थे, जिनकी प्रमुख रचनाएं 'सन्तानम् गोपालम् पाना', 'श्रीकृष्ण-कर्णामृतम्', 'ज्ञानधाना', 'पार्थसारथी-स्तवम्', 'हरि आनन्दवृत्तम्,' और 'कृष्ण लीला' हैं। 'श्रीकृष्ण कर्णामृतम्' में भागवत के दशम स्कन्ध के समस्त प्रसंगों का वर्णन है। कवि ने विशेष रूप से लीला नायक कृष्ण की बाल लीलाओं में ही अधिक तल्लीनता दिखाई है। श्री कुंचन नंपियार (१७ वीं शती) ने भागवतानुसारी साहित्य की रचना की थी; जिनमें 'श्रीकृष्ण चरित मणि प्रवालम्,' 'भगवत, इरुपत्तिनालुविरुत्तम' आदि मुख्य हैं। और भी अनेक कवि मलयालम में हुए हैं जिनके भक्ति-काव्य पर भागवत का प्रभाव पड़ा है।

कन्नड़ के भागवत-साहित्य पर श्री मध्वाचार्य के द्वैतमत का गहरा प्रभाव पड़ा है। माध्वमतालंबी 'हरिदासों' ने भागवतानुसारी साहित्य की रचना कन्नड़ में की हैं। श्रीपादराय ने भ्रमरगीत, वेणुगीत आदि रचनाएं प्रस्तुत कीं। श्रीपादराय

ने 'रुक्मिणी-सत्यभामा विलास' नामक एक लघुगीत-काव्य भी रचा था। कन्नड़ के बहुत प्रसिद्ध कवि पुरन्दरदास रचित समस्त पद भक्ति-भावना से ओतप्रोत हैं, जिनमें भागवत की नवधा भक्ति की भावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। भागवत-कथा के विभिन्न प्रसंगों का विस्तृत वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है। कन्नड़ कवियों में वात्सल्य वर्णन में पुरन्दर अद्वितीय हैं। कनकदास की कृति 'मोहन तरंगिणी' भी इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। हरिदासों की परंपरा में श्री विजयदास, श्री गोपालदास, श्रीराघवेन्द्र, श्री वेंकटदास, श्री जगन्नाथदास आदि मुख्य हैं। श्री प्रसन्न वेंकटदास ने भजनों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध का कन्नड़ भाषा में अनुवाद किया है। श्री जगन्नाथदास की रचनाओं में मुख्य 'हरिकथामृतसार' एक बहुत ही मुख्य काव्य है। १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में चाटु विट्ठल-नाथ ने कन्नड़ भाषा में श्रीमद्भागवत का अनुवाद किया। कन्नड़ भाषी जनता के बीच कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचार में इस ग्रन्थ का बड़ा योगदान रहा है।

मराठी में भी भागवतानुसारी साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। मराठी में भागवत के एकादश स्कन्ध पर १५-२० भाष्य ग्रन्थ मिलते हैं। महानुभाव पंथ के कवि भट्ट बौरीकार ने सन् १३०८ में एकादश स्कन्ध पर 'उद्धवगीता' नामक टीका लिखी। वारकरी संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ संत एकनाथ (१५३३-१५९९ ई०) ने सन् १५७५ में काशी में रहकर भागवत के एकादश स्कन्ध पर 'भागवत' नामक एक सुन्दर और सरस भाष्य-ग्रन्थ लिखा। इसे 'नाथ भागवत' कहा जाता है। १६ वीं शती के बाद के वारकरी संप्रदाय पर 'नाथ भागवत' का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। एकनाथ के बाद श्रीमद्भागवत पर जिन कवियों ने टीकाएं लिखीं, उनमें शिवकल्याण नामक कवि प्रमुख हैं। श्री कृष्णदयार्णव ने दशम स्कन्ध पर भाष्य लिखा है। शिवराम कवि ने एकादश स्कन्ध पर भाष्य रचा है। १७ वीं शताब्दी में वामन पंडित (१६०८-१६९५ ई०) ने चतुःश्लोकी भागवत का अनुवाद किया। महाकवि मारोपंत पड़कर मराठी के एक प्रसिद्ध कवि हैं जिन्होंने 'मंत्र-भागवत' की रचना की। इस प्रकार मराठी में भागवत विषयक कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

गुजराती में १५वीं, १६वीं और १७वीं शताब्दियों के कृष्ण-भक्ति साहित्य पर श्रीमद्भागवत का काफी प्रभाव पड़ा है। १५वीं शती के गुजराती कवियों में भालण और भीम मुख्य हैं। भालण की मुख्य रचनाएं 'दशम स्कन्ध' और 'कृष्ण वृष्टि' हैं। दशम स्कन्ध भागवत का अनुवाद होते हुए भी कई कारणों से अत्यन्त महत्त्व रखता है। कवि भीम की रचना 'हरिलीला षोडशकला' एक प्रकार से भागवत का सार ही है। १६ वीं शती के गुजराती कृष्ण भक्त कवियों में नरसी मेहता, केशवदास, नाकर आदि मुख्य हैं। नरसी मेहता की रचनाओं में 'गोविन्द गमन,' 'दाण लीला,' 'सुदामा चरित,' 'सुरत संग्राम,' चातुरी षोड़शी,' 'रास सहस्रपदी,' 'श्रृंगारमाला,' और 'बाल लीला' मुख्य हैं, जो भागवत से अनुप्राणित हैं। गुजराती कवि केशवदास की मुख्य रचना 'कृष्ण क्रीडा-काव्य' भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद ही है। इस युग के नाकर तथा ब्रेहेदेव नामक गुजराती

कवियों ने भ्रमरगीता शीर्षक पर अलग-अलग रचनाएं की हैं। १६वीं शती के एक दूसरे कवि 'संत' हैं, जिनकी रचना 'भागवतानुवाद' के नाम से है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक गुजराती कृष्णभक्त कवियों पर भागवत का प्रभाव पड़ा है।

उड़िया में वैष्णव भक्ति-काव्य के प्रमुख रचयिता १६वीं शती के 'पंचसखा' नाम से प्रसिद्ध कवि बलरामदास, जगन्नाथदास, अनन्तदास, यशवन्तदास और अच्युतानन्ददास थे। इन पंच सखाओं में प्रमुख कवि जगन्नाथदास थे, जिनकी रचनाएं 'भूतिकेलि,' 'नावकेलि' तथा 'नटुचोरी' आदि लोकगीत शैली में रचित थीं, जिनका प्रचार उडिया के गांव-गांव में हुआ। जगन्नाथ दास ने उडिया में 'उडिया भागवत' की भी रचना की। उड़िया में कृष्ण-भक्ति का प्रचार चैतन्य महाप्रभु से संबद्ध हैं। यद्यपि पंचसखा चैतन्य देव से प्रभावित थे, तथापि इन्होंने उडिया वैष्णव संप्रदाय का एक अलग मार्ग स्थापित किया। इनकी दृष्टि में कृष्ण जगन्नाथ का एक अंश था।[1] एक जनश्रुति के अनुसार जगन्नाथ अपने पंथ की सरलता तथा बोधगम्यता का परीक्षण जगन्नाथ जी के मन्दिर में साधारण जनता को सुनाकर किया करते थे। इसीलिए इस ग्रन्थ का प्रचार साधारण जनता में बड़ी सरलता से हो गया। उडीसा के घर-घर में भागवत का पाठ होने लगा। जनता में इस ग्रन्थ का इतना प्रचार होने लगा कि मजदूरों तक में इसका पाठ लोकप्रिय हो गया। १६वीं शती में उडिया का भक्ति-साहित्य चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित हुआ और उडिया में असंख्य प्रेम-गीत रचे गए। भक्त चरणदास का 'मथुरा-मंगल' प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें विवेचन का आधार श्रीमद्भागवत ही है।

बंगला में विशुद्ध भागवतानुसारी साहित्य चैतन्य के प्रभाव से लिखा गया तथा लगभग दो सौ वर्षों तक यह परंपरा चलती रही। चैतन्य संप्रदाय में श्रीमद्भागवत की आर्ष ग्रन्थवत् मान्यता होने पर भी राधा को भागवत निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया गया है तथा उसे बड़ी मान्यता प्रदान की गई है—यह क्षेत्रीय परंपराओं का प्रभाव था। चैतन्य महाप्रभु के समय में ही अनेक गीति-काव्य तथा चरित्रकाव्य लिखे गए। राधाकृष्ण के प्रेमगीत लिखने वाले बंगला में असंख्य कवि हुए हैं और कृष्ण-लीला का अनेक ग्रन्थों में वर्णन हुआ है, जिनका आधार श्रीमद्भागवत ही है। मालाधर वसु भागवत के प्रथम बंगला अनुवादक थे। हुसैन शाह की आज्ञा के अनुसार उन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध और एकादश स्कन्ध के अनुवाद का कार्य ई० १४७३ में प्रारंभ कर १४८० ई० में पूरा किया। इनकी रचना 'श्रीकृष्ण विजय' के नाम से विख्यात है। हुसैनशाह ने उन्हें 'गुणराज खां' की उपाधि दी। यह लक्ष्य करने की बात है कि मालाधर बसु का भागवत संस्कृत भागवत का कोरा अनुवाद नहीं है। बंगला भाषा में लगभग चालीस कवियों ने भागवत की विशेषकर दशम स्कन्ध की रचना की। इससे सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल में भागवत कितना लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। कुछ

१. 'उड़िया में कृष्ण भक्ति-साहित्य' शीर्षक गोलोक विहारी का लेख, 'भारतीय साहित्य' प्रथम अंक, पृ० ६४ (हिन्दी विद्यापीठ, आगरा)

मुख्य कवियों के नाम इस प्रकार हैं—'श्रीकृष्णमंगल,' के कवि नंदरामदास, 'श्रीकृष्ण विजय' के कर्ता 'श्रीकृष्णोदास,' गोपालविजय' के रचयिता कवि वल्लभ तथा 'भागवत' के प्रणेता नंदराम घोप।[१]

असम प्रदेश में १५वीं शती में सर्वप्रथम शंकरदेव ने 'महाधर्म' की स्थापना करके वैष्णव धर्म का प्रचार किया। 'भक्तिरत्नाकर' की रचना करके इन्होंने कृष्ण की लीलाओं से असम वासियों को परिचित कराया। यह ग्रन्थ संस्कृत मे लिखा गया था, जिसका असमिया अनुवाद श्रीराम चरण ठाकुर ने प्रस्तुत किया। 'भागवत' की पूरी-पूरी छाप 'महाधर्म' पर दिखाई पड़ती है। शंकरदेव ने भागवत के ही सिद्धांतों को अपने शब्दों में दुहराया था। नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण को महत्त्व दिया गया है। यद्यपि कृष्ण आराध्य देव हैं पर युग की बहती हवा से यह धर्म बहुत अधिक प्रभावित नहीं हुआ है और यहां राधा को यह महत्त्व नहीं दिया गया है, जो तत्कालीन अन्य वैष्णव संप्रदायों में दिया गया है। यह संभवतः क्षेत्रीय लोक-रुचि के कारण ही है। शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने 'बद्धगीतों की रचना में अपने गुरु की सहायता की। उनके गीतों में बालकृष्ण की लीलाओं का अत्यन्त मनोहारी वर्णन है। वैकुण्ठ भट्टदेव (१५५८-१६३८ई०) ने असमिया गद्य में भागवत का अनुवाद किया है। वैकुण्ठ भट्टदेव को 'कविरत्न' और 'भागवत भट्टाचार्य' की उपाधि भी मिली थी।[२] असमिया में भागवत का अनुवाद करने वालों में अनन्त कन्दली, केशवशरण, गोपालशरण, कल्पचन्द्र, विष्णु भरत, रत्नाकर मिश्र, श्री चन्द्रदेव तथा अनिरुद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय भाषाओं में मध्ययुग में (१५ वीं, १६ वीं और १७ वीं शताब्दियों में) विपुल मात्रा में भागवतानुसारी भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ है। कह सकते हैं कि भारतीय भाषाओं के मध्ययुएीन वैष्णव भक्ति-साहित्य का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत श्रीमद्‌भागवत ही रहा है।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को भागवत को विशिष्ट योगदान

श्रीमद्‌भागशत के प्रभाव के व्यापक क्षेत्र का परिचय देते हुए समस्त भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य (भागवतानुसारी साहित्य) की चर्चा यहां कर देने का हमारा प्रमुख उद्देश्य यह दिखाना भी है कि मध्ययुग में (१५वीं तथा १६वीं शताब्दियों में) वैष्णव भक्ति-आन्दोलन देश-व्यापी बन गया था। समस्त भारतीय भाषाओं का मध्ययुगीन साहित्य वैष्णव भक्ति-भावना से ओतप्रोत है। यह उस वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव या परिणाम है, जो सबसे पहले तमिल-प्रदेश में आलवार संतों के द्वारा चलाया गया और

---

१. *History of Bengali Language and Literature*, Dinesh Chandra Sen, pp. 203-207

२. *New Light on Asamiya Literature*, Dimbeswar Neog, p. 271

परवर्ती युग में अनुकूल परिस्थितियों के कारण तथा विविध वैष्णव आचार्यों के प्रयत्नों के फलस्वरूप देश के नाना भाएों में प्रसारित हुआ। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाने वाले आकर्षक तत्त्वों ने ही प्रमुख रूप से इस आन्दोलन को देशव्यापी बनाया था। इस प्रकार वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को देश-व्यापी बनाने में श्रीमद्भागवत एक प्रमुख उपकरण अथवा माध्यम रहा है।[२] भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य में जो भावात्मक एकता दर्शित है, वह आश्चर्यजनक है। मध्ययुगीन समस्त भारतीय वैष्णव भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने के कारण, साहित्य में उपलब्ध भावात्मक एकता का प्रमुख माध्यम श्रीमद्भागवत ही रहा है। इस तथ्य के आधार पर भी वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में श्रीमद्भागवत का योगदान निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

२. *'Srimad Bhagavata'*—*"The Scripture of cult of devotion."* Chandrashekhara Iyer, *'Prabhudha Bharata'*, Vol. LX, p. 503

सप्तम अध्याय

हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि

किसी भी महान् आन्दोलन को जन्म देने में तत्कालीन परिस्थितियों का बड़ा हाथ रहता है। युग की आवश्यकता की पूर्ति ही आन्दोलन को व्यापक रूप देने में सहायक हो जाती है। ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में हिन्दी-प्रदेश में जो व्यापक भक्ति-आन्दोलन चला, उसके पीछे कई शताब्दियों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के स्वाभाविक परिणाम का इतिहास है। आलोच्य भक्ति-आन्दोलन को सम्यक् रूप से समझने के लिए हिन्दी-प्रदेश की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का भली-भांति परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

राजनीतिक परिस्थितियां

उत्तर भारत के अंतिम शक्तिशाली सम्राट् हर्षवर्द्धन के अन्त के साथ ही हिन्दू साम्राज्यवाद का पतन आरंभ हो जाता है और सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक का उत्तरी भारत अनेक राजनीतिक इकाइयों में विभक्त होकर शक्तिहीन बन जाता है। फलतः मध्यकालीन हिन्दी भक्ति-साहित्य का रचना-क्षेत्र उत्तर भारत कालान्तर में पराधीनता की शृंखला में आबद्ध होकर सर्वथा नवीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अनुभव करने लगता है।

जिस युग में भक्ति-आन्दोलन का उत्तर भारत में सूत्रपात होता है, उसे इतिहास में तुर्क-अफगान काल के नाम से अभिहित किया जाता है। यह युग बारहवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलता है और १६वीं शती के प्रथम चरण में इसका अन्त हो जाता है। तुर्क-अफगान जातियों का शासन होने के कारण ही इसे यह नाम दिया गया है। तत्पश्चात् भारत पर मंगोल या मुगलों का शासन स्थापित होता है। इन दो विदेशी जातियों के शासन-काल में ही उत्तर भारत में या हिन्दी-प्रदेश में भक्ति की निर्झरिणी प्रवाहित होती है। प्रारंभ होता है तुगलकों के पराभव और सैय्यद तथा लोदी वंशों के उदय में और विकास-सोपानों का क्रम चलता रहता है अंतिम महान् मुगल सम्राटों तक। अतः पहले तुगलक, सैय्यद तथा लोदी सुल्तानों की उन अवस्थाओं का परिचय प्राप्त करना है, जिनसे उत्तर भारत या हिन्दी-प्रदेश का जन-जीवन प्रभावित हुआ था और भारतीय मनीषियों को कुछ विशेष

ढंग से सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

राजनीतिक अशान्ति का तांता वर्षों से चला आ रहा था। इस राजनीतिक अशान्ति के कारण थे देशीय राज्यों से संघर्ष, मंगोलों के आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह। ये तीनों ही अवस्थाएं उत्तर भारत के शासन के लिए कई शताब्दियों तक समस्या के रूप में चली आ रही थीं, जिनसे लोक-जीवन को भी निरन्तर आघात पर आघात सहने पड़ते थे। देशी राज्यों के संघर्ष में भी हिन्दुओं का वध और विदेशी आक्रमणों में भी हिन्दुओं का कत्ल-ए-आम सामान्य बात थी। विदेशी शासकों की राजनीति धर्म का अविभाज्य अंग बनी रही और धर्मान्धता के नशे में मुसलमान आक्रमणकारियों ने हिन्दू जनता को बुरी तरह सताया था। इन मुसलमान शासकों में कुछ तो उदार धार्मिक दृष्टिकोण अपनाना चाहते थे और अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय भी देना चाहते थे, परन्तु ये शासक अधिकतर कट्टर धार्मिक उलेमाओं के पंजे में थे, जिनके इशारे पर उनको इस्लाम के प्रचार के लिए बहुत कुछ करना पड़ता था। ये शासक उन कट्टर मुल्लाओं को सन्तुष्ट कर अपने को इस्लाम के रक्षक सिद्ध करने के मोह में धर्म-युद्ध करना चाहते थे। यही कारण है कि यहां धर्म-परिवर्तन कराने के लिए सभी प्रकार के तरीके अपनाने को वे तैयार हो गए थे।

मुहम्मदबीन तुगलक (सन् १३२५-५१) की राजनीति धर्मनिरपेक्षिता की रही और इस प्रकार उसने लौकिक शासन स्थापित करने की चेष्टा की। उसने उलेमाओं को इस बात का प्रोत्साहन नहीं दिया कि वे उसके राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करें, परन्तु इस सुसंस्कृत उदार सम्राट् ने दोआब पर जहां की अधिकांण जनता हिन्दू थी, भीषण अकाल के समय में भी आय का कुछ भी ध्यान न रखते हुए उत्पीडक अब्वाव (दण्डकर) लगाए जिन्होंने रैयत की कमर तोड़ दी और उसको अत्यन्त असहाय बना दिया। ताम्र-सिक्कों के प्रचलन, राजधानी-परिवर्तन और फारस-विजय की कामना ने जनता की सुख-शांति एवं सुव्यवस्था छीन ली, फलस्वरूप सर्वत्र दुःख-दैन्य, दुर्भिक्ष-क्लांति ही दिखाई पड़ने लगी। फिर फीरोज़ तुगलक (सन् १३५१-८८) का शासन हुआ। राजपूतानी के रक्त से पालित यह सम्राट् संकीर्ण हृदय एवं कट्टर धर्मान्ध था। वह शासन-तन्त्र में कुरआन के नियमों का अक्षरशः पालन करता था। मुल्ला-मौलवी उसे हमेशा घेरे रहते थे तथा गैर सुन्नी मुसलमानों एवं हिन्दुओं पर अत्याचार करने के लिए उसे उकसाया करते थे। उन्हीं की सलाह से उसने ब्राह्मणों पर भी जज़िया लगा दिया। फीरोज़ ने स्वयं को विशुद्ध मुसलमान सिद्ध करने के लिए शासन-सूत्र उलेमाओं को सौंप दिया। वह छोटी-छोटी बातों में भी उनके निर्देश पर चलता था। इस नीति का कुपरिणाम यह हुआ कि शासन का संचालन संकीर्णता, पक्षपात और सांप्रदायिकता के आधार पर होने लगा।[1] फीरोज़ की धर्मान्धजनित अन्याय की पराकाष्ठा तो वहां देखने को मिलती है, जबकि उसने राजप्रासाद के सामने एक ब्राह्मण को जीवित जलवा दिया था, केवल इसी अपराध पर कि उसने अपने धर्म

१. 'पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास', डा० अवधबिहारी पांडेय, पृ० २६१

को इस्लाम के समान श्रेष्ठ बतलाया था और उसके जीवन और विचारों से प्रभावित होकर कुछ मुसलमान स्त्रियां हिन्दू हो गई थीं। इसके अतिरिक्त सुलतान ने ज्वालामुखी और जगन्नाथ के मन्दिरों की मूर्तियां उखड़वाई, नये मन्दिर गिरवा दिए तथा हिन्दुओं के धार्मिक मेलों पर रोक लगा दी। यह सम्राट् आचरण-भ्रष्ट, असंयमी और अत्यन्त कामुक प्रकृति का था। कुर-आन के प्रति अनन्य भक्ति-भाव भी इसे अपनी वासनाओं की तृप्ति से विलग न कर सका। इसके शासन-काल में हिन्दू लोग राज्य की ओर से इतने निस्सहाय एवं मूक पशुवत् जीवन बिताने के लिए बाध्य कर दिए जाते थे कि उनकी केवल सांसें चलती रहें। इस प्रकार हिन्दू जनता आदरास्पद राष्ट्रजन के समस्त अधिकारों से सर्वथा वंचित थी। उसका निराशामय जीवन, विपत्ति की एक लम्बी गाथामात्र रह गया था। अन्धकार की उस प्रगाढ़ता में प्रकाश की क्षीण से क्षीण रेखा भी दिखलाई नहीं पड़ती थी।[१]

देश और हिन्दू जनता के ऐसे दुर्भाग्यकाल सन् १३९८ में दिल्ली की नींव हिला देने वाला तैमूरलंग का आक्रमण हुआ। भारत पर आक्रमण करने के पूर्व तैमूर ने उपस्थित सरदारों को संबोधित करके जो कुछ कहा था, उससे उसका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है—"भारत पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य यह है कि हम लोग विधर्मियों के विरुद्ध सेना ले जाकर हज़रत मोहम्मद के सिद्धान्त के अनुसार उनको सद्धर्म में दीक्षित करें और देश को कुफ्र तथा बहुदेववाद के कलुष से मुक्त कर सकें और उनके देवालयों तथा मूर्तियों का विध्वंस करके खुदा के समक्ष गाज़ी और मुजाहिब के रूप में प्रकट हो सकें।"[२] तैमूर के इस अमानुषिक संहारक आक्रमण से दिल्ली अर्थात् केन्द्र की राजनीति अस्त-व्यस्त हो उठी। राजधानी ध्वस्त, कोष-रिक्त एवं सुलतान तथा वजीर पलायन कर गए। ऐसे निकम्मे शासकों के प्रति प्रजा की आस्था कैसे जम सकती थी?

सिकन्दर लोदी (सन् १४८९-१५१७ ई०) ने शासन तंत्र में नवीन जीवन एवं उत्साह लाने का प्रयत्न किया। दयालु सम्राट् प्रति वर्ष गरीब एवं असहाय व्यक्तियों की सूचियां बनवाता था और उनको उनकी आवश्यकताओं के अनुसार छः महीने की जीवन-यापन की सामग्री दे देता था। लेकिन धार्मिक मामले में उसकी उदारता भी कुंठित हो गई। बादशाह उलमाओं के संकेत पर राजनीति की डोर को खींचता रहा। हिन्दुओं पर बलात् इस्लाम धर्म लादा जाने लगा। अनेक मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें बनवाई गई। उसके समय में धार्मिक पक्षपात सीमा को पार कर गया था। तारीख-ए-दाऊदी में लिखा है कि उसने मूर्तियों को कसाइयों को दे दिया जिन्होंने उन्हें मांस तोलने के बाट बना लिए।

यह विचारणीय है कि तुगलक-वंश से लेकर लोदी-वंश के शासन की सीमा दो-सौ वर्षों की है और इन दो सौ वर्षों का उपयोग सोलह शासकों ने शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के स्थान पर धर्मान्ध प्रचार एवं आक्रमणों—जो अनावश्यक राज्य-विस्तार की भोग-विलास-लिप्सा से किए जाते थे—में नष्ट किया।

१. 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' (प्रथम संस्करण), डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० २७४
२. 'पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास', डा० अवधबिहारी पांडेय, पृ० २७४

जनता में घोर असन्तोष एवं हीन-भावना की जो ग्रन्थि पड़ गई थी, वह दो सौ वर्षों के बाद भी सुलझ न सकी। इस प्रकार तुर्क-अफगान सुलतानों की धार्मिक असहिष्णुता ने अनेक बार अपना नग्न रूप प्रदर्शित किया था और इस धार्मिक असहिष्णुता से जो अशांति उत्पन्न होती थी, उसमें अत्यधिक तीव्रता ला देता था। राजवंशों का शीघ्र परिवर्तन, जो उस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी। प्रत्येक राजवंश में आन्तरिक विद्रोहों एवं घातक षड्यन्त्रों का तांता लगा रहा। इस राजनीतिक उथल-पुथल और अशान्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रजा पर पड़ता था। इसमें भी हिन्दू प्रजा अत्यधिक प्रभावित होती थी, क्योंकि हर अशांति या विद्रोह अर्थाभाव का कारण बनकर आता था और साधारण मुसलमान सैनिक से लेकर सुलतान तक हिन्दुओं को 'कारूं का खज़ाना' समझकर उन्हें चूसना अपना परम कर्तव्य समझता था। जज़िया की ज़ंजीर हर बार कसती थी और यहां तक कि ब्राह्मणों को भी, जो कभी इस कर से मुक्त थे आगे चलकर 'जज़िया' देने के लिए बाध्य किया गया। अब तक असंख्य मंदिर मस्जिदों में परिवर्तित हो चुके थे, वेदियां 'जा-ए-नमाज़' बन चुकी थीं, पूजन-अर्चन की ध्वनियां घर की चहार-दीवारी में बंद हो चुकी थी। सारांश यह है कि राजनीतिक सत्ता हाथ से जाते ही हिन्दुओं को धार्मिक पराधीनता का भी आभास होने लगा था। अनेक तथा कथित निम्नवर्गीय हिन्दुओं ने दरिद्रता के भार या प्राण के मोह में इसी युग में मुसलमान धर्म स्वीकार किया था। इस तत्त्व ने भी अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया।[1]

सामाजिक परिस्थितियां

मुस्लिम विजेताओं की धर्म प्रचारक नीति को देखकर हिन्दू समाज में आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति बड़ी तीव्रता के साथ जाग पड़ी। धर्मवीर पुरोहितों ने जाति-बन्धन के शिकंजे को इतना कसा कि हिन्दू धर्म का लचीलापन जाता रहा, कच्छ-प्रवृत्ति की तरह वह बाह्य-प्रसरणशीलता खोकर अपने आप में संकुचित होती चली गई। ऐसा होना अस्वाभाविक न था, क्योंकि भारतीय समाज को पहली बार ही वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रतिद्वन्द्वी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। आचार-भ्रष्ट असहाय व्यक्ति जो समाज से च्युत होकर नित्य एक नई जाति की रचना करते थे, किन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्था की रचना-प्रक्रिया में आंच नहीं आने देते थे। हिन्दू-समाज की जाति-बन्धनगत यह अपरिवर्तनशीलता मुस्लिम धर्म के प्रचार और प्रसार के विरुद्ध ढाल बन गई। कर्मणा पर आधारित वर्णाश्रम-व्यवस्था जन्मना में बदल गई, जिसके फलस्वरूप जातियों में उपजातियों का जन्म हुआ। एक जाति परस्पर पूरक न बनकर प्रतिस्पर्धी बन बैठी। खान-पान, शादी-व्याह एवं अन्य सामाजिक कार्यों में एक भयंकर आत्म-विग्रह व्याप्त हो गया। स्थिति इतनी शोचनीय हो गई कि निम्न समझी जानेवाली जातियों में ही लगभग १२०० उपजातियां बन चुकी थीं, जिनका हिन्दू समाज में कोई स्थान

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानु सिंह 'नाहर', पृ० २५५-५६

नहीं था। समाज में ऊंच-नीच की खाई और भी गहरी हो गई थी।

शूद्र जो नीचतम वर्ण में थे, सभ्य समाज के सब अधिकारों से वंचित रह गए। वेद और धर्म-शास्त्रों का अधिकार उन्हें न था। उनमें से अंत्यजों के लिए तो देव-दर्शन के लिए मन्दिर-प्रवेश भी निषिद्ध था। उनका स्पर्श तक अपवित्र समझा जाता था। शताब्दियों तक इस दशा में रहने के कारण शूद्रों के लिए यह सामान्य और स्वाभाविक-सी बात हो गई। इसका अनौचित्य उन्हें एकाएक खटकता नहीं था। कर्म-फल या कलि-सिद्धान्त के अन्धविश्वास के कारण जन्म से नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कट विद्रोह का भाव अभी आया नहीं था। परन्तु मुसलमानों के संसर्ग ने उन्हें जागरित कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति की वास्तविकता का परिज्ञान होने लगा। मुसलमान मुसलमान में कोई भेद-भाव न था। उनमें न कोई नीच था, न ऊंच। मुसलमान होने पर छोटे से छोटा व्यक्ति अपने आपको सामाजिक दृष्टि में किसी भी दूसरे मुसलमान के बराबर समझ सकता था। अहले-इस्लाम होने के कारण वे सब बराबर थे। पर हिन्दू धर्म में यह संभव नहीं था। इस प्रकार के घृणाव्यंजक विभेदों को हिन्दू समाज में रहने देना उचित है? प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के आगे सारी परिस्थिति इस महान् प्रश्न के रूप में उठ खड़ी हुई। शूद्रों के लिए तो यहां तक एकमात्र समस्या थी, जिसकी ओर उच्च वर्ण के लोग गहरे प्रहारों के द्वारा रह-रहकर उनका ध्यान आकृष्ट किया करते थे।[१]

इस युग में उच्च वर्ग का जीवन सर्वसाधारण के जीवन से सर्वथा भिन्न स्वच्छन्द भोग-विलास का जीवन था। शासक वर्ग जिस विलासिता का प्रदर्शन कर रहा था, सामन्त या सरदार वर्ग उसका अनुकरण कर रहा था। इससे सम्पूर्ण उत्तर भारत में उच्च मुसलमान समाज में अनैतिकता और अनाचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुके थे। सुरा, सुन्दरियों में लीन सुलतान और सरदार देश को हर दृष्टि से खोखला बनाते जा रहे थे। दो-एक सुलतान ही इसके अपवाद रूप थे। मुसलमान शासकों का अनुकरण करने में हिन्दू राजा भी अपनी शान समझते थे। मालवा के राजपूत मन्त्री के अतःपुर में दो हज़ार स्त्रियां थीं। उनमें कुछ मुसलमान स्त्रियां भी थीं। सुन्दरी स्त्रियों की दासी के रूप में अच्छी कीमत भी वसूल होती थी।[२] स्त्री का समाज में कोई विशेष आदर न था। यही उस युग की सामाजिक स्थिति थी।

धार्मिक परिस्थितियां

आलोच्य काल में धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म का बहुत ही विकृत रूप परिलक्षित होता है। बौद्ध धर्म के तांत्रिक रूप धारण करने से ही उसमें अनेक 'बोधिसत्त्वों' का समावेश हो गया था। जागतिक प्रपंच के पीछे छिपी जो शक्ति है, उसको 'बोधिचित्त' के रूप में पुकारा गया। बौद्ध धर्म की महायान-शाखा में

१. 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ७०-७१

२. 'लाइफ एण्ड दी कण्डीशन आव द पीपुल आव द हिन्दुस्तान', मुहम्मद अशरफ, पृ० ४३२

शून्यता और करुणा के सम्मिलित रूप को 'बोधिचित्त' की संज्ञा दी गई है। वज्र-यानियों ने महायान की शून्यता और करुणा को क्रमशः 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का नाम दे दिया था और इन दोनों के मिलन को 'युगनद्ध' की दशा बताकर उसे ही प्रत्येक साधक का चरम लक्ष्य ठहराया। "निष्क्रिय ज्ञान मात्र प्रज्ञा के स्वरूप को स्त्री मानकर सक्रिय तत्त्व उपाय को पुरुष माना गया और इन दोनों का अंतिम मिलन, शक्ति एवं शिव के मिलन के समान परमावश्यक समझा गया।"[1] "लौकिक रति को केवल प्रतीक रूप में वर्णित नहीं किया गया, अपितु साधना में भी उसे व्यावहारिक रूप से सम्मिलित कर उसकी दार्शनिक महत्ता को भी स्वीकार किया गया।"[2] बताया गया कि यह लौकिक रति अंतिम लक्ष्य नहीं है, अंतिम लक्ष्य तो आन्तरिक एकता प्राप्त करना है। यह बाह्य रति उस आध्यात्मिक रति की सहा-यिका है। स्त्री और पुरुष तत्त्व दोनों के पारस्परिक मिलन की अन्तिम धारा को 'समरस' या 'महासुख' के नाम से पुकारा जाता है। 'समरस' प्राप्त करना वज्र-यानियों का अन्तिम लक्ष्य है। वज्रयानी साधकों ने प्रज्ञा तथा उपाय को केवल स्त्री-पुरुष के रूप में ही नहीं माना अपितु उसे शक्ति और शिव के प्रतीक रूप में भी स्वीकार किया। वज्रयानियों की व्याख्या के अनुसार बोधिचित्त व्यक्ति पुरुष और छब्बीसवें लोक का शून्य स्त्री का प्रतीक है। अतएव बोधिचित्त को ही शून्य से मिलने में वही आनन्द होता है जो आनन्द नर-नारी के समागम में है। यह उदाहरण शायद इसलिए दिया गया था कि लोग निर्वाण के आनन्द की कल्पना आसानी से कर सकें। परन्तु नर-नारी समागम की इस उपमा ने धर्म के बिगड़ने का मार्ग और भी प्रशस्त कर दिया। वज्रयान में 'महासुखवाद' के अन्तर्गत ब्रह्मा-नन्द रति-सुख का समकक्ष बन गया और देवताओं की, उनकी शक्तियों सहित, नग्न मूर्तियों को धार्मिक क्षेत्र में मान्यता मिली। ये मूर्तियां सम्भोग की अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं तथा 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' की स्थापना हुई। वज्र-यानियों एवं कापालिकों की धर्म-साधना का स्त्री-संग तथा मद्य-सेवन एक आव-श्यक अंग बन गया, यहां तक कि कुलीन स्त्रियों की सत्व-रक्षा एक समस्या-सी बन गई।[3]

तंत्र-मंत्र और भैरवी चक्र में ब्राह्मणों ने भी बौद्धों से होड़ लगा रखी थी। भूत-प्रेत, जादू-टोना और देवी-देवताओं की बहुरंगी उपासना का जितना आविष्कार इस युग में हुआ था, उतना न तो इसके पूर्व किसी युग में हुआ था और न आनेवाली शताब्दियों में ही, इस दृष्टि से इतना उर्वर सिद्ध हुई। ब्राह्मणों की चक्रपूजा पर आश्चर्य करने का अवसर सभी सुधी को हो सकता है, क्योंकि बेचारे बौद्ध भिक्षुओं को तो दस शीलों की मुहरबन्दी ने छिपकर यौन-स्वातंत्र्य की उपलब्धि की प्रेरणा दी थी, पर ब्राह्मणों के सामने तो ऐसी कोई समस्या ही न थी—रास्ता खुला था, बहु विवाह का भी, दासी-पालन का भी—मांसाहार की भी छूट थी,

१. 'आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स', डा० एस० दासगुप्ता, पृ० ३०-३१
२. 'युगनद्ध', डा० हर्बर्ट, पृ० २८
३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०

वर्जित थी केवल वारुणी ।[1]

विचाराधीन काल में प्राचीन वैष्णव धर्म की भी बुरी अवस्था थी । ब्राह्मण धर्म के ठेकेदार बने रहे । अनेकानेक पौराणिक तथा स्थानीय महत्त्व के देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी जिसमें बहुधा वलियां दी जाती थीं। 'काली को खस्सी भवानी को भैंसा' की जो किवदन्ती आज भी भारत के अनेक क्षेत्रों में प्रचलित है, वह उन दिनों अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी । शक्ति संप्रदाय वालों का अलग प्रभाव था और उस पर टोना-टोटकावाले सोखा-ओझा का प्राधान्य रहा । इस प्रकार धर्म के नाम पर घोर अधर्म हो रहा था । दाक्षिणात्य श्री संप्रदाय के आचार्य श्री वेदान्त देशिक ने उत्तर भारत की (हिन्दी-प्रदेश की) १३वीं-१४वीं शताब्दियों की आंखों देखी जिस पतित धार्मिक अवस्था का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है, उससे उस समय की धार्मिक स्थिति का ठीक-ठीक परिचय मिलता है । उत्तर के प्रमुख धार्मिक केन्द्रों—द्वारका, मथुरा, प्रयाग, काशी आदि स्थानों में जहां कहीं भी वे गए, उन्हें घृणा उत्पन्न कर वाले धार्मिक दृश्य ही नज़र आए । साधकों का बाह्याडंबर, मठाधिपतियों का पाखण्डपूर्ण व्यवहार जनता का नैतिक पतन, ब्राह्मण-पुरोहितों का क्रूर धार्मिक व्यवहार आदि देखकर श्री देशिक के मन में बड़ी चोट लगी थी और उन्हें दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के समान, उत्तर की धार्मिक स्थिति को ठीक करने के लिए एक व्यापक भक्ति-आन्दोलन की आवश्यकता महसूस हुई थी ।

भक्ति-आन्दोलन की नींव

ऊपर हमने हिन्दी-प्रदेश की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की जो झांकी प्रस्तुत की है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुसलमान शासकों की कट्टर धार्मिक नीति, इस्लाम के प्रचार में उनके द्वारा किए गए अत्याचार, हिन्दू जनता की उदासी, समाज में वर्ण-व्यवस्था की कठोरता, उच्च वर्ग का भोग-विलासपूर्ण जीवन, शूद्रों की दयनीय स्थिति धार्मिक क्षेत्र में पतित अवस्था आदि सभी बातों ने मिलकर एक व्यापक सुधारवादी आन्दोलन की नींव डाली । ऐसे समाज सुधारवादी आन्दोलन की आवश्यकता रह गई, जिसमें ऊंच-नीच के भेद-भाव रहित सबको समान रूप से समाज में आदर मिल सके और धर्म के क्षेत्र में भक्ति का सरल रूप प्रदान कर आत्म-शांति प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध हो सके । इस सन्दर्भ में ध्यान रखने की बात यह है कि जब उत्तर भारत में धर्म की यह पतित अवस्था थी, तब दक्षिण में आलवारों से प्रसारित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन उत्तरोत्तर बल प्राप्त कर १३वीं-१४वीं शताब्दियों में एक बड़ा ही व्यापक जन-आन्दोलन बन चुका था । आलवारों के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में उत्तर भारत की धार्मिक अवस्था में दृष्टिगोचर होने वाले सभी रोगों के लिए उचित औषधियां उपलब्ध थीं । जिन परिस्थितियों ने तमिल-प्रदेश में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को (आलवारों के द्वारा) जन्म दिया,

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० २७३

लगभग वे ही परिस्थितियां १३वीं-१४वीं शताब्दियों में हिन्दी-प्रदेश में वर्तमान थीं। हां, उत्तर की परिस्थितियों में एक बात और थी और वह थी मुसलमान विदेशी शासकों की धर्मान्धता और इस्लाम के प्रचार के हेतु उनके द्वारा अपनाई गई क्रूर धार्मिक नीति। अन्य सभी बातें लगभग वही थीं, जो तमिल-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने के लिए कारणभूत थीं। ठीक ही यह इतिहास का दुहराना हुआ।

हिन्दी के कुछ विद्वानों ने विदेशी मुसलमान शासकों के द्वारा किए गए धार्मिक अत्याचार के फलस्वरूप हिन्दू जनता में भक्ति-भाव या धार्मिक भाव के जाग्रत् होने की बात लिखी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देव-मन्दिर गिराए जाते थे, देव-मूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलमान साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इतनी भारी राजनीतिक उलट-फेर के कारण हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[1] इस प्रकार शुक्ल जी ने हिन्दी भक्ति-काव्य की सर्जना के लिए मूल कारण उत्तरी और पश्चिमी भारत में मुसलमानी राज्य की प्रतिष्ठापना को माना है तथा तत्कालीन धार्मिक अवस्था को उसमें सहायक। लेकिन वस्तुस्थिति इससे ठीक विपरीत प्रतीत होती है। यह स्मरण रखने की बात है कि उत्तर में मुसलमानों के शासनकाल में भी हिन्दू धर्म का कुछ न कुछ रूप विद्यमान था। हिन्दू राजाओं की युद्ध तथा शृंगारप्रियता अवश्य ही वीरगाथा-काल के साहित्य की मूल प्रेरणा रही है, पर उसमें भक्ति तथा धार्मिक साहित्य का अभाव इस बात को सूचित करता है कि उस समय धर्म के विषय में हिन्दू राजाओं का न तो कोई विशिष्ट दृष्टिकोण था और न ही विशेष रुचि। संभवतः धर्म एक रूढ़िमात्र बना हुआ था, जिसका पालन आत्मिक आवश्यकता न होकर दिनचर्या का एक साधारण अंग बन गया था। ऐसा नहीं होता तो वीर-काव्य के साथ धार्मिक काव्य की भी प्रचुर मात्रा में सर्जना हुई होती। यह मान लेने पर कि वीरगाथा-काल के लगभग सभी कवि राजकवि थे तथा इस दृष्टि से उनके काव्य में राजाओं से सम्बन्धित शृंगार, युद्ध, राज्य-प्रशंसा आदि तत्त्वों का उदार समावेश आवश्यक था, इन कवियों का अपना निजी व्यक्तित्व भी था और इस नाते उनकी वाणी में तत्कालीन सामाजिक दशा की अभिव्यक्ति एक मानवीय आवश्यकता थी। इस आवश्यकता-पूर्ति का अभाव क्या यह सूचित नहीं करता कि उस समय लोक में धर्म के विषय में कोई जागृति विद्यमान नहीं थी, इसकी पुष्टि इस बात से हो

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६०

जाती है कि हिन्दी भक्ति-काव्य-धारा के पूर्व जो अपभ्रंश का धार्मिक काव्य उपलब्ध होता है, वह मुख्यतः जैन, सिद्ध और नाथ साधुओं द्वारा रचा गया है।[१] उसका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धांतों का प्रचार करना था। इन रचनाओं की सर्जना तथा राज-कवियों की धार्मिक काव्य-रचना के प्रति उदासीनता स्पष्ट रूप से इस बात को सूचित करती है कि उत्तर भारत में प्राचीन वैदिक परंपरा लोक में निष्प्राण-सी होने लगी थी तथा धार्मिक चैतन्य नगण्य। उत्तर भारत की इस धार्मिक पार्श्वभूमि के कारण ही ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण से उमड़ी हुई भक्ति-धारा उत्तरी भारत को व्याप्त कर सकी।[२]

हमारे विचार में उत्तर भारत की सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों ने उत्तर में भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने में अपेक्षाकृत अधिक योग दिया और मुसलमानी राज्य की स्थापना और इस्लाम का प्रचार केवल गौण रूप से ही उत्तरदायी रहे। उत्तर भारत में एक समाजसुधारवादी आन्दोलन के रूप में जब भक्ति-आन्दोलन शुरू हुआ, तब दक्षिण से आने वाला वैष्णव भक्ति-आन्दोलन इस्लाम के मुकाबले में हिन्दू धर्म को अधिक आकर्षक तथा सरलता से ग्राह्य तत्त्वों को प्रदान करने में समर्थ रहा और सूफी संतों के समन्वयात्मक सामाजिक व्यवहार में अनुकूल वातावरण को प्राप्त कर एकदम व्यापक जन-आन्दोलन बन गया। इस प्रकार उत्तर भारत (हिन्दी-प्रदेश) में भक्ति-आन्दोलन के दो-तीन सोपान हैं, जिनका विस्तृत परिचय आगे दिया जाएगा।

यह बात भी विचारणीय है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों में उत्तर भारत का सम्बन्ध (सांस्कृतिक और धार्मिक) दक्षिण भारत से नहीं रहा हो, ऐसी बात नहीं है, दक्षिण के अनेक आचार्य उत्तर भारत में पर्यटन करने के लिए आते थे और अपने भक्ति-सिद्धांतों का प्रचार करते थे। विशेषकर श्री संप्रदाय के अनेक आचार्य उत्तर के प्रमुख धार्मिक केन्द्रों में वैष्णव भक्ति के आकर्षक तत्त्वों का प्रचार करते थे और यहां तक विवरण मिलता है कि उन्होंने श्री संप्रदाय की शाखाएं भी उत्तर में अनेक स्थानों में स्थापित की थीं। परन्तु उत्तर का धार्मिक वातावरण इतना पतित था कि उन आचार्यों का कुछ भी प्रभाव उत्तर के जन-साधारण पर पड़ नहीं सका। श्री संप्रदाय के आचार्य दक्षिण से आते थे और उत्तर में अपने कुछ शिष्य बनाकर फिर दक्षिण चले जाते थे। अतः स्थायी रूप से उत्तर में रहकर सिद्धांत-प्रचार नहीं कर सके। इन आचार्यों ने केवल संस्कृत के माध्यम से ही अपने भक्ति-सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और उनका प्रभाव केवल पंडित वर्ग तक ही सीमित रहा और जनसाधारण तक पहुंच नहीं सका। जब दक्षिण में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन पराकाष्ठा पर पहुंचा था, तब वह दक्षिण में ही सीमित रह गया हो, और उत्तर भारत को स्पर्श नहीं कर गया हो, ऐसी बात हो ही नहीं सकती थी। उत्तर की पतित धार्मिक अवस्था को सुधारने के लिए

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११

२. 'मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन', डा० र० श० केलकर, पृ० ११९-१२०

१२वीं-१३वीं शताब्दियों में दक्षिण का भक्ति-आन्दोलन समर्थ था,[१] परन्तु सशक्त और उचित माध्यम के अभाव में यह संभव नहीं हो सका और उत्तर पर दक्षिण के भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव विशेष पड़ नहीं सका।

चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह सशक्त और सफल माध्यम स्वामी रामानन्द के रूप में पहली बार मिला। स्वामी रामानन्द ने जब जन-भाषा के माध्यम से दक्षिण की वैष्णव भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया, तब अनुकूल वातावरण पाकर एकदम वैष्णव भक्ति-आन्दोलन जन-आन्दोलन के व्यापक रूप में परिणत हो गया। मध्ययुग के धार्मिक क्षेत्र में युग प्रवर्तक रामानन्द का आगमन डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में इस प्रकार था—"युग-युग जमा हुए घने अन्धकार की आकाश को छूती हुई दृढ़ प्राचीरें आत्मा को बन्दी बनाए रहती हैं। कड़ी लौह शृंखलाएं व्यक्ति को अंधविश्वासों से बांधे रहती हैं। अन्याय की कारा में व्यक्ति का स्वातंत्र्य यंत्रणा की असह्यता से कराहता रहता है। अवसाद भरा जगत परित्राण की आशा को सर्वदा के लिए त्याग देता है। जान पड़ता है कि हंसती-खेलती सरलता का दिन कभी लौटेगा नहीं। सहसा एक दिव्य विभूति धरा पर उतर आती है और आन की आन में दुर्भेद्य प्राचीरें खड़खड़ ढह पड़ती हैं, लौह शृंखलाएं झनझन टूट पड़ती हैं, व्यक्ति की यंत्रणाएं फू उड़ जाती हैं और स्वातंत्र्य का सूर्य उसे तपाए सोने की आभा से मढ़ देता है। मध्य युग के धार्मिक इतिहास में रामानन्द ऐसी ही विभूति थे।"[२]

किसी भी आन्दोलन की लोकप्रियता उसके नेतृत्व पर निर्भर रहती है। उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण की नस-नस से परिचित रहने वाले स्वामी रामानन्द ने अपने आकर्षक व्यक्तित्व और उदार भक्ति-सिद्धांतों के आधार पर इस भक्ति-आन्दोलन को नेतृत्व दिया। स्वामी जी ने सामाजिक रूढ़ियों के प्रति क्रियात्मक विरोध करके सामान्य जीवन-क्रम को अपने ढंग से सुधारने की चेष्टा की। निस्सन्देह रामानन्द जी मध्यकालीन हिन्दी-प्रदेश की प्रगतिशील विचारधारा के एकमात्र कर्मठ नेता और सबल प्रेरणा-स्रोत थे।[३] उदारता के तो वे साकार स्वरूप थे। 'जाति-पांत पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।' का महामंत्र ही रामानन्द का आदर्श था। जिन शूद्रों के लिए आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग समाज में सिर उठाकर रहने का अधिकार सदा के लिए बंद कर दिया गया था, उनके लिए उन्होंने भगवान् की दया का द्वार खोल दिया। अज्ञान के अन्धकार में से ज्ञान के प्रकाश में जाने का मार्ग खोल दिया, अपने को भी मनुष्य समझने का अधिकार प्रदान कर दिया। उन्होंने भगवान् के समक्ष किसी को ऊंच-नीच नहीं

१. आलवार-काल में और आचार्य-युग में दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक रूप का परिचय प्राप्त करने के बाद तो विद्वानों को यह सन्देह नहीं रहना चाहिए कि उत्तर में भक्ति-आन्दोलन को रूप देने में राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा, दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में आकर्षक तत्त्व अधिक थे।

२. 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएं', भूमिका, पृ० १

३. 'मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना', डा० केशनीप्रसाद चौरसिया, पृ० ३३

ठहराया। भक्ति के लिए उन्होंने ऊंच-नीच सबको एक बराबर समझा।[1] भक्ति के सन्देश को सर्वसाधारण तक पहुंचाने के लिए उन्होंने जन-भाषा का प्रयोग किया। जन-भाषा में भक्ति का प्रचार शुरू हुआ कि भक्ति-आन्दोलन व्यापक जन-आन्दोलन हो गया। तमिल-प्रदेश (दक्षिण) के आलवार-प्रेरित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के जितने भी आकर्षक तत्त्व थे, सारे के सारे तत्त्व रामानन्द के द्वारा चलाए गए भक्ति-आन्दोलन में विद्यमान थे। उनके द्वारा प्रसारित भक्ति-सिद्धांतों में और आचार-पक्ष में वे ही तत्त्व हैं जो दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रेरक तत्त्व थे। आलवारोत्तर काल में निरन्तर शक्ति का संगठन कर उत्तरोत्तर विकास प्राप्त कर १४वीं शताब्दी में दक्षिण में पराकाष्ठा पर पहुंचने वाला वैष्णव भक्ति-आन्दोलन १५वीं शताब्दी में हिन्दी-प्रदेश में प्रचारित हुआ। इस प्रकार दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को उत्तर में और व्यापक रूप देने का श्रेय स्वामी रामानन्द को ही है। दक्षिण और उत्तर के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के बीच सेतु का काम रामानन्द जी ने किया। इस प्रकार रामानन्द दक्षिण और उत्तर के भक्ति-आन्दोलनों के बीच की कड़ी हैं।

हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन से श्री संप्रदाय का सम्बन्ध

रामानन्द की विचारधारा और आलवार भक्तों की विचारधारा में उपलब्ध अद्भुत एकता द्रष्टव्य है। आलवारों की विचारधारा श्री रामानुज के श्री संप्रदाय से होती हुई श्री रामानन्द तक पहुंचती है और फिर रामानन्द के व्यक्तित्व के प्रभाव से उत्तर भारत या हिन्दी-प्रदेश के व्यापक क्षेत्र में प्रसारित होती है। चाहे रामानन्द के द्वारा संस्थापित संप्रदाय में भक्ति का स्वरूप कुछ भी हो, रामानन्द ने जिस वैष्णव भक्ति के उदार और सरल रूप का प्रचार किया था, वह पूर्णत: आलवार-प्रतिपादित ही है, इसमें किंचित भी सन्देह नहीं। भक्ति की वेगवती धारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई और जिसने समस्त उत्तर भारत को भक्ति-रस से आप्लावित कर दिया, उसके मूल में आलवार गायकों की सहृदयता और मार्मिक तल्लीनता का मधुर पुट था।[1] 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द' वाली उक्ति की सत्यता में किंचित् भी सन्देह नहीं है। कुछ विद्वान् 'लाए रामानन्द' में ध्वनित रामानन्द के दाक्षिणात्य होने की बात पर सन्देह करते हैं। रामानन्द का जन्म चाहे दक्षिण में हुआ हो या उत्तर में, यह मुख्य प्रश्न नहीं है, परन्तु उन्होंने उत्तर में जिस वैष्णव भक्ति का प्रचार किया था, वह पूर्णत: दक्षिण की आलवार भक्ति थी। इसी तथ्य के आधार पर 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द' वाली उक्ति पूर्णत: सत्य ही ठहरती है।

स्वामी रामानन्द के द्वारा उत्तर में प्रचारित वैष्णव भक्ति के स्वरूप का परिचय प्राप्त करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी भक्ति-पद्धति और वैष्णव भक्त-कवि आलवारों की भक्ति-पद्धति एक ही है। हमने पहले यह कह रखा था कि हिन्दी-प्रदेश में जो वैष्णव भक्ति-आन्दोलन प्रसारित हुआ, उसके तीन सोपान

१. 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएं', पृ० ३०

हैं। स्मरण रहे कि प्रथम सोपान के प्रारंभिक नेता स्वामी रामानन्द ही थे। स्वामी रामानन्द की भक्ति-पद्धति में तत्कालीन परिस्थितियों की मांग के अनुसार भक्ति-तत्त्वों का विवेचन हुआ। हमें प्रसंगवश यहां स्वामी रामानन्द के समय तथा उनकी रचनाओं का परिचय देकर स्वामी रामानन्द के विषय में उत्पन्न कुछ मतभेदों का रहस्योद्‌घाटन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

रामानन्द के आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है।[1] सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार रामानन्द की जन्म-तिथि सन् ई० १२९९ है, परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार उनका जन्म-काल १५वीं शती के उत्तरार्द्ध में पड़ता है। सामान्यतया श्री रामानन्द के जीवन-काल को १४वीं शती के उत्तरार्द्ध से १५वीं शती के पूर्वार्द्ध (ईस्वी) में मानने से सभी मतभेदों का हल हो जाता है। श्री रामानन्द के जन्म-स्थान के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द' वाली उक्ति के आधार पर कुछ विद्वान् उनको दाक्षिणात्य मानते हैं,[2] और कुछ विद्वान् साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार उनका जन्म-स्थान प्रयाग मानते हैं।[3] इस विषय में एकमात्र सांप्रदायिक मत को ही प्रमाण मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सांप्रदायिक दृष्टिकोण संप्रदाय को एक स्वतन्त्र संप्रदाय मानने की ओर है, जिसके कारण वह रामानन्द को दाक्षिणात्य होने के मत से सहमत नहीं होता है। ठोस ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में इसका निर्णय करना कठिन है कि रामानन्द दाक्षिणात्य थे या नहीं। परन्तु सभी विद्वान् श्री रामानन्द का सम्बन्ध दक्षिण के श्री संप्रदाय से मानते हैं। रामानन्द संप्रदाय वाले भी रामानन्द को श्री संप्रदाय की गुरु परंपरा का उल्लेख इस प्रकार किया है[4]—रामचन्द्र, सीताजी, विष्वक्सेन, शठकोप स्वामी, श्रीनाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र, यामुनाचार्य, महापूर्णाचार्य, श्री रामानुज, कूरेश, माधवाचार्य, बोपदेव आचार्य, देवाधिप, पुरुषोतम, गंगाधर, रामेश्वर, द्वारानन्द, देवानन्द, श्रीयानन्द, हरियानन्द, राघवानन्द, रामानन्द।

नाभादास कृत 'भक्तमाल' में जो छप्पय[5] रामानन्द के सम्बन्ध में मिलता है,

---

१. विभिन्न विद्वानों ने स्वामी जी का जीवन-काल विक्रम की १४वीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ करके विक्रम की १६वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक माना है। द्रष्टव्य है—'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव', डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, पृ० ६९-७१

२. मैकालिफ के अनुसार रामानन्द गौड़ ब्राह्मण थे, और उनका जन्म मैसूर राज्य में मेलकोटा नामक स्थान में हुआ था। द्रष्टव्य—'दि सिख रिलीजन', पृ० १००-१

३. 'अगस्त्य संहिता' के अनुसार रामानन्द का जन्म प्रयाग में हुआ था। 'भविष्य पुराण' रामानन्द स्वामी का जन्म काशी में मानता है।

४. 'रामार्चन-पद्धति', श्लोक ३-५

५. श्री रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसर्‍यो।
'देवाचारज' द्वितीय महामहिमा 'हरियानन्दे'।
तस्य 'राघवानन्द' भए भक्तन को मानंद।
पत्रावलम्ब पृथिवी करी बसि काशी स्थाई।

उसके अनुसार रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्द रामानुजाचार्य की भक्ति-परम्परा में आते हैं। जो विद्वान् रामानन्द को दाक्षिणात्य नहीं मानते हैं, वे यह तो मानते हैं कि स्वामी रामानन्द की रामोपासना का सम्बन्ध दक्षिण की रामोपासना से है, परन्तु लाने वाले स्वामी रामानन्द नहीं, उनके गुरु स्वामी राघवानन्द थे। इसके प्रमाण में 'योग-प्रवाह' के विद्वान् लेखक ने 'हरिभक्त सिन्धु बेला' (जिसके रचयिता अनन्त स्वामी बताए जाते हैं) से एक श्लोक इस प्रकार उद्धृत किया है—

वन्दे श्रीराघवाचार्यरामानुजकुलोद्भवम् ।
याम्यादुत्तरमागत्य राममन्त्र प्रचारकम् ॥[1]

जिसके अनुसार यह निश्चित जान पड़ता है कि श्री रामानुजाचार्य के वंशज स्वामी राघवानन्द ने ही दक्षिण भारत से उत्तर भारत की यात्रा की और उत्तर भारत में रामोपासना के प्रचार का श्रेय उन्हीं को मिलना चाहिए।[2]

रामानन्द के गुरु स्वामी राघवानन्द निश्चित रूप से श्री संप्रदाय के ही आचार्य थे जो दक्षिण से आकर काशी में स्थायी रूप से रह गए। अगर रामानन्द को दाक्षिणात्य न मानकर उनके गुरु राघवानन्द को दाक्षिणात्य और श्री संप्रदाय के आचार्य मानते हैं, तो भी दक्षिण के श्री संप्रदाय से ही उत्तर के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का सम्बन्ध सिद्ध होता है। हमारा इतना ही तात्पर्य है। राघवानन्द से रामानुज के भक्ति-सिद्धांतों का परिचय पाकर रामानन्द ने उन्हें विशाल जन-मानस में प्रसारित करके वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन बना दिया। इस प्रकार उत्तर भारत के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में स्वामी राघवानन्द और रामानन्द के योगदान का महत्त्व स्पष्ट होता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार रामानन्द संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द थे तो विशिष्टाद्वैती स्वामी राघवानन्द के शिष्य ही, किन्तु उनका दृष्टिकोण अपने गुरु की अपेक्षा अधिक उदार था। जाति-पांति का बन्धन भक्ति के क्षेत्र में उनके लिए अमान्य था। रामानुज संप्रदाय में छुआछूत, जाति-पांति आदि का भेद-भाव अधिक किया जाता है। राघवानन्द उस भेद-भाव को कुछ न कुछ अवश्य ही मानते थे। किंवदन्ती है कि रामानन्द के इस अधिक उदार दृष्टिकोण को देखकर राघवानन्द ने उन्हें अपना नया संप्रदाय चलाने की स्वीकृति दे दी। रामानन्द ने अपने वैरागी संप्रदाय में नाई, जाट, क्षत्रिय, जुलाहा, चमार, ब्राह्मण तथा स्त्री आदि सभी का समावेश कर लिया और इस प्रकार मध्ययुग में सबल संप्रदाय की स्थापना की। फिर भी, राघवानन्द स्वामी के विशिष्टाद्वैत का उनपर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा और आज भी उनका संप्रदाय अन्य सभी संप्रदायों के प्रभावों को समेटकर भी विशिष्टाद्वैत दर्शन को छोड़ नहीं पाया। इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण किंवदन्ती का

---

१. 'योग प्रवाह', प्रथम सं०, पृ० २ (फुटनोट)

२. 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएं', सं० डा० पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल, पृ० ४१

भी कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध न हो सका।[1] फिर भी यह द्रष्टव्य है कि श्री संप्रदाय में आलवार मत के अनुसार व्यावहारिक क्षेत्र में जाति-पांति का कोई भेद-भाव नहीं है। स्वयं रामानुजाचार्य इस भेद-भाव के विरुद्ध थे। अतः यह किंवदन्ती कपोल कल्पित है।

रामानंद संप्रदाय के अनुयायी अपने संप्रदाय को भी श्री संप्रदाय से भिन्न एक स्वतन्त्र संप्रदाय मानने के लिए यह तर्क देते हैं कि श्री संप्रदाय में केवल लक्ष्मी-नारायण की उपासना थी जबकि रामानन्द ने रामोपासना को अपनाया था। वास्तव में यह तर्क निराधार है। श्री संप्रदाय में लक्ष्मी-नारायण की उपासना तो प्रमुख रूप से थी, परन्तु यह कहा नहीं जा सकता कि रामोपासना भी प्रचलित नहीं थी। यह ध्यान में रखने की बात है कि दक्षिण के श्री संप्रदाय में व्यावहारिक क्षेत्र में विष्णु के विविध नाम—नारायण, राम, कृष्ण आदि में कोई भेद नहीं माना जाता और भक्त अपनी रुचि के अनुसार उपास्य अवतार को चुन लेते थे। श्री रामानुज के परवर्ती श्री सम्प्रदाय के आचार्य श्री वेदान्त देशिक ने भी (१४वीं शती) राम भक्तिपरक (रघुनाथ गद्य) भक्ति-ग्रन्थ लिखे थे और श्री संप्रदाय में आलवार भक्तों के समय से ही रामोपासना चली आ रही थी। जिस प्रकार रामानन्द संप्रदाय के विद्वान् समझते हैं, उस प्रकार दक्षिण के श्री संप्रदाय में नारायणोपासना और रामोपासना के बीच कोई खास विभाजन-रेखा नहीं है। यह तो केवल रामानन्द संप्रदाय को एक स्वतन्त्र संप्रदाय सिद्ध करने के लिए की गई कल्पनामात्र है। हां! रामानन्द ने उत्तर भारत के वातावरण को देखकर शरणागति या प्रपत्ति (दास्य भाव) से युक्त वैष्णव भक्ति को ही अनुकूल समझ कर उसका प्रचार किया था। दास्य भाव की भक्ति की विशिष्ट व्याख्या के लिए रामोपासना ही अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई। फिर १४वीं शताब्दी के आस-पास श्री संप्रदाय में दो दल होने के उपरान्त तो (लगभग रामानन्द के समय में) तेन्कलै मत में विशेषकर प्रपत्ति ही भक्ति का स्वरूप मानी गई थी और रामोपासना की भी अधिक मान्यता आ चुकी थी। अतः यह मानना कि रामानन्द ने श्री संप्रदाय की नारायणोपासना से पृथक् रामोपासना के लिए अलग संप्रदाय चलाया, निरर्थक प्रतीत होता है।

रामानन्द संप्रदाय में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ (सिद्धान्त-ग्रन्थ) स्वामी रामानन्द के नाम से प्रचारित किए गए हैं। वास्तव में ये सभी ग्रन्थ स्वामी रामानन्द कृत नहीं हैं। रामानन्द संप्रदाय के परवर्ती अनुयायियों ने रामानन्द संप्रदाय के महत्त्व-प्रतिपादन के लिए उसे अलग सांप्रदायिक आधार-भूमि देने के निमित्त इन ग्रन्थों का निर्माण कर रामानन्द के नाम से प्रचारित किए हैं। श्री बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि "अयोध्या जी में रामानन्दी वैष्णवों का एक ऐसा दल है जो नये-नये ग्रन्थों की रचना कर उन्हें स्वामी रामानन्द की मौलिक रचना घोषित करने में तनिक भी नहीं चूकता। इस दल का उद्देश्य है रामानन्दी संप्रदाय को

१. 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव', डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, पृ० ८३

एक स्वतन्त्र वैष्णव संप्रदाय सिद्ध करना तथा रामानन्द जी को उसका प्रवर्तक मूल आचार्य बतलाना, परन्तु यह बात पूर्वोक्त ऐतिहासिक तथ्य से नितान्त विरुद्ध है। रामानन्द जी आचार्य रामानुज की ही पद्धति तथा परंपरा में थे, यह बात उन्हीं की सच्ची रचना 'रामार्चन-चन्द्रिका' से सप्रमाण सिद्ध होती है। अतः रामानन्द संप्रदाय को अलग स्वतन्त्र संप्रदाय मानने के उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त विरचित रचनाओं से हमें सावधान होने की आवश्यकता है।"[1] रामानंद संप्रदाय में रामानन्द कृत माना जाने वाला एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आनन्द भाष्य' है। इस ग्रन्थ को तो अनेक विद्वानों ने अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। एक कारण तो यह है कि वास्तव में रामानन्द भक्त थे, और उन्हें दार्शनिक गूढ़ सिद्धान्तों के निरूपण की ओर विशेष रुचि नहीं थी। ऊपर से यह ग्रन्थ रामानन्द की भक्ति-भावना के मूल उद्देश्य पर ही कुठाराघात करने वाला है। 'आनन्द भाष्य' के अनुसार रामानन्द ने शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं दिया था। केवल इसी तथ्य के आधार पर 'आनन्द भाष्य' अप्रामाणिक माना जा सकता है। रामानन्द जी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि भक्ति किसी जाति या वर्ण विशेष की संपत्ति नहीं है। उसके अधिकारी प्राणीमात्र हैं। भगवान् की उदारता जाति-पांति क्रियाकलापादि के भेद नहीं करती। भक्ति भवानी का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त है।[2] रामानन्द ने स्वयं निम्न जातियों के शिष्यों को ग्रहण कर इस तथ्य का निरूपण भी कर दिया था। अगर रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल नहीं दिया होता तो उनकी उतनी लोकप्रियता नहीं हो सकती थी, जो मध्ययुग में उन्हें प्राप्त हो सकी। खेद है, 'आनन्द भाष्य' में शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार न देकर रामानन्द के उदार दृष्टिकोण की अवहेलना की गई है।

रामानन्द की विचारधारा

स्वामी रामानन्द के द्वारा प्रतिपादित वैष्णव भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालने से यह और भी स्पष्ट होगा कि उनकी भक्ति-पद्धति पूर्णतः आलवार भक्तों या श्री संप्रदाय के तेन्कलै मत की भक्ति के अनुरूप ही है। रामानन्द ने मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में भक्ति को ही सर्वोपरि स्थान दिया है। रामानन्द स्वामी के मत से मुमुक्षुओं का भगवान् की शरण में चले जाना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि वे परम दयालु एवं उदार हैं, उन्हें किसी भी द्वार के क्रियाकलाप की आवश्यकता नहीं है।[3] जीव असहाय है, अतः बिना भगवान् की कृपा के वह संसार-सागर से पार नहीं हो सकता, अनन्त कर्म-प्रवाह के द्वारा इस संसार-महासागर में चिर-काल से डूबते हुए अस्वतन्त्र चेतन जीवन के ऊपर प्रभु की निर्हेतुक कृपा अवश्य

---

१. 'भागवत सम्प्रदाय', श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २५६

२. 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव,' डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, पृ० ३१४-१५

३. 'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर', सं० भगवदाचार्य, पृ० १७३

उत्पन्न होती है।[१]

कृपा सिन्धु, परमकीर्ति संपन्न, अचिन्त्य वैभव वाले भगवान् श्री राम (विष्णु) की अन्य के कष्ट के प्रति असहनशीलता ही दया है। भगवान् का जीवों पर पुत्रवत् स्नेह है। वस्तुतः भगवान् अपने स्वजनों के पातकों पर दृष्टिपात तक नहीं करते और आचार्यों के मत से यही उनका वात्सल्य है।[२] इसलिए मुक्ति की कामना वाले तथा पापों से निवृत्त हो जाने की इच्छा वाले पुरुषों को चाहिए कि वे अपने सभी शुभ कर्मों को भगवदार्पण कर दें तथा नैवेद्य आदि को भगवान् को अर्पित करके ही भोजन करें। इससे वे संसार-भय से मुक्त हो जाएंगे। भगवान् की इस निर्हेतुक कृपा के सभी अधिकारी हैं—ऊंच-नीच, धनी-निर्धन आदि। वहां कुल-बल, काल और दिखावट की कोई आवश्यकता नहीं है।[३]

प्रपत्ति के शास्त्रीय भेदों का यद्यपि रामानन्द ने विवेचन नहीं किया है, तो भी उसकी समस्त विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है। बड़े ही दृढ़ शब्दों में उन्होंने एकमात्र भगवान् की भक्ति के प्रति अपने दृढ़ संकल्प को व्यक्त किया है और कहा है कि "हे भगवान्! मुझे प्रत्येक जन्म में अपने चरणों में अचल अनुराग और अपने जनों का संग देने की कृपा करें।"[४] स्वामी रामानन्द भक्ति को किसी सीमित घेरे में बांधना नहीं चाहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे शास्त्र की मर्यादा को उतनी ही सीमा तक स्वीकार करना चाहते थे, जितना कर लेने से व्यक्ति के पूर्ण विकास को किसी भी प्रकार की बाधा न पहुंचे। प्रपत्ति-मार्ग में सबसे महत्त्वपूर्ण बात रामानन्द जी की दृष्टि में यह है कि ब्राह्मणादि उत्कृष्ट वर्णों को भी भगवत् जनों की सेवा करनी चाहिए और की गई प्रपत्ति का स्मरण करना चाहिए। क्योंकि मुमुक्षुजन उसी को प्रायश्चित कहते हैं।

श्री वैष्णव मत में लक्ष्मी जी को पुरुषकार-रूपा कहा गया है। वे भगवान् द्वारा जीवों को क्षमा करवाती हैं और उनका उनसे दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करवाती हैं। रामानन्द संप्रदाय में सीता जी को ही पुरुषकार-रूपा कहा गया है। स्वयं रामानन्द जी ने लिखा है—"श्री पद से सर्वाधीशेश्वर की प्राप्ति में पुरुषकार रूपा श्री का बोध होता है।"[५] अन्यत्र उन्होंने और भी इसे स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—संसारकर्ता ब्रह्मा जी के ही कारणभूत श्रीराम जी के चरण-कमलों में चित्त लगाने वाले निर्भरतापरायण श्रेष्ठ पुरुषों ने अणुत्व रूप से श्री व्याप्ति कही है, और जिन्हें कोई भी उपाय नहीं है, ऐसे भी विज्ञजन पुरुषकारभूता और अविनाशिनी श्री को ही उपाय कहते हैं। श्री ही पुरुषकारभूता और वही उपाय भी हैं। सीता जी को सन्तुष्ट करने के लिए भक्त को विशेष उपाय की आवश्यकता नहीं है। प्रपन्नजनों द्वारा कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति-मार्ग में से किसी एक

---

१. 'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर', सं० रा० ट० दास, पृ० १०

२. वही, पृ० १६

३. वही, पृ० १७

४. 'श्री रामार्चन पद्धति', सं० पं० रामनारायणदास, पृ० २५

५. 'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर', सं० रा० ट० दास, पृ० ३

का अनुष्ठान किए जाने पर मुक्ति प्राप्त होती है। फिर भी उपासकों के लिए भगवत्प्रपत्ति परमोपाय है।[1] इस प्रपत्ति के फलदाता भगवान् श्रीराम हैं।

श्री संप्रदाय में भगवान् के अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार आदि पांच रूप माने जाते हैं। रामानन्द जी ने अर्चावतार की बड़ी ही प्रशंसा की है। वे कहते हैं—"अर्चावतार देशकाल प्रकर्ष से हीन, सहिष्णु, अप्राकृत दिव्यदेह-युक्त एवं अपने समस्त कृत्यों में अर्चक के अधीन होता है। वह स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष आदि चार प्रकार का होता है। षोडशोपचार से भगवद्विग्रह की पूजा की जानी चाहिए। यही जीवों का एकमात्र उपाय है।"

भगवत्कृपा-प्राप्ति के प्रमुख साधनों का रामानन्द जी ने उल्लेख किया है। रामानन्द जी के अनुसार वैष्णवों को धनुर्धारी भगवान् की सुन्दर यश वाली कथा का नित्य श्रवण होना चाहिए। यह कथा भक्त को तब तक सुननी चाहिए जब तक शरीर की स्थिति है, क्योंकि इससे संसार की बाधाएं मिटती हैं। उन्होंने भगवान् के यश-कीर्तन पर पर्याप्त बल दिया है। उनका कथन है कि ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण कर, तुलसी की माला पहन कर भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के कल्याणप्रद दिव्य जन्म, दिव्य कर्म और नाम का उच्चारण करता रहे। रामानन्द ने स्पष्ट ही कहा है कि वैष्णवों को भगवान् के दिव्य जन्म, दिव्य कर्म और नामों का उच्चारण करना चाहिए। फिर भी उनका कथन है कि भक्त चाहे कहीं भी निवास करे, पर गुरु के दिए गए मंत्र का अवश्य जप करे। इससे वह ममकार-शून्य हो जाएगा।[2] स्वामी के अनुसार सभी मोक्षाभिलाषियों को रामषडक्षर मंत्र (श्री रामाय नमः) का जाप करना चाहिए।

रामानन्द ने आलवार भक्तों की तरह भगवत्कैंकर्य पर बहुत अधिक बल दिया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि भगवद् भक्त को सदैव ही कैंकर्यपरायण होना चाहिए। मुमुक्षु जीव को भगवत्कैंकर्य के अतिरिक्त अन्य किसी देव का भी कैंकर्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि भगवान् ही जीव के स्वामी हैं, एकमात्र वही शेषी हैं। उनका कैंकर्य ही एकमात्र मुख्य फल है। इसलिए भगवद्भक्तों को चाहिए कि वे ईर्ष्या-द्वैषादि से पृथक् रहकर सावधान चित्त होकर अंगों सहित, पार्षदों सहित लक्ष्मण और सीता जी के सहित वेद-वैद्य भगवान् श्रीराम जी का कैंकर्य करके कालक्षेप करें। साथ ही भक्त को आत्म-दोष का भी अनुसंधान करते रहना चाहिए।[3] भगवत्कैंकर्य का वर्णन करते हुए स्वामी जी ने भक्त को निरभिमानी होने का आदेश दिया है। गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए उन्होंने मुमुक्षु वैष्णवों को आदेश दिया है कि वे भगवान् को जानने के लिए समस्त संशयों को छेदन करने वाले, सर्वदा सदाचार-निरत, श्रेष्ठ गुरु का आश्रय करें।[4] सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए रामानन्द ने बताया

---

१. 'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर', सं० रा० ट० दास, पृ० ७

२. वही, सं० भगवदाचार्य, पृ० १६४

३. वही, सं० र० ट० दास, पृ० ७ तथा २६

४. वही, सं० भगवदाचार्य, पृ० २०८

है कि समस्त तीर्थमय देह धारण करने वाले महाभागवतों के पूजन से, उनके चरणामृत का पान करने से, उनका संग करने से, उन्हें भोजन कराकर पश्चात् भोजन करने से करोड़ों जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं।[1] अहिंसा पर रामानन्द ने पर्याप्त बल दिया है और उसे भक्ति के एक आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री रामानन्द की विचारधारा आलवार-अनुसारणी श्री संप्रदाय की विचारधारा ही है। रामानन्द श्री संप्रदाय के अनुयायी थे, इसमें सन्देह नहीं। इस तथ्य के निरूपण के लिए और भी अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं। विस्तारभय से यहां हमारे अपने विचारों की पुष्टि करने वाले अध्यात्म तत्त्ववेत्ता ब्रह्मर्षि योगिराज देवरहाबाबा के विचारों को उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं। बाबाजी का कहना है—"रामानन्द संप्रदाय को अलग संप्रदाय मानने की परंपरा बहुत पुरानी नहीं है। स्वामी रामानन्द अथवा उनके गुरु स्वामी राघवानन्द के ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह भेद कपोल कल्पित है। राघवानन्द जी और रामानन्द ने विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन और प्रचार किया। उनकी राम-भक्ति भी संप्रदाय-सम्मत है। लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम कह देने से तो संप्रदाय के सिद्धांत नहीं बदलते, जबकि सीताराम की उपासना ही संप्रदाय विहित है। इस भेद-भाव की प्रवृत्ति को हम क्या कहें।—यह भेद-भाव युग की प्रवृत्ति है। एक ही संप्रदाय के अन्तर्गत अनेक संप्रदाय हो जाते हैं।—राम-भक्ति तो बड़ी प्राचीन है।—शठकोप, नम्मालवार की 'सहस्र गीति' में बड़े भाव-विभोर होकर रामभक्ति की गई है और यहां तक कह दिया है, "दशरथ सुतं तं बिना अनन्य शरणवान्नास्मि।"—द्राविड़ प्रदेश राम-भक्ति की पावन स्थली है। श्री संप्रदाय के प्राचीन आचार्य राम-भक्ति में आस्था रखते थे। 'बृहद् ब्रह्मसंहिता' श्री वैष्णव सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, उसमें सीताराम और लक्ष्मीनारायण की अभिन्नता दिखाई गई है। 'राम रहस्यत्रयार्थ' तथा 'प्रपन्नामृत' में श्री वैष्णवों की राम विषयक आस्था का विस्तार से विवेचन हुआ है।—इसमें कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि स्वामी रामानन्द जी महात्मा राघवानन्द के साक्षात् शिष्य थे और राघवानन्द जी ने दक्षिण से आकर उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार किया था। स्वामी रामानन्द जी रामानुजाचार्य की चौदहवीं पीढ़ी में थे। रामानन्दी संप्रदाय के भी प्रायः सभी प्रमुख चरितों में रामानन्द को श्री संप्रदाय की परंपरा में ही माना गया है।"[2]

श्री रामानन्द जी की संस्कृत में दो प्रमुख रचनाएं हैं जो प्रामाणिक हैं—"रामार्चन पद्धति, और श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर।" इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन करने से पता चलेगा कि श्री संप्रदाय के विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तों का ही इनमें प्रतिपादन है। 'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर' के १९२ श्लोकों में विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गई है। भक्ति के अनेक उपाय बताए गए

---

१. 'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर', सं० भगवदाचार्य, पृ० १८५

२. 'सर्वात्म दर्शन' (देवरहा तत्त्वचिंतन), डा० हरबंश लाल शर्मा, पृ० ५६-५७

हैं। गुरु के महत्त्व पर ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार अर्चिरादि मार्गों का भी उल्लेख किया गया है। स्वामी जी की हिन्दी रचनाओं में हनुमान जी को विशेष महत्त्व दिया गया है। यह बात रामानन्द संप्रदाय के तिलक-संस्कार से और भी स्पष्ट हो जाती है। रामानन्द के तिलक-विधान में सिंहासन सहित ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा मध्य में श्री की बिल्व पत्राकार पतली रेखा का विधान है। इसमें एक बात बड़ी विचित्र है कि श्री संप्रदाय के तेन्कलै दल (तमिल-प्रबन्धम् को मूलभूत आधार ग्रन्थ मानकर सम्पूर्ण शरणागति या प्रपत्ति को ही प्रधानता देने वाले) के तिलक में भी ये तीनों अंग ही हैं। (परन्तु वडकलै तिलक में नहीं हैं) इससे एक और बात स्पष्ट हो जाती है कि रामानन्द १४वीं शती में रामानुज के श्री संप्रदाय में होने वाले दो दलों में आलवार-प्रबन्धम् को आधारभूत ग्रन्थ तथा प्रपत्ति को प्रधान मानकर जाति-पांति के भेद-भाव की पूर्णतः उपेक्षा करने वाले अधिक लोकप्रिय तेन्कलै मत के ही अनुयायी थे। श्री रामानन्द को उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप देने में इसी तथ्य ने (उनके तेन्कलै मत के होने के) ही बड़ा योग दिया था।

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में रामानन्द का योगदान

उत्तर भारत के मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में स्वामी रामानन्द का योगदान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। रामानन्द की लोकप्रियता का रहस्य उनका महान् व्यक्तित्व भी था।[१] उन्होंने युग की परिस्थितियों का पूरे उत्तर भारत में भ्रमण कर विस्तृत अध्ययन किया था और अपने विचारों को परिस्थितियों के अनुरूप ही बनाया था। मुसलमानों की नीति से हिन्दुओं का और भी अधिक अहित होता, यदि उस समय रामानन्द जैसे उदार वैष्णवाचार्य नहीं होते।[२] रामानन्द ने भक्ति-प्रचार के क्षेत्र में जन-भाषा हिन्दी को अपनाकर स्वयं हिन्दी में पद लिखे थे और अपने शिष्यों[३] को भी जन-भाषा को व्यवहार में लाने की प्रेरणा दी थी, जिससे भक्ति-आन्दोलन जन-आन्दोलन वन सका। रामानन्द ने तत्त्ववाद पर अधिक बल नहीं दिया। भक्ति ही उनके लिए सब कुछ थी। समाज-सुधार के

---

१. स्वामी रामानन्द के समसामयिक मौलाना रशीदुद्दीन नामक काशी के एक फकीर ने 'तजकरतुल फकरा' नामक ग्रन्थ में रामानन्द के संबंध में इस प्रकार लिखा है : "इस पुरी (काशी) में पंचगंगा घाट पर एक प्रसिद्ध महात्मा रहते हैं। तेजपुंज और पूर्ण योगेश्वर हैं। वैष्णवों के सर्वमान्य आचार्य हैं। सदाचार और ब्रह्मनिष्ठत्व के स्वरूप ही हैं। परमात्मतत्त्व-रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मविदों के समाज में उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अपितु धर्माधिकार में वे हिन्दुओं के धर्म-कर्म के सम्राट् हैं। उन पवित्र आत्मा को स्वामी रामानन्द कहते हैं। उनके शिष्यों की संख्या पांच सौ से अधिक है।" 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएं', पृ० ३९ से उद्धृत

२. 'रामानन्द संप्रदाय और हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव', डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव, पृ० ९८

३. कबीर ने उन्हीं से प्रेरणा पाकर कहा था—
"संस्कीरत है कूपजल, भाषा बहता नीर"

क्षेत्र में भी रामानन्द का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाएगा। जाति-पांति के सम्बन्ध में अपने उदार दृष्टिकोण के कारण ऊंच-नीच के भेद-भाव को मिटाकर सभी को प्रपत्ति-मार्ग में समान स्थान दिया। कुल-बल, शक्ति, धन आदि की उनके भक्ति मार्ग में अपेक्षा नहीं थी। केवल चाहिए था भगवान् के चरणों में विशुद्ध आत्म-समर्पण। यही कारण था कि मध्ययुग में रामानन्द से प्रेरणा पाकर भक्तों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया जो पद-दलित जातियों को समान रूप से भक्ति का अधिकारी मानता था। रामानन्द ने स्त्रियों के लिए भी भक्ति का द्वार खोल दिया था। अपनी लम्बी आयु में रामानन्द ने पूरे उत्तर भारत के प्रमुख केन्द्रों की अनेक बार यात्राएं की थीं और कहीं-कहीं विधर्मियों को पराजित भी किया था और एक अग्रचेता की भांति धर्म-भ्रष्ट हिन्दुओं को फिर से वैष्णव बना दिया था। उनकी साधना का ही फल था कि मध्ययुग में सम्पूर्ण उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ज़ोर पकड़ सका।

श्री रामानन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने श्री संप्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी तत्कालीन समाज में प्रचलित अन्य साधना-पद्धतियों को भी अपने मूल भक्ति-सिद्धान्त में समेटने का प्रयत्न किया था। रामानन्द पर युग-धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। युग की प्रत्येक धड़कन को पहचानने में स्वामी रामानन्द से अधिक सफलता अब तक के किसी आचार्य को प्राप्त नहीं हुई थी और यही कारण है कि अधिकांश संप्रदायों—यहां तक कि कुछ विरोधी संप्रदायों में भी स्वामी रामानन्द को मान्यता प्रदान की गई थी। उनके व्यक्तित्व की व्यापकता का भी प्रभाव है कि अनेक परवर्ती संप्रदायों ने उन्हें अपने संप्रदाय का आदि गुरु या संस्थापक स्वीकार किया है। तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियां इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि उस समय सगुण-निर्गुण, हिन्दू-मुसलमान, वैष्णव-अवैष्णव (कठोर वर्णाश्रमी तथा सहिष्णु आचारवादी, कभी कभी स्वच्छन्द आचारवादी) की ऐसी समस्या उपस्थित हो चुकी थी, जिसका समाधान यदि किसी के पास था तो केवल रामानन्द के पास ही।[1] रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में ('सिद्धान्त पटल', 'रामरक्षा-स्तोत्र' 'ज्ञान तिलक' तथा 'योग चिन्तामणि' में) श्री संप्रदाय के भक्ति-तत्त्वों के अतिरिक्त योग-साधना आदि का जो समावेश परिलक्षित होता है, उसका कारण यही है कि रामानन्द अपने संप्रदाय में विभिन्न विरोधी मतों को भी समेट लेना चाहते थे। इस समन्वय-भावना के कारण ही शैव तथा शाक्तों के तंत्र कौल क्वचादि की व्यवस्था भी रामोपासना में की गई प्रतीत होती है। स्पष्ट है कि रामानन्द ने हर प्रकार से समन्वयात्मक मार्ग का अनुसरण करते हुए भक्ति-आन्दोलन को जिस नई दिशा की अपेक्षा थी, उसका सृजन करके अथक परिश्रम और लगन के साथ वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में एक नई स्फूर्ति का संचार करा दिया था। सौभाग्यवश रामानन्द को शिष्य भी ऐसे मिले जो अपने आचार्य के उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतः सफल हुए।

---

१. 'भक्ति आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानु सिंह नाहर, पृ० १९७

मध्ययुग में भक्ति-आन्दोलन को व्यापक क्षेत्र में प्रसारित करने में रामानन्द संप्रदाय, रामानन्द के शिष्यों और उनके शिष्यों के द्वारा चलाए गए विभिन्न संप्रदायों का बड़ा हाथ रहा है। अतः भक्ति-आन्दोलन के व्यापक रूप को समझने के लिए इन संप्रदायों का संक्षिप्त परिचय भी आवश्यक प्रतीत होता है।

रामानन्द संप्रदाय या वैरागी संप्रदाय की स्थापना रामानन्द ने गुरु राघवानन्द की अनुमति पाकर की और उन्होंने साधुओं का एक विशाल दल सुसंगठित किया जिसे उन्होंने 'वैरागी' नाम से संबोधित किया। एच० एच० विल्सन के अनुसार इन साधुओं को रामानन्द ने 'अवधूत' के नाम से भी अभिहित किया। तभी से रामानन्द संप्रदाय का नाम 'वैरागी संप्रदाय' या 'अवधूत मार्ग' हो गया।[1] किन्तु सत्य यह है कि रामानन्द संप्रदाय की 'तपसी शाखा' के साधु ही अपने को 'अवधूत मार्गी' कहते हैं, शेष 'वैरागी' ही।[2] इन वैरागी साधुओं का संगठन बहुत ही सुदृढ़ एवं पक्का था। अयोध्या, चित्रकूट एवं मिथिला इनके प्रमुख केन्द्र थे। यह संप्रदाय समय के अनुकूल सदैव बदलता रहा है। रामानन्द संप्रदाय का सबसे अधिक प्रामाणिक इतिवृत्त उपस्थित करने वाला ग्रन्थ नाभादास कृत 'भक्तमाल' है। 'भक्तमाल' में रामानन्द के शिष्यों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं :

१. अनन्त
२. सुखानन्द
३. सुरसुरानन्द
४. नरहर्यानन्द
५. भावानन्द
६. पीपा
७. कबीर
८. सेन
९. घना
१०. रैदास
११. पद्मावती
१२. सुरसरी

स्वामी रामानन्द द्वारा भक्ति में दीक्षित शिष्य अपनी विचार-निष्ठा में पूर्णतः स्वतन्त्र थे। यही कारण है कि रामानन्द के शिष्यों के नाम से भी अलग-अलग पंथ स्थापित हुए। इस सन्दर्भ में उनके प्रमुख शिष्य अनन्तानन्द, कबीर, घना, पीपा और रैदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 'भक्तमाल' जैसे ग्रन्थों में मिलने वाले इन भक्तों की अलौकिक कथाओं को सत्य रूप में न स्वीकार करते हुए भी हम इतना तो मान सकते हैं कि स्वामी रामानन्द के शिष्यों ने अपने गुरु की योग-साधना-समावेश की नीति को आगे अवश्य बढ़ाया था और रामानंद की वैरागी-परंपरा की शाखा में योग-साधना के फलस्वरूप ही 'तपसी शाखा' का उदय हुआ

१. 'रिलीजस सेक्ट्स आव् हिन्दूज', एच० एच० विल्सन, पृ० ५६
२. 'रामानंद संप्रदाय और हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव', पृ० १६६

था। गल्ता गद्दी के महन्तों ने तो संप्रदाय में और भी न जाने कितने नये तत्त्व ला दिए जिनमें रसिकता का स्थान भी सर्वोच्च था।

रामानन्द के प्रमुख शिष्यों में कबीर का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो एक स्वतन्त्र मत के प्रतिष्ठापक हुए। रामानन्द द्वारा कबीर को चेताना प्रसिद्ध ही है—'काशी में प्रकट भये हैं रामानन्द चेताये।' कबीर की भक्ति-पद्धति पर अनेक साधनाओं का प्रभाव पड़ा है। वैष्णव भक्ति का जो प्रभाव पड़ा है, वह स्वामी रामानन्द के संपर्क में आने के कारण ही है। उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन में कबीर और कबीर-पंथ का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अनन्तानन्द को नाभादास ने रामानन्द स्वामी का सर्वप्रमुख शिष्य कहा है। इनका प्रताप इतना प्रखर था कि इनके चरणों का स्पर्श कर योगानन्द, कर्मचन्द, अल्ह, पयहारी, सारी, रामदास तथा नरहरिदास आदि भक्त लोकपालों के सदृश्य हो गए थे।[1] इन्हीं अनन्तानन्द ने 'हरिभक्ति-सिन्धु-बेला' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के टीकाकर श्री जानकी रसिक शरण के अनुसार जिस राम-भक्ति का प्रचार शठकोप-रामानुज आदि ने किया था, वह भक्ति-लता बीच में ही सूख गई थी। रामानन्द ने उसे पल्लवित किया और अनन्तानन्द तो रामानन्द के चरणों में सबसे अधिक अनुरागी थे। अनन्तानन्द को श्रृंगारी भक्त की कोटि में रखा गया है।

रामानन्द के शिष्य माने जाने वाले रैदास, पीपा और सेन नाई के सम्बन्ध में अनेक कथाएं हैं और उनकी रचनाओं का संग्रह भी किया गया है। इन भक्तों की भी अलग-अलग शिष्य परंपराएं हैं। अनन्तानन्द की शिष्य परंपरा का मध्ययुग में सबसे अधिक विस्तार हुआ। कहना चाहिए कि मध्ययुग में रामानन्द संप्रदाय को एक प्रबल संप्रदाय बनाने का श्रेय अनन्तानन्द और उनकी शिष्य परंपरा को है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानन्द के द्वारा संचालित भक्ति-आन्दोलन को व्यापक क्षेत्र में ले जाने में रामानन्द के शिष्य और उनके शिष्यों ने बड़ा सहयोग दिया।

भक्ति-आन्दोलन का दूसरा सोपान

हिन्दी-भक्ति-साहित्य को दृष्टिपथ में रखते हुए उत्तर भारत अथवा हिन्दी-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन के तीन सोपान होने की बात हमने पहले कही थी। रामानन्द ने जिस वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को हिन्दी-प्रदेश में प्रारंभ किया था, वह एक प्रकार से प्रतिकूल राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों से आहत हिन्दुत्व की रक्षा के लिए चला गया एक समाज सुधारवादी आन्दोलन ही था, जिसकी लहर दक्षिण से उपयुक्त समय पर उत्तर में आ पहुंची। यह हिन्दी-प्रदेश के भक्ति-आन्दोलन का प्रथम सोपान था। जिस समय रामानन्द ने जनता-जनार्दन के बीच वैष्णव भक्ति का प्रचार शुरू किया था, उस समय उत्तर में अनेक प्रकार की साधना-पद्धतियां प्रचलित थीं। प्रमुखतया शैव धर्म की ज्ञान और योग-

१. 'भक्तमाल,' रूपकला द्वारा संपादित, पृ० २६८

परक साधना, नाथ संप्रदाय की योग-साधना में अन्तर्मुक्त होकर अपना विकास कर रही थी। यह पहले निर्देश किया जा चुका था कि बौद्ध धर्म कालान्तर में मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान में परिवर्तित होकर किस प्रकार अपने मूल लक्ष्य से हटकर विरूप हो चुका था। वज्रयान का गुह्य गर्हित साधनाओं की प्रतिक्रिया रूप नवीं शताब्दी में नाथ संप्रदाय उठ खड़ा हुआ था। नाथ पंथ दार्शनिकता की दृष्टि से शैव मत के अन्तर्गत आता है और व्यावहारिक दृष्टि से पातंजलि के हठयोग से सम्बन्ध रखता है। सिद्धों की भोगपरक तामसिक साधना की प्रतिक्रिया स्वरूप नाथ संप्रदाय का जन्म हुआ, इसीलिए नाथ मत में सदाचरण, इन्द्रिय-निग्रह एवं योगादि साधना को विशेष महत्त्व दिया जाता है। नाथ मत के सशक्त प्रचारक गोरखनाथ ने ज्ञान और योग में अपनी साधना का रूप निर्धारित कर शंकराचार्य के देश-व्यापी प्रभाव को हस्तगत कर लिया। मध्यकालीन विचारधारा के प्रवर्तकों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाथ संप्रदाय ने १४वीं शताब्दी तक साहित्य और धर्म का शासन किया था। इसमें अनुभूति और हठयोग का प्रधान स्थान है और इन्हीं विशेषताओं ने कबीर के निर्गुण पंथ का बहुत कुछ साधना का रूप निर्धारित किया।[१] इस प्रकार नाथ मत मूलत: शैव मत ही था जिसने बौद्ध तांत्रिकों से प्रभाव ग्रहण कर अद्वैत और योग को अपनाकर अपना पथ निर्दिष्ट किया। जिस प्रकार आचार्य शंकर ने उपनिषद् के ज्ञानवाद को लेकर और बौद्ध-दर्शन के अनेक तत्त्वों को अपनाकर वेदान्त को समन्वयात्मक रूप दिया था, वैसा ही गोरखनाथ ने भी किया। किन्तु समन्वयात्मक प्रवृत्ति को अपनाते हुए भी गोरखनाथ ने वेद की परिपाटी के विरुद्ध विद्रोह किया और ब्राह्मणों के आचार-विचार, धार्मिक क्रियाओं आदि पर आक्षेप किए तथा यौगिक माहात्म्य की प्रतिष्ठा की।

गोरखनाथ ने नाथ संप्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया, वह भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहां एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई, वहां दूसरी ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परंपरागत रूढ़ियों पर कठोर आघात किया गया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने किया।[२] उन्होंने अपनी अपूर्व संगठन-शक्ति से उन दिनों प्रचलित शुद्ध सात्विक जीवन से शून्य भारतीय धर्म साधना को अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण का सन्देश दिया। "गोरखनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी, उसे उन्होंने नई प्राण-शक्ति से अनुप्राणित किया।"[३] गोरखनाथ की शिष्य परंपरा में आगे चलकर गैनीनाथ-

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १०८

२. वही, पृ० ११७

३. 'नाथ संप्रदाय', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८८-८९

निवृत्तिनाथ और 'ज्ञानेश्वरी' के प्रसिद्ध रचनाकार महाराष्ट्रीय भक्त ज्ञानेश्वर हुए। उन्होंने 'ज्ञानेश्वरी' की रचना 'श्रीमद्भागवद्गीता' को आधार मानकर की। किन्तु उसके तत्त्व-निरूपण में नाथ संप्रदाय के सिद्धान्तों को ही प्रमुखता दी। महाराष्ट्र में उस समय उच्चवर्णियों के कारण शूद्र जाति के अनेक लोग विषमता की बलि बन रहे थे और उद्धार के लिए छटपटा रहे थे। अपनी विशिष्ट हीन जाति में जन्म लेने के कारण वे अत्यन्त दुःखी थे और उस दुःख को मिटाने के लिए ईश्वर की आराधना करने लगे। पंढरपुर के विट्ठल इन दीन अन्त्यजों के अनन्य उपास्य बने थे। विट्ठल वस्तुतः बालकृष्ण के ही प्रतीक हैं। वारकरी साधक विट्ठल को निर्गुण ब्रह्म मानते हुए और अद्वैत का समर्थन करते हुए भी भक्ति-भावना को सर्वोत्तम मानते हैं। यह भक्ति वाणी से परे, अनुभवगम्य, अद्वैत या अभेद भक्ति मानी गई है। ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' नामक ग्रन्थ के नवें प्रकरण में लिखा है कि "जिस प्रकार एक ही पहाड़ के भीतर देवता, देवालय एवं भक्त-परिवार का निर्माण खोदकर किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी निःसंदेह एकत्र के रहते हुए भी संभव है।" ऐसी ही स्थिति में देव, देवत्व में घनीभूत हो जाता है, भक्त, भक्तिपन में विलीन हो जाता है और दोनों का अंत हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनन्त होकर प्रकट होता है। जिस प्रकार गंगा समुद्र से भिन्न रूप होने से कभी मिल नहीं सकती, वैसे ही परमात्मा के साथ तादात्म्य हुए बिना भक्ति का होना असंभव है। निर्गुण की इस अद्वैत भक्ति के लिए ये लोग सगुण रूप को भी साधन मानते हैं और उसके साथ तादात्म्य का भाव प्राप्त करने के लिए उसके नाम का निरन्तर स्मरण तथा उसके अलौकिक गुणों का सदा कीर्तन करते हैं।[१] इनके यहां इस प्रकार भक्ति का और ज्ञान का एक सुन्दर सामंजस्य लक्षित होता है जिसे साधना के रूप में स्वीकार कर किसी भी जाति या श्रेणी का मनुष्य कल्याण का भागी बन सकता है।[२] वारकरी संप्रदाय के प्रवर्तक नामदेव ने स्वयं विट्ठल का भजन और भक्ति करनी प्रारंभ कर दी। विट्ठल सामान्य हीन जनता के ईश्वर समझे जाते थे। विट्ठल की भक्ति करने में पुरोहितों के माध्यम की आवश्यकता नहीं। डा० वि० मि० कोलते के अनुसार "पुरोहितों की इस दलाली को वर्ज्य करने के लिए ही महाराष्ट्र संतों ने विट्ठल संप्रदाय या वारकरी संप्रदाय खड़ा किया।" विट्ठल की उपासना में भक्ति-युक्त नाम-स्मरण का विशेष महत्त्व है। बाल कृष्ण स्वरूप विट्ठल के उपासक होते हुए भी ये उसी निष्ठा से राम की भी उपासना करते थे। यही नहीं, इस संप्रदाय में विष्णु और शिव दोनों का ऐक्य भाव माना जाता है। इस संप्रदाय में दक्षिण भारत के शैवों और वैष्णवों के बीच चलने वाले संघर्ष का सर्वथा समाहार कर लिया गया।[३]

---

१. 'मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और साधना', डा० केशनी प्रसाद चौरसिया, पृ० ५०-५१

२. 'उत्तरी भारत की संत परम्परा', पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९०

३. 'मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और साधना', डा० केशनी प्रसाद चौरसिया, पृ० ५२

वारकरी संप्रदाय के भक्तों ने लोक-परलोक को सुधारने का सुगम उपाय नाम-कीर्तन को बताया है। नाम-स्मरण की साधना का विट्ठल संप्रदाय में विशेष महत्त्व है। ज्ञानदेव और नामदेव, दोनों संतों ने भारत के प्रमुख तीर्थ-स्थानों को देखते हुए उत्तर भारत की ओर भी पर्यटन किया था। उस समय उत्तर भारत मुसलमानों के आतंक से त्रस्त था। इन दोनों संतों ने हिन्दुओं के तीर्थ-स्थानों का विध्वंस एवं मूर्तियों का खंडित किया जाना अपनी आंखों से देखा था। नामदेव का कथन है—"पत्थर के देवताओं को मुसलमानों ने तोड़ा-मरोड़ा और पानी में डुबो दिया। फिर भी वे न तो क्रोध करते हैं, न क्रन्दन करते हैं। हे ईश्वर! मैं ऐसे देवताओं का दर्शन नहीं चाहता।" अतः नामदेव के हृदय में इन देवताओं की साकारोपासना के प्रति कोई श्रद्धा शेष नहीं रही। यह लक्ष्य करने की बात है कि विट्ठल संप्रदाय के अन्तर्गत होते हुए भी उन्होंने मूर्ति-पूजा पर बल न देकर नाम-स्मरण की भावना पर ही विशेष ज़ोर दिया। नामदेव और उनके समसामयिक सन्तों के प्रयत्न-स्वरूप महाराष्ट्र में आई दक्षिण की भक्ति में परिस्थिति के अनुकूल कतिपय संशोधन किए गए। नाम-स्मरण की उत्कट प्रेम-भावना की आंच में जाति और वर्गगत समस्त दोष दग्ध हो गए और वैष्णव भक्ति में लीन किसी भी जाति का साधक उस विशिष्ट धरातल पर पहुंचकर सारे बाह्य उपादानों से मुक्त, शुद्ध-बुद्ध 'संत' मात्र रह गया। इस भांति महाराष्ट्र में प्रचलित विट्ठल संप्रदाय ही पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में प्रचलित होनेवाले निर्गुण संप्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया। साथ ही उसमें परिस्थिति जन्य कुछ संशोधन भी किया गया। दक्षिण की भक्ति जब पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानन्द की प्रेरणा पाकर उत्तर भारत में पहुंची, उस समय उसे नवीन ढंग से व्यवस्थित एवं पर्यवसित किया गया।[1] स्वामी रामानन्द के शिष्यों में कबीर इत्यादि इसी निर्गुण संप्रदाय के अन्तर्गत आते हैं, यद्यपि उनकी भक्ति-भावना वैष्णव भक्ति के आदर्शों को लेकर प्रकट होती है।

सूफी सन्तों द्वारा सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि

उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में लक्ष्य करने की एक और महत्त्वपूर्ण बात है। जब मुसलमान शासक कट्टर उलमाओं के पंजे में पड़कर इस्लाम के प्रचार के हेतु धर्मान्धता के नशे में हिन्दू समाज पर अत्याचार कर रहे थे, तब विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ एक दूसरा वर्ग भी भारतवर्ष में आया जो इस्लाम के उदार दृष्टिकोण को लेकर जन-समाज में समन्वय की भावना का प्रचार करने लगा था। हमारा संकेत सूफी मत की ओर है। तुर्क-अफगान शासकों की धार्मिक असहिष्णुता और उनके घोर धार्मिक अत्याचार के तो अनेक प्रमाण मिलते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि बीच-बीच में उन धर्मान्ध शासकों की कट्टर धार्मिक नीति की इस्लामी प्रतिक्रिया भी हुई। १२वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक के इतिहास में ऐसी अनेक घटनाओं का परिचय मिलता है, जब उलमाओं के पंजे में पड़कर मुसलमान शासकों ने इस्लाम के

१. 'मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और भावना', डा० केशनी प्रसाद चौरसिया, पृ० ५३

ही उदार दृष्टिकोण रखने वाले मुसलमान समाज को पर्याप्त कष्ट दिया। भारत में सूफियों और शिया मुसलमानों के साथ अनेक तुर्की सरदारों ने जो अत्याचार किए, वे किसी प्रकार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कभी-कभी तो इसकी बहुत ही भयंकर प्रतिक्रिया हुई थी। रज़िया बेगम (१२३७-३८ ई०) के शासनकाल में इसमाइलिया मुसलमानों ने तो जामा मस्जिद तक पर आक्रमण कर दिया था। जलालुद्दीन फीरोज़ खिलजी के समय में सीदी मौला का विद्रोह भी भयंकर था। इस दरवेश की दैवी शक्ति की बड़ी प्रशंसा इतिहासकारों ने की है। तुर्की अत्याचारों का मुंहतोड़ उत्तर देने वाला शासक हुआ नासिरुद्दीन खुशरो शाह। इसके शासनकाल में दिल्ली की राजनीति में काफी परिवर्तन आ गया था और इब्न-वतूता के अनुसार इस सुलतान की हिन्दुओं पर विशेष कृपा थी। इसलिए उसने मुसलमानों की निन्दा आरम्भ कर दी। वह इस्लाम के विरुद्ध काम करने लगा। गो-हत्या बन्द कर दी गई। इस प्रकार नासिरुद्दीन ने मुल्लाओं का विरोध भी किया। गयासुद्दीन तुगलक के युग में तो सूफी संत निज़ामुद्दीन औलिया की तूती बोल रही थी। गयास ने धार्मिक सहिष्णुता से काम लिया था, फलतः किसी भी विरोधी इस्लामी संप्रदाय को विद्रोह करने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। अनेक राजनीतिक क्रान्तियों में कट्टर मुल्ला-वर्ग तथा उदार मुसलमान-समाज दोनों ने भाग लिया था। राजनीति का आश्रय लेकर कट्टर मुसलमानों की धर्मान्धता में कमी लाने का प्रयत्न शिया, सूफी और खोजा लोग बराबर करते रहे। इनके इन प्रयत्नों से हिन्दू जनता अपरिचित न थी। इस बात के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि रक्त और तलवार के युग में भी सहिष्णु मुसलमान धर्मावलंबी (शिया, सूफी आदि) माशुक-मजाजी के माध्यम से लोगों को माशूक-हकीकी तक पहुंचा रहे थे। मुल्लाओं तथा उलमाओं के संकेतों पर चलने वाले सुलतानों की धार्मिक असहिष्णुता ने हिन्दुओं के साथ-साथ कभी-कभी अन्यान्य धर्मों या संप्रदायों को जो यातनाएं दीं, उनसे स्वयं इस्लाम धर्म में ही लचीलापन आता गया। 'शरा' का फतवा जितना ही कठिन होता गया, ढीलापन उतना ही बढ़ता गया। दिल्ली सुलतानों की धार्मिक नीति ने हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों के मध्यम वर्ग को धर्म के प्रति सहिष्णु होने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया था। सूफियों, शिया मतावलंबियों, महदवियों, मुलाहिदों आदि पर हुए अत्याचारों ने तो संत्रस्त समुदाय को और निकट लाने में सहायता दी। बलात् मुसलमान बनाए गए अथवा आर्थिक विपन्नता के कारण इस्लाम धर्म स्वीकार करनेवाले समुदाय ने भी इस लचीलेपन को प्रोत्साहन दिया। इस तथ्य ने भक्ति-आन्दोलन के प्रचार में बड़ा ही सहयोग दिया और इसने भक्ति-आन्दोलन के प्रारंभिक कालीन संतों को बहुत ही प्रभावित किया। यह प्रभाव समन्वयात्मक प्रवृत्ति की ओर उन्हें अग्रसर करा रहा था।

यहां प्रसंगवश भारत में सूफी मत के प्रचार और भक्ति-आन्दोलन के सन्दर्भ में उसके योगदान की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है। सूफीमत का प्रवेश भारत में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (१२वीं शती) के समय से माना जा सकता

है। इस देश में आने के पूर्व यह मत पश्चिमी देशों में पर्याप्त विकसित हो चुका था। यों तो व्यापार के लिए मुसलमानों का आगमन भारत में ७वीं शताब्दी से आरम्भ हो गया था और तेरहवीं शताब्दी की अवधि तक बहुत से धर्म-प्रचारक यहां आए, किन्तु यह शास्त्रीय मुसलमानों (बा-शरा) की साधना-धारा नहीं थी, बल्कि बे-शरा (अशास्त्रीय) सूफियों की साधना थी। शास्त्रीय मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्म-स्थान पर आघात नहीं कर सकते थे। वे केवल उसके शरीर को नोच-खसोट कर दुःख भर पहुंचा सकते थे, पर इन सूफियों ने भारत के हृदय पर प्रभाव जमाया। कारण यह था कि इनका मत भारतीय साधना-पद्धति का अविरोधी था।[1] सूफियों के ये चार संप्रदाय संगठित रूप में समय-समय पर आकर यहां प्रचार करते गए।

१. चिश्ती संप्रदाय (१२वीं शती के उत्तरार्द्ध में प्रचारित) सर्वप्रथम प्रचारक : मुइनुद्दीन चिश्ती
२. सुहरावर्दी संप्रदाय (१३वीं शती के पूर्वार्द्ध में संगठित) सर्वप्रथम प्रचारक : जियाउद्दीन अबुल नजीब तथा अब्दुल कादिर
३. कादरी संप्रदाय (१५वीं शती के उत्तरार्द्ध में पोषित) सर्वप्रथम प्रचारक : शेख अब्दुल कादर जिलानी
४. नक्शबन्दी संप्रदाय (१६वीं शती के उत्तरार्द्ध में व्यवस्थित) सर्वप्रथम प्रचारक : ख्वाजा बहाउद्दीन 'नक्शबन्द'।

सूफियों के ये चारों संप्रदाय भिन्न-भिन्न प्रचारकों को अपना प्रवर्तक मानते हुए भी अपने मूल सिद्धांतों में समान थे। धार्मिक और सामाजिक पक्ष में ये सभी संप्रदाय अत्यन्त उदार और विनम्र थे। चारों संप्रदायों में 'जिक्र' (नाम-स्मरण की साधना) का महत्त्वपूर्ण स्थान था। केवल आचरण की दृष्टि से किंचित् भेद-भाव था। उदाहरणार्थ चिश्ती संप्रदाय के अनुयायी 'जिक्र' के समय 'कलमा' के शब्दों का उच्चारण ज़ोर से करते हैं, जबकि नक्शबन्दी संप्रदाय के साधक ध्यान-पूर्वक नतमस्तक होकर 'कलमा' का उच्चारण अत्यन्त मद्धिम स्वरों में करते हैं। ये लोग संगीत को बड़ी उपेक्षित दृष्टि से देखते हैं, जबकि चिश्ती और कादरी संप्रदाय वाले धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ते समय गाते-गाते भावावेश में झूमने लगते हैं। इन चारों संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय का प्रचार भारत में विशेष हुआ। सूफियों में इस्लामी कट्टरता की तीव्र गन्ध नहीं थी, अतः ये सरलता के साथ हिन्दू-समाज की बहुत-सी बातों को अपनाकर बड़ी प्रेम-भावना से उन्हें अपनी बातें बता देते थे। बाह्य एवं आन्तरिक आचरण में सूफ (ऊन) की-सी निर्मलता और पवित्रता होने के कारण 'सूफी' कहलाए। ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण जनित प्रेम-साधना, पारस्परिक संवेदनशीलता और विश्व-बन्धुत्व की भावना पर ये विशेष बल देते थे।[2]

---

१. 'सूर साहित्य', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४७
२. 'मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और साधना', डा० केशनी प्रसाद चौरसिया, पृ० ५४-५५

सूफी मत वास्तव में इस्लाम के कट्टर शास्त्रीय दृष्टिकोण की जगह उदार दृष्टिकोण रखनेवाला है। सूफी मत के उद्भव के पीछे यही कारण रहा। शास्त्रीय इस्लाम में ईश्वर को दयालु पिता के समान नहीं चित्रित किया गया था जो अपने अज्ञानी बच्चों के अपराधों पर ध्यान दे, अपितु एक न्यायप्रिय भावुकता रहित शासक के रूप में। उसकी कृपा के पात्र वही हैं, जो उसकी आज्ञा का पालन करते और उस पर ईमान लाते हैं। कुरान के उल्लाह से अभी कोई वैयक्तिक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता और न बराबरी का दावा करने का साहस कर सकता है। इसी अपराध-पूर्ण साहस पर प्रसिद्ध सूफी मंसूर हल्लाज को शूली दे दी गई, क्योंकि उसने अन-अल-हक्क (सोऽहम्) का नारा बुलन्द किया था। कुरान शरीफ का इस्लामी चिंतन एकेश्वरवादी था। इसके विपरीत सूफी मत की साधना, जीव और ईश्वर की तात्त्विक एकता और उसकी सर्वव्यापकता पर विश्वास करती थी। अखिल सृष्टि के कण-कण में ईश्वर के सौंदर्य की झलक देखती थी। नियम-पालन और क्रिया के स्थान पर उसमें आन्तरिक अनुराग, आत्म-समर्पण की उत्कट आकांक्षा एवं परमात्मा-मिलन की तीव्र विरहाकुलता थी। इस्लामी साधना शरीअत (कर्म-मार्ग), तरीकत (भक्ति-मार्ग) और हकीकत (ज्ञान-मार्ग) से सम्बन्धित थी। किन्तु सूफियों में इन साधनाओं के अतिरिक्त अन्य विशेषता थी और वह थी मारिफत अर्थात् ईश्वर से पूर्णत: मिलकर अन-अल-हक्क की स्थिति में पहुंच जाना। उन पर इस्लाम विहित बातों के अतिरिक्त 'मादन-भाव' की भी छाप थी जिसका उदय शामी जातियों के बीच में हुआ और फिर पुरानी भावना तथा धारणा की रक्षा के लिए सारग्राही सूफियों ने अन्य जातियों के दर्शन तथा अध्यात्म से सहायता लेकर धीरे-धीरे एक नवीन मत का सृजन किया।[1] और अन्त में उसे शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे डाला।

अलनूरी के अनुसार सांसारिक वस्तुओं से शत्रुता और परमात्मा से प्रेम करना ही सूफी धर्म है। परम सत्ता के साथ महत्त्व के बोध की भावना का सूफियों में क्रमशः विकास होता गया। उन्होंने परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखा। उसे पाने के लिए उनके हृदय में प्रेम की आकुलता तरंगें मार रही थीं। उनके लिए एकमात्र प्राप्य वस्तु परमात्मा का प्रेम था। जैसे-जैसे यह विह्वलता बढ़ती गई, उसी क्रम से उनका धार्मिक आचार-व्यवहारों और अन्धभाव से किए जाने वाले कार्य-कलापों से पीछा छूटता गया। उनके लिए संपूर्ण धार्मिक कृत्यों का उद्देश्य उस प्रियतम का प्रेम पाना हो गया। प्रेमातिरेक से ये बेसुध हो जाया करते थे। इस प्रकार की आत्म-विस्मृति की अवस्था ध्यान, स्मरण आदि के द्वारा बहुत अभ्यास के बाद ही संभव है। उनके अनुसार ध्यान, स्मरण तथा अन्य क्रियाओं द्वारा अपने अहं को भुलाकर ही परमसत्ता के साथ जो व्यवधान है, उसे दूर किया जा सकता है। पहले जहां इन साधनों का एकान्तिक जीवन, फकीरी, दीनता और विनम्रता था, वहां अब परमात्मा को प्रेम द्वारा पाना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। केवल बाह्याचार का यंत्रवत् पालन सूफियों की दृष्टि

१. 'तसव्वुफ या सूफीमत', श्री चन्द्रबली पांडेय, पृ० ६

में बेकार था। वे अन्तर की शुद्धि तथा हृदय से धर्म के नियमों को समझना और उनका पालन करना ही असली धर्म का पालन करना मानते थे।[१] सूफी साधकों का विश्वास है कि भावाविष्टावस्था (वज़्द) ही एक ऐसा जरिया है जिससे आत्मा, परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है और उससे एकत्व-लाभ कर सकता है। भावाविष्टावस्था में सूफियों ने फ़ना (लय प्राप्त होना), वज़्द (भाव) समां (संगीत), जौक़ (स्वाद), शर्ब (पीना), गैबत (अहं से बेखबर होना), ज़ज्बात तथा हाल आदि शब्दों का प्रयोग किया है। एकमात्र सत्य परमात्मा के ध्यानादि से मन के भीतर एक अलोडन पैदा होता है और धीरे-धीरे वह अपने अहं को खो बैठता है। साधक की चेष्टा की यह अंतिम अवस्था है जिसकी प्राप्ति के बाद उसे अपनी ओर से करने के लिए कुछ रह नहीं जाता।[२] भारतीय दृष्टि से सूफी मत की प्रेम-साधना, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की प्रेममयी भक्ति ही है। वैष्णव भक्ति से सूफियों की केवल कर्मकाण्ड की विहीनता है।

भारतवर्ष में प्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के समय से सूफी मत का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार हुआ। उन्होंने अजमेर को अपना निवास-स्थान बनाया था। ख्वाजा साहब के व्यक्तित्व तथा उनके सिद्धान्तों ने पश्चिमोत्तर भारत के हिन्दू जन-जीवन को बहुत ही प्रभावित किया। इनकी शिष्य-परंपरा में बख्तियार काकी, शेख फरीदुद्दीन शकरगंज, निज़ामुद्दीन औलिया, अलाउद्दीन अली अहमत सबर, शेख सलीम आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। शेख निज़ामुद्दीन औलिया १३वीं और १४वीं शताब्दियों के बड़े प्रसिद्ध और लोकप्रिय सूफी संत थे। इन सूफी संतों ने हिन्दू जनता और हिन्दू-शास्त्रों (वेदान्त, योग इत्यादि) के प्रति अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखा था, जिसके कारण इन सूफियों को अपने अधिकांश जीवन में कट्टर मुसलमान धर्मावलंबियों से संघर्ष करना भी पड़ता था। हिन्दू जनता के बीच इन सूफी संतों की बढ़ती हुई लोकप्रियता से खतरा समझकर कट्टर मुल्ला-वर्ग ने इनको बड़ा कष्ट पहुंचाया। सूफी संतों ने भारतीय योग-दर्शन का अध्ययन किया था और योग-दर्शन का प्रभाव भारतीय सूफी मत पर पड़ता जा रहा था। शेख फरीदुद्दीन शकरगंज ने 'जिक्र' (जप) के आधार पर एक उपासना-प्रणाली हिन्दी में प्रस्तुत की थी।[३] हिन्दू शास्त्रों के आकर्षक श्रेष्ठ तत्त्वों और सूफी सिद्धान्तों में दीख पड़ने वाली समानता ने इन सूफियों और हिन्दू साधुओं को एक दूसरे के निकट लाने का कार्य किया।[४] इस प्रकार के सत्संग से एक प्रकार से सांस्कृतिक समन्वय की भावना जन्म ले रही थी। 'क़लन्तर' कहे जाने वाले सूफी साधक जो अधिकतर भावावेश में आकर बेहोशी की स्थिति में पड़े रहते थे, बहुत अधिक उदार थे

---

१. 'सूफी मत-साधना और साहित्य', श्री रामपूजन तिवारी, पृ० २०१
२. 'सूफीमत : साधना और साहित्य', श्री रामपूजन तिवारी, पृ० २६२
३. *Muslim Revivalist Movements in Northern India*, Dr. S. A. Abbas Rizvi, p. 25
४. ibid. p. 29

और हिन्दू धर्म के बहुत निकट थे। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के और १५वीं शताब्दी के सूफियों में बहुत अधिक लोकप्रिय और बड़ी मात्रा में जन-जीवन को प्रभावित करने वाले सूफी मसूद बक, शेख सर्फुद्दीन तथा सैयद अशरफ जहांगीर सिन्मनी (हिन्दी कवि जायसी के गुरु) थे।

मुगल सम्राटों के शासनकाल में भी सूफियों की लोकप्रियता बढ़ती गई। बाबर और हुमायूं भी धर्म सहिष्णु थे। हुमायूं तो सूफी मत की ओर अधिक झुका हुआ था। वह बलात् धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन नहीं देता था। अकबर (ई० १५५६-१६०५) के शासनकाल में तो पूर्ण रूप से धार्मिक स्वातंत्र्य रहा। 'सबके साथ मित्रता' (पीस विथ आल)—यही अकबर की धार्मिक नीति का सार था। कट्टर मुल्ला-वर्ग का कुछ भी प्रभाव अकबर पर पड़ नहीं सका। सशक्त एवं प्रतिभाशाली सम्राट् अकबर ने, जिसका साम्राज्य बहुत ही विस्तृत था, भारत के अधिकांश भाग की जनता को, धर्म पर से राजसत्ता का रूढ़िगत अधिकार हटाकर, स्वधर्मानुसार आचरण करने की छूट दे दी। यद्यपि 'दीन-इलाही' का मज़ाक अधिकांश इतिहासकारों ने उड़ाया है और इस आधार पर कुछ आलोचकों ने अकबर को ढोंगी तक कहा है, तो भी अबुल फजल के शब्दों पर हम इतना तो विश्वास कर सकते हैं कि राजा कभी-कभी अनेक तत्त्वों के समूह में समन्वयात्मक तत्त्वों का दर्शन करता था और इसी समन्वय तथा आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर वह राष्ट्र का धार्मिक नेतृत्व करता है। बात यह है कि अकबर ने हिन्दुओं को जो छूट दी थी और हिन्दू आचार्यों को जो सम्मान एवं महत्त्व प्रदान करते हुए कट्टर एवं धर्मान्ध मुल्लाओं और उनके पिट्ठुओं की जो उपेक्षा की थी, उससे कुछ इतिहासकार असन्तुष्ट थे, जिन्होंने ही अकबर की कटु आलोचना की। हिन्दू रीति-रिवाजों एवं धार्मिक मान्यताओं को आदर देने वाले और साथ ही हिन्दुओं को उच्च राजपद प्रदान करने वाले अकबर से अनेक मुसलमान सरदार भी असन्तुष्ट थे, पर वे विवश थे। अकबर की शक्ति के समक्ष किसी का साहस न था कि कुछ बोलता। जौनपुर का मुल्ला मोहम्मद याजदी १५८० ई० में सम्राट् के विरुद्ध फतवा निकाल कर भी उसका कुछ न बिगाड़ सका। हां, कुछ मुस्लिम धार्मिक संस्थाओं की भूमि अवश्य अकबर के द्वारा विवश होकर छिनवा ली गई, क्योंकि अकबर किसी भी असहिष्णु धार्मिक संस्थान को पनपने नहीं देना चाहता था। इस प्रकार अकबर की धार्मिक नीति ने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि कर दी थी, जिसमें भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) को फलने-फूलने का पूर्ण अवसर प्रदान हुआ।[1]

अकबर ने पारस्परिक समन्वय के लिए अन्य साधनों के अतिरिक्त साहित्य के अनुवाद को भी प्रश्रय दिया था और अनुवाद-कार्य एक सुनियोजित रूप में किया गया। इसके लिए अकबर ने एक पृथक् विभाग की भी स्थापना की थी जिसका यह उत्तरदायित्व था कि वह संस्कृत, अरबी और योरोपीय भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद करवाए। बदायूनी के 'रामायण' का, बदायूनी तथा हाजी

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानु सिंह 'नाहर', पृ० २६०

इब्राहीम सरहिन्दी ने 'अथर्व वेद' का तथा अन्य अनेक अनुवादकों ने मिलकर 'महाभारत' का अनुवाद किया था। शताब्दियों के बाद हिन्दुओं को यह प्रथम अवसर प्रदान हुआ था, जब वे खुलकर देवालयों में पूजा कर सकते थे और सड़कों पर भक्तिपरक गीत गाते चल सकते थे। पिता की धर्म-सहिष्णुता की भूरि-भूरि प्रशंसा करने वाला जहांगीर भी पूर्णतया धर्म-निरपेक्ष राज्य का समर्थक था और उसने घोर संघर्षों से जूझकर अकबर द्वारा स्थापित धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर किसी प्रकार आंच न आने दी। इतना ही नहीं, उसने हिन्दू धर्म का महत्त्व आंका था और मुसलमान मुल्लाओं को भी इस महत्त्व से परिचित कराने के लिए उसने अनेक पौराणिक ग्रंथों का फारसी अनुवाद करवाया।[१] इतिहास बताता है कि जहांगीर हिन्दू साधुओं और सूफी संतों के प्रति समान रूप से बड़ी श्रद्धा रखता था। गोसाईं सद्रूप तथा सूफी मियां मीर के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा का परिचय मिलता है। जहांगीर के बाद शाहजहां के शासनकाल में भी सूफी संतों और हिन्दू साधुओं का बड़ा सम्मान हुआ। सांस्कृतिक समन्वय की भावना शाहजहां के समय में प्रबल हो गई थी।[२] शाहजहां मियां मीर के आशीर्वाद को प्राप्त करने के लिए कई बार उनके दर्शन करने गया था। शाहजहां का पुत्र राजकुमार दारा शिकोह सुप्रसिद्ध सूफी संत हो गया था। उसने अनेक भारतीय ग्रंथों 'रामायण', 'श्रीमद्भागवद्गीता', 'उपनिषद्' आदि के अनुवाद की व्यवस्था भी की थी। वैष्णव धर्म या हिन्दू धर्म से वह इतना प्रभावित हुआ था कि उसने अपनी अंगूठी में 'प्रभु' शब्द खुदवाया था। 'मजमुल वहरे' उसकी सुप्रसिद्ध रचना है।

भारतीय वैष्णव भक्ति सूफी मत को १५वीं और १६वीं शताब्दियों में काफी प्रभावित करने लगी थी।[३] वैष्णव भक्तों के निरन्तर संपर्क में आने से सूफी मत पर वैष्णव भक्ति का प्रभाव पड़ने लगा। सूफी संत संस्कृत और हिन्दी में अधिक रुचि लेने लगे।[४] प्रसिद्ध सूफी मीर अब्दुल वहीद बिलग्रामी ने 'हकीकी-हिन्दी' के नाम से एक ग्रन्थ (ई० १५६६ में) की रचना की थी, जिसमें वैष्णव धर्म के पचास से अधिक प्रतीकों को सूफी-साधना में समाविष्ट किया गया था। इसमें 'कृष्ण' शब्द हज़रत मोहम्मद के लिए 'गोपी' शब्द 'फरिश्तों' के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कृष्ण-भक्ति के विविध अंगों को सूफी-साधना के अन्दर समेटने का प्रयत्न हुआ।

---

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानु सिंह, पृ० २९१

२. "Monistic and pantheistic tendencies as also those of cultural co-existence and assimilation touched a high mark in the later part of Shahjehan's reign."—*Muslim Revivalist Movements in Northern India*, Dr. S.A. Abbas Rizvi, p. 426

३. ibid. p. 59

४. "The Bhakti (devotion) songs of Vaishnavites excited more mystic ecstasy in the Sufis than the other forms of Hindi and Persian poetry."—ibid. p. 60

१५वीं और १६वीं शताब्दियों के सूफी आन्दोलन का इतिहास हमें यह बताता है कि इन संतों ने सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार की थी। सूफियों और ख्वाजा संप्रदाय वालों के जो प्रयत्न चल रहे थे वे संभवत: अधिकांश हिन्दू-समाज के सरलतापूर्वक धर्म-परिवर्तन में सफल सिद्ध होते थे। कारण यह था कि उन्होंने इस्लाम धर्म की कट्टरता का अन्त करके एक मानव-धर्म और एक मानव-जाति का जो नक्शा खींचा था, वह तत्कालीन हिन्दू-समाज के लिए बहुत ही उपयुक्त जंच रहा था। युग-युग से उपेक्षित तथा-कथित शूद्र हिन्दुओं को तो उससे सुन्दर कोई मार्ग ही नहीं दीख रहा था। आश्चर्य तो यह कि शिया मतावलंबी मुसलमान संत स्वयं सुन्नी मुल्लाओं की कटु आलोचना करते भी नहीं थकते थे। नूरुद्दीन ने तो इनकी पूरी भर्त्सना की है। स्वभावत: हिन्दुओं को यह सोचने की प्रेरणा मिली थी कि ये नवागत संत कुछ और हैं और अत्याचारी मुसलमानों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नाच-गाकर मुसलमान धर्म की निन्दा करके और साथ ही हिन्दू उपाधियां—'सतगुरु,' 'सहदेव' आदि धारण करके और स्वयं अपने पंथ का नाम 'सतपंथ' रखकर दशावतार को स्वीकृत करके तथा 'अली' को भगवान् विष्णु का दशवां अवतार स्वीकार करके इन ख्वाजा लोगों ने हिन्दुओं को ऐसा प्रलोभन दे रखा था कि जो कार्य इस्लाम का प्रचार और काफिरों के विनाश की प्रतिज्ञा लेकर सिंहासनासीन होने वाले सुलतान नहीं कर सके, वह नूरुद्दीन, रामदे, शमसुद्दीन आदि संतों ने सरलतापूर्वक कर दिया। भोली-भाली जनता को एक ओर तो यह धार्मिक सरलता मुग्ध कर रही थी, और दूसरी ओर इनके 'करामातों' की लम्बी-चौड़ी कहानियां इनके प्रति उनमें श्रद्धा और विश्वास भरती जा रही थीं, क्योंकि इनमें वह अदम्य शक्ति और साहस देख रही थी। सबसे बड़ी बात तो यह भी है कि ये मुसलमान संत तत्कालीन हिन्दू धर्म की सभी साधना-पद्धतियों को स्वीकार करने को तैयार थे। वे वैष्णवों के विष्णु को भी अपना सकते थे और शैवों के शिव को भी। उनका किसी से कोई झगड़ा नहीं था। उद्देश्य एक था घर-घर और जन-जन में अपने मत का प्रचार जिसके लिए वे भेजे जाते थे। इन तिजारी मिशनरियों का पूरा विवरण प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य नहीं है। अत: अब हम इन उपर्युक्त अस्त्रों के विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक भारतीय प्रयत्नों की ओर आते हैं, जो प्रस्तुत अध्ययन के लिए अभीष्ट है। वास्तव में इनके विरोध की दृष्टि से किसी भारतीय संत ने कुछ नहीं कहा और न इन संतों में किसी प्रकार की संकीर्णता थी, ये तो एक मानव-धर्म और एक मानव-जाति की वकालत करने के लिए ही ऐसा कर रहे थे और इनकी ही चेष्टा ने सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार की थी। दूसरी ओर इन्होंने हिन्दू-समाज और धर्म की बहुत बड़ी रक्षा की।[1] कबीर आदि संत इस सांस्कृतिक समन्वय के प्रयत्नों की देन हैं। कबीर तथा अन्य संतों के समन्वयात्मक प्रयत्नों ने भक्ति-आन्दोलन के विकास में बहुत बड़ा योग दिया है।

---

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानु सिंह 'नाहर', पृ० २८३

विशेषतया यदि हम भक्ति-आन्दोलन के परिणामों की दृष्टि से विचार करें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनमें से अधिकांश परिणामों के मूल में इन्हीं समन्वयात्मक प्रयत्नों को ही गिना जा सकता है।[1]

हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का तीसरा सोपान

हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के विकास-क्रम के इतिहास की दृष्टि से हमने भक्ति-आन्दोलन के तीन सोपान माने हैं। प्रथम सोपान में स्वामी रामानन्द के द्वारा संचालित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन पड़ता है। दूसरे सोपान में सूफी संतों के सांस्कृतिक समन्वयात्मक प्रयत्नों और उनके प्रेममूलक सूफी सिद्धांतों के सम्पर्क में आकर, वैष्णव भक्ति के आकर्षक तत्त्वों का भी समावेश करके विकसित होने वाला संत मत है। इसी दूसरे सोपान की परिस्थितियों ने ही कबीर जैसे संतों को जन्म दिया और भक्ति-आन्दोलन को बड़ा व्यापक रूप दिया। हिन्दी का सूफी प्रेम-काव्य भी इसी दूसरे सोपान की देन है। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के तीसरे सोपान में १६वीं शती के अकबर जैसे धर्म-सहिष्णु सम्राटों की उदार धार्मिक नीति के कारण पूरी स्वतन्त्रता के साथ वैष्णव भक्ति का प्रचार करने वाले वैष्णव सम्प्रदायों का योगदान पड़ता है। १६वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में अपेक्षाकृत वैष्णव धर्म प्रचार के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त हुआ था। मुसलमान शासकों की कट्टर धार्मिक नीति से हिन्दू जनता में उत्पन्न उदासी को ही हिन्दी भक्ति-साहित्य के निर्माण का कारण मानने वाले विद्वानों की बात तो केवल भक्ति-आन्दोलत के प्रथम सोपान के विषय में कुछ हद तक ठीक हो सकती है। प्रथम सोपान में परिलक्षित शरणागति या दास्य-भाव की भक्ति भी उस स्थिति की ओर संकेत कर सकती है। परन्तु १६वीं शताब्दी में स्थापित होने वाले नये वैष्णव संप्रदायों और उनमें मधुर भक्ति के समावेश के साथ भक्ति में शृंगारिक प्रवृत्ति की अधिकता को देखते हुए, भक्ति-साहित्य के पीछे केवल हिन्दू जनता की उदासी की बात हास्यास्पद लगती है। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के तीसरे सोपान की अनुकूल परिस्थितियों ने ही वैष्णव सम्प्रदायों में मधुरोपासना या रसिक भावना के समावेश की पृष्ठभूमि तैयार की। यह बात सरलता से मानी जा सकती है कि यदि तत्कालीन परिस्थितियां अपेक्षाकृत अनुकूल नहीं रहतीं तो इन वैष्णव संप्रदायों को अस्तित्व में लाने तथा वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रचार के बहुत ही सराहनीय कार्य करने के लिए उपयुक्त वातावरण को पैदा करने की प्रेरणा की कल्पना तक नहीं हो सकती थी।

नये वैष्णव सम्प्रदायों का संगठन

हिन्दी-प्रदेश के मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को तीव्र गति और व्यापकता प्रदान करने में विभिन्न वैष्णव संप्रदायों का बड़ा हाथ रहा। वैष्णव भक्ति के प्रचार में इन सम्प्रदायों का संगठन बड़े महत्त्व का था। यह मध्ययुग की

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानु सिंह 'नाहर', पृ० २८३

विशेषता-सी हो गई थी कि आचार्य या संत विविध सम्प्रदाय या पंथ की स्थापना करके भक्ति के प्रचार में अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए अनेक भक्त-कवियों को प्रोत्साहन देने लगे थे। विशेषकर हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को दृष्टिपथ में रखते हुए यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि हिन्दी का विपुल वैष्णव भक्ति-साहित्य विविध वैष्णव संप्रदायों की देन ही है। सांप्रदायिक संगठन से सांप्रदायिक भक्ति-सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार के लिए तथा सम्प्रदाय के अनुयायियों को विविध प्रकार से प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यक वातावरण का उत्पन्न होना संभव हो सका था। भक्ति प्रचार में सम्प्रदायों के संगठन की परंपरा दक्षिण के श्री संप्रदाय से (१०वीं शताब्दी से) प्रारंभ होती है, इसका अवलोकन किया जा चुका है। इन सम्प्रदायों की गद्दियां विविध स्थानों में स्थापित होती थीं और इनके द्वारा विविध स्थानों में मन्दिर निर्मित होते थे और सांप्रदायिक दृष्टिकोण को रखते हुए भक्ति-ग्रंथों का प्रणयन होता था। इस प्रकार के कार्यों से भक्तिमय वातावरण को बनाए रखने में सफलता मिलती थी। मध्ययुग के इन संप्रदायों के विषय में यह बात भी देखी जाती है कि अपने-अपने संप्रदाय का विस्तार करने के लिए इन सम्प्रदायों के बीच में स्पर्धा तक हो गई थी। सम्प्रदायों के भक्ति-दर्शन के सिद्धांतों को रूप देने में लोक-रुचि का भी प्रर्याप्त ध्यान रखा गया है। यही कारण है कि इन सम्प्रदायों में प्रतिपादित भक्ति के स्वरूप में परिवर्तन भी होता रहा। सारांश यह है कि मध्ययुग में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाने में हिन्दी-प्रदेश में प्रचलित वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों का वड़ा ही महत्त्व-पूर्ण योगदान है।

हिन्दी-प्रदेश में अस्तित्व में आने वाले नये वैष्णव संप्रदायों का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध निश्चित रूप से दक्षिण के उन चार प्रमुख संप्रदायों—श्री संप्रदाय, विष्णु स्वामी संप्रदाय, माध्व सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय से रहा, जिनका परिचय हम पहले दे चुके हैं। बात यह है कि दक्षिण के इन संप्रदायों के केन्द्र उत्तर के प्रमुख वैष्णव केन्द्रों में भी स्थापित थे और उनके द्वारा सांप्रदायिक भक्ति-पद्धति का प्रतिपादन भी होता रहा। परन्तु सीमित रूप में इन उत्तर भारतीय वैष्णव केन्द्रों में प्रचारित संप्रदायों को १६वीं शताब्दी के आसपास के अनुकूल वातावरण में पर्याप्त विकास करने और नवीन व्याख्या करने का अवसर प्राप्त हुआ। परि-णाम यह हुआ कि नये नामों से, भक्ति के स्वरूप में थोड़े-बहुत वैभिन्न्य को लेकर अलग-अलग वैष्णव भक्ति-संप्रदाय संगठित हुए, जो समर्थ आचार्यों के सहयोग से लोकप्रिय हुए। हिन्दी-प्रदेश में विकसित होने वाले इन संप्रदायों ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को बड़ी शक्ति प्रदान की। ईसा की १४वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत में पनपने वाले ये वैष्णव संप्रदाय प्रमुख रूप से राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने वाले थे। आराध्य देव के विविध रूपों को लेकर थोड़ी-बहुत दार्शनिक भिन्नता से व्यापक क्षेत्र में प्रसारित इन संप्रदायों के योगदान के कारण ही मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन

वास्तविक रूप में जन-आन्दोलन बन सका। अपनी मधुर भावनापूर्ण विश्व-जनीन तत्त्व-राशि के कारण उस समय राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति का स्वर अधिक ऊंचा हो उठा था। इसका श्रेय कृष्ण-भक्ति के प्रचारक भावुक वैष्णव आचार्यों को है। मध्यकाल में रामानन्द के उपरान्त राम-भक्ति का प्रचारक कोई उतना समर्थ वैष्णव आचार्य नहीं हुआ। इसके विपरीत कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में श्री वल्लभाचार्य, श्री चैतन्य आदि आचार्यों ने अभूतपूर्व कार्य किया। इस काल में उपास्य देव कृष्ण के भिन्न-भिन्न रूप को लेकर पनपने वाले संप्रदायों में निम्न-लिखित चार प्रमुख संप्रदाय हैं :

१. वल्लभ संप्रदाय,
२. चैतन्य संप्रदाय,
३. राधावल्लभ संप्रदाय, और
४. हरिदासी संप्रदाय या सखी-संप्रदाय।

कृष्णोपासना को पहले ही श्री मध्व, श्री विष्णुस्वामी, श्री निंबार्क आदि आचार्यों ने अपनाया था, किन्तु उनके उपास्य-देव कृष्ण के रूपों में अंतर था। मध्वाचार्य के कृष्ण स्वयं विष्णु थे जो सर्वगुण सम्पन्न परमात्मा थे। विष्णुस्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप को स्वीकार किया था। निम्बार्क ने अपनी उपासना में राधा-तत्त्व का भी समावेश करके राधाकृष्ण के युगल-रूप को अपनाया था। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना और विष्णुस्वामी की गोपालोपासना में मनोवेग के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। अतएव आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपनाकर श्री वल्लभाचार्य और श्री चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन को एक नई दिशा में मोड़ दिया। यद्यपि इन दोनों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का न्यूनाधिक रूप में अनुसरण किया था तो भी अपने-अपने मत-विशेष के कारण अपनी पूजा-पद्धति और भजन-कीर्तनों के द्वारा कृष्णोपासना को व्यापक रूप देते हुए वैष्णव धर्म को जन-समाज के अत्यन्त निकट पहुंचाने का प्रयत्न किया। इन दोनों ने अपने राधावल्लभ अथवा गोपीवल्लभ कृष्ण की उपासना द्वारा वैष्णव धर्म में नूतन शक्ति का संचार किया और समस्त उत्तरी भारत की जनता पर अपने असाधारण व्यक्तित्व की छाप डाली।

जिस समय ब्रजभूमि में श्री चैतन्य और श्री वल्लभ मत के भक्तों ने अपने-अपने साधना-मार्ग का प्रचार प्रारम्भ किया, लगभग उसी समय राधा-कृष्ण की युगल उपासना का एक दूसरा भक्ति-प्रधान संप्रदाय प्रचलित हुआ जो 'राधा-वल्लभ सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी समय एक अन्य सम्प्रदाय का भी उदय हुआ जिसमें राधाकृष्ण की युगल उपासना का सखी-भाव से प्रचार था। इस सम्प्रदाय का नाम 'सखी सम्प्रदाय' पड़ा।

हिन्दी-प्रदेश में संगठित इस नये वैष्णव संप्रदायों में सबसे अधिक योगदान वल्लभ संप्रदाय का रहा। आचार्य वल्लभ ने तेलुगु भाषी दाक्षिणात्य होते हुए भी अपने भक्ति-सिद्धांतों के लिए अनुकूल वातावरण ब्रजभूमि में पाया। चूंकि ब्रज-भूमि कृष्ण-गोपियों की लीलाभूमि थी, अतः उनका तत्त्व-ज्ञान आन्ध्रभूमि में

उभर कर भी प्रचार और प्रसार का अनुकूल वातावरण ब्रजभूमि में प्राप्त कर सका। आचार्य वल्लभ के द्वारा अपने मत-प्रचार के लिए ब्रजभूमि को चुनने का कारण यही प्रतीत होता है कि वहां की धार्मिक अवस्था उनके सिद्धान्तों के लिए बहुत ही उपयुक्त थी। क्योंकि धर्म-प्रचार और लोक-रुचि का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है। अब इन चार संप्रदायों के आचार्य और उनके साम्प्रदायिक भक्ति-दर्शन के विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. वल्लभाचार्य और उनका सम्प्रदाय

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सन् १४७८ ई० में हुआ। इनके जीवन-चरित का विस्तृत परिचय 'वल्लभ दिग्विजय' में मिलता है। श्री वल्लभ लक्ष्मण भट्ट नामक तैलंग ब्राह्मण के पुत्र थे जो आन्ध्र-प्रदेश के कांकावाड़ नामक स्थान के निवासी थे। श्री वल्लभ की माता का नाम एल्लमागारू था । श्री लक्ष्मण भट्ट अधिकतर काशी में ही रहा करते थे। अतः वल्लभ के समस्त संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन काशी में ही हुए थे। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जी ने १० वर्ष की आयु में ही वेद, वेदांग, दर्शन तथा पुराणों का अध्ययन कर लिया था और वे काशी में प्रसिद्ध हो गए। अपने पिता के निधन के पश्चात् उन्होंने अनेक प्रधान तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ करके मायावाद का खण्डन और ब्रह्मवाद भक्ति का प्रचार किया। तीर्थाटन में वे दक्षिण की ओर भी गए थे। इस यात्रा में उन्होंने दक्षिण के वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन किया। यह प्रसिद्ध है कि कर्नाटक के विजयनगर साम्राज्य की राजधानी में वल्लभ ने माध्व मतावलम्बी आचार्य व्यासराय के सभापतित्व में आयोजित सभा में शास्त्रार्थ किया था और युक्तियुक्त तर्कों से उस सभा में उपस्थित नास्तिकों के उठाए गए प्रश्नों का समाधान कर उन्हें परास्त किया था और आचार्य की पदवी प्राप्त की थी। इस विजय पर प्रसन्न होकर राजा कृष्णदेव राय ने श्री वल्लभाचार्य जी का 'कनकाभिषेक' कर स्वागत किया।

भारतवर्ष के प्रधान तीर्थों में भ्रमण करने के उपरान्त आचार्य ने कभी वृन्दावन कभी मथुरा और कभी काशी में रहकर अपने भक्ति-सिद्धांतों का प्रचार किया। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जी की प्रथम ब्रज-यात्रा के समय गोवर्धन की गिरिराज पहाड़ी पर एक भगवद् स्वरूप का प्राकट्य हुआ था, 'देवदमन' नाम से जिसकी अर्चा ब्रजवासी लोग अनन्य श्रद्धा और भक्ति के साथ करते थे। और अपनी दूसरी यात्रा में जब वे पुनः गोवर्धन पहुंचे तो ब्रजवासियों ने उनको उक्त स्वरूप के दर्शन कराए। वल्लभाचार्य ने उस स्वरूप का नाम 'श्रीनाथ जी' या 'गोवर्धननाथ' रखा। उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया और भगवान् की सेवा विधि स्थिर की। अन्त में एक बार वे काशी गए और वहीं रहते हुए सन् १५३० में उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के हेतु अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों का भी निर्माण किया था और 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार उनके ३५ ग्रन्थ कहे

जाते हैं। परन्तु अभी तक केवल, छोटे-बड़े ३० ग्रन्थ ही उपलब्ध हुए हैं, जो वल्लभ संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं। उनके लिखे १६ लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थ 'षोडश ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रन्थों में प्रमुख हैं—ब्रह्मसूत्र पर लिखा हुआ अणु भाष्य, पूर्व मीमांसा भाष्य, तत्त्वदीप निबन्ध, भागवत की व्याख्या-सुबोधिनी आदि।

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' में 'शुद्ध' का अर्थ 'माया सम्बन्ध रहित' दिया गया है। वल्लभाचार्य ने शंकर के 'अद्वैत' से भिन्नता दिखाने के लिए ही 'अद्वैत' के साथ 'शुद्ध' शब्द जोड़ दिया। शंकर ने अद्वैत में माया-शबलित-ब्रह्म को जगत् का कारण माना। पर वल्लभ ने माया से अलिप्त नितान्त शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना है।[1] वल्लभाचार्य का यह शुद्धाद्वैतवाद 'ब्रह्मवाद' या 'अविकृतपरिणामवाद' नाम से भी प्रसिद्ध है।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। वह व्यापक है और सर्वशक्तिमान् है। वह स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है और गुणों से वर्जित है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म के सगुण औरु निर्गुण दोनों रूप नित्य हैं। जो ब्रह्म अणोरणीयान् है वह महतोमहीयान् भी है। पर ब्रह्म एक होकर भी अनेक है और स्वतन्त्र होकर भी भक्तों के अधीन है। ब्रह्म के तीन प्रकार माने गए हैं।

१. आधिदैविक ब्रह्म
२. आध्यात्मिक अर्थात् अक्षर ब्रह्म
३. आधिभौतिक अर्थात् जगत् रूपी परब्रह्म।

जगत् सत्य है क्योंकि लीला नायक भगवान् स्वयं जगत् के रूप में फैला हुआ है। ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य। जब कारण सत्य है तो कार्य भी सत्य है। वल्लभ ने जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध को लपेटे गये वस्त्र से समझाया है। जिस प्रकार वस्त्र को फैलाने पर वस्त्र नहीं रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म जगत् के रूप में फैला है और प्रलयकाल में वही वस्त्र सिमट कर 'कारण' ब्रह्म के रूप में सूक्ष्म रूप में हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म का आविर्भाव जगत् के रूप में होता है और तिरोभाव की अवस्था में केवल ब्रह्म ही रह जाता है। अक्षर ब्रह्म ज्ञान से प्राप्त होता है, परन्तु परब्रह्म पुरुषोत्तम केवल अनन्य भक्ति से ही मिलता है। ज्ञान से पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं होती। 'अक्षर ब्रह्म' के आनन्द को वल्लभ 'गणितानन्द' कहते हैं। अक्षर ब्रह्म और पुरुषोत्तम (परब्रह्म) के आनन्द में 'मात्रा' का अन्तर है। रसरूपपूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म छः अप्राकृत धर्मों में व्यक्त हैं :

१. ऐश्वर्य	२. वीर्य
३. यश	४. स्त्री
५. ज्ञान	६. वैराग्य

जैसे कि ऊपर कहा गया, वल्लभ के अनुसार जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है, उसी

१. "मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्यच्युते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥"—'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड,' २८

प्रकार जगत् और जीव भी सत्य हैं। डा० भाण्डारकर ने वल्लभ मत के ब्रह्म-जीव-जगत् सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि परमात्मा ने एकाकी रूप में पूर्णतः प्रसन्न न रहकर अपने को ही प्रकृति, जीवात्मा तथा अन्तर्यामी आत्मा में विभाजित किया और ये तीनों उससे वस्तुतः जलती हुई अग्नि की चिनगारियों की भांति निकले, परमात्मा की इच्छा से ही प्रकृति में चित् एवं आनन्द तथा जीवात्मा में केवल आनन्द का अभाव और तीसरे में ये तीनों पूर्ण रूप में वर्तमान हैं। भगवान् को जब रमण करने की इच्छा होती है, तब वह अपने आनन्द आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप धारण करता है। इस व्यापार में केवल भगवान् की इच्छा ही प्रधान है, माया का ज़रा भी सम्बन्ध नहीं रहता। जीव ज्ञाता, ज्ञात रूप और अणु होता है। सच्चिदानन्द भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन होता है और अविकृत चिदंश से जीव का आविर्भाव। इस मत में ईश्वर को विरुद्ध धर्मों का आगार कहा गया है। वह निर्गुण भी है और सगुण भी। निधर्मक है और सधर्मक भी। जो ब्रह्म मन और वाणी से परे है—वह ध्यान से शुद्ध भाव से अपनी इच्छा मात्र से गोचर और गम्य हो सकता है।

वल्लभ मत में जीव तीन प्रकार के हैं :

१. शुद्ध
२. मुक्त और
३. संसारी

यश, श्री ज्ञानादि के तिरोधान के पूर्व जीव शुद्ध रहता है। ये देव और असुर—दो प्रकार के होते हैं। देव जीव भी मर्यादा और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। संसारी दशा में जब पुष्टिमार्गीय सेवा में भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है, तब उनमें तिरोहित आनन्द के अंशों का प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्तावस्था में जीव स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है। चिदंश जीव भी ब्रह्म से उसी प्रकार अभिन्न है, जैसे सोने से बने आभूषण सोने से अभिन्न हैं। उसी प्रकार जीव व ब्रह्म अभिन्न हैं।

वल्लभ जगत् को नित्य मानते हैं। उसकी उत्पत्ति व विनाश नहीं होता, केवल आविर्भाव व तिरोभाव होता है। वल्लभ जगत् और संसार में अन्तर मानते हैं। यह एक सर्वथा नवीन विचार है। उनके अनुसार ईश्वर की इच्छा से ईश्वर के केवल सत् अंश का विस्तार जगत् है। परन्तु संसार अविद्या के कारण ममता रूप पदार्थ है। संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर है। कांचन, कामिनी, वैभव, शरीर—ये सब संसार हैं। लेकिन सृष्टि का अनादि प्रवाह 'जगत्' है जो नित्य पदार्थ है। ज्ञान के उदय होने पर ममतामय संसार का नाश होता है।

वल्लभ संप्रदाय के अनुसार अखिल रसामृत मूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। रस रूप में होने के कारण वह मधुर लीलाएं भी करते हैं, जिनमें सम्मिलित होना ही 'आनन्द-प्राप्ति' है। इसलिए कृष्ण के दो रूप हैं :

१. लोक-वेद कथित पुरुषोत्तम और

२. लोक-वेदातीत पुरुषोत्तम

श्रीकृष्ण अपनी आनन्द-शक्तियों से परिवेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ व्यापी वैकुण्ठ में नित्य लीला करते हैं। यह लोक विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर स्थित है और गोलोक भी इसी वैकुण्ठ का एक अंश मात्र है । भगवान् में अनन्त शक्तियां हैं जिनमें श्री, पुष्टि, गिरा, कान्त्या, श्री स्वामिनी, चन्द्रावली, राधा, यमुना आदि १२ प्रधान हैं। क्रीड़ा के हेतु भगवान् का समग्र परिवार इस पृथ्वी पर अवतरित होता है। तब व्यापी वैकुण्ठ ही गोकुल के रूप में विराजता है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार कृष्ण की प्राप्ति ही मुक्ति है। इस मुक्ति की प्राप्ति के लिए वे निवृत्ति-मार्ग से प्रवृत्ति-मार्ग को श्रेष्ठ मानते हैं।

वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद भक्ति-साधना-मार्ग में 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। पुष्टि या पोषण भगवान् के अनुग्रह को कहते हैं।[1] जीव जब तक भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि को प्राप्त कर नहीं पाता तब तक उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधना-मार्ग तीन प्रकार के हैं—

१. आधिभौतिक—कर्म-मार्ग है

२. आध्यात्मिक—ज्ञान-मार्ग है

३. परम मार्ग—भक्ति-मार्ग है—जो पुष्टिमार्ग कहलाता है।

ज्ञान-मार्ग से अक्षर ब्रह्म प्राप्त हो सकता है, पुरुषोत्तम की प्राप्ति तो परम मार्ग अर्थात् 'पुष्टि मार्ग' से ही होती है। पुष्टि-मार्गीय भक्ति के चार भेद हैं—

१. मर्यादा पुष्टि-भक्ति

२. प्रवाह पुष्टि-भक्ति

३. पुष्टिपुष्ट-भक्ति

४. शुद्ध पुष्टि-भक्ति

मर्यादा पुष्टि-भक्ति में भक्त भगवान् के गुणों को जानता हुआ भक्ति करता है। प्रवाह-पुष्टि में भक्त कर्म में विशेष रुचि रखता है। पुष्टिपुष्ट-भक्ति में भक्त स्नेह सम्पन्न हो जाता है। शुद्ध पुष्टि-भक्ति में पूर्ण प्रेम-पूर्वक हरि की परिचर्या करता हुआ गुणश्रवण, ध्यान आदि में दत्तचित्त रहता है। भजन, पूजन आदि साधनों के द्वारा जो भक्ति प्राप्त होती है, वह मर्यादा भक्ति है। किन्तु जो भक्ति बिना किसी साधन के भगवान् के अनुग्रहमात्र से स्वतः उदित होती है, जिसमें जीवों पर दया कर भगवान् अपने अनुग्रह को प्रकट करते हैं वह पुष्टि-भक्ति कहलाती है। यह रागात्मिका भक्ति (प्रेमलक्षणा) है। भगवान् का जिस पर अनुग्रह होता है उसे पहले भगवान् की ओर प्रवृत्ति होती है, भगवान् अच्छे लगते हैं। तदुपरांत वह भगवान् के स्वरूप-परिचय के लिए ज्ञान प्राप्त करता है। उसके पश्चात् प्रेमा-भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इसकी तीन भूमियां हैं—

१. प्रेम

२. आसक्ति और

---

१. "पोषणं तदनुग्रहः", 'भागवत', अ० २।१०

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"पुष्टिमार्ग में आने के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद—दोनों के प्रलोभन से दूर हो जाए, उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे, जो लोक को अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कार्यों के सम्पादन द्वारा कही गई है। यह तभी हो सकता है जबकि साधक अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दे। इस समर्पण से इस मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अन्त।"[१]

ऊपर कहा जा चुका है कि वल्लभाचार्य ने प्रवृत्ति-मार्ग को ही निवृत्ति-मार्ग से श्रेष्ठ माना था। वे गृहस्थ थे। उनके गोपीनाथ एवं विट्ठलनाथ नामक दो पुत्र भी हुए। श्री वल्लभ जी का देहान्त होने पर श्री विट्ठलनाथ उनकी गद्दी पर बैठे। श्री विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए अनेक प्रयत्न किए।

२. चैतन्य महाप्रभु और गौड़ीय संप्रदाय

समस्त उत्तरी भारत को, विशेषतः बंगाल को भक्ति रस से आप्लावित करने का श्रेय महाप्रभु चैतन्य को है। आप भक्तिरस की सजीव मूर्ति थे और थे—उदात्त मधुर भाव का जाज्वल्यमान प्रतीक। चैतन्य महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के समकालीन थे। श्री चैतन्य का जन्म सन् १४८५ में बंगाल के नदिया (शांतिपुर) नामक स्थान में हुआ। इनका जन्म का नाम विश्वम्भर था, बाद में वे अपने अनुयायियों द्वारा कृष्ण-चैतन्य कहे जाने लगे। बहुत गौर वर्ण के होने के कारण इनका नाम गौरांग भी पड़ा। अपनी १८ वर्ष की अवस्था में विवाह करके अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ गृहस्थ जीवन व्यतीत करते रहे। इस समय इनका मुख्य कार्य गम्भीर अध्ययन और अध्यापन था। इन्होंने समस्त शास्त्रों में, विशेष कर तर्क-शास्त्र में निपुणता प्राप्त की। इनकी प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया। अतः दूसरा विवाह कर एक समय पितरों की श्राद्ध-क्रिया करने गया-धाम पधारे। वहां 'ईश्वरपुरी' नामक एक प्रसिद्ध वैष्णव से उन्होंने भेंट की। कहा जाता है कि चैतन्य देव ईश्वरपुरी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए और वहीं संन्यास लेने का संकल्प लेकर लौटने पर घर-बार त्याग दिया। इनमें बहुत परिवर्तन आ गया। इनके विचार बदल गए। इन्होंने कर्मकाण्ड की कड़ी आलोचना की। मोक्ष के लिए हरिनाम-स्मरण और कीर्तन को एकमात्र साधन बतलाकर इन्होंने वर्ण-व्यवस्था को व्यर्थ बतलाया। इनकी इस नवीन विचारधारा के समर्थक और इनके सहयोगी इनके शिष्य नित्यानन्द थे जिन्हें वे भाई के समान मानते थे। ये पहले घर में कीर्तन-भजन करते थे और प्रेम में मस्त होकर नाचा करते थे। इनकी आंखों से प्रेमाश्रु की अविरल धारा बहा करती थी।

चैतन्य देव ने भारतवर्ष के प्रमुख तीर्थों में भ्रमण किया। ये दक्षिण भारत में,

---

१. 'सूरदास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०१-१०२

विशेषकर तमिल-प्रदेश के वैष्णव क्षेत्रों में भी गए।[1] बहुत सम्भव है कि तमिल-प्रदेश की अपनी यात्रा में वे भावुक भक्त-कवि आलवारों की रचनाओं से परिचित और प्रभावित हुए हों। श्री टी० एन० गांगुली ने लिखा है कि चैतन्य नम्मालवार के जन्म-स्थान 'आलवार तिरुनगरी' में जाकर उनके पद-संग्रहों की हस्तलिखित प्रतियां अपने साथ ले गए।[2] फिर वे पुरी आदि प्रसिद्ध स्थानों में कई वर्षों तक भ्रमण करते हुए अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। यह प्रसिद्ध है कि श्री चैतन्य अपने अन्तिम दिनों में कृष्ण की भक्ति में इस प्रकार भावावेश में आते थे कि वे मूर्छित हो जाते थे। इनका गोलोक-गमन सन् १५३३ में हुआ।

श्री चैतन्य के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने अन्य आचार्यों की भांति अपने संप्रदाय को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास नहीं किया और न उन्होंने 'प्रस्थान त्रयी' पर कोई भाष्य ही प्रस्तुत किया। वे प्रेममय कृष्ण की मधुर-भाव की भक्ति में इस तरह भावमत्त रहते थे कि अपने मत के तात्त्विक स्पष्टीकरण के लिए किसी ग्रन्थ की रचना करना उनके लिए संभव ही नहीं था। उनके रचित केवल दस श्लोक ही उपलब्ध हैं। इसी कारण उनके सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित रूप उनके अनुयायी पंडितों द्वारा आगे चलकर प्रस्तुत किया गया।

जिस समय चैतन्य का आविर्भाव हुआ था, उस समय बंगाल में विष्णु-भक्ति का बहुत कम प्रचार था और काली-पूजा और शाक्तों की प्रबलता थी। उस परिस्थिति की प्रतिक्रिया चैतन्य पर गहरी पड़ी थी। इसके अलावा जिस वातावरण में चैतन्य का पिछला जीवन व्यतीत हुआ, उस पर निम्बार्क, विल्वमंगल, जयदेव, चंडीदास और विद्यापति जैसे भक्तों और कवियों का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा था। इन सबके सम्मिश्रण से चैतन्य के ऊपर प्रेममय कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ शृंगारिक भक्ति का रंग चढ़ गया था। भगवान् का नाम संकीर्तन चैतन्य का अत्यन्त लोकप्रिय साधन था, जिसके द्वारा जन-साधारण को अपने आन्दोलन के प्रति आकृष्ट करने में वे सफल हुए। फलतः इनके शिष्यों की एक बड़ी मंडली संगठित हुई जिनमें प्रधानतः नित्यानन्द और अद्वैताचार्य नाम के दो महात्मा थे। ये दोनों अद्वैत भक्त ही नहीं, बल्कि प्रगाढ़ शास्त्र-वेत्ता भी थे। वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बनाने के हेतु नित्यानन्द ने तो सबके लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। चैतन्य की अन्य शिष्य-परम्परा में छः भक्तों का विशिष्ट स्थान है, जो 'षट् गोस्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गोस्वामियों ने वृन्दावन को चैतन्य-मत के प्रचार का केन्द्र बनाया। वृन्दावन में रहते हुए चैतन्य संप्रदाय की भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने के हेतु इन गोस्वामियों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनके तीन के नाम उल्लेखनीय हैं। वे हैं—रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी।

---

१. "He visited all the shrines of Tamil country and also Canjeepuram, Sri Rangam, Madura, Siyali, Kumbakonam and Tanjore."—*Sri Chaitanya Mahaprabhu—Tritavada Bhikshu*, Bhakti Pradipa Tirtha, p. 79

२. 'दी लाइफ आव् श्री गौरांग', श्री डी० एन० गांगुली, पृ० ४५ ('भगवद्विषयम्', पृ० ४१ से उद्धृत)

रूप गोस्वामी के लिखे 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु', 'उज्ज्वल नीलमणि' और 'लघु भागवतामृत' भक्ति का शास्त्रीय विवेचन करने वाले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। सनातन गोस्वामी के 'श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध की टीका' तथा 'वृहद्भागवतामृत' और जीव गोस्वामी के 'षट्संदर्भ' तथा 'गोपाल चम्पू' आदि भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

चैतन्य मत 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है। कुछ लोग चैतन्य संप्रदाय को माध्व संप्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं। इस सम्बन्ध में डा० सुशीलकुमार डे ने अपने 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल' ग्रंथ में बड़ी निष्पक्ष दृष्टि से तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। उनके अनुसार माध्व संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय में दार्शनिक धरातल पर एकता नहीं है।[1] यह स्वीकार करना पड़ेगा कि माध्व मत की शाखा होने पर भी चैतन्य मत का दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वथा स्वतन्त्र है। माध्व की मूल दृष्टि द्वैत की है। लेकिन चैतन्य मत 'अचिन्त्य भेदाभेद' है। चैतन्य मत में परम तत्त्व स्वयं श्रीकृष्ण हैं। यह तत्त्व सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त शक्ति से पूर्ण है तथा अनादि है। शक्ति और शक्तिमान में न तो परस्पर भेद है और न अभेद ही। इन दोनों का सम्बन्ध तर्कों के द्वारा अचिन्त्य है। अतः यह सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेद' की संज्ञा से अभिहित है। इस सम्बन्ध में रूप गोस्वामी ने अपने 'लघु भागवतामृत' में लिखा है—

एकत्वं च पृथकत्वं च तथांशत्वमुतांशिता।
तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानन्तशक्तितः।। १।५०।।

श्री रूप गोस्वामी का कहना है—"श्रीकृष्ण में अनन्त गुण हैं, वे असंख्य अप्राकृत गुणशाली और अपरिमित शक्ति से संपन्न हैं और पूर्णानन्द घन उनका विग्रह है। जो ब्रह्म निर्गुण-निर्विशेष और अमूर्त कहा गया है वह सूर्य-तुल्य श्रीकृष्ण के प्रकाश-तुल्य है।[2]

श्रीकृष्ण की अनन्त शक्ति जब प्रकट है, तब उसे भगवान् कहते हैं, अन्यथा वह ब्रह्म कहलाता है। जब उसकी शक्ति कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट होती है, तब वह परमात्मा कहलाता है। ब्रह्म विशुद्ध ज्ञान का विषय है। परमात्मा योग का लक्ष्य है। परन्तु भगवान् का साक्षात्कार भक्ति से ही संभव है। परब्रह्म के तीन रूप माने गए हैं—

१. स्वयं रूप
२. तदैकात्मक रूप और
३. आवेश रूप

इन तीनों रूपों में कृष्ण ही स्वयं रूप हैं। उनके भी तीन रूप हैं—

१. द्वारका रूप
२. मथुरा रूप और
३. ब्रजलीला रूप

---

१. 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बंगाल', डा० एस० आर० डे, पृ० १९-२०
२. 'लघु भागवतामृत', श्लोक ५०, पृ० १२४-१२५

ये तीनों रूप उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। तदैकात्मक रूप में वे अपनी अभिव्यक्ति दो रूपों में करते हैं—

१. विलास रूप में और

२. स्वांश रूप में

जो रूप—लीला विशेष के लिए प्रकट होता है वह विलास रूप है। जब भगवान् अपने स्वयं रूप से अपनी थोड़ी शक्ति का प्रकाश करते हैं तब उनका वह अंश शक्ति-स्वांश रूप होता है। जब वे कुछ कलाओं के साथ विशिष्ट जीवों में प्रकट होते हैं, तब उनका 'आवेश' रूप कहलाता है। भगवान् के अवतार भी तीन प्रकार के हैं—

१. पुरुषावतार

२. गुणावतार और

३. लीलावतार

परब्रह्म का आदि अवतार—पुरुषावतार हैं जिसे 'वासुदेव' कहते हैं। पुरुषावतार वासुदेव के तीन भेद हैं—

१. संकर्षण

२. अनिरुद्ध और

३. प्रद्युम्न

प्रकृति के तीन गुण

१. सत्

२. रज और

३. तम

के अधिष्ठाता तीन गुणावतार हैं। ये हैं:

१. विष्णु

२. ब्रह्म और

३. रुद्र

नारद सनकादि भगवान् के अंशावतार हैं और—

१. रामचन्द्र

२ बुद्ध और

३. कल्कि

आदि लीलावतार हैं।

अनन्त शक्तिसम्पन्न भगवान् कृष्ण की शक्तियां तीन प्रकार की हैं—

१. अन्तरंग शक्ति

२. बहिरंग शक्ति और

३. तटस्थ शक्ति

भगवान् की अन्तरंग शक्ति स्वरूप शक्ति है जो सत्, चित् तथा आनन्द युक्त है। बहिरंग शक्ति माया कहलाती है जिससे जड़-प्रकृति का उद्भव होता है। माया भी दो प्रकार की है—

१. द्रव्य माया

२. गुण माया

अन्तरंग और बहिरंग—दोनों शक्तियों के बीच की तटस्थ शक्ति से जीव का सम्बन्ध है। अन्तरंग शक्ति के भी तीन रूप हैं—

१. संधिनी

२. संवित्

३. ह्लादिनी

संधिनी शक्ति के बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं। ह्लादिनी शक्ति के रूप में भगवान् स्वयं आनन्द स्वरूप हैं और दूसरों को आनन्द देने वाले हैं।

भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति है। जीव को भक्ति भगवान् की कृपा से ही मिलती है। भक्ति दो प्रकार की होती है—

१. वैधी तथा

२. रागानुगा

वैधी भक्ति भगवान् के ऐश्वर्य का मार्ग है। इस भक्ति के अनुगामी जीव भगवान् के मथुरा, द्वारिका धाम में प्रवेश पाते हैं। रागानुगा भक्ति का मार्ग माधुर्य-मार्ग है। चैतन्य संप्रदाय का प्रसिद्ध भक्ति-ग्रन्थ 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में वैधी और रागानुगा-भक्ति के शास्त्र पर बड़े विस्तार से लिखा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण की भावमयी लोकलीला चार भावों से सम्बन्ध रखती है—

१. सख्य

२. वात्सल्य

३. दास्य तथा

४. माधुर्य

इन्ही चार भावों से कृष्ण-चैतन्य संप्रदाय में प्रेम-भक्ति होती है। इन भावों में सबसे अधिक उत्कर्ष माधुर्य-भाव का है, क्योंकि इस प्रेम के अन्तर्गत अन्य प्रेम-भावों का भी समावेश है। प्रेम और आनन्द की शक्ति-स्वरूपा गोपियों में राधा महाभाव-स्वरूपा है।

मधुर भाव की रति तीन प्रकार की मानी जाती है—

१. साधारण रति

२. समंजसा रति और

३. समर्था रति

साधारण रति का उदाहरण 'कुब्जा' है। समंजसा रति का दृष्टान्त 'रुक्मिणी', 'जाम्बवती' हैं। समर्था रति के उदाहरण 'ब्रज-गोपियां' हैं। इस भाव को धारण कर भक्त भगवान् से प्रेम और उनकी सेवा, उनके आनन्द के लिए करते हैं। इस भक्ति-भाव की साधना में किसी प्रकार के विधि-नियम या शास्त्र-मर्यादा का ध्यान नहीं होता। यही भाव अपने चरम उत्कर्ष को पहुंचकर 'महाभाव' या 'राधा-भाव' के रूप में परिणत होता है।

चैतन्य मत में रस-साधना ही प्रधान साधना है। स्वयं श्रीकृष्ण चैतन्य भगवान्

कृष्ण के प्रेम में इस तरह तन्मय हो जाते थे कि सारी सुधबुध खोकर उन्मत्त हो चीखने-चिल्लाने भी लग जाते थे। यही भक्ति 'राधा-भाव' की कहलाती थी अर्थात् वे स्वयं राधा स्वरूप होकर कृष्ण के प्रेम में 'महाभाव' का अनुभव करते थे। इसी कारण लोग चैतन्य को राधा के अवतार के रूप में मानते थे। अन्य वैष्णव मतों की तरह चैतन्य संप्रदाय में भी सत्संग, नाम महिमा, भगवान् की लीला का कीर्तन, भजन, वृन्दावन-वास, भागवत-श्रवण, गुरु-सेवा, तुलसी-पूजन आदि भक्ति के विभिन्न साधनों पर ज़ोर दिया गया है। जैसे कि पहले कहा जा चुका है, चैतन्य मत में भगवद्-भक्ति का द्वार समाज की सभी श्रेणियों के लोगों के लिए खुला है। इस कारण उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन में श्री चैतन्य देव का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

३. राधावल्लभीय संप्रदाय

ब्रजभूमि में चैतन्य और वल्लभ संप्रदायों के भक्तों ने अपने साधना-मार्ग का प्रचार प्रारम्भ किया था। सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में राधाकृष्ण की युगल उपासना को लेकर एक अन्य संप्रदाय ब्रजभूमि में प्रचलित हुआ जो 'राधावल्लभीय संप्रदाय' कहलाया। इस संप्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंश के विषय में यह कहा जाता है कि वे प्रारम्भ में माध्व मतावलम्बी थे और बाद में उन्होंने निम्बार्क स्वामी की साधना-पद्धति का अनुकरण कर अपना अलग भक्ति-संप्रदाय चलाया। श्री हितहरिवंश जी ने वृन्दावन में एक मन्दिर बनवाकर उसमें राधावल्लभ जी की मूर्ति भी स्थापित की। लगभग सन् १५३४ ई० में उक्त मन्दिर के प्रथम 'पट-महोत्सव' के समय हितहरिवंश जी ने अपनी कृष्ण-भक्ति-पद्धति का सम्यक् प्रचार प्रारम्भ किया। उन्होंने अन्य आचार्यों की तरह अपने संप्रदाय के लिए न किसी दार्शनिक सिद्धांत का निरूपण किया, न कर्म और ज्ञान के साधनों की आवश्यकता ही बताई। उन्होंने राधा और कृष्ण की प्रेम और आनन्द लीला के ध्यान और मनन में तथा युगल-मूर्ति की पूजा में परमानन्द-प्राप्ति का साधन घोषित किया। उन्होंने कृष्ण से राधा की पूजा और भक्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया।

स्मरण रहे कि राधावल्लभीय संप्रदाय एक साधन-मार्ग था, तात्त्विक सिद्धान्त की दृष्टि से वेदान्त के भिन्न-भिन्न वादों के अन्तर्गत आने वाला कोई 'वाद' नहीं था। हितहरिवंश के समकालीन भक्त नाभादास जी ने अपने 'भक्तमाल' में राधावल्लभीय संप्रदाय की कृष्णोपासना पर प्रकाश डाला है। उनका छप्पय इस प्रकार है—

श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है।
श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पती तहां की करत खवासी।
सरबस भट्ट प्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरे सोई भले पहिचानि है।

श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानिहै।"

(छप्पय—९०)

राधावल्लभीय संप्रदाय को कुछ लोग निम्बार्क मत की वृन्दावनी शाखा मानते हैं और कुछ लोग चैतन्य मत की। परन्तु डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने ग्रन्थ 'राधावल्लभीय संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' में यह सिद्ध किया है कि यह संप्रदाय अपनी-साधना पद्धति, विचार-भावना, सेवा-पूजा आदि में किसी संप्रदाय का अनुगत नहीं है।[1] वास्तव में गोस्वामी जी ने विभिन्न संप्रदायों की पद्धतियों का मानकर अपनी स्वतन्त्र प्रणाली से इस संप्रदाय की स्थापना की। उन्होंने विधि-निषेध के बाह्याचार को एकदम मिथ्याडम्बर और उपेक्षणीय बताया। उन्होंने अपनी वाणी से माधुर्य भाव की प्रेम-लक्षणा भक्ति का अनोखा स्वरूप प्रकट किया। उन्होंने प्रेम-सिद्धान्त की स्थापना में वैदिक मर्यादा का आश्रय नहीं लिया। और नैसर्गिक रूप से प्रवाहित होने वाले प्रेम को लोक या शास्त्र की सीमाओं में बांधना अनुचित बताया। श्री हितहरिवंशजी के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। 'राधा सुधानिधि' और 'हितचौरासी'। इन ग्रन्थों में राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी और सेवा-माधुरी का कवित्वमय वर्णन है।

राधावल्लभीय संप्रदाय का मूल आधार राधा-प्रेम है। इसके भीतर ही साधक का साधन और साध्य निहित रहता है। आस्वादन करने पर यह प्रेम ही 'रस' कहलाता है। इसमें राधाकृष्ण प्रेम को निष्काम प्रेम की संज्ञा दी गई है। इसमें राधा की आराधना के बिना कृष्ण की आराधना का निषेध है। इसमें राधा के बिना कृष्ण की कल्पना ही नहीं है। श्री हितहरिवंश ने राधा को परकीया-भाव से पृथक् रखा और राधिका जी को इष्टदेवी के रूप में मानने का उपदेश दिया। उनके अनुसार राधा की सत्ता स्वकीया-परकीया के रूप में न होकर स्वतन्त्र रूप में है। श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—"हरिवंश जी इस प्रकार न अवतार श्रीकृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं और न युगल किशोर नन्दनंदन तथा श्री वृषभानु लली को। वे नित्य-विहारिणी श्री राधा को ही अपना इष्ट मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है कि राधा स्वतन्त्र पराशक्तिरूपा है। वह महासुख रूपा है। वही सेव्या अराध्या है।"[2]

इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने वियोग-भावना को न अपनाकर केवल शृंगार की संयोग-लीलाओं को ही अपनाया है। इस संप्रदाय में राधाकृष्ण की कुंज लीला के मनन से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे 'परम रस माधुरी-भाव' कहा गया है। राधा और कृष्ण का मिलन नित्य वृन्दावन में सम्पन्न होने वाली नित्य लीला है। वहां वियोग को कोई स्थान नहीं है। 'हरिवंशी सम्प्रदाय' वस्तुतः 'रस-सम्प्रदाय' है। उसमें प्रेम-मूर्ति श्री राधा और कृष्ण के नित्य मिलन के अवसर पर साधक तन्मय भाव से उनकी सेवाओं में लगा रहता है।

संप्रदाय-प्रवर्तक श्री हितहरिवंश स्वयं श्रेष्ठ कवि थे और उनके पश्चात्

---

१. 'राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य', डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ५३

२. 'भागवत संप्रदाय', श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ४४०

इस संप्रदाय के अन्तर्गत अनेक भक्त-कवि हुए जिन्होंने भक्ति-प्रधान ग्रन्थों की रचना की।

४. हरीदासी अथवा सखी संप्रदाय

सोलहवीं शती में राधा-कृष्ण की युगल-उपासना को लेकर एक और संप्रदाय प्रचलित हुआ जो 'सखी सम्प्रदाय' कहलाया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी थे, जिनके नाम पर उक्त भक्ति-संप्रदाय को 'हरिदासी सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह मत निम्बार्क सम्प्रदाय की ही एक शाखा है। श्री स्वामी हरिदास जी प्रारम्भ में निम्बार्क मत के अनुयायी थे और बाद में उन्होंने गोपी-भाव को भगवत्प्राप्ति का एक मात्र साधन मानकर अपनी साधना-पद्धति की प्रतिष्ठा की। श्री हरिदास जी ने आरम्भिक काल में अपने सम्प्रदाय को वेदान्त के किसी वाद का अथवा अन्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए माध्यम नहीं बनाया था। उनका एकमात्र उद्देश्य राधा-कृष्ण की युगल उपासना का सखी-भाव से प्रचार करना था। बताया जाता है कि वृन्दावन में श्री स्वामी जी के समय में ही बिहारी जी का मन्दिर बनवाया गया था।

स्वामी जी के समकालीन भक्त नाभादास ने उनकी भक्ति-पद्धति का परिचय देते हुए लिखा है—

> **"आसधीर उद्योत कर 'रसिक' छाप हरिदास की।**
> **जुगल नाम सौं नेम जपत नित कुंज बिहारी॥**
> **अवलोकन रहे केलि सखी सख को अधिकारी।**
> **गान-कला-गन्धर्व स्याम-स्यामा कों तोषैं॥**

नाभादास जी के कथन से यह विदित होता है कि स्वामी जी गान-कला में निष्णात थे और अपने सुमधुर भजनों द्वारा श्याम-श्याम की स्तुति किया करते थे। स्वामी जी की रची हुई 'केलिमाल' नामक पदावली विख्यात है जिसमें अंतरंग के मधुरतम भावों की सुन्दर व्यंजना हुई है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने सखी सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय से पृथक् माना है। वे लिखते हैं—"कहा जाता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुसरण करके श्री स्वामी हरिदास जी ने अपना सम्प्रदाय चलाया। किन्तु सखी सम्प्रदाय की साधन पद्धति में बड़ा मौलिक भेद है। स्वामी हरिदास जी के अनुसार सखी भाव से उपासना करने का विधान है जो निम्वार्क सम्प्रदाय में गृहीत नहीं होता। सखी सम्प्रदाय भेदाभेद सिद्धान्त का भी प्रत्यक्ष रूप से कहीं मण्डन नहीं करता।······टट्टी संस्थान (वृन्दावन) में इस सम्प्रदाय की जो शिष्य-परम्परा और साहित्य उपलब्ध होता है, वह भी निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता। जुगल सरकार को आराध्य मानने पर भी सखी रूप से उसकी आराधना का विधान इस सम्प्रदाय में है जो रसोपासना की दार्शनिक गूढ़ता से सर्वथा असम्पृक्त थी।"[१]

१. 'राधावल्लभ संम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य', डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ५१-५२

श्री हरिदास जी की शिष्य-परम्परा में आने वाले अनेक भक्तों ने भक्ति-प्रधान ग्रन्थ लिखे हैं जिनसे इस सम्प्रदाय के सिद्धांत स्पष्ट हुए हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रिया के समस्त लीला-विलास प्रियतम के हेतु और प्रियतम के प्रिया के हेतु हैं। प्रिया-प्रियतम एक प्राण, दो देह हैं। इसलिए उनके आनन्द-भोग सखियों की प्रसन्नता के लिए हैं। श्री लाड़लीलाल के सुख में सखियों की प्रसन्नता है। इस प्रकार अपने लिए उनमें किसीका सुख नहीं है। लाड़लीलाल का प्रेम काम से कोसों दूर है। श्रीकृष्ण काम के वश में नहीं हैं। इस श्यामाश्याम के प्रेम में एकरसता और नित्य नवीनता है। प्रियतम जब-जब प्रिया का मुख देखते हैं तब-तब वह नया-सा लगता है। प्रिया-प्रियतम निरन्तर अपलक नेत्रों से एक-दूसरे की रूपमाधुरी का पान करते हैं। दोनों के एकाकार में भी एक-दूसरे का स्वरूप न दीख पड़ने का वियोग-भय है। इसमें स्थूल प्रेम और स्थूल विरह की कल्पना नहीं हो सकती। राधा-कृष्ण का यह प्रेम और नित्य विवाह अद्भुत सूक्ष्मता के कारण सबके लिए दुर्लभ है।

ब्रज-गोपियों का प्रेम सर्वोपरि है। परन्तु यह श्याम-श्यामा का निकुंज-विहार उनको दुर्लभ है। ललितादि सखियों की ही वहां तक पहुंच है, क्योंकि वे नित्य निकुंज की चिर सहचरी हैं और उन्हें अपने सुख की चाह नहीं। उनका सुख लाड़लीलाल की अभिलाषा की पूर्ति ही है। स्वामी हरिदास जी के निकुंज-विहारी ब्रज के नहीं हैं। ब्रजविहारी निकुंज-विहारी के अंशावतार हैं। वे स्वप्न में भी नित्य विहार को छोड़कर निकुंज से बाहर नहीं जाते। नित्य वृन्दावन अद्भुत और अलौकिक है। विहारी-विहारिणी जी का नित्य विहार निरन्तर चलता है।

इस सम्प्रदाय के अनुयायी श्री हरिदास जी को ललिता सखी का अवतार मानते हैं। श्री ललितावतार स्वामी हरिदास जी श्यामा-श्याम के इस नित्य विहार की अनन्य सहचरी हैं। स्वामी जी इस निकुंज-रस के उद्धारक हैं। उसकी प्राप्ति उनकी कृपा के बिना असम्भव है। श्री निकुंज विहारी का प्रेम उनकी कृपा से ही प्राप्त होता है। इसके लिए साधक को 'सखी-भाव' से राधाकृष्ण की युगल-मूर्ति की उपासना में लीन रहना चाहिए।

कृष्ण-भक्ति-संप्रदायों में माधुर्योपासना का स्रोत

मध्ययुगीन वैष्णव संप्रदायों में स्वीकृत भक्ति के विविध स्वरूपों पर दृष्टि डालने से पता चलेगा कि वैष्णव भक्ति-अन्तर्गत मधुरोपासना का क्रमिक विकास हुआ है। इन संप्रदायों के आविर्भाव का ऐतिहासिक क्रम भी माधुर्योपासना के विकास-क्रम को सूचित करता है। वल्लभाचार्य ने जब पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी, तब वल्लभ संप्रदाय में कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत दास्य और वात्सल्य-भाव की भक्ति ही विशेष रूप से स्वीकृत थी। 'पुष्टि' शब्द भी भवदनुग्रह पर आधारित शरणागति तत्त्व को ही सूचित करता है। आचार्य वल्लभ ने श्रीमद्भागवत को ही पुष्टि मार्ग का आधार ग्रन्थ मानकर भागवत में वर्णित कृष्ण-लीलाओं के

प्रति बड़ी आस्था व्यक्त की और बाल-कृष्ण की उपासना को प्रारंभ में महत्त्व दिया। श्रीमद्भागवत में यद्यपि रासलीला और गोपी-क्रीड़ाओं का शृंगारिक वर्णन मिलता है, तो भी वल्लभाचार्य ने लोक-रुचि के अनुसार मधुर भक्ति को शृंगार के मर्यादित रूप तक ही सीमित रखा था। यही कारण है कि आचार्य वल्लभ के समय में पुष्टिमार्गीय भक्ति में राधा-कृष्ण-प्रेम का शृंगारिक रूप विशेष परिलक्षित नहीं होता, जबकि पुष्टिमार्ग में वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय में मधुरोपासना को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा और राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन करने के लिए संप्रदाय के कवियों को स्वतन्त्रता दी गई। वल्लभ संप्रदाय की भक्ति-पद्धति में मधुरोपासना का यह रूप बाह्य प्रभाव से आया। वृन्दावन की लोक-रुचि में तब तक परिवर्तन हो चुका था और उत्तरोत्तर शृंगारिक भक्ति-साहित्य की मांग होने लगी थी।

प्रारंभ में कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में माधुर्य भाव की भक्ति के अन्तर्गत वियोग-भावना का ही प्राधान्य रहा। पर क्रमिक रूप से कृष्ण और राधा की संयोग-लीलाओं को लेकर माधुर्योपासना में घोर शृंगारिक रूप भी आ गया। मीरा, नरसी मेहता जैसे कृष्ण-भक्त कवियों पर वृन्दावन की मधुर भक्ति की प्रारंभिक स्थिति का ही प्रभाव पड़ा है। उनकी कृष्ण-भक्ति में गोपी-भाव या वियोग-शृंगार का ही स्थान था। गुजरात की लोक-रुचि में वृन्दावन की लीला-भूमि की तरह राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं के शृंगारिक वर्णन के लिए उपयुक्त स्थान नहीं होने के कारण ही वहां कृष्ण की मधुरोपासना भी शृंगार के मर्यादित रूप तक ही सीमित रही। यहां यह उदाहरण देने का हमारा तात्पर्य यह दिखाना है कि भक्ति के स्वरूप को निर्धारित करने में स्थान-विशेष की लोक-रुचि का भी बड़ा हाथ रहता है। वल्लभाचार्य जिस समय वृन्दावन में कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार कर रहे थे, उस वक्त बंगाल में चैतन्य महाप्रभु राधा-कृष्ण के शृंगारपरक प्रेम से युक्त माधुर्योपासना का प्रचार कर रहे थे। चैतन्य की मधुर भक्ति को प्रभावित करने वाले अनेक स्रोत थे। चैतन्य पर जयदेव और चण्डीदास के राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृंगारिक पदों ने बहुत प्रभाव डाला था। भागवतादि ग्रन्थों में वर्णित रास-क्रीड़ा तथा सूचित 'राधा' नाम की प्रिय गोपी को स्वीकार करके जयदेव ने अपने काव्य में शृंगार का पर्याप्त समावेश किया था। कृष्ण-भक्ति या गोपी तथा राधा के प्रेम का जो आदर्श जयदेव, चंडीदास, विद्यापति प्रभृति कवियों ने अपने काव्य में रखा, उसी को चैतन्य महाप्रभु ने आदर्श माना। बारहवीं शताब्दी में जयदेव द्वारा रचित 'गीत गोविन्द' में राधा और कृष्ण के परस्पर अनुराग, विरह, मिलन का मधुर विवेचन हुआ है। संयोग और विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण तो 'गीत गोविन्द' में अद्वितीय है। 'गीत गोविन्द' में यद्यपि भक्ति और शृंगार दोनों का ही समावेश है, तथापि अनेक स्थानों पर उत्तान शृंगार का ही गहरा रंग चढ़ा हुआ दिखाई देता है।

राधाकृष्ण के प्रेम के शृंगारिक रूप से युक्त भक्ति का बीज जयदेव के पहले ही लोक-संस्कृति में अर्थात् जनसाधारण के हृदय में अंकुरित हो रहा था। आल-

वारों के गीतों में गोपी-कृष्ण-लीलाओं के अनेक मनोहर वर्णन मिलते हैं। हाल की 'गाहासत्तसई' (गाथा सप्तशती) में सर्वप्रथम राधा और कृष्ण के विरह-मिलन के प्रसंग सर्वथा लौकिक सन्दर्भ में वर्णित मिलते हैं। जयदेव के 'गीत गोविन्द' में संभवतः इन्हीं लोक-विश्वासों ने सुसंस्कृत होकर निश्चित रूप धारण किया तथा आगामी भक्त-कवियों के लिए राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति के शोभनीय पुष्पों से सुसज्जित उत्तान शृंगार को लेकर काव्य-सर्जना के लिए मार्ग बना दिया। जयदेव द्वारा वर्णित राधा-माधव की क्रीड़ा-कलापों की प्रतिध्वनि 'मैथिल कोकिल' विद्यापति की 'कोमल कान्त-पदावली' में सुनाई पड़ी। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण रसिक विद्यापति की भावुकता पर साहित्य शास्त्र का रंग चढ़ा जिसने राधा और कृष्ण के चरित्र को लेकर नायक-नायिका भेद की अनुकरणीय वस्तु बना दिया। विद्यापति के राधाकृष्ण भक्तों के राधा और कृष्ण न होकर काम-शास्त्र में निपुण नायक और नायिका बन गए। विद्यापति ने राधा और कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही गहरा उतरा है। आराध्यदेव के प्रति भक्त की जो पवित्र भावना होनी चाहिए, वह उसमें लेश मात्र भी नहीं है। सख्य-भाव से जो उपासना की गई है, उसमें श्रीकृष्ण यौवन में उन्मत्त नायक की भांति चित्रित हुए हैं और राधा यौवन की मदिरा में मदमत्त एक मुग्धा नायिका की भांति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय है। आनन्द ही उसका उद्देश्य है और शरीर उसका क्रिया-कलाप। यौवन से ही उसके जीवन का विकास है।[1] विद्यापति की राधा वयः सन्धि पर पहुंची हुई अल्हड़ किशोरी है। उसमें शैशव और यौवन का संघर्ष साकार हो उठा है। संक्षेप में विद्यापति की राधा यौवन से परिपूर्ण वासनामयी मानवी है और कृष्ण यौवन के मूर्तिमान नायक। विद्यापति की शृंगारिक पदावली से बंगाल की सामाजिक प्रवृत्ति और भी उत्तेजित हो उठी। इस उत्तेजना को चंडीदास के प्रेम-गीतों ने और भी तीव्र कर दिया, यहां तक कि चैतन्य महाप्रभु जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की शृंगारिक पदावलियों को गा-गाकर मस्त रहने लगे। इतना अवश्य है कि विद्यापति और चंडीदास की उन्मत्त शृंगारिक कविताओं से चैतन्य की भक्ति-भावना का संयोग हो गया और नायिका-भेद की भावना के अनुकूल कृष्ण-भक्ति को देखा जाने लगा। चैतन्य द्वारा परकीया-प्रेम की भावना कृष्ण-प्रेम में अपना ली गई तथा कृष्ण की भक्ति गोपी-भाव से की जाने लगी। चैतन्य ने वैधी भक्ति को न अपना कर रागानुगा भक्ति को प्रधानता दी। रागानुगा भक्ति में भी उन्हें ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य ही रुचिकर लगा। माधुर्य की पांच शाखाओं—शांत, सख्य, वात्सल्य और माधुरी—में भी माधुर्य बंगाल की प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल होने के कारण चैतन्य की भक्ति में माधुर्य-भावना ही प्रधान रही। सारांश यह है कि चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-भक्ति में परकीया-प्रेम तथा राधा के प्रति कृष्ण के असीम आकर्षण को स्वीकार किया। इसी प्रकार गोपी

१. 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ'—'हिन्दी साहित्य में राधाकृष्ण की भावना का विकास' श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, पृ० २७०

'राधा' परमेश्वर की आनन्द-शक्ति के रूप में भी स्वीकार कर ली गई। चैतन्य महाप्रभु तथा अन्य आचार्यों द्वारा राधा-कृष्ण की इस माधुर्य भक्ति के प्रचार के परिणामस्वरूप राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का स्मरण करना कृष्ण-भक्ति का एक अनिवार्य अंग बन गया।[1]

बंगाल के गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय को प्रभावित करनेवाला और राधा-तत्त्व को बहुत अधिक प्रेममय बनने वाला वहां का सहजिया वैष्णव मत था, जो चैतन्य के आविर्भाव के पहले ही बंगाल में काफी प्रचलित हो गया था। सहजिया वैष्णव संप्रदाय का कोई स्वतन्त्र दार्शनिक मत नहीं था, प्रत्युत वह कुछ गुह्य साधनाओं पर आधारित था। वैष्णव सहजिया मत बौद्धों के 'युगनद्ध' या तांत्रिकों के 'केवलानन्द' को लेकर प्रारंभ हुआ। शिव-शक्ति के मिलन से जनित केवलानन्द ही तांत्रिक प्रभावान्तर्गत इनका परम साध्य बना। इसमें साधना-पद्धति दो प्रकार की पाई जाती है। पहली वह जिसमें स्वयं साधक अपने अन्दर ही उक्त दोनों तत्त्वों को पूर्ण जाग्रत् करके उभय-मिलन जनित आनन्द का अनुभव करता है और दूसरी विधि है नर-नारी मिलन साधना। पहले तांत्रिकों ने नर-नारी के स्थूल मिलन को भी आध्यात्मिक स्तर पर उठाने की चेष्टा की थी, क्योंकि वे इन्हें क्रमशः शिव-शक्ति का प्रतीक मानते थे। इसी मिलन को बौद्धों ने 'महासुख' की संज्ञा दी थी और तांत्रिकों ने इसे 'सामरस्य सुख' कहा था। वैष्णव सहजिया मत में इसे 'महाभाव स्वरूप' कहा गया है। यह केवल नाम-परिवर्तन मात्र रहा, मूल तत्त्व सबका एक ही है। इसी प्रकार शिव-शक्ति को भी कहीं भगवान्-भगवती, कहीं ब्रजेश्वर-ब्रजेश्वरी तो अन्यत्र प्रज्ञा-उपाय आदि की संज्ञा दी गई। प्रारंभ में बंगाल के सहजिया मतानुयायी 'राधा-कृष्ण' शब्द का प्रयोग नहीं करते रहे और शिव-शक्ति या प्रज्ञा-उपाय ही के अन्तर्मिलन से आनन्दित होते रहे। पाल-नरेशों के प्रश्रय में ये पूर्ण वैष्णव मत के रूप में फल-फूल रहे थे, किन्तु जब वैष्णव धर्म के प्रश्रय-दाता सेन-नरेशों का शासन आरंभ हुआ, जिनके दरबार में कृष्णोपासक कवियों की भीड़ लग गई तो स्वभावतः ये भी प्रभावित हुए और इन्होंने वैष्णवोन्मुख राधा-कृष्ण का चयन किया जो सर्वथा इनके अन्तर्मिलन या 'युगनद्ध' के लिए इनकी दृष्टि में उपयुक्त रहे। बस, यहीं से वैष्णव सहजिया मत का सूत्रपात हुआ। वैष्णव सहजिया मत में युगल तत्त्व को ही परम तत्त्व स्वीकार किया गया और इसी में महाभाव स्वरूप 'सहज' की स्थिति बताई गई। 'सहज' को इन्होंने समरस में स्थित प्रेम की पराकाष्ठा कहा और इसे ही विश्व-ब्रह्माण्ड का अन्तर्निहित चरम सत्य माना। सहज और रस का यहां अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित किया गया। रस से बढ़कर वे दूसरी कोई वस्तु नहीं मानते। राधा-कृष्ण के नित्य विहार से ही सहज रस की अजस्र धारा प्रवाहित होती है जो प्राणी-प्राणी के हृदय में रस का उद्रेक करा रही है। वैष्णव सहजियों ने बौद्धों के 'गुप्त चन्द्रपुर' को 'नित्य वृन्दावन' में बदल दिया, जहां राधा-कृष्ण का नित्य विहार होता रहता है। वृन्दावन की अप्राकृत लीला को इन्होंने 'स्वरूप-लीला' कहा और

१. 'मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन', डा० र० श० केलकर, पृ० १३०

प्राकृत जगत् में परिणत उसी लीला को इन्होंने 'श्री रूप लीला' की संज्ञा दी। वैष्णव सहजिया मत में, जो पूर्ववर्ती प्रभावों को समेट कर चल रहा था, परकीया भाव को ही अपनाया गया था और इसकी स्पष्ट छाप हमें गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय पर दिखाई पड़ती है, जिसने प्रारंभ में स्वकीया को स्वीकार किया था, किन्तु कालान्तर में वैष्णव सहजिया के प्रभाव में आकर परकीया को ग्रहण किया।[१]

कृष्ण-भक्ति में रसिकता का स्रोत पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य और लोक-कथाओं में भी ढूंढा जा सकता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"नाना कारणों से मेरा अनुमान है कि भागवत पुराण में श्रीकृष्ण-लीला की जो परंपरा अभिव्यक्त हुई है, उससे भिन्न एक और भी परंपरा थी, जिसका प्रकाश जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में हुआ है। भागवत-परंपरा की रासलीला शरद् पूर्णिमा को हुई थी, गीत-गोविन्द परंपरा का रास वसन्त काल है। प्रथम में राधा का नाम भी नहीं है, दूसरी में राधिका ही प्रमुख गोपी है।"[२] द्विवेदी जी के मत में पर्याप्त तथ्य है और यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्राप्त है, तो भी इतना निश्चित है कि लोक-मत में इसे मान्यता प्राप्त हो चुकी थी और विशुद्ध शृंगारिक कवियों को भी यह राधा-प्रधान रासलीला उस युग में किसी न किसी रूप में प्रेरणा देती रही। कृष्ण की जल-क्रीड़ा, रासलीला आदि का प्रारंभिक रूप प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है। पांचवीं शती में कुमारदास ने 'जानकी हरण' में भी जल-क्रीड़ा का घोर शृंगारिक वर्णन किया था। तत्पश्चात् भारवि ने भी 'किरातार्जुन' में जल-क्रीड़ा का वैसा ही उत्तेजक वर्णन किया था। कृष्ण-काव्य की जल-क्रीड़ा भी इसी परम्परा में रखी जा सकती है। भट्ट नारायण के 'वेणी-संहार' में राधा-कृष्ण की जल-क्रीड़ा का उल्लेख मिलता है। आनन्द-वर्धन के 'ध्वन्यालोक' में भी एक श्लोक उद्धृत है जिससे राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला का संकेत मिलता है। इसी प्रकार त्रिविक्रम भट्ट के 'नलचम्पू' में भी कृष्ण तथा राधा के मधुर सम्बन्धों का संकेत प्राप्त होता है। यह सारा साहित्य कृष्ण के मधुर रूप को आगे बढ़ाते हुए साहित्य-जगत् के रसिक कवियों के लिए एक ऐसी पृष्ठभूमि निर्मित करता है, जिससे जयदेव, विल्वमंगल, ठाकुर और उमा-पति आदि को कृष्ण के अत्यन्त रसिक रूप के चित्रण का सुअवसर मिला। जयदेव के भक्ति-भाव तथा शृंगार काव्यानुराग को हम 'गीत-गोविन्द' के इस प्रारंभिक छन्द से माप सकते हैं जहां कवि ने 'हरिस्मरण' तथा 'कलासु-विलासु कुतूहलम्' को समान महत्त्व दिया है। सांप्रदायिक महत्त्व प्राप्त करने की दृष्टि से कृष्ण-काव्यों में विल्वमंगल रचित 'कृष्णकर्णामृत' को प्रथम स्थान दिया जा सकता है, जिसकी एक प्रति चैतन्य महाप्रभु दक्षिण भारत से ले आए थे। गौड़ देश के भक्तों और कवियों को 'कृष्णकर्णामृत' ने बहुत अधिक प्रभावित किया था। परन्तु संप्रदाय यों ही काव्य-ग्रन्थों पर नहीं खड़ा हो सकता था। इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता थी और फिर 'श्रीमद्भागवत' उस आवश्यकता की पूर्ति

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० २१८-१९

२. 'मध्यकालीन धर्म साधना', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १३५

करने लगा। यदि मध्यकालीन भागवत धर्म की 'प्रस्थान त्रयी' के समान आदरणीय एवं प्रमाण ग्रन्थ 'भागवत' की 'रासपंचाध्यायी' का आविर्भाव नहीं हुआ होता तो इसमें सन्देह ही रहता कि रसिक संप्रदायों को आदर मिल पाता या नहीं, अथवा वे मर्यादित रह पाते या नहीं, इसमें भी सन्देह ही रहता। अतः निष्कर्ष रूप में हम लोक-रुचि तथा विशुद्ध शृंगारिक साहित्य को रसिक संप्रदाय का उत्प्रेरक स्वीकार करते हुए भी भागवत को उसका अधिकारी प्रचारक, अनुमोदक या समर्थक मान सकते हैं। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से वैष्णव धर्म की मधुरोपासना का सारा श्रेय 'भागवत' को ही नहीं दिया जा सकता, क्योंकि 'भागवत' को भी यह पद्धति परंपरानुसार ही प्राप्त हुई होगी। अतः भागवत पूर्व और भागवतेतर परंपरा (जिसकी ओर इस प्रबन्ध के प्रारंभिक अध्यायों में संकेत कर चुके हैं) को ठीक-ठीक समझने पर ही मध्यकालीन भागवतों की रसिकोपासना का सही मूल्यांकन हो सकता है।

रामावत संप्रदाय में रसिकता की पृष्ठभूमि

स्वामी रामानन्द के द्वारा उत्तर में जिस रामोपासना का विस्तृत प्रचार हुआ, उसमें राम का मर्यादा पुरुषोत्तम अथवा परमात्मा रूप ही अधिक परिलक्षित होता है। उस समय रामोपासना में कहीं भी रसिकता का समावेश नहीं हुआ था। इधर १६ वीं शती के कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में माधुर्योपासना और रसिकता अधिक ज़ोर पकड़ने लगी और कृष्ण-भक्ति संप्रदायों का बड़ा विस्तार हुआ तो उसकी देखा-देखी संप्रदाय के विस्तार हेतु तथा तत्कालीन लोक-रुचि को मान्यता देने के निमित्त रामावत संप्रदाय में भी रसिकता को स्थान दिया जाने लगा। स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में रसिक भावना का आरंभ पूर्ववर्ती है और राम-भक्ति संप्रदायों में परवर्ती। हिन्दी-प्रदेश के रामावत रसिक संप्रदायों में राम-भक्ति में रसिकता को मान्यता देने के पीछे पुराणों का भी बड़ा हाथ रहा है। लक्ष्मी के कमनीय रूप की कल्पना कभी पांचरात्रिकों ने भी की थी और 'अहिर्बुध्न्य' संहिता ने 'कामदानाच्च कमला' आदि के साथ 'रति', 'मोहिनी' आदि नाम देकर भागवत धर्म में मधुर उपासना का बीज अवश्य बोया था, किन्तु इसका पूर्ण विकास पुराणों में ही हो पाया था। पुराणों ने ही भगवान विष्णु या शिव की शक्तियों के अनेक नामकरणों की योजना की थी और उन्होंने ही लक्ष्मी सम्बन्धी अनेक मौलिक कल्पनाओं की सृष्टि की थी। लोक-प्रचलित कथाओं को भी कुछ पुराणों में बड़ी रुचि के साथ लिपिबद्ध किया गया है। दक्ष तथा रति से लक्ष्मी तथा उनकी २३ बहनों का जन्म बताया गया। 'विष्णु पुराण' में भृगु तथा ख्याति से लक्ष्मी का जन्म सूचित किया गया, परन्तु लोकमत में लक्ष्मी के समुद्रोद्भव वाली कथा ही विशेष प्रचलित रही, संभवतः विशेष प्राचीन भी। लोकमत में विष्णु और लक्ष्मी के पति-पत्नी भाव को भी पर्याप्त महत्त्व मिल चुका था और लक्ष्मी को एक आदर्श पत्नी के रूप में देखा जाता था।

यह देखा जाता है कि भगवान विष्णु के अवतारों की भांति लक्ष्मी के भी

अवतारों की कल्पना की गई है और सभी अवस्थाओं में वे पत्नी हैं। स्वकीया भाव बहुत दूर तक विष्णु लक्ष्मी से पृथक् होने नहीं पाया है। पर कालान्तर में तांत्रिक प्रभावों ने स्थिति में परिवर्तन ला दिया और उनके जगज्जननी रूप को कमनीय एवं कलामय बना दिया। स्वकीया भाव का बहुत अधिक गहराई और और तन्मयता के साथ निर्वहण न होने का एक कारण यह भी सिद्ध हुआ कि पुराणकारों ने विष्णु की सोलह से लेकर सोलह हज़ार पत्नियों तक की बात कही। इस प्रकार कृष्ण की भी आठ, सोलह और बाईस पत्नियों का उल्लेख मिलता है। पुराणकारों ने चाहे जिस प्रतीकात्मक या लक्षणात्मक रूप में अगणित पत्नियों की कल्पना की हो, पर लोकमत में तो इस उद्‌भावना ने रसिकता का ही बीजा-रोपण किया था। हां, सीधे विष्णु और लक्ष्मी से यह भाव जोड़ने में कुछ असुविधा हो रही थी, क्योंकि लक्ष्मी का जगज्जननी रूप सर्वोपरि उठा हुआ था। किन्तु जब विष्णु और लक्ष्मी के अवतारों की कथाओं का नाना रूप में नाना प्रकार से चित्रण किया जाने लगा तो कथाकारों को पूरी छूट का अवसर प्राप्त हो गया।

रामोपासना के क्षेत्र में वाल्मीकि रामायण के सम्बन्ध में यहां इतना कह देना आवश्यक है कि जिस प्रकार कृष्णोपासकों ने 'भागवत' को अपना प्रमाण ग्रन्थ माना है, उसी प्रकार रसिक सम्प्रदाय के मधुराचार्य के प्रयासों से 'वाल्मीकि रामायण' को अवध की मधुरोपासना का एक उपजीव्य ग्रन्थ सिद्ध किया गया है। स्वामी मधुराचार्य ने रामायण के अनेक स्थलों की शृंगारपरक व्याख्या करते हुए उसे रामभक्ति के रसिक संप्रदाय का आधार ग्रन्थ सिद्ध करने की सफल चेष्टा की है। रामोपासना में रसिकता के उन्नायकों में से जिस प्रकार मधुराचार्य ने 'रामायण' की रसिक व्याख्या की है, उसी प्रकार पंडित राधावल्लभशरण ने भी अनेक स्थलों की शृंगारपरक व्याख्या करते हुए राम को शृंगार रस के सहायक गान्धर्व तत्त्व के ज्ञाता-श्रोता, शृंगार के कन्दर्प आदि सिद्ध किया है। रामोपासना में रसिकता को इन पंडितों ने शास्त्र-सम्मत स्वाभाविक रूप देने की चेष्टा की है।

संस्कृत राम-साहित्य में शृंगारिकता की दृष्टि से महाकवि कालिदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कालिदास तो अपनी घोर शृंगारिकता के लिए विश्व-विख्यात ही हैं। फिर भी 'रघुवंश' में शृंगार का मर्यादित रूप ही अधिक दृष्टि-गोचर होता है। कालिदास के बाद आठवीं शती में भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में राम के रसमय जीवन की सफल झांकी दी है। संयोग और वियोग दोनों अव-स्थाओं का चित्रण 'उत्तररामचरित' में उपलब्ध है, पर प्रधानता शृंगार की ही है। लगभग इसी समय कुमारदास ने 'जानकीहरण' की रचना की जिसमें राम-सीता के विलास-वर्णन के लिए एक अलग सर्ग ही दिया गया। इसमें 'सुरत-क्रीड़ा' तक की योजना करके घोर शृंगारिकता का वातावरण सृजित किया गया है।[1] प्राचीन काल का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण रसिक ग्रन्थ 'हनुमन्नाटक' है जिसे मधुरो-पासकों द्वारा बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इसका रचनाकाल १०वीं शती है। इसमें शृंगारिकता अश्लीलता की सीमा छूने लगती है और राम बार-बार

१. द्रष्टव्य है रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० ७३

आलिंगन-चुंबन से तृप्त होते नहीं दिखाई देते हैं। नाटक-साहित्य की परंपरा में फिर जयदेव का 'प्रसन्नराघव' उल्लेखनीय है, जिसमें जयदेव के हाथों में पड़कर 'राम-साहित्य' रसमय हो गया है। हस्तिवल्लभ के 'मैथिली कल्याण' में यह कामुकता और आगे बढ़ती है। मध्यकालीन नाटकों में 'उदार-राघव' और 'सत्योपखान' प्रमुख हैं, जिनको रसिकों ने अपनाया है।

वाल्मीकि के बाद सांप्रदायिक दृष्टि से 'कंब रामायण', 'आनन्द रामायण', 'भुशुण्डि रामायण' आदि प्रमुख हैं। 'कंब रामायण'[१] (११वीं शती की महान् तमिल रचना) का परिचय हम पहले दे चुके हैं। इस महाकाव्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनमें कंबर ने श्रृंगारपरक वर्णन प्रस्तुत किए हैं। 'राम-सीता-पूर्वाराग' प्रसंग की योजना करके कवि ने राम और सीता के श्रृंगारिक रूप का चित्रण किया है। कंबर को कुछ आलोचक भक्त की अपेक्षा अधिक रसिक ही मानते हैं। 'आनन्द रामायण' (१५वीं शती) में तो यह रसिकता और भी आगे बढ़ाई गई और कहीं-कहीं तो राम-सीता की प्रेम-चेष्टाएं अश्लीलता को भी चुनौती देने लगती हैं। कामशास्त्रियों द्वारा वर्णित काम-चेष्टाओं की कवि ने राम के केलि-वर्णन में बड़ी ही रोचकता से चित्रित किया है। 'भुशुण्डि रामायण' भी रसिकों का एक सर्वमान्य ग्रन्थ है। यह 'भागवत' से प्रभावित प्रतीत होता है। इन प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त रसिक संप्रदायों में ऐसे अनेक ग्रंथ रचे गए हैं, जिनका उद्देश्य रामोपासना में रसिकता को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करना है।

रामोपासना में रसिकता की पुष्टि करने वाली कुछ संहिताएं भी रची गई हैं। श्रृंगारोपासक रामावत सम्प्रदाय की भी अपनी कुछ उपनिषदें हैं। इन ग्रन्थों के प्रणेताओं ने भरसक यह चेष्टा की है कि उनकी रचना-शैली पूर्ववर्ती उपनिषद्कारों की भांति रहे। निश्चित रूप से इनकी रचना १४वीं-१५वीं शताब्दी के बाद ही शुरू हुई होगी। इनमें केवल साम्प्रदायिक तत्त्वों का बाहुल्य है, प्रत्युत अधिकांश उपनिषदों पर तो तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणार्थ 'रामतापनीयोपनिषद्' संपूर्ण जगत् को राममय बनाकर तथा परमात्मा जीवात्मा का सेव्य-सेवक, आधार-आधेय, शेष-शेषी, पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि नवधा-विधि-सम्बन्ध का उल्लेख करके अंत में 'तारक मंत्र' तथा 'राम-पंचायतन' का आसन त्रिकोण-पद्धति पर दिखाती है, जो निश्चय ही तांत्रिक प्रभाव है। राम को इस उपनिषद् में अपनी आह्लादिनी शक्ति सीता से सदा आश्लिष्ट संयुक्त माना गया है। मधुरोपासकों की एक और महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है, जिसका नाम 'विश्वम्भरोपनिषद्' है। जहां 'रामतापनीयोपनिषद्' में भगवान् राम को सर्वोपरि सिद्ध करते हुए उन्हें केवल रासलीला में लीन बताया गया है, वहां 'सीतोपनिषद्' में सीता को सर्वोच्च सिद्ध करते हुए स्वयं भगवान् को भी उनके

---

१. कंबर के पहले आलवार भक्तों के तमिल 'प्रबन्धम्' में रामोपासना का परिचय मिलता है परन्तु इसमें राम का रसिक रूप कहीं नहीं मिलता। श्रृंगारिक वर्णन कहीं है तो मर्यादित रूप में ही है। हां! इन्हीं आलवार भक्तों ने कृष्ण-भक्ति में माधुर्य-भाव को अवश्य स्थान दिया है।

संकेतों पर चलने वाला कहा गया है। और उनसे ही अगणित महाकाली, महालक्ष्मी, उमा, राधा, दुर्गा आदि का उद्‌भव बताया गया है। इस प्रकार और भी अनेक उपनिषदें रची गई हैं, जो रसिक संप्रदाय की मान्यता के लिए ही हैं।

सांप्रदायिक साहित्य में राम-भक्ति की रसिक धारा पांच नामों से अभिहित है।

१. जानकी संप्रदाय
२. रहस्य संप्रदाय
३. रसिक संप्रदाय
४. जानकीवल्लभ संप्रदाय
५. सिया संप्रदाय

किन्तु इन पांचों नामों में रसिक संप्रदाय नाम ही अधिक प्रचलित है। 'राम-भक्ति में रसिक संप्रदाय' ग्रन्थ के लेखक डा० भगवती प्रसाद ने इसका कारण यह बताया है कि इस धारा के प्रवर्तक अग्रदास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्यान-मंजरी' तथा 'अष्टयाम' में राम की रसमयी लीलाओं का ध्यान करने वालों को रसिक की संज्ञा दी है। राम-भक्ति के रसिक संप्रदाय के अन्तर्गत रचित विपुल साहित्य को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि रसिक रामोपासकों की संख्या भी कम नहीं है।

अष्टम अध्याय

हिन्दी साहित्य को वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की देन

मध्ययुग में हिन्दी-प्रदेश में जो व्यापक भक्ति-आन्दोलन प्रसारित हुआ, उसका प्रभाव बहुमुखी रहा है। हिन्दी-प्रदेश के लोक-जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिस पर वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का गहरा और व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा हो। यह निश्चित ही है कि मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने जन-जीवन को जितना अधिक और जिस रूप में प्रभावित किया है, वैसा अन्य किसी भारतीय संप्रदाय ने किसी भी युग में देश के साहित्य, कला, समाज और धर्म को नहीं प्रभावित किया। हिन्दी-प्रदेश में भक्ति के क्षेत्र में जन-भाषा हिन्दी का प्रयोग करके स्वामी रामानन्द ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को व्यापक जन-आन्दोलन का रूप दे दिया था। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण देन यह है कि प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से भक्ति-प्रचार के द्वारा उसने प्रादेशिक भाषाओं को पनपने का अवसर प्रदान किया। मध्ययुग में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने जिस भक्तिमय वातावरण का सृजन किया था, उसके फलस्वरूप समस्त भारतीय भाषाओं का मध्ययुगीन साहित्य भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हुआ है। भारतीय भाषाओं में मध्ययुग में विपुल मात्रा में जो वैष्णव भक्ति-साहित्य निर्मित हुआ है, उसका प्रमुख प्रेरणा-स्रोत वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ही है।

हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप तभी मिला, जबकि स्वामी रामानन्द ने भक्ति-प्रचार के क्षेत्र में जन-भाषा हिन्दी को प्रथम बार स्थान दिया था। एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य के अभूतपूर्व विकास के लिए वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने अनुकूल आधारभूमि प्रस्तुत की थी, जिसके कारण हिन्दी भाषा और साहित्य का भी पर्याप्त विकास हो सका। हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकारों ने हिन्दी भाषा के विकास का प्रमुख श्रेय रामानन्द को दे दिया है। स्वामी रामानन्द और उनके शिष्यों के द्वारा भक्ति के क्षेत्र में जन-भाषा हिन्दी को अपनाने से 'गांवों की बोली' उनके ओजस्वी कण्ठों का बल पाकर बलवती हो उठी। तुलसी और सूर जैसे समर्थ हिन्दी भक्त-कवियों को जन्म देने का श्रेय रामानन्द के उस उदार दृष्टिकोण को है, जिसने जन-भाषा में भक्ति-साहित्य-निर्माण के लिए प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया था।

मध्ययुग में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को उत्तरोत्तर व्यापक रूप प्रदान करने वाले वैष्णव आचार्यों का भी वैष्णव कवियों के उत्प्रेरक-रूप में बहुत बड़ा महत्त्व है। वास्तव में इन वैष्णव आचार्यों ने विविध संप्रदायों का संगठन कर अपने भक्ति-सिद्धांतों के प्रचार के लिए भक्तों को सांप्रदायिक दृष्टिकोण से साहित्य रचने के लिए बहुत ही प्रोत्साहित किया था। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य का अधिकांश भाग तो इन वैष्णव आचार्यों की प्रेरणा से इनके संप्रदायों के आश्रय में आने वाले वैष्णव भक्त-कवियों के द्वारा ही निर्मित हुआ है। हिन्दी के अनेक वैष्णव भक्त-कवि इन वैष्णव संप्रदायों में दीक्षित भक्त थे, जिनके भक्ति-काव्य में संप्रदाय विशेष के भक्ति-सिद्धांतों का किसी न किसी रूप में निरूपण हुआ है, परन्तु सांप्रदायिक भक्ति-सिद्धांतों के प्रचार का आंशिक उद्देश्य रखते हुए भी इन वैष्णव कवियों के काव्य का स्तर काफी ऊंचा था। आचार्यों से दीक्षित और किसी मत या संप्रदाय में सम्मिलित भक्त भी काव्य के क्षेत्र में उतरने पर अधिकाधिक काव्यपरक दृष्टिकोण को अपनाकर शुद्ध सांप्रदायिक स्तर से ऊपर उठ जाते थे। इसी कारण से विविध संप्रदायों के अन्तर्गत काव्य रचने वाले भक्त-कवियों के काव्य में काव्य का स्तर काफी ऊंचा हो सका है।

निराकार तथा साकार ब्रह्म को लेकर वैष्णव कवियों ने जो साहित्य-सर्जन किया, उस आधार पर भक्ति-साहित्य को, साहित्य के इतिहासकारों ने, दो धाराओं—निर्गुण-धारा तथा सगुण-धारा में विभक्त किया है। इसी प्रकार कृष्ण और राम को लेकर चलने वाली साहित्यिक धाराओं को कृष्ण-काव्य तथा राम-काव्य के नाम से अभिहित किया गया है। वैष्णव आचार्यों के प्रभाव के क्षेत्रों में उन्हीं के द्वारा समर्थित एवं प्रचारित आराध्य देव की लीलाएं वैष्णव भक्त-कवियों का प्रतिपाद्य-विषय बनी हैं। जिन क्षेत्रों में कृष्णोपासकों का बाहुल्य था, वहां स्वभावतः कृष्ण-काव्य को और जहां रामोपासकों की संख्या अधिक थी, वहां राम-काव्य का प्रणयन अधिक हुआ। कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन के आस-पास के क्षेत्र की जन-भाषा ब्रज-भाषा में कृष्ण भक्तिपरक साहित्य का विशेष प्रणयन हुआ। यह भी एक कारण है कि मध्ययुगीन कृष्ण-भक्तिपरक संप्रदायों का विशेष कार्य-क्षेत्र ब्रज-प्रदेश था। अतः हिन्दी का अधिकांश कृष्ण-भक्ति-काव्य ब्रज-भाषा में ही निर्मित हुआ। इसी प्रकार राम-भक्ति-साहित्य का विशेष प्रणयन 'अवधी' में हुआ है। प्रदेश-विशेष में प्रमुख रूप से स्वीकृत आराध्य देव के आधार पर वैष्णव भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ है।

ब्रज-भाषा के विकास में कृष्ण-भक्त-कवियों का काफी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ब्रज और अवधी बोलियों को उच्च साहित्यक स्तर पर उठाने में सबसे बड़ा हाथ वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का रहा है। एक प्रकार से इन बोलियों को एक सूत्र में बांधने की दृष्टि से भी कुछ वैष्णव कवियों का योगदान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण समझा जाएगा। ब्रज-भाषा में विशेष रूप से साहित्य का आरंभ उस समय हुआ जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मन्दिर का निर्माण कर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कीर्तन, भजन इत्यादि की व्यवस्था की थी। उनके आश्रय में

सूरदास जी तथा अन्य भक्तों ने ब्रज-मंडल की स्थानीय बोली में गीत लिखे और गाये। इस प्रकार साधारण बोली को ही एक साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होने का सुअवसर मिला।[1] सूरदास ने स्थानीय ब्रज-भाषा का प्रयोग जिस सुगमता और कुशलता से किया है, वह भाषा की दृष्टि से बेजोड़ है। राधावल्लभीय संप्रदाय के संस्थापक श्री हितहरिवंश के काव्य की भाषा निश्चय ही विशुद्ध ब्रज-भाषा है। हां, उनकी शैली पर संस्कृत का प्रभाव अवश्य है। नाभादास और नरोत्तम दास ने ब्रज-भाषा को एक साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाया है। रसखान की भाषा में विशुद्धता और अद्भुत प्रवाह है। उनकी भाषा में शुद्ध साहित्यिक ब्रज-भाषा के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। कृष्ण-भक्त-कवियों के काव्य में प्रयुक्त भाषा का निरीक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उन्होंने संस्कृत और हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के शब्द ग्रहण कर ब्रज-भाषा के रूप को परिमार्जित और परिष्कृत किया है और कृष्ण की लीला का गान करने के लिए अपनी भाषा में समस्त मधुर उपकरणों का समावेश किया है। नाद-सौंदर्य और चित्र-कल्पना के समर्थ संयोजन का सबसे बड़ा श्रेय उनकी भाषा को है। प्रतिपाद्य के उपयुक्त भाषा-प्रयोग उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में प्रारंभ में ही सूरदास आदि ने ब्रज-भाषा को इतना सुन्दर, मधुर और आकर्षक बना दिया था कि लगभग ४०० वर्षों तक उत्तर-पश्चिम भारत की कविता का सारा विराग, प्रेम-प्रतीति, भजन-भाव उसके द्वारा अभिव्यक्त हुआ। सारांश यह है कि ब्रज-भाषा के विकास में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस प्रकार अवधी के विकास में राम-भक्त-कवियों ने बड़ा ही सराहनीय कार्य किया। राम-भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदास के पूर्व अवधी में जायसी तथा अन्य सूफी कवियों ने अपने आख्यानक काव्यों की रचना की थी। लेकिन उनकी भाषा ग्रामीण रूप लिए हुए थी और उसमें पर्याप्त मात्रा में साहित्यिक परिष्करण नहीं हुआ था। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' जैसे अमर काव्य लिखकर अवधी को सुसंस्कृत और मधुर बनाया। अन्य राम-भक्त-कवियों ने भी अवधी के विकास में पर्याप्त योग दिया है। इस प्रकार वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ब्रज और अवधी भाषाओं के विकास का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहा है।

अब हम हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के परिणामस्वरूप हिन्दी में विपुल मात्रा में रचित वैष्णव भक्ति-काव्य और उसके रचयिता कवियों का परिचय देंगे। हिन्दी में रचित समस्त वैष्णव भक्ति-काव्य और उसके रचयिताओं का विस्तृत परिचय देना इस प्रबन्ध में संभव नहीं है। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से यहां पर केवल हिन्दी के चुने हुए प्रमुख वैष्णव भक्त-कवियों का ही संक्षिप्त परिचय देना संभव है। हिन्दी वैष्णव काव्य की दोनों धाराओं—राम-भक्ति-काव्यधारा और कृष्ण-भक्ति-काव्यधारा—में आने वाले प्रमुख कवियों और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय यहां

१. 'ब्रजभाषा', डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १८

दिया जाएगा।

राम-भक्ति-काव्य-धारा

हिन्दी में राम-भक्ति साहित्य का सूत्रपात स्वामी रामानन्द से माना जाता है। रामानन्द के पश्चात् प्रमुख राम-भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं, जो हिन्दी के राम-भक्त-कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। आधुनिक खोज के परिणाम स्वरूप उपलब्ध सामग्री के अनुसार हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास के पहले भी राम-भक्ति-साहित्य रचा गया है। स्वामी रामानन्द के शिष्यों के समय में राम-भक्ति के अन्तर्गत दो स्पष्ट धाराएं विकसित होने लगी थीं। रामानन्द ने दास्य भाव की भक्ति को स्थान दिया था, परन्तु रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द तथा अन्य कुछ भक्तों ने राम-भक्ति के अन्तर्गत माधुर्य भावना को भी स्थान देना प्रारंभ कर दिया था। तभी से लेकर राम-भक्ति के अन्तर्गत दो स्पष्ट धाराएं प्रवाहित होने लगीं—मर्यादोपासना शाखा और रसिकोपासना शाखा। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के मर्यादा-स्वरूप का सर्वोत्कृष्ट अंकन किया और उस रूप के आगे अन्य रूप की कल्पना भी उनसे नहीं हो सकती थी। परन्तु उस समय राम की रसिक भावना की उपासना भी प्रचलित थी। यह मधुर उपासना तुलसी के मर्यादावाद के सामने बहुत दिनों तक दबी रही, किन्तु प्रायः सौ वर्ष पीछे बड़े वेग से बह निकली और तदनन्तर हिन्दी का सारा राम-भक्ति साहित्य इससे सराबोर हो गया। इस मधुर धारा का सूत्रपात निस्सन्देह कृष्ण-भक्ति के प्रभाव और उसी के अनुकरण पर हुआ।[1]

मर्यादोपासना शाखा

गोस्वामी विष्णुदास

तुलसी के पूर्व के हिन्दी राम-भक्त-कवियों में गोस्वामी विष्णुदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। विष्णुदास से हिन्दी संसार प्रायः परिचित नहीं है। इनका नाम अब तक शोधकर्ताओं तक सीमित रहा। हिन्दी साहित्य के इतिहास में विष्णुदास के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं मिलता। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में विष्णुदास हिन्दी के गौरवशाली कवि हुए। भाषा और वर्णन-शैली की दृष्टि से उनकी रचनाएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। विष्णुदास ने जिस भाषा और कथा-साहित्य का सृजन किया, उसका विकास अगले दो शतकों में हिन्दी के परवर्ती महान् कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है। गोस्वामी तुलसीदास के प्रायः सवा सौ वर्ष पूर्व की विष्णुदास की रचनाएं हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। हिन्दी-साहित्य में विष्णुदास का गौरवपूर्ण स्थान है, इनकी रचनाएं अप्रकाशित हैं।[2]

विष्णुदास नाम के एक से अधिक भक्त हुए हैं। एक विष्णुदास स्वामी रामानन्द की शिष्य-परंपरा में हुए। भक्तमाल के अनुसार कृष्णदास पयहारी के शिष्यों

---

१. 'हिन्दी साहित्य—द्वितीय खण्ड', डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३०५

२. 'तुलसी-पूर्व राम-साहित्य', डा० अमरपालसिंह, पृ० १३४

के तेईस नामों में विष्णुदास का भी नाम है। एक विष्णुदास 'महाभारत कथा' के रचयिता हैं, जिनका समय सन् १४३५ के आसपास माना जाता है। परन्तु हमारा तात्पर्य 'भाषा वाल्मीकि रामायण' के रचयिता विष्णुदास से है। विष्णुदास कृत 'भाषा वाल्मीकि रामायण' में आदि काव्य का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर चौपाइयों में प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रथम काण्ड, द्वितीय काण्ड हनूकाण्ड और तृतीय काण्ड उत्तरकाण्ड कहा गया है। काण्डों के अन्तर्गत सर्ग अथवा अध्याय रखे गए हैं। कथा-क्रम वाल्मीकि कथा के अनुसार है। ग्रंथारम्भ में राम-कथा की उत्पत्ति वर्णित है। तदुपरान्त प्रथम सर्ग में श्री शृंगी ऋषि का आख्यान तथा राजा दशरथ को सुमंत्र का परामर्श वर्णित है। दूसरे सर्ग में पुत्रेष्टि यज्ञ का वर्णन है। कवि ने तीसरे सर्ग में गंगावतरण, चौथे सर्ग में विश्वामित्र चरित्र और पांचवें सर्ग में विश्वामित्र यज्ञ का वर्णन किया है। बालकाण्ड के छठे सर्ग में सीता-स्वयंवर तथा राम-वनवास की कथा विस्तार से दी गई है। विष्णुदास ने चित्रकूट-गमन का कवित्वपूर्ण वर्णन किया है। 'भाषा वाल्मीकि रामायण' का दूसरा काण्ड हनूकाण्ड है। इसमें युद्धकाण्ड तक की कथा है। ग्रन्थ का तीसरा काण्ड उत्तर काण्ड है। इसमें उत्तर रामचरित का वर्णन है। कथावस्तु आदि काव्य के अनुसार है। यह काण्ड अपूर्ण है। तुलसी-पूर्व हिन्दी राम-साहित्य के अध्ययन एवं मूल्यांकन की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ईश्वरदास

रामानन्द के द्वारा प्रतिपादित दास्य भक्ति का पल्लवन हिन्दी साहित्य में रामानन्द की मृत्यु के लगभग सौ वर्ष बाद ईश्वरदास की रचनाओं में हुआ। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के इतिहास में ईश्वरदास की रचना 'सत्यवती-कथा' का और उसके रचनाकाल का उल्लेख किया है। ईश्वरदास की राम-कथा सम्बन्धी कुछ रचनाओं का भी परिचय प्राप्त हुआ है—

१. भरत विलाप
२. अंगद पैज और
३. राम जन्म।

भरत विलाप की कई हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हुई हैं। भरत विलाप में ईश्वरदास ने राम-वनवास के उपरान्त भरत के ननिहाल से लौटने, दशरथ की अन्त्येष्टि, राम को वापस लाने के लिए भरत की चित्रकूट-यात्रा तथा चरणपादुका लेकर अयोध्या लौटने की कथा का वर्णन दोहा-चौपाइयों में किया गया है। रचना करुण रस से ओत-प्रोत है। इसमें भरत की दास्य भक्ति का चित्रण किया गया है। भरत विलाप में जिस दास्य भक्ति की अभिव्यक्ति हुई है, वह रामचरित-मानस की पूर्व-पीठिका के रूप में दिखाई देती है। मानस में इसी दास्य भक्ति का विशद् रूप उपलब्ध होता है। ईश्वरदास ने कथा-प्रसंगों का वर्णन संक्षेप में किया है। ये प्रसंग परवर्ती राम-साहित्य में विस्तार के साथ वर्णित मिलते हैं। ईश्वरदास की राम-कथा सम्बन्धी रचनाओं से इस बात का संकेत मिलता है कि भक्ति-

भावना से प्रभावित होकर राम-साहित्य विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में किस दशा में विकसित हो रहा था। यह संकेत भक्ति, भाव, भाषा, छन्द आदि क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से मिलता है। हिन्दी राम-साहित्य के ईश्वरदास गौरवास्पद रचयिता हैं।[१]

गोस्वामी तुलसीदास (सन् १५३०-१६२३ ई०)

हिन्दी के सर्वाधिक प्रसिद्ध राम-भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदास ही हैं। रामानन्द के द्वारा संचालित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को हिन्दी-प्रदेश में बहुत अधिक लोकप्रिय बनाने में तुलसीदास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है। तुलसी ने वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतया लोकोन्मुख करते हुए उस समय तक की सारी सामाजिक दुर्बलताओं को, सारी धार्मिक विडम्बनाओं एवं कुरीतियों को एक समाज सुधारक एवं धर्मोपदेशक के रूप में सफल लोकनायक की तरह समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया जिसमें वे पूर्ण रूप से सफल हुए। विभिन्न सांप्रदायिक आचार्यों एवं उनकी साधना पद्धतियों से उस युग में और उसके पूर्व भी जो साहित्य रचा गया था उसमें लोक-कल्याण की पूर्ण उपेक्षा हुई थी। उदाहरणार्थ पूर्व मध्यकालीन संतधारा से प्रभावित हिन्दी के निर्गुणिया कवि कबीर, दादू आदि के साहित्य में लोक-धर्म की अवहेलना की गई थी, वल्लभ संप्रदाय के कवि भी लोकरंजन की दृष्टि से ही सफल सिद्ध हुए, वहां भी लोक-कल्याण की कोई गुंजाइश नहीं थी और सूफी प्रेममार्गी कुतबन, मंझन, जायसी आदि तो केवल लौकिकता या अलौकिकता की छाप भर लगाकर रह गए थे। उधर बहुत पहले से चले आने वाले नाथों ने समाज को केवल भुलावा और बहकावा ही दिया था, जिससे जनता अंधी भेड़ बनी हुई तरह-तरह की करामातों को साधुता का चिह्न मानने लगी थी और ईश्वरोन्मुख साधना को कुछ विरले रहस्यदर्शी लोगों का ही काम समझने लगी थी।[२] ऐसी ही परिस्थितियों में महात्मा तुलसीदास का आविर्भाव हुआ था और उन्होंने इन सारी धार्मिक और सामाजिक दुर्बलताओं को पहचाना था। उन्हें इन सबका परिशोधन करना था और एक ऐसे मार्ग का निर्माण भी करना था जो सर्वथा तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप होते हुए भी समाज को उच्च नैतिक आदर्शों की भाव-भूमि पर बिठा सके। वास्तव में महात्मा तुलसी के युग में धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से कुछ ऐसी परिस्थितियां भी उत्पन्न हो गई थीं जिनके लिए इन्हें वे सारे प्रसाधन अपनाने पड़े जिन्हें पूर्ववर्ती शास्त्रकारों ने अपनाया था।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से महात्मा तुलसीदास की बहुत बड़ी देन है। इनके साहित्य और व्यक्तित्व से इन्हीं के जीवन-काल में ही लगभग संपूर्ण भारत प्रभावित हो उठा था। अनेक तीर्थ-स्थानों के भ्रमण तथा साधु-संतों एवं शास्त्रज्ञ विद्वानों से विचार-विमर्श एवं कभी-कभी शास्त्रार्थ द्वारा गोस्वामी जी ने

१. 'तुलसी-पूर्व राम-साहित्य', डा० अमरपालसिंह, पृ० १६६
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२६

अपने विचारों को दूर-दूर तक पहुंचा दिया था। उस समय तक प्राचीन भक्ति— मार्ग में जो कुछ शिथिलता या कुछ दुर्गुण आ गए थे, उनका भी स्वामी जी ने सुन्दर ढंग से शोधन कर दिया था। जो कार्य इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने या भक्त-कवियों ने आरंभ किया था, उसे अपने ढंग से और लोक-धर्म की कसौटी पर कसने के बाद गोस्वामी जी ने पूर्ण किया।[1]

तुलसीदास जी ने बारह ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें रामचरितमानस, विनयपत्रिका, दोहावली, कवित्त रामायण और गीतावली बड़े ग्रन्थ हैं और राम-लला-नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवैरामायण, वैराग्य संदीपनी, कृष्ण गीतावली और रामाज्ञाप्रश्नावली छोटे ग्रन्थों में गिने जाते हैं। कुछ विद्वान् इनके लिखे कई अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख करते हैं। वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में रामचरित-मानस और विनयपत्रिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। तुलसीदास की भक्ति-पद्धति का स्पष्ट रूप इन्हीं दो ग्रन्थों में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। तुलसी की काव्य-साधना में समस्त काव्य-रूपों और काव्य-शैलियों का प्रयोग हुआ है। कवि, भक्त, समाज-सुधारक, लोकनायक, आदि कई रूपों में तुलसीदास महान् हैं और 'रामचरितमानस' हिन्दी की ही नहीं समस्त भारतीय वैष्णव भक्ति-साहित्य की अमूल्य निधि है।

हृदयराम

इन्होंने सन् १६२३ ई० में संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा में हनुमन्नाटक की रचना की। आचार्य शुक्ल ने उस युग के रामचरित सम्बन्धी रूपकों या नाटकों में हृदयराम के 'हनुमन्नाटक' को ही सर्वाधिक प्रसिद्ध कहा है और इनकी काव्य-प्रतिभा की भी प्रशंसा की है। राम-भक्ति में आदर्श भावना को हृदयराम जी ने निश्चय ही काफी योग दिया था। हृदयराम जी का यह ग्रन्थ शक्ति और शील के साथ-साथ उदात्त कोमल भावनाओं की त्रिवेणी बहाता हुआ चला है। राम की शक्ति का जो भव्य रूप महात्मा तुलसीदास ने जनता के सम्मुख रखा था, उसे हृदयराम ने आगे बढ़ाया और संवाद शैली को अपनाकर जो महात्मा तुलसी की लेखनी से छूट गई थी, इन्होंने राम-काव्य का एक नया रूप भी समाज के सामने प्रस्तुत किया, जिसके लालित्य का बहुत ही सुन्दर प्रभाव सर्वसाधारण पर पड़ा था।

उपर्युक्त राम-भक्त कवियों के अतिरिक्त हिन्दी की राम-भक्ति-काव्य-धारा में महात्मा सूरदास, आचार्य केशवदास, कविवर सेनापति आदि कवियों की राम-भक्तिपरक रचनाएं भी महत्त्व रखती हैं।

रसिकोपासना शाखा

हिन्दी राम-भक्ति धारा की रसिकोपासना शाखा का साहित्य भी परिमाण की दृष्टि से विशाल है। इस रसिक संप्रदाय के रामभक्त कवियों की संख्या भी

१. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० ३२२

काफी अधिक है, परन्तु इनमें केवल कुछ ही नाम गण्य हैं। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से इन रसिक राम-भक्त कवियों का पर्याप्त महत्त्व है। क्योंकि इस सम्प्रदाय के कवियों की परंपरा गोस्वामी तुलसीदास की मर्यादोपासना के पूर्व ही प्रारम्भ होकर उनके बाद भी कई शताब्दियों तक चलती है। रीतिकाल में भी राम-भक्ति परंपरा को जीवित रखने में इस रसिक सम्प्रदाय का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

राम-भक्ति के रसिक संप्रदाय के साहित्य के सम्बन्ध में डा० भगवती प्रसाद सिंह लिखते हैं—"गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित के जिस स्वरूप की अभिव्यक्ति अपनी कृतियों में की, वह ऐश्वर्य प्रधान है। उनके राम लोक-मर्यादा के रक्षक, लोक-विरोध तत्त्वों के उन्मूलक और लोक-धर्म के संस्थापक हैं। किन्तु तुलसी की समकालीन रामकाव्य-धारा में रामोपासना के एक दूसरे पक्ष के अस्तित्व के भी चिह्न मिलते हैं जिसका दर्शन स्वयं तुलसी में भी यत्र-तत्र हो जाता है—वह है रामावत सम्प्रदाय में माधुर्य-भक्ति का उत्कर्ष। रामोपासना की इस पद्धति का प्रचार भक्तों के एक संप्रदाय विशेष तक सीमित था। सिद्धांतों की गोपनीयता के कारण उनका उपदेश केवल अन्तरंग और दीक्षित साधकों को ही दिया जाता था। अतएव उनका सारा साहित्य आचार्य पीठों के बस्तों में बंधा अप्रकाशित और अविवेचित ही पड़ा रहा। उधर तुलसी-साहित्य के प्रचार से रामचरित के ऐश्वर्य प्रधान अथवा शुक्ल जी के शब्दों में 'शील, शक्ति, सौंदर्य' समन्वित रूप की प्रतिष्ठा लोक-व्यापक हो गई। उसके आधार पर जन-साधारण क्या, साहित्य की गतिविधि से परिचित विद्वानों तक भी यह धारणा बन गई कि राम काव्य का परंपरागत स्रोत एकमात्र मर्यादाबद्ध अथवा ऐश्वर्यपरक भक्ति को ही लेकर चला। माधुर्य विषयक जो रचनाएं उसमें यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं, वे अत्यन्त अर्वाचीन, अश्लील और साहित्य के लिए अशोभन हैं। परन्तु अनुसंधान स्थिति का एक दूसरा ही रूप प्रस्तुत करता है। इधर इस माधुर्य-धारा का जो साहित्य उपलब्ध हुआ उससे विदित होता है कि गोस्वामी तुलसीदास की पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती रामोपासना इसी से ओत-प्रोत थी। वास्तव में इस पद्धति के साधक कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि तुलसी समकालीन भक्ति-क्षेत्रों में प्रसूत शृंगारी राम-भक्ति के एक अपवाद-से प्रतीत होते हैं। यह दूसरी बात है कि इस संप्रदाय में इतनी प्रखर प्रतिभा का कोई दूसरा कवि अवतरित नहीं हुआ जो सूर और मीरा की तरह जन-सामान्य को भी इस दिव्य रस का आस्वादन करा सकता। परिमाण की दृष्टि से संपूर्ण राम-भक्ति-साहित्य का दो तिहाई से अधिक भाग रसिक भक्तों द्वारा ही विरचित मिलता है और प्राचीनता के विस्तार से सांप्रदायिक विश्वासों के अनुसार यह कम से कम उतनी पुरानी है, जितनी तुलसी की ऐश्वर्य प्रधान भक्ति-पद्धति। इसके विकास-सूत्रों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी काल विशेष के किन्हीं कारणों से इसका प्रवाह क्षीण भले ही हो गया हो, किन्तु स्रोत कभी सूखता नहीं दिखाई दिया।"[1]

१. 'राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय', डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० ६६-६७

अग्रदास

अग्रदास रसिक संप्रदाय के आचार्य कहे गए हैं। रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी इनके गुरु थे। ये अपनी रचनाओं में 'अग्रअली', 'अग्रसहचरी' आदि छाप रखते थे। इससे इनकी रसिक भावना की साधना की पुष्टि होती है। ये सखी भाव से दिव्य दम्पती की रसमयी लीला का ध्यान करते थे। उनकी बाह्य सेवा दास्यनिष्ठापरक थी।

स्वामी अग्रदास के जीवन के सम्बन्ध में विशेष सूचना उपलब्ध नहीं है। उनके स्थिति-काल के सम्बन्ध में कोई प्राचीन निश्चयात्मक उल्लेख नहीं मिलता। सांप्रदायिक मान्यता है कि उनका जन्म जयपुर के किसी गांव में विक्रम की १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुआ था। स्वामी अग्रदास का आविर्भाव-काल राम-साहित्य के विद्वानों के अनुसार सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में पड़ता है और वे महात्मा सूरदास के समकालीन ठहरते हैं।[1]

आचार्य शुक्ल ने अग्रदास की चार रचनाओं की सूचना दी है—हितोपदेश उपषाण बावनी, ध्यानमंजरी, राम ध्यानमंजरी और कुण्डलिया। वास्तव में ये दो ही रचनाएं हैं—ध्यान मंजरी और कुण्डलिया। संगीत रागकल्पद्रुम, शिव सिंह सरोज तथा अन्यत्र भी अग्रदास के कुछ फुटकल पद मिलते हैं, जिन्हें संप्रदाय में मान्यता प्राप्त है। अब तक की खोज के आधार पर अग्रदास जी की हिन्दी रचनाएं इस प्रकार हैं :

१. ध्मानमंजरी अथवा राम ध्यानमंजरी
२. कुंडलिया अथवा हितोपदेश उपषाण बावनी
३. राम ज्योनार, और
४. पदावली

'ध्यानमंजरी' स्वामी अग्रदास की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति है। रसिक भक्तों के ध्यान के लिए इसकी रचना की गई है। रसिक संप्रदाय में इसकी मान्यता गीता के समान है। इस ग्रंथ में अवधपुरी तथा सपार्षद सीताराम का, जिनका ध्यान रसिक भक्त निरंतर करते हैं, ललित पदावली में वर्णन किया गया है। 'कुंडलिया' में स्वामी अग्रदास द्वारा रचित छप्पय-कुंडलिया संकलित हैं। इसका नाम उपषाण बावनी भी है। कुंडलिया छन्दों में अग्रदास के उपदेश संगृहीत हैं। इनका उद्देश्य विषय-वासना से मन को हटाकर भक्ति में लगाना है। कतिपय छन्दों में सगुण भक्ति का निर्देश हुआ है। 'पदावली' अग्रदास की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें संकलित पदों में सीताराम की किशोरावस्था की लीलाओं का मुख्यत: वर्णन हुआ है। दिव्य दम्पती की दिनचर्या सम्बन्धी पद भी मिलते हैं। इष्ट की मधुर लीलाओं तथा शृंगारी क्रीड़ाओं का मनोहर वर्णन इन पदों में उपलब्ध होता है। हिन्दी राम-साहित्य में अग्रदास की रचनाएं महत्त्वपूर्ण हैं। ये रचनाएं राम-भक्ति में रसिक-धारा की उद्गम हैं। इन्हीं से निसृत होकर रसिक

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४६

परंपरा आगे फैली, फली और फूली।

नाभादास

नाभादास 'नाभाअली' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। नाभादास का जन्म दक्षिण में हुआ था। प्रियादास का मत है कि ये जन्मान्ध थे और इस अनाथ अन्ध बालक का पालन कील्हादास ने किया और उनकी कृपा से इनकी आंखें खुल गईं। नाभादास तुलसी के समकालीन थे। इनका 'भक्तमाल' १५८५ ई० में लिखा गया। शुक्ल जी ने इन्हें १६०० ई० के आस-पास वर्तमान माना है।[1] नाभादास की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं—भक्तमाल और रामचन्द्र जी के दो 'अष्टयाम' (ब्रजभाषा पद्य और ब्रजभाषा गद्य में)। नाभादास की कृतियों में केवल भक्त-माल ही प्रसिद्ध हुई। नाभादास की गणना केवल रसिक भक्तों में ही नहीं, बल्कि भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में इन्हें साम्प्रदायिक इतिहासकार के रूप में भी की जानी चाहिए। 'भक्तमाल' में २०० भक्तों का गुणगान किया गया है। इसमें दी गई सामग्री का उपयोग विशुद्ध इतिहास की भांति नहीं किया जा सकता। फिर भी कवि ने अपनी भक्त-सुलभ भावुकता में भी भक्तों की भक्ति-पद्धति का ठीक ही मूल्यांकन किया है।

बालकृष्ण 'बालअली'

इनकी गणना रसिक संप्रदाय के विशिष्ट आचार्यों में होती है। बालअली अग्रदास की पांचवीं पीढ़ी में आविर्भूत ठहरते हैं। इनका काव्य-काल संवत् १७२६ और १७४६ के बीच में पड़ता है। इनका मूल नाम बालकृष्ण था। 'बालअली' भावसाधन सम्बन्धी नाम था। आरंभ में ये रामानुज संप्रदाय में दीक्षित हुए और 'अहोबिल' गद्दी की परंपरानुसार वैष्णव चिह्न धारण करके कुछ काल तक साधना और शास्त्रों का स्वाध्याय करते रहे, किन्तु आचार्यों के 'सदाचार' मार्ग से इनकी तृप्ति नहीं हुई। अंत में श्री चरणदास द्वारा रसिक संप्रदाय में दीक्षित हुए। बालअली की आठ रचनाओं का पता चला है: १. ध्यान-मंजरी २. नेह प्रकाश ३. सिद्धान्त तत्त्व दीपिका ४. दयाल मंजरी ५. ग्वाल पहेली ६. प्रेम पहेली ७. प्रेम परीक्षा और ८. परतीत परीक्षा। इनमें सिद्धान्त-विवेचन तथा काव्य-सौष्ठव के विचार से 'नेह प्रकाश' और 'सिद्धान्त तत्त्व दीपिका' महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं।

छत्रसाल

महाराज छत्रसाल पन्ना के प्रसिद्ध बुन्देल राजा चम्पतराय के पुत्र थे। 'भूषण' कवि के आश्रयदाता के रूप में तो इनकी प्रसिद्धि है, परन्तु इनकी अपनी रचनाओं का व्यापक रूप में प्रचार नहीं हुआ है। श्री वियोगी हरि ने 'छत्रसाल-ग्रन्थावली' में इनकी कृतियों का जो परिचय दिया है, उससे पता चलता है कि

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० १७७

इन्होंने आठ ग्रन्थों की रचना की थी, रामावतार के कवित्त, रामध्वंजाष्टक, हनुमान पच्चीसी और श्री राधाकृष्ण पच्चीसी इत्यादि। छत्रसाल की राम-भक्ति विषयक कुछ रचनाओं से जान पड़ता है कि ये रसिक शाखा के सिद्धान्तों में श्रद्धा रखते थे। सीताराम की विहार-लीलाओं पर लिखे गए छन्द इस वर्ग में आते हैं। यह स्मरणीय है कि उनके आविर्भाव के पहले से चित्रकूट रसिक संतों की प्रधान साधना-भूमि बन चुका था। अतएव वहां के राम-रसिकों के प्रभाव से छत्रसाल के हृदय में राम की माधुर्य-लीला के प्रति आकर्षण उत्पन्न होना असंभव कहा नहीं जा सकता।

रामप्रिय शरण 'प्रेम कली'

ये मिथिलावासी रसिक भक्त थे। इनके गुरु 'नेहअली' नामक कोई रसिक महात्मा थे। इन्होंने रसिक संतों में रामायण के आदर्श पर 'सीतायन' नामक एक विशाल प्रबन्ध-काव्य की रचना की है, यह सात काण्डों में विभाजित है। इस ग्रन्थ का रचना-काल ई० १७०३ है। 'सीतायन' में रसिकों के सिद्धान्तानुसार जानकी जी की बाल एवं विहार-लीलाओं का ही वर्णन है।

उपर्युक्त रसिक भक्त-कवियों के अतिरिक्त रसिक संप्रदाय के प्रमुख कवियों में बालनंद, रूपलाल, रूपसखी, रामप्रसन्न (मधुराचार्य), रामसखे, प्रेमसखी, कृपानिवास, रामदास, तपसीजी, रामचरणदास, महाराज विश्वनाथ सिंह, मनीराम, जीवाराम, युगलप्रिया और रघुनाथदास आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। रसिक संप्रदाय की परंपरा वर्तमान युग तक चली आ रही है और इस संप्रदाय के रसिक कवियों की रचनाओं की संख्या भी अनगिनत है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य-धारा

कहा जा चुका है कि अधिकांश हिन्दी कृष्ण-काव्य विविध कृष्ण-भक्ति संप्रदायों के अन्तर्गत आने वाले कवियों के द्वारा ही निर्मित है। विविध कृष्ण-भक्ति संप्रदायों ने इन कवियों को काव्य-रचना के लिए प्रोत्साहन दिया है। कृष्ण-भक्तों के उपासना क्षेत्र में यद्यपि साध्य की एकता थी अर्थात् सभी ने कृष्ण को या राधा-कृष्ण के युगल रूप को अपने आराध्य के रूप में ग्रहण किया था, तो भी उनकी सेवा-विधि तथा कृष्ण के विभिन्न रूपों सम्बन्धी मान्यताओं में थोड़ा-बहुत अंतर था। इसी कारण विभिन्न संप्रदायों की स्थापना हुई जिनमें वल्लभ, राधावल्लभीय, गौडीय, निम्बार्क और हरिदासी संप्रदाय मुख्य हैं। अधिकांश हिन्दी कृष्ण-भक्त कवि इनमें से किसी न किसी संप्रदाय से सम्बन्धित थे। इधर तीन और संप्रदायों का भी पता चला है। वे हैं ललित संप्रदाय, प्रणामी संप्रदाय और शुक संप्रदाय। कुछ संप्रदायमुक्त कृष्ण-भक्त कवि भी थे। इन विभिन्न संप्रदायों के प्रमुख कृष्ण-भक्त कवियों और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है।

वल्लभ संप्रदाय के प्रमुख कवि

१. महाकवि सूरदास : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

महाकवि सूरदास हिन्दी साहित्य-गगन के तेजोमय सूर्य हैं। इनकी रचनाएं इनके जीवन-काल से अब तक अनगिनत भगवद्-भक्तों और साहित्यानुरागी रसिक जनों को असीमित आनन्द प्रदान कर रही हैं। संगीतज्ञों के लिए तो सूर के पद मानो प्राण हैं। इस महान् कवि की रचनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन कर हिन्दी साहित्य के सुयोग्य विद्वानों ने अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्य के आधार पर सूरदास के जीवन पर प्रकाश डालने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। परन्तु सर्व-सम्मत जीवनी अब तक लिखी नहीं जा सकी है।

सूरकृत कहे जानेवाले ग्रन्थों की सूची डा० हरबंशलाल शर्मा ने इस प्रकार दी[1] है।

१. सूरसारावली २. भागवतभाष्य ३. सूर-रामायण ४. गोवर्धनलीला (सरस लीला) ५. भंवरगीत ६. प्राणप्यारी ७. सूर साठी ८. सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद ९. एकादशी माहात्म्य १०. साहित्यलहरी ११. दशम स्कन्ध-भाषा १२. मान लीला १३. नागलीला १४. दृष्टिकूट के पद १५. सूर-पचीसी १६. नल-दमयन्ती १७. सूर-सागर १८. सूर-सागर-सार १९. राधा-रस-केलि-कौतूहल २०. दान लीला २१. ब्याहलो, २२. सूरशतक २३. सेवाफल २४. हरि-वंश टीका (संस्कृत) २५. रामजन्म।

इनमें से कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित। इन रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डा० ब्रजेश्वर वर्मा एक-मात्र 'सूर-सागर' को ही सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं।[2] डा० दीनदयालु गुप्त, मुंशीराम शर्मा तथा द्वारकादास परीख आदि विद्वानों ने 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' को भी प्रामाणिक सिद्ध किया है।[3]

यहां केवल सूर की प्रमुख तीन रचनाओं पर प्रकाश डाला जाता है। यथा—

सूरसागर

यह सूरदास की अत्यन्त विशालकाय और महत्त्वपूर्ण रचना है। उपलब्ध 'सूरसागर' भागवत की तरह ही द्वादश स्कन्धों में विभाजित है। हो सकता है कि सूरदास ने स्कन्ध रूप में ही इसकी रचना की हो।[4] इसमें प्रथम, नवम और दशम

---

१. 'सूर और उनका साहित्य', डा० हरबंशलाल शर्मा, पृ० ३५

२. 'सूरदास', पृ० ९७

३. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', पृ० २९८
'सूरसौरभ' (प्रथम भाग), पृ० ३
'सूर निर्णय', पृ० १९६

४. श्रीमुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समझाई।
ब्रह्मा नारद सौं कहै, नारद व्यास सुनाई॥
व्यास कहै शुकदेव सौं द्वादस कन्ध बनाई।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाई॥
—सूरदास (प्रथम स्कन्ध), पद सं० २२५ (सभा)

के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध विशाल और महत्त्वपूर्ण हैं। शेष उतने महत्त्वपूर्ण नहीं। सम्पूर्ण पदों की संख्या ४,५७८ है। सूरसागर में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं, राधा और गोपियों के प्रति उनकी अनेक चेष्टाओं तथा गोपियों के विरह का विशद वर्णन है। भागवत की कथाओं और तत्त्वों को सूर ने इसमें अपनी भावना के अनुसार ही प्रस्तुत किया है।

सूरसारावली

इसको कुछ विद्वानों ने 'सूरसागर' की 'अनुक्रमणिका' अथवा 'सूची-पत्र' तक कहा है। परन्तु वास्तव में यह एक स्वतन्त्र रचना है और इसकी शैली में भी उससे भिन्नता है। इसमें कुल १,१०७ द्विपद छन्द हैं। इसमें सूर ने इस संसार को होली के खेल का रूपक माना है जिसमें लीला-पुरुष की अद्भुत लीलाएं निरन्तर चलती हैं। इस रूपक का निर्वाह अन्त तक किया गया है। अवतारों के वर्णन में भागवत का अनुकरण है। नई कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है। अन्तिम भाग में रुक्मिणी के प्रश्न के उत्तर के रूप में ब्रज, वृन्दावन, राधा, यशोदा तथा रास आदि लीलाओं का समावेश है।

साहित्यलहरी

इसको सूरदास के दृष्टिकूट पदों का संग्रह तथा रस, अलंकार और नायिका-भेद की एक रीति-प्रधान रचना कहा जाता है। इसमें ११८ पद हैं। 'साहित्य-लहरी' के आधार पर कुछ विद्वानों ने सूर की भक्ति-भावना को शृंगार के कर्दम से लांछित और दूषित भी ठहराने का प्रयत्न किया है। परन्तु डा० हरबंशलाल शर्मा का कहना है—"सूर ने अपने आराध्य की अनेक प्रणय-पूर्ण लीलाओं के मधुर गान का जो स्वर उठाया है—उसमें सरसता है किन्तु कर्दम नहीं, विह्वलता है किन्तु वासना नहीं, सौंदर्य रसपान की आकुल पिपासा है, किन्तु ऐन्द्रिय लोलुपता नहीं। वाष्प की तरलता है किन्तु दृढ़ता के साथ मुसकान की मादकता है, किन्तु चेतना के साथ, अनुभूतियों की चपलता है किन्तु स्थिरता के साथ। कहां तक कहें—लौकिकता है, परन्तु अलौकिकता के साथ।"[१]

२. परमानन्ददास : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

परमानन्ददास द्वारा रची हुई मानी जाने वाली रचनाएं निम्नलिखित हैं :

१. दानलीला २. ध्रुवचरित्र ३. उद्धवलीला ४. संस्कृत रत्नमाला ५. दीर्घ-लीला ६. परमानन्द जी के पद ७. परमानन्द सागर।

उपर्युक्त ग्रन्थों में पहले ५ ग्रन्थ अप्रामाणिक और अनुपलब्ध हैं। छठा ग्रन्थ सातवें का ही अंग मात्र है। 'परमानन्द सागर' जो उनके भक्तों द्वारा उनके पदों के लिए दिया हुआ नाम है, उनकी प्रामाणिक रचना ठहरती है।[२] 'परमानन्दसागर' का विस्तार लगभग २,००० पदों तक जाता है। यह संख्या नाथद्वार और कांकरौली में प्राप्त इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है। परमा-

१. 'सूर और उनका साहित्य', द्वितीय संस्करण, पृ० ४६

२. 'परमानन्दसागर', (पद-संग्रह), डा० गोवर्धननाथ शुक्ल, पृ० १२

नन्ददास जी के पदों में 'परमानन्द' नाम की निम्नलिखित छापें मिलती हैं :

१. परमानन्द प्रभु, २. परमानन्द स्वामी, ३. परमानन्ददास, ४. दास परमानन्द, ५. परमानन्द ।

इन पदों के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में डा० दीनदयालु गुप्त लिखते हैं : "उसके पदों में दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध कृष्ण के मथुरा-गमन और भंवरगीत तक का ही मुख्यतः वर्णन है । सूरदास जी ने तो स्वयं कई स्थलों पर अपनी रचना में कहा है कि वे भागवत के अनुसार अपने-अपने विषय को लिख रहे हैं । परमानन्ददास के पदों में इस प्रकार का उल्लेख देखने को नहीं मिलता । उन्होंने कुछ स्फुट पद, अक्षय तृतीया, दीपमालिका, राज जन्म-नृसिंह, वामन अवतारों की प्रशंसा आदि विषयों पर भी लिखे हैं जो बहुधा वल्लभ सम्प्रदायी वर्षोत्सव-कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं ।"[1]

इन पदों का क्रम, रागों के अनुसार न होकर, विषय के अनुसार है । कवि का काव्य-विषय मुख्यतः श्रीकृष्ण की किशोर-लीला गाना था । 'परमानन्दसागर' में 'सूरसागर' की तरह भागवत की सम्पूर्ण कथा का समावेश न होकर, केवल दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध, कृष्ण के मथुरागमन और भंवरगीत का वर्णन है । इनके अधिकतर पद कृष्ण की बाल-लीला, गोपी-प्रेम, और गोपी-विरह पर लिखित हैं । इनके अतिरिक्त राधा को लेकर मानखण्डिता, युगल-लीला, रास आदि पर तथा अन्य स्फुट विषयों पर भी इनके पद उपलब्ध होते हैं ।

२. नन्ददास : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

नन्ददास ने अन्य अष्टछापी कवियों की तरह स्फुट पद भी रचे थे, पर साथ ही इन्होंने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना की जिनमें कुछ अब अनुपलब्ध हैं । फ्रांसीसी विद्वान् तासी ने अपने इतिहास (सन् १८७० ई० में) श्री नन्ददास के ३० ग्रन्थों का उल्लेख किया है । परन्तु डा० दीनदयाल गुप्त के अनुसार नन्ददास के निम्नलिखित ग्रन्थ ही प्रामाणिक हैं ।

१. रसमंजरी २. अनेकार्थ मंजरी ३. मानमंजरी ४. दशम स्कन्ध, ५. श्याम सगाई ६. गोवर्धनलीला ७. सुदामा चरित्र ८. विरह मंजरी ९. रूप मंजरी १०. रुक्मिणी मंगल ११. रास पंचाध्यायी १२. भंवरगीत, १३. सिद्धान्त पंचाध्यायी ।

'रसमंजरी' ग्रन्थ का विषय नायक-नायिका भेद है । 'अनेकार्थ मंजरी' में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दोहाबद्ध करके दिए गए हैं । 'नाम मंजरी नाममाला' में अमरकोश के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची रूप दिए गए हैं । राधा का मान-वर्णन भी है । 'दशम स्कन्ध' में भागवत दशम स्कन्ध के उन्नीस अध्यायों का भावानुवाद है । कवि को इसको लिखने की प्रेरणा तुलसी के 'रामचरितमानस' से मिली थी । यह अपूर्ण रचना है । 'श्याम सगाई' में कृष्ण के साथ राधा की सगाई होने का उल्लेख है । यह कथा भागवत में नहीं है । कृष्ण गारुडी बनकर

१. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ३११

छल से राधा का काल्पनिक विष उतारते हैं और इस प्रकार अंत में सगाई स्वीकृत कराने में सफल होते हैं।

'गोवर्धन लीला' में कृष्ण चरित्र की लीलाओं का वर्णन और गुणगान है। 'सुदामा चरित्र' में कृष्ण की दयालुता, भक्तवत्सलता, मैत्री-निर्वाह आदि भावों को दिखाया गया है। 'विरह मंजरी' में नन्ददास के 'द्वादश मास विरह की कथा' का चित्रण है। इसमें ब्रजवासिनियों की विरह-व्यथा का मार्मिक वर्णन है। 'रूपमंजरी' में रूपवती और रूपमंजरी के रूप तथा उसके लौकिक प्रेम का त्याग तथा कृष्ण के साथ प्रेम करने का वर्णन है। दोहा-चौपाई की शैली में वर्णित इस कथा का आधार भागवत से लिया गया है। 'रुक्मिणीमंगल' में कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की कथा है, जो भागवत पर आधारित है। कथा-कथन कल्पना को भी स्थान मिला है।

'रास पंचाध्यायी' में भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के पांच अध्यायों में वर्णित रासलीला का वर्णन रोला छन्द में हुआ है। अपनी कोमल-कान्त-पदावली और श्रुति-मधुर भाषा-शैली के कारण यह ग्रन्थ हिन्दी का गीत-गोविन्द कहा जा सकता है। 'भंवर गीत' में उद्धव-गोपी-संवाद के रूप में निर्गुण पर सगुण की विजय और योग और ज्ञान मार्ग पर प्रेम की विजय दिखाई गई है। ऐसा लगता है कि यह सूरदास के 'भ्रमर गीत' से प्रभावित होकर लिखा गया हो। 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में वर्णित रास-क्रीड़ा की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। ऐसा लगता है कि रास-प्रसंग के शृंगारिक वर्णनों की अलौकिकता पर की गई शंकाओं का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत करना ही इसकी रचना में कवि का उद्देश्य था।

'नन्ददास की पदावली' में पदों की संख्या ७०० से ८०० तक के बीच में है। विषय की दृष्टि से इन पदों में पुष्टिमार्गीय वर्षोत्सव सम्बन्धी लगभग सभी प्रसंगों का वर्णन मिलता है। बाल-लीला पर नन्ददास की कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती है। परन्तु इनके पदों में कहीं-कहीं उसका भी समावेश है। इनकी पदावली के मुख्य विषय इस प्रकार हैं—गुरु-स्तुति, लीलापद, कृष्ण-जन्म, बधाई, पालना, बालरूप, गोचारण, गोदोहन, पनघट, दान-लीला, हिंडोला, राधा-कृष्ण अनुराग, केलि, कृष्ण-रूप-वर्णन, राधा-रूप-वर्णन, राधा-कृष्ण का विवाह वर्णन, रास राधा मान, होली, फूल, मंडली, वसन्त, खण्डिता, मल्हार, वर्षा, दीपमालिका, अक्षय तृतीया आदि त्यौहार। नन्ददास के काव्य में भाषा की मधुरता तथा शब्दों की सजावट है। इसलिए 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया' की उक्ति प्रचलित हो गई है।

४. रसखान : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

'रसखान' हिन्दी के सुप्रसिद्ध मुसलमान कृष्ण-भक्त कवि हैं, जिनकी देन कृष्ण-काव्य को अति प्रशंसनीय है। इनका जीवन-वृत्त तिमिराछन्न है और इनका प्रामाणिक जीवन-वृत्तान्त अभी तक लिखा नहीं जा सका है। 'शिवसिंह

सरोज"[1] गोस्वामी राधाचरण कृत 'भक्तमाल', बाबा बेनीमाधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित' आदि में रसखान के सम्बन्ध में उल्लेख हैं। रसखान के निम्न-लिखित दोहे तथा '२५२ वैष्णव की वार्ता' से पता चलता है कि ये किसी बादशाह खानदान के थे—

"देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छांडि रसखान॥

('प्रेमवाटिका', दोहा ४८)

कुछ लोग इन्हें सैयद इब्राहीम पिहानी वाले समझते हैं। परन्तु कवि रसखान उनसे भिन्न व्यक्ति थे।[2] रसखान के जन्म-संवत् और निधन-संवत् का निर्णय करना कठिन है। पंडित चन्द्रशेखर पाण्डेय[3] और वेद मिश्र[4] ने इनका जन्म-संवत् १६१५ लिखा है। परन्तु इसका कोई आधार नहीं दिया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल केवल उनके कविता-काल का उल्लेख करते हैं जो उनके अनुसार संवत् १६४० है।[5] कवि ने अपनी रचना 'प्रेंमवाटिका' में एक दोहे में उसके रचनाकाल का उल्लेख किया है :

"विधु सागर रस इन्दु सुभ, बरस सरस रसखान।
प्रेमवाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरषि बखान॥"

इस दोहे के आधार पर 'प्रेमवाटिका' का रचना-काल संवत् १६७१ निकलता है। यह प्रसिद्ध है कि रसखान दिल्ली छोड़कर गोवर्धन गए थे और वहां गोस्वामी विट्ठलनाथ ने (संवत् १५७२-१६४२) रसखान का प्रवेश वल्लभ संप्रदाय में कराया था। प्रचलित किंवदन्तियों से अनुमान किया जा सकता है कि जब वे वृन्दावन गए, तब काफी वयस्क व्यक्ति अवश्य थे। अतः इनका जन्म-संवत् १५९० के आस-पास ही मानना समीचीन होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का अनुमान है कि रसखान का जन्म १६वीं शती के मध्य में हुआ होगा।[6] चूंकि 'प्रेम-वाटिका' की रचना संवत् १६७१ में हुई, इसलिए रसखान का निधन-संवत् १६७४ के लगभग माना जा सकता है। डा० दीनदयालु गुप्त रसखान को अष्ट-छाप कवियों के समकालीन मानते हैं।[7]

रसखान की दो रचनाएं मिलती हैं :

१. प्रेम-वाटिका

---

१. 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि रसखान कवि सैयद इब्राहीम पिहानी वाले सं० १६३० वि० में हुए। ये मुसलमान थे। श्री वृन्दावन में जाकर कृष्णचन्द्र की भक्ति में ऐसे डूबे कि फिर मुसलमानी धर्म त्यागकर माला-कंठी धारण किए हुए वृन्दावन की रज में मिल गए। इनकी कविता निपट ललित-माधुरी से भरी हुई है।

२. 'ब्रजमाधुरीसार' (दसवां संस्करण), पृ० १४७

३. 'रसखान और उनका काव्य', पृ० २

४. 'कृष्ण-काव्य की रूपरेखा', पृ० ९८

५. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २३२

६. 'हिन्दी साहित्य', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २०७

७. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २२

२. सुजान-रसखान

'प्रेम-वाटिका' में ५२ दोहे हैं जिनमें प्रेम की महिमा का वर्णन है। कवि ने प्रेम को ईश्वर से बढ़कर प्रधान दिखाने का प्रयत्न किया है। इनका प्रेम रीति-कालीन कवियों का-सा वासनामूलक न होकर सच्चा प्रेम है जो भगवत्प्रेम में परिणत होता है। कहीं-कहीं ग्राध्यात्मिकता की भी झलक मिलती है।

'सुजान-रसखान' में कवित्त और सवैये हैं। 'राग-रत्नाकर' में रसखान के १३० पद्य संगृहीत हैं।[1] इन पदों में मुरलीधर मन-मोहन और गोपी-कृष्ण प्रेम का प्रधानतः वर्णन है। अन्य लीलाओं का वर्णन नहीं है। इसमें नियमबद्धता का अभाव है। कुछ छन्दों में बाल-रूप का भी वर्णन मिलता है।

रसखान की भाषा सरल, सरस ब्रजभाषा है, जो अपने माधुर्य के लिए प्रसिद्ध है। हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य को इनकी देन ग्रमूल्य है। डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"सहज आत्म-समर्पण, अखण्ड विश्वास और अनन्य निष्ठा की दृष्टि से रसखान की रचनाओं की तुलना बहुत थोड़े भक्त-कवियों से की जा सकती है।"[2] भारतेन्दु जी का यह कथन है—"इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए।"

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त वल्लभ संप्रदाय के कवियों में कृष्णदास, गोविन्द दास, छीतस्वामी चतुर्भुजदास, दामोदरदास हरसानी, गोपालदास, लालदास, गंगाबाई, विट्ठल गिरिधरन, चतुर बिहारी, गोस्वामी गोकुलनाथ, श्री हरिराय और नागरीदास उल्लेखनीय हैं।

राधावल्लभ संप्रदाय के प्रमुख कवि

१. हितहरिवंश : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंश जी का हिन्दी कृष्ण-काव्य के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

श्री हितहरिवंश जी का ब्रजभाषा तथा संस्कृत दोनों पर समान ग्रधिकार था। प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'राधासुधानिधि' के- रचयिता आप ही हैं। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश इसे प्रबोधानन्द सरस्वती की रचना बताई है।[3] इसमें २७० सुन्दर श्लोकों में राधारानी की प्रशस्ति गाई गई है। चूंकि श्री हितहरिवंश जी की इष्टाराध्या राधा है, इसलिए उसकी पूजा, उपासना, वन्दना, प्रशस्ति के लिए उन्होंने इसकी रचना की है। इस स्तोत्र-काव्य का प्रमुख ध्येय—श्री राधा को इष्टाराध्या के रूप में प्रस्तुत करना ही है। 'राधासुधानिधि' की पदावली कोमल-कान्त और सरस है। यह हिन्दी अनुवाद सहित, 'वाद' ग्राम निवासी बाबा हितदास द्वारा प्रकाशित है।

श्री हितहरिवंश जी की संस्कृत में दूसरी रचना 'यमुनाष्टक' है। यह यमुना

---

१. 'ब्रजमाधुरीसार', पृ० २०६

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

३. 'हिन्दी साहित्य', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १६६-१६७

की वन्दना में आठ श्लोकों में लिखा हुआ प्रशस्ति-काव्य है। ब्रजभाषा में श्री हितहरिवंश जी की दो रचनाएं प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं।

१. श्री हित-चौरासी
२. श्री हित-स्फुटवाणी

'श्री हित-चौरासी' मधुर ब्रजभाषा में सरस-कोमल-पदावली में रचित ८५ पदों वाली एक उत्कृष्ट रचना है, जिसके कुछ पद जयदेव और विद्यापति के पदों की याद दिलाते हैं। यह रचना हित संप्रदाय में गीता अथवा भागवत के समान पूज्य मानी जाती है और सभी साम्प्रदायिक कवियों ने इसे आदर्श रूप में अपनाया है। इसमें राधा-कृष्ण के प्रेम, सम्भोग, कुंज-क्रीड़ा, रास, मान, नख-शिख आदि का वर्णन है। इसके पद भिन्न-भिन्न रागों में विभाजित हैं। श्री हित-चौरासी के ऊपर अनेक टीकाएं निकली हैं—

१. हित धरणीधर की टीका (१६वीं शती)
२. गोस्वामी सुखलाल जी की टीका (१७वीं शती)
३. लोकनाथ जी की टीका
४. श्री जुगलदासजी की टीका
५. प्रेमदास जी की टीका
६. केलिदास की टीका (१८वीं शती टीका)
७. श्री रतनदास जी की टीका, आदि[1]

'श्री हित-स्फुटवाणी' में १५ पद, ३ सवैया, २ छप्पय, २ कुण्डलियां तथा एक अरिल्ल—कुल २३ मुक्तक संगृहीत हैं। परन्तु पदों के प्रकीर्णक होने पर भी उसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का स्थान प्राप्त हो गया है। इसका वर्ण्य-विषय कृष्ण-भक्ति की महत्ता है।

इनके अतिरिक्त श्री बलदेव उपाध्याय ने और तीन ग्रन्थ इनके नाम से बताये हैं :

१. आशास्तव
२. चतु:श्लोकी तथा
३. राधातन्त्र ग्रन्थ[2]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो और रचनाएं इनके द्वारा रचित बताई हैं :

१. वृन्दावनशतक
२. हित सुधासागर

चूंकि इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख 'राधावल्लभ भक्तमाल', 'साहित्य रत्नावली' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में नहीं मिलता, इसलिए ये हितहरिवंश जी की प्रामाणिक रचनाएं मालूम नहीं पड़ती हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में हस्तलिखित पुस्तकों के विवरण में 'प्रेमलता' नामक ग्रन्थ का रचयिता श्री

१. 'भागवत सम्प्रदाय', श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ४२६
२. वही

हितहरिवंश को बताया है।[१]

२. दामोदरदास (सेवक जी) : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

श्री हितहरिवंश जी को वाणी के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करनेवाले भक्त रसिकों में श्री सेवक जी का स्थान सर्वोपरि है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में इनको एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है राधावल्लभ भक्तमाल[२] भक्तनामावली[३], जैसे साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनकी स्तुति की गई है। सम्प्रदाय की अनेक वाणियों में सेवक जी का वर्णन मिलता है। भगवत-मुदित ने तथा उत्तमदास ने अपने 'रसिक अनन्यमाल' और प्रियादास ने अपने 'सेवक चरित्र' में विस्तार से इनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला है।

'सेवक जी की वाणी' श्री हित-चौरासी का मर्मोद्घाटन करने से तथा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का विवेचन करने से हित-चौरासी की पूरक वाणी मानी जाती है। अतः गुरु की रचना के साथ ही "श्री हित-चौरासी सेवक वाणी" के नाम से प्रकाशित हुई है। यह १६ प्रकरणों में विभक्त है। सरल तथा सरस ब्रजभाषा में लिखित इसमें १८७ पद और २१ छन्द हैं। यद्यपि इसका वर्ण्य-विषय प्रमुख रूप से श्री हित जी प्रशंसा है, तो भी 'श्री हित रस-रीति प्रकरण' और 'श्री हित भक्तजन प्रकरण' आदि कुछ प्रकरणों में राधा-कृष्ण की कुंज-क्रीड़ा का वर्णन है। 'सेवक वाणी' की प्रशंसा में स्वामी चतुर्भुजदास ने लिखा है :

सेवक वाणी जे नहिं जानै।
ताकी बात रसिक नहिं मानै।।

मिश्र बन्धुओं ने 'सेवक वाणी' के अतिरिक्त उनके 'भक्ति परिचावली मंगल' नामक एक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।[४] परन्तु यह न तो प्राप्य है और न इसका उल्लेख 'राधावल्लभ', 'भक्तमाल' और 'साहित्य रत्नावली' में मिलता है।

३. हरिराम व्यास : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

भक्त शिरोमणि व्यास जी का पूरा नाम हरिराम शुक्ल था। 'व्यास' तो उनकी उपाधि थी। इनका वर्णन नाभादास के 'भक्तमाल', भगवतमुदित के 'रसिक अनन्यमाल' तथा उत्तमदास के 'रसिकमल' में विस्तार से मिलता है। राधावल्लभ संप्रदाय के अनेक कवियों ने अपनी वाणियों में व्यास जी का स्मरण किया है जिससे इनके राधावल्लभीय होने का प्रमाण मिलता है। नाभा जी के 'भक्तमाल' में व्यास जी के परिचय में दिए हुए छप्पय का शीर्षक 'श्री हरिवंश जी

---

१. 'हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का चौदहवां वार्षिक विवरण, सन् १९२९-१९३१, सम्पादक : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

२. सेवक सम सेवक नहीं, धर्मिन मांझ प्रधान। —'राधावल्लभ भक्तमाल', पृ० २५२

३. सेवक की सम को करै भजन सरोवर हंस।
मन वच कै धरि एक ब्रत गाये श्री हरिवंश।। —'भक्त नामावली'

४. 'मिश्रबन्धुविनोद' (प्रथम भाग), पृ० ३३२

के शिष्य व्यास जी' है और उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' में शीर्षक 'श्री हितपदाश्रित व्यास जू कौ चरित्र' है।

हरिराम व्यास जी उच्चकोटि के भक्त और दार्शनिक होने के साथ-साथ कुशल कवि भी हैं। संस्कृत में तो वे पूर्ण पंडित थे ही। इनके नाम से दो संस्कृत ग्रन्थ 'नवरत्न' तथा 'स्वधर्मपद्धति' विख्यात हैं। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्टों में इनके नाम से निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख मिलता है :

१. रागमाला[1]—इसमें ६०४ श्लोक हैं। यह संगीत शास्त्र का ग्रन्थ है।
२. रस के पद[2]—इसमें १३०० पद हैं।
३. व्यास जी की वाणी[3]—इसमें १५७५ पद हैं।
४. पदावली—इसमें ८०७ श्लोक हैं।
५. रासपंचाध्यायी—इसमें ११२ पद हैं।
६. व्यास जी की साखी[4]—इसमें ५४ पद हैं।

मिश्रबन्धुओं की दी हुई सूची और नागरी प्रचारिणी सभा की उपर्युक्त सूची में विशेष अन्तर नहीं है। श्री वियोगी हरि के पद-संग्रह में व्यास जी के ८०० पद हैं।[5] इन पुस्तकों का निरीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल 'व्यास जी की वाणी' ही व्यास जी लिखित प्रामाणिक रचना है। मालूम पड़ता है कि इसी एक ही कृति के पदों का विभिन्न शीर्षकों में संग्रह कर अलग-अलग नाम दिए गए हैं। प्रकाशित 'व्यासवाणी' में पद संख्या ७५६ है और साथ में १४६ साखियां और दोहे भी हैं।[6] ये दोनों भागों में विभाजित हैं। प्रथम भाग में 'सिद्धांत-रस' के ३०१ पद हैं तथा द्वितीय भाग में 'रसविहार' के ४५५ पद हैं।

'सिद्धान्तरस' के सम्पूर्ण पद सिद्धान्तपरक नहीं हैं। प्रारम्भ में वृन्दावन, मधुपुरी, यमुना, महाप्रसाद तथा नाम रूप की स्तुति है। 'श्री साधुन की स्तुति' प्रकरण में समस्त प्रसिद्ध भक्तों का यश-गान है। शेष पदों में विनय, मनोपदेश, भक्ति, ज्ञान आदि विषयों की चर्चा है। इन पदों में इन्होंने जीवन के व्यवहार-पक्ष का आकलन करते हुए सांसारिक दृष्टि से वस्तुओं का विश्लेषण विवेचन किया है। इनमें व्यवहार-पक्ष की प्रधानता है। सूक्ष्म सैद्धान्तिक अवगाहन से दूर रहकर लौकिक धरातल पर ही व्यास जी ने अपनी बात कही है।[7] 'रस-विहार' के पदों में राधाकृष्ण की कुंज-क्रीड़ा, जल-क्रीड़ा, शयन-विहार, षोडश शृंगार, नखशिख, मान, होली, हिंडोला आदि अनेक विषय वर्णित हैं। 'रास पंचाध्यायी' अलग रूप से पद्य-बद्ध की गई है।

---

१. 'खोज रिपोर्ट', वर्ष १९०६-८ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
२. वही, वर्ष १९०९-११
३. वही, वर्ष १९१२-१४
४. वही, वर्ष १९२०-२२,
५. 'ब्रजमाधुरीसार', श्री वियोगी हरि, पृ० ११८
६. 'श्री व्यास वाणी' (पूर्वार्द्ध वक्तव्य), पृ० ४०
७. 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : साहित्य और सिद्धान्त', डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ३८५

४. ध्रुवदास : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में ध्रुवदास प्रमुख हैं। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है—"राधावल्लभ संप्रदाय के भक्त-कवियों में सांप्रदायिक सिद्धान्तों का जैसा सर्वांगपूर्ण विवेचन ध्रुवदास जी की वाणी में उपलब्ध होता है, वैसा अन्य किसी महानुभाव की वाणी में नहीं। ध्रुवदास जी ने राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व को जितनी समग्रता और व्यापकता के साथ अपनी वाणी में पल्लवित किया, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि वे हितहरिवंश जी की भक्ति-पद्धति के भाष्यकार थे।"[१]

इनके ग्रन्थों में उपलब्ध उल्लेख के आधार पर इनका जन्म-संवत् १६३० के आस-पास निश्चित होता है। आपका निवास-स्थान वृन्दावन ही था और जन्म-पर्यन्त इसी धाम में रहकर श्यामा-श्याम की क्रीड़ाओं का वर्णन कर जीवन कृतार्थ करते रहे। इष्टाराध्या राधा से वरदान प्राप्त होने पर ध्रुवदास जी निरन्तर पद-रचना में लीन रहने लगे। काव्य-शास्त्र में आपकी नैसर्गिक रुचि थी। छन्द-शास्त्र का भी आपने अच्छा अध्ययन किया था, अतः प्रचलित सभी पद्धतियों का अपनी वाणी में समावेश किया है।

श्री ध्रुवदास जी लिखित ब्यालीस ग्रन्थ विख्यात हैं। वे 'ब्यालीस लीला' नाम से व्यवहृत होते हैं। यथार्थ में इन्हें ग्रन्थ नाम देना उचित नहीं है, क्योंकि सबमें न तो ग्रन्थ-कोटि की व्यापकता है और न वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से ग्रन्थ की मर्यादा का पालन ही। 'ब्यालीस लीला' के अतिरिक्त आपके १०३ फुटकर पद और मिलते हैं, जिन्हें पदावली शीर्षक से 'ब्यालीस लीला' में स्थान मिलता है। वृन्दावन-माहात्म्य, निकुंज लीला और नित्य विहार, युगल ध्यान का महत्त्व, दानलीला, मानलीला, वनविहार-वर्णन आदि इनके ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय हैं।

उपर्युक्त प्रमुख कवियों के अतिरिक्त राधावल्लभ संप्रदाय के कवियों में श्री नेही नागरीदास, श्री चतुर्भुजदास, श्री कल्याण पुजारी, श्री अनन्य अली, श्री रसिकदास, श्री वृन्दावनदास (चाचा जी) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

४. गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रमुख कवि

१. गदाधर भट्ट : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

चैतन्य सम्प्रदाय के कवियों में श्री गदाधर भट्ट का स्थान मूर्धन्य है। ये राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक थे और महाप्रभु चैतन्य के समकालीन थे। दुर्भाग्यवश इनके सम्बन्ध में बहुत कम विवरण मिलता है।

गदाधर भट्ट की रचना प्रधानतः पदों के रूप में ही मिलती है। 'मोहिनी वाणी गदाधर भट्ट की' के नाम से संगृहीत वाणी में पदों के अलावा कुछ संस्कृत के गीत और वृन्दावन की प्रशंसा में लिखित ५४ रोला छन्दों का 'योगपीठ' भी सम्मिलित है। 'योगपीठ' गदाधर भट्ट की वाणी का ही एक भाग है, न कि पृथक्

१. 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य', डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ४२६

रचना, जैसे कि कुछ विद्वानों की भ्रान्त धारणा है। यद्यपि रास के कुछ पदों में यशोदा, नन्द, बधाई, वन्दना, यमुना, वंशी, वर्षा, बसन्त, होली, हिंडोला आदि विषय वर्णित हैं, तथापि अधिकांश पदों में राधा-कृष्ण के शृंगार, रास, विलास, विवाह तथा मान आदि का विस्तार से वर्णन है। एक दो स्थल पर श्रीकृष्ण की ब्रज-गोकुल लीलाओं का भी वर्णन मिलता है। चन्द पदों में नाम-माहात्म्य तथा दैन्य भाव की भी व्यंजना हुई है। इस संग्रह में छोटे-बड़े सभी प्रकार के पद हैं, जिनकी संख्या ८० के लगभग है।

भट्ट जी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। अतः इनकी भाषा कहीं-कहीं संस्कृत-गर्भित दीख पड़ती है और काव्य-शैली वहुत सुन्दर बन पड़ी है। आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"संस्कृत के चूड़ांत पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पदविन्यास बहुत ही सुन्दर है।"[1]

२. सूरदास मदनमोहन : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

सूरदास मदनमोहन अकबर के दरबार की ओर से नियुक्त संडीले के अमीन थे। इनका असली नाम 'सूरध्वज' था और ये मदनमोहन के अनन्य उपासक थे। अपने नाम के साथ अपने इष्टदेव के नाम की घनिष्ठता स्थापित करने के कारण उनका वास्तविक नाम छिप गया और ये 'सूरदास मदनमोहन' के नाम से ही प्रसिद्ध हुए।[2]

सूरदास मदनमोहन के अनेक पद कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं। इनकी कविता सरस और मनोहारिणी तथा नाम सूरदास होने से इनके अनेक पद 'सूरसागर' में घुल-मिल गए हैं। परन्तु इनके समस्त पदों में 'सूरदास मदनमोहन' की छाप मिलती है, 'सुहृत वाणी श्री सूरदास मदनमोहन की' नाम से प्रकाशित संग्रह में इनके १०५ स्फुट पद हैं। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अपने ग्रंथ में इनके केवल १२ पद दिए हैं और उन्हीं को प्रामाणिक माना है। पदों में बाल-रूप, वंशी, विवाह, खंडिता, होली, धमार, फाग, हिंडोला आदि विषय वर्णित हैं। नख-शिख, रास-विलास तथा मान का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है।

३. रामराय : उनकी रचनाएं और वर्ण्य विषय

रामराय जी ब्रजभाषा के एक उत्कृष्ट वाणीकार थे। इनके संप्रदाय के संबंध में मतभेद है। परन्तु चैतन्य संप्रदाय में इन्हें श्री नित्यानन्द का शिष्य और श्री चैतन्यदेव का अनुगामी माना जाता है। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और ब्रज-भाषा के उत्तम कवि थे। इनकी ब्रजभाषा रचनाएं 'आदिवाणी' और 'गीत गोविन्द भाषा' हैं। 'आदिवाणी' में श्री राधामाधव की सेवा विषयक १०१ सरस पद संकलित हैं। चैतन्य मत के प्रथम वाणीकार होने से कदाचित् रामराय जी की इस रचना को 'आदिवाणी' कहा जाता है। रामराय जी के पदों की भाषा परिमार्जित

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २२२

२. 'भक्तमाल', पृ० ७५२-५३

और रचना शैली प्रौढ़ है। इनमें प्रिया-प्रियतम के मधुर मिलन, रसकेलि, हाव-भाव, मान-मनावन आदि निकुंज लीलाओं का सरस वर्णन हुआ है। 'गीत-गोविन्द भाषा' श्री जयदेव कृत संस्कृत के सुप्रसिद्ध गीत काव्य 'गीत-गोविन्द' का ब्रज-भाषा के पदों में सरस अनुवाद है। अनुवाद में कवि को अच्छी सफलता मिली है।

निम्बार्क संप्रदाय के प्रमुख कवि

१. श्री भट्ट : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

श्री भट्ट निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रथम ब्रजभाषा कवि थे। इनको निम्बार्का-चार्य की तीसवीं पीढ़ी में माना जाता है। श्री महन्त रामकृष्णदास कृत 'श्री गुरु परम्परा-स्तोत्रम्' के अनुसार श्री भट्ट जी के पूर्व साम्प्रदायिक गुरु-परम्परा में १२ आचार्य तथा १७ भक्त हुए थे।[१] ये सम्प्रदाय में ब्रजभाषा के प्रथम कुशल कवि ही नहीं बल्कि सम्प्रदाय की उन्नति की आधारशिला भी माने जाते हैं। श्री वियोगी हरि लिखते हैं—"वास्तव में, केशव काश्मीरी जी ने आचार्योचित वह कार्य किया, जिसके कारण निम्बार्क सम्प्रदाय की नींव सदा के लिए सुदृढ़ हो गई। आपके शिष्य श्री भट्ट जी ने तो मानो सम्प्रदाय मन्दिर पर कलश ही रख दिया। गुरुदेव यदि भगवान् के ऐश्वर्य के पूर्ण प्रतिपादक थे, तो भट्ट जी माधुर्य के सच्चे मधुव्रत।"[२]

श्री भट्ट जी उच्चकोटि के भक्त थे और उन्होंने अन्तिम समय तक सम्प्रदाय की आचार्य गद्दी को सुशोभित किया था। जिस प्रकार स्वामी हरिदास जी के अनुयायी उन्हें श्री राधाकृष्ण की मुख्य सखियों में से श्री ललिता सखी का अवतार मानते हैं, उसी प्रकार इस सम्प्रदाय के लोग इन्हें श्रीहित सखी का अवतार मानते हैं। श्री रूप रसिक कृत एक छप्पय आपके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है।

जे वर आवे शरण ताप त्रय तिनके हरहीं।
तत्त्वदर्शी ते होये हस्तजा मस्तक धरहीं॥

श्री भट्ट संस्कृत तथा ब्रजभाषा-दोनों के प्रकाण्ड पंडित थे। सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि इन्होंने १०,००० पद ब्रजभाषा में लिखे थे और ये सब श्रृंगार रस के थे। कहा जाता है कि भट्ट जी ने गद्दी स्वीकार करने के पूर्व अपने गुरु केशव काश्मीरी के सम्मुख उन पदों को उपस्थित किया, जिनको गुरु ने कलियुग के लोगों के लिए व्यर्थ समझकर जमुना जी में फेंक देने की आज्ञा दी। अब उन १०,००० पदों में केवल ६ पद उपलब्ध हैं जिनको 'जमुना जी का प्रसाद' कहा जाता है।[३]

भट्ट जी ने ब्रजभाषा में 'कृष्ण सरनापति स्तोत्र' नाम से १०० पदों की—एक रचना की थी। यही ग्रन्थ 'आदिवाणी' अथवा 'युगल शतक' के नाम से

१. 'श्री गुरुपरम्परास्तोत्रम्', रामकृष्णदास
२. 'ब्रजमाधुरीसार', श्री वियोगी हरि, पृ० १०८, संस्करण संवत् २०११
३. 'श्री युगलशतक', (भूमिका) पृ० ४५-४६

प्रसिद्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के अनुसार भट्ट जी ने 'आदिवाणी' और 'युगलशतक' नाम से दो भिन्न ग्रन्थ रचे थे।[1] परन्तु वास्तव में 'आदिवाणी' और 'युगलशतक' एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। राधा-कृष्ण की 'युगल मूर्ति' की उपासना का प्रतिपादन करने के कारण इसका नाम 'युगलशतक' पड़ा। और ब्रजभाषा में रचित प्रथम रचना होने के कारण 'आदिवाणी' नाम इसको प्राप्त है। साम्प्रदायिक मतानुसार 'आदिवाणी' केवल 'युगलशतक' का ही विशेषण है।[1] जैसे कि नाम से स्पष्ट है, इसमें १०० पद हैं। उनके अलावा अन्त में और दो दोहे दिए गए हैं। एक में रचना-काल का उल्लेख और दूसरे में फल-प्राप्ति की प्रार्थना है। विषय के अनुसार 'युगल शतक' के पद छः भागों में विभाजित हैं :

१. सिद्धान्तसुख
२. ब्रजलीलासुख
३. सहजसुख
४. सेवासुख
५. सुतमुख तथा
६. उत्सवसुख।[2]

इन पदों में भट्ट जी ने राधाकृष्ण के अनुपम सौंदर्य और ब्रज के आनन्दमय वातावरण में उनकी सरस लीलाओं का सुमधुर तथा सुसंस्कृत ब्रजभाषा में वर्णन किया है।

२. हरिव्यास जी : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

श्री हरिव्यास देव जी आचार्य भट्ट के अन्तरंग और प्रमुख शिष्य थे। आप निम्बार्क सम्प्रदाय की इकत्तीसवीं पीढ़ी के महान् आचार्य हुए।

व्यास जी के सम्बन्ध में उल्लेख श्री रूप रसिक ने 'हरिव्यास रसामृत' तथा स्वामिनीदास ने 'श्री हरिव्यास छब्बीसी' में किए हैं। 'श्री आचार्यचरित' नामक संस्कृत ग्रन्थ में भी इनकी जीवनी पर्याप्त विस्तार से दी गई है। नाभादास के भक्तमाल में और प्रियादास की टीका में इनकी उत्कृष्ट वैष्णवता और उद्दाम भक्ति-भावना का वर्णन मिलता है।

हरिव्यास जी माधुर्य भाव के उपासक थे। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत होते हुए भी उन्होंने 'रसिक सम्प्रदाय' नाम से एक शाखा चलाई। इस मत में भगवान् के शृंगारी रूप की उपासना की प्रधानता है। इस शाखा के लोग 'हरि-व्यासी' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

हरिव्यास जी ने संस्कृत में निम्नलिखित ग्रन्थ रचे थे :

१. सिद्धान्तरत्नांजलि
२. अष्टयाम

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० २२७
२. 'युगलशतक' (भूमिका), पृ० १
३. 'ब्रजमाधुरीसार', पृ० १५६

३. तत्त्वार्थपंचक

४. पंचसंस्कारनिरूपण

५. प्रेम भक्ति विवर्धिनी—श्री निम्बार्क अष्टोत्तरशत नाम की टीका।

इनकी एक मात्र हिन्दी रचना 'महावाणी' है जिसको इन्होंने अपने गुरु के आदेशानुसार 'युगलशतक' के भाष्य के रूप में लिखा था। 'युगलशतक' एक साधारण ग्रन्थ है, जो 'महावाणी' काव्य गुणों से शोभित एक उत्कृष्ट रचना है। इसमें राधाकृष्ण की नित्य विहार लीलाओं का बड़ा मार्मिक और हृदयस्पर्शी वर्णन है जो एक भक्त कवि की आत्मानुभूति की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति है। इसमें भक्त मानसिक दशा के भावावेश में पहुंचकर विषय के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसमें पूर्णतः अपने को खो जाता है। 'महावाणी' की भाषा कोमल ब्रजभाषा है जो सुन्दर, प्रसाद गुण युक्त, श्लेषादि अलंकारों से अर्थ-गाम्भीर्य लिए हुए है।

हरिव्यास जी पदों में अपना नाम 'हरिप्रिया' रखते थे। इनके पदों की रचना मुक्तक होने पर भी उसका आस्वादन प्रासंगिक रूप में किया जा सकता है। 'श्री महावाणी' में पांच सुख हैं :

१. सेवा

२. उत्सव

३. सुरत

४. सहज और

५. सिद्धान्त

'सेवासुख' में नित्य बिहारी श्री राधा-कृष्ण की अष्टयाम सेवा का वर्णन है। प्रारम्भिक ३६ पदों में पूर्व आचार्यों का 'सखियों' के रूप में स्मरण किया गया है। 'उत्सवसुख' में नित्य विहार के नैमित्तिक उत्सवों के आनन्द का वर्णन है जिससे सखियों को नित्य नवीन सुख का अनुभव होता है। 'सुरत सुख' राधा और कृष्ण के परस्पर एक-एक के सुखसागर में निमग्न रहने का वर्णन है। 'सहज-सुख' में स्वाभाविक प्रेमावस्था में विभोर होने का वर्णन है। श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति श्री राधारानी के साथ नित्य विहार का सुख वृन्दावन धाम में अनुभव करते हैं। 'सिद्धान्त सुख' का विषय अत्यन्त गम्भीर है। इसमें वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों का जैसे उपास्य तत्त्व, धर्म तत्त्व, सखी नामावली आदि का वर्णन है। इसके अनुसार अपार माधुर्य की मूर्ति, सौंदर्य रस सिन्धु श्री सर्वेश्वर कृष्ण चन्द्र ही एकमात्र परात्पर तत्त्व हैं और निर्गुण, निराकार ब्रह्म उस लीला नायक के चिदंश मात्र हैं। 'सखी नामावली' में प्रधान सखियों तथा उनके उपनामों की चर्चा है। संक्षेप में यही 'महावाणी' का वर्ण्य-विषय है।

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों में हरिव्यास जी का सम्मानपूर्ण स्थान है। श्री बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है :

"निम्बार्क मतावलम्बी कवियों में श्री हरिव्यासदेव जी का वही स्थान है जो वल्लभ मतानुयायी कवियों में सूरदास जी को प्राप्त है। दोनों ही हिन्दी

कविता-कामिनी के कलेवर को शोभित करने वाले दो रत्न हैं तथा अपने भक्ति सम्प्रदाय के जाज्वल्यमान हीरक हैं।"[१]

३. परशुरामदेव : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

परशुरामदेव, हरिव्यास जी के द्वादश शिष्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। बड़े भक्त होने के साथ ही, एक श्रेष्ठ कवि भी हैं। ये सगुणोपासक तो थे ही। परन्तु निर्गुण ब्रह्म पर भी कबीर की भांति काव्य-रचना इन्होंने की है। इनके १३ ग्रन्थों का पता चला है :

१. तिथि लीला
२. बार लीला
३. बावनी लीला
४. विप्रमतीसी
५. नाथ लीला
६. पदावली
७. रागरथनाम लीलानिधि
८. सांच निषेध लीला
९. हरि लीला
१०. लीला समझनी
११. नक्षत्र लीला
१२. निज रूप लीला
१३. निर्वाण

प्रथम चार ग्रन्थ विषय और नाम साम्य की दृष्टि से कबीर के कहे जाने वाले इन्हीं नाम वाले ग्रन्थों से कुछ मिलते जुलते हैं। 'नाथ लीला' में महापुरुषों के नाम दिए गए हैं। 'हरि लीला' में भगवान् की लीलाओं का दार्शनिक विवेचन है। नक्षत्र लीला में नक्षत्रों का दार्शनिक निरूपण है। 'निज रूप लीला' में भगवान् के स्वरूप का विवेचन है। 'निर्वाण' में संसार की सारहीनता का परिचय देकर संसार में त्याग और भगवद्भक्ति का उपदेश दिया गया है। इन १३ ग्रन्थों का संग्रह ही 'परशुरामसागर' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें २,२०० दोहे और छप्पय छन्द और १,००० पद हैं।[२] यह अभी अप्रकाशित है और इसकी एक हस्तलिखित प्रति 'सलेमाबाद' में सुरक्षित है।

४. रूपरसिक जी : उनकी रचनाएं और वर्ण्य विषय

निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री रूपरसिक जी एक महान् भक्त, दार्शनिक और धर्म प्रचार के रूप में प्रख्यात हैं। इनके जीवन-वृत्त पर विशेष विवरण कुछ नहीं मिलता।

१. 'भागवत सम्प्रदाय', श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ३२९
२. 'निम्बार्क माधुरी', पृ० ७४-७५

रूपरसिक की तीन रचनाओं का परिचय, हिन्दी जगत् में मिलता है।[१]

१. बृहदोत्सव मणिमाल
२. हरिव्यास यशामृत और
३. नित्य विहार पदावली

'बृहदोत्सव मणिमाल' एक बृहद् ग्रन्थ है जिसके पदों की संख्या १६६४ है।[२] इसमें कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों का भी वर्णन है। परन्तु विशेष रूप से राधा कृष्ण के जन्म, मंगल बधाई, नित्य बसन्त, होरी, झूला आदि समस्त उत्सवों का ही विशद वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'महावाणी' के 'उत्सव सुख' का अनुकरण कर लिखा है। यद्यपि इन दोनों में दैनिक और वार्षिक उत्सवों का वर्णन मिलता है, तो भी 'बृहदोत्सवमणिमाल' में नैमित्तिक उत्सवों को प्रधानता दी गई है। 'हरिव्यास यशामृत' में गुरु-महिमा वर्णित है। इसमें कृष्ण-भक्ति के स्वरूप पर भी अनेक पद, दोहे और चौपाइयां मिलती हैं। नित्य विहार पदावली में १२० पद हैं, जो नित्य कुंज-लीला पर लिखे गए हैं ब्रजलीला के पद इसमें नहीं हैं।[३]

निम्बार्क संप्रदाय के उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त श्री वृन्दावन दास, श्री घनानन्द, श्री गोविन्द, श्री गोविन्दशरणदेव आदि कवि भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

हरिदासी संप्रदाय या सखी संप्रदाय के प्रमुख कवि

१. स्वामी हरिदास : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

हिन्दी कृष्ण-काव्य को अलंकृत करने वाले कवि-रत्नों में सखी सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वामी जी के जन्म स्थान, जन्म संवत्, माता-पिता, गुरु आदि के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं।

स्वामी हरिदास जी का कविताकाल संवत् १६०० और १६४४ के बीच पड़ता है। इनकी सम्पूर्ण काव्य-रचना पदों के रूप में ही मिलती है। स्वामी जी सिद्धहस्त गायक थे ही, अतः इनके पद विविध राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इनकी रचनाओं के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार इनके अनेक संग्रह प्राप्त हुए हैं जिनमें 'हरिदास जी की बानी' तथा 'हरिदासजी के पद' मुख्य हैं।[४] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी तीन रचनाओं का उल्लेख किया है।[५]

१. हरिदास जी के ग्रन्थ
२. स्वामी हरिदास जी के पद तथा

---

१. 'निम्बार्कमाधुरी', पृ० ६६
२. वही, पृ० १००
३. वही, पृ० ६४
४. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', (चतुर्थ सं०) डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५६०
५. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८६

३. हरिदास जी की बानी

मिश्रबन्धुओं ने और एक ग्रन्थ 'भरथरी वैराग्य' को हरिदास जी कृत माना है।[1] परन्तु इनमें से उपलब्ध होने वाली केवल दो ही रचनाएं हैं। पहली रचना 'सिद्धान्त के पद' है और दूसरी 'केलिमाल'। ये दोनों 'निम्बार्क माधुरी' में प्रकाशित हैं। 'सिद्धान्त के पदों' की संख्या १८ है और 'केलिमाल' के पदों की संख्या १०८ है। शायद इन्हीं दो रचनाओं का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने 'साधारण सिद्धान्त और रास के पद' से किया है।[2] 'केलिमाल' में युगल रूप, राधा-कृष्ण के नित्य विहार, नखशिख, मान, दान, होली, रास आदि बिषय वर्णित हैं।

२. विट्ठल विपुलदेव : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

हरिदासी सम्प्रदाय में श्री विट्ठल विपुलदेव का नाम बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु इनके जीवन वृत्त पर बहुत कम विवरण उपलब्ध है।

श्री विट्ठल विपुल की रचना स्फुट पद हैं जो कीर्तन-संग्रहों और राग कल्पद्रुम में प्राप्त होते हैं। इनके ४० पदों में २९ पद 'निम्बार्क माधुरी' में दिए गए हैं।[3] इन पदों के द्वारा उन्होंने स्वसम्प्रदायांतर्गत परम्परागत रस-सिद्धान्त एवं उपास्य तत्त्व की परिपुष्टि की है। इन पदों में स्वामी हरिदास जी के केलिमाल का सार निरूपित है। राधा-कृष्ण के नित्य विहार, झूला, मान, दान, नोंक-झोंक आदि विषय वर्णित हैं।

३. श्री बिपिन बिहारिनिदास जी

सखी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या और साहित्य रचना में मूर्द्धन्य स्थान श्री बिहारिनिदास का है। अपनी रचनाओं में इन्होंने अपने-आपको बिहारिनिदास अथवा बिहारीदास कहा है। बिहारीदास की रचनाओं से पता चलता है कि संभवतः इनकी अकबर से भेंट हुई थी। स्वामी हरिदास के प्रत्यक्ष संपर्क में रहने के कारण इन्होंने सखी भाव के रहस्य को भली-भांति समझा था। इन्होंने अपनी रचनाओं में उस सिद्धांत और रस को पल्लवित किया है। बिहारीदास की रचनाएं पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती हैं। इनकी रचनाएं इस प्रकार हैं:

साखी (६७३), चोकोला (७१), सवैया (१५१), सिद्धान्त के पद (१७९), और रस के पद (१९१) हैं।[4] सिद्धान्त सम्बन्धी काव्य में उपदेश प्रधान होने के कारण काव्य सौन्दर्य उच्च कोटि का नहीं है, परन्तु रस सम्बन्धी रचनाओं में

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', पृ० ३०२

२. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' (भाग १), डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ६९

३. श्री विट्ठल विपुल प्रताप जग प्रगट सदा जब तलक रवि।
चालिस पद रसमय विरचि गायौ विविरस छलक छवि।।
—'निम्बार्क माधुरी', पृ० २२४

४. 'कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखी सम्प्रदाय', शरणबिहारी गोस्वामी, पृ० ४८३

इनके कवि-हृदय का परिचय मिलता है। प्रिया-प्रियतम की निकुंज लीलाओं का विस्तार से वर्णन हुआ है।

हरिदासी संप्रदाय के उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त श्री नागरीदास, श्री नरहरिदास, स्वामी रसिकदास, श्री ललितकिशोरीदास, श्री ललितमोहिनीदास, श्री भगवत रसिक, सहचरिशरण आदि कवि भी उल्लेखनीय हैं।

संप्रदाय-मुक्त कवि

१. मीराबाई : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

कृष्ण-भक्तिन मीराबाई हिन्दी की सबसे अधिक प्रसिद्ध कवयित्री हैं। इनके ऊपर नई-पुरानी अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनमें मीरा का जीवन-वृत्तान्त मिलता है। नाभादास कृत भक्तमाल, ८४ वैष्णवन की वार्ता, २४२ वैष्णवन की वार्ता, राघवदास कृत 'भक्तमाल' आदि में भी मीरा सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। मीरा के जन्म-संवत्, निधन-संवत् आदि के विषय में विद्वान एक मत नहीं हैं।

मीराबाई के नाम से निम्नलिखित रचनाएं बताई जाती हैं—

१. नरसी जी रो माहेरो
२. गीत-गोविन्द की टीका
३. राग गोविन्द
४. सोरठ के पद
५. मीराबाई की मलार और
६. गर्वा गीत

परन्तु 'राग गोविन्द' तथा 'राग सोरठा' के केवल नाम मात्र मिलते हैं। 'नरसी जी रो माहेरो' मीराबाई की रचना नहीं मालूम पड़ती है। इनके पदों में निर्गुण ब्रह्मवाद, हठयोग, सूफी प्रेम-तत्त्व इत्यादि समकालीन विचार-धाराओं का प्रभाव दीख पड़ता है। इनकी ब्रजभाषा में राजस्थानी का प्रभाव है। कृष्ण से सम्बन्धित पदों में कृष्ण के प्रति मीरा के प्रेम, विरह, मिलन, आत्म-निवेदन आदि के भाव अभिव्यंजित हैं। कुछ पद स्वचरित सम्बन्धी भी हैं।

२. रहीम : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

अब्दुर्रहीम खानखाना अकबर के दरबार के श्रेष्ठ कवि-रत्नों में से हैं। अबुल फजल, अब्दुल कादिर, वदाउनी, अब्दुल बागी आदि मुसलमान इतिहासकारों के ग्रन्थों में रहीम के जीवन-वृत्त सम्बन्धी विवरण विस्तार से मिलते थे। ये इतिहास-प्रसिद्ध बैरम खां के पुत्र थे।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रहीम की निम्नलिखित रचनाएं बताई हैं[1]—

१. रहीम दोहावली या सतसई
२. बरवै नायिका भेद
३. शृंगार सोरठ

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० २०१४), पृ० २०३

४. मदनाष्टक
५. रास पंचाध्यायी
६. नगर शोभा
७. फुटकल बरवै
८. फुटकल कवित्त-सवैये
९. रहीम काव्य
१०. खेटकौतुम्

इनके ग्रन्थों में डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार रहीम दोहावली, बरवै नायिका, मदनाष्टक, रास पंचाध्यायी और शृंगार सोरठ प्रसिद्ध हैं।[1] दोहावली के प्रारम्भ में गंगा-स्तुति है। भक्ति, नीति, उपदेश आदि विषयों की चर्चा है। रहीम की रचनाओं में 'मदनाष्टक' और 'रास पंचाध्यायी' दोनों ही कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत आती हैं। 'मदनाष्टक' में केवल आठ चौपदे हैं और 'रास पंचाध्यायी' में केवल दो पद ही उपलब्ध हैं।[2]

'मदनाष्टक' रचना में कृष्ण की मुरली के व्यापक प्रभाव, कृष्ण-सौन्दर्य से उद्दीप्त गोपी-प्रेम-भावना, गोपियों की विह्वलता और कृष्ण से मिलने की तीव्र आकांक्षा आदि का वर्णन है। यह सम्पूर्ण वर्णन विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत स्मृति संचारी के ही रूप में हुआ है। गोपियों में कृष्ण के वंशी-नाद, उसकी रूप-माधुरी तथा उनकी मधुर चाल-ढाल तथा बोली ने उनके विरह को और भी उद्दीप्त कर दिया है, और वे कृष्ण से मिलने के लिए लालायित हो उठती हैं। रहीम के पदों में कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मधुर ब्रजभाषा में हुआ है। पदों की शब्द-योजना श्रुतमधुर और संगीतात्मक है। भाव और भाषा—दोनों के दृष्टिकोण से ये पद सूरदास के पदों से मिलते हैं। कवित्त और सवैयों में कृष्ण का बाल रूप वर्णन, उनके गुणों का कथन और साधारण नीति तथा शिक्षा के विषय आए हैं।[3]

३. नरोत्तमदास : उनकी रचनाएं और वर्ण्य-विषय

नरोत्तमदास केवल एक छोटी रचना के बल पर हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में स्थान पाने वाले अद्वितीय कृष्ण-भक्त थे।

नरोत्तमदास के दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—'सुदामा चरित' और 'ध्रुव चरित'। केवल सुदामा चरित प्राप्य है। ध्रुवचरित अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। सुदामा चरित बहुत छोटी रचना होने पर भी इतनी सरस और श्रेष्ठ है कि उसी ने कवि को अमर बना दिया। यह 'चरित काव्य' है जो अपने वर्ग में 'हिन्दी कृष्ण-काव्य-क्षेत्र' में सर्वश्रेष्ठ है। इसकी कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित है।

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', (चतुर्थ संस्करण), डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६००

२. 'रहीम रत्नावली', मायाशंकर याज्ञिक द्वारा सम्पादित, पृ० ३२

३. 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि', डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ० १७३

यह एक खण्ड-काव्य है, जिसमें दोहा, सवैया और कवित्त छन्दों में सम्बद्ध रूप से कृष्ण-सुदामा मिलन की कथा का वर्णन है। छन्दों की संख्या १२१ है। इसकी भाषा प्रवाहमयी एवं सरल है और शैली आकर्षक है, जिसने अन्य कवियों को इसी के अनुकरण पर 'सुदामा चरित' लिखने की प्रेरणा दी।

कृष्ण-काव्य जगत् में इसकी विशेषता यह है कि यह राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन न कर द्वारकाधीश श्रीकृष्ण के हृदय की कोमलता, दयाशीलता और सुदामा के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता का परिचय देता है। इसमें दीन हृदय के बड़े सजीव चित्र अंकित हैं।

नवम अध्याय

हिन्दी भक्ति-साहित्य पर श्री सम्प्रदाय का प्रभाव

मध्ययुगीन व्यापक वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दी में ही नहीं, बल्कि सभी भारतीय भाषाओं में विपुल मात्रा में भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ। भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन (१४वीं, १५वीं और १६वीं शताब्दियों के) साहित्य का पूर्ण रूप से भक्ति-भावना में सिंचित होने का प्रमुख कारण, मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ही है। यह निर्विवाद है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक नवीन अध्याय का बीजारोपण करने का महान् कार्य भक्ति-आन्दोलन ने किया है। हिन्दी-प्रदेश में मध्ययुग में लोकप्रिय व्यापक जन-आन्दोलन के रूप में प्रसारित होने वाले वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का श्रीगणेश आलवारों ने किया था, यह ऐतिहासिक सत्य है। आलवारों से संचालित वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ही परवर्ती युग में उत्तरोत्तर शक्ति संगठित कर १६वीं शताब्दी में चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आलवार भक्तों ने भक्ति के क्षेत्र में जिन आकर्षक नवीन तत्त्वों का प्रस्तुतीकरण किया था, उन्हीं के कारण ही वैष्णव भक्ति-आन्दोलन परवर्ती युग में भी जीवन्त रह सका। आलवारों की विचारधारा की आधारभूमि पर खड़े श्री संप्रदाय ने १०वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक और बाद में भी आलवारों के विचारों का तात्त्विक-विवेचन प्रस्तुत करते हुए मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-संप्रदायों को तथा सामान्य तौर पर मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-भावना को प्रभावित किया। इस प्रकार मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-संप्रदायों के अन्तर्गत साहित्य-प्रणयन करने वाले कवियों तक आलवारों की वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने वाली सामान्य विचारधारा ने लंबी यात्रा की है। आलवारों के भक्ति-पदों में निहित हृदय-पक्ष के साथ आचार्यों के बुद्धि-पक्ष के समन्वय के उपरान्त भक्ति-आन्दोलन को फिर से मध्ययुगीन भक्त-कवियों का हृदय-पक्ष भी उपलब्ध हो सका। इस प्रकार वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का प्रारंभ और उसका चरमोत्कर्ष हृदय-पक्ष-प्रधान भक्ति-काव्य में ही परिलक्षित होते हैं। जो हो, आलवार भक्तों और मध्ययुगीन हिन्दी भक्त-कवियों (विशेषकर वैष्णव भक्त-कवियों) के काव्य में उपलब्ध भक्ति-तत्त्वों और दार्शनिक विचारों में एक अद्भुत समानता है। इस अद्भुत समानता को जन्म देने वाला माध्यम श्री संप्रदाय ही है। अतः तमिल के आलवार भक्तों

और मध्ययुगीन हिन्दी भक्त-कवियों के काव्य में उपलब्ध समानता को—भावात्मक एकता को—प्रकाश में लाने के हेतु आलवार भक्तों और हिन्दी भक्त-कवियों के बीच सेतु का काम देने वाले श्री संप्रदाय के सामान्य तौर पर हिन्दी भक्ति-साहित्य पर पड़े प्रभाव को स्पष्ट करना इस सन्दर्भ में आवश्यक प्रतीत होता है।

यहां पर विशेष रूप से हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य पर पड़े श्री संप्रदाय के भक्ति-दर्शन के प्रभाव को ही प्रकाश में लाने का उद्देश्य है। चूंकि यह निर्विवाद रूप से पहले स्पष्ट किया गया है कि श्री संप्रदाय आलवारों की विचारधारा का ही प्रतिपादन करता है और उन्हीं से प्रभावित है, अतः यहां साम्य दिखाने की दृष्टि से आलवारों के विचारों को पुनः प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु इस सन्दर्भ में प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रारंभिक अध्यायों में चर्चित आलवारों की विचारधारा को भी स्मरण में रखने से आलवार और हिन्दी भक्त-कवियों के बीच श्री संप्रदाय के एक सफल और समर्थ माध्यम होने की बात स्वतः सिद्ध होगी। अब हिन्दी भक्ति-साहित्य पर पड़े श्री संप्रदाय तथा उसके भक्ति-दर्शन सिद्धांत विशिष्टाद्वैतवाद के प्रभाव का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। हिन्दी के वैष्णव भक्ति-काव्य के दो महान् स्तम्भ तुलसी और सूर पर श्री संप्रदाय के विशिष्टाद्वैतवादी[1] प्रभाव को मुख्य रूप से तथा दूसरे भक्त-कवियों पर पड़े प्रभाव को सामान्य रूप से लक्ष्य करने का ही प्रयत्न यहां होगा। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि श्री श्रीकान्त शरण जी ने पूरे रामचरितमानस का 'सिद्धान्त भाष्य' प्रस्तुत कर गोस्वामी तुलसीदास पर श्री संप्रदाय और विशिष्टाद्वैतवाद के प्रभाव को स्पष्ट किया है।

दार्शनिक विचार

ईश्वर

श्री संप्रदाय में ईश्वर अखिल हेय गुण प्रत्यनीक, वह गुणों से सम्पन्न, उसके कल्याण गुणों से युक्त संसार का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है। वह सर्वज्ञ, अनादि, अजर और अमर है। किन्तु भक्तों के परित्राण के लिए अवतरित होता है। गोस्वामी तुलसीदास के श्री राम भी चिदानन्द[2] परब्रह्म ही हैं, वे मूलतः 'एक अनीह अरूप अनामा, वज अज सच्चिदानन्द पर धामा' हैं। वे दिव्य गुणों से

---

१. श्री सम्प्रदाय का सिद्धान्त पक्ष 'विशिष्टाद्वैत' विशिष्ट और अद्वैत दो शब्दों से मिलकर बना है। विशिष्ट से तात्पर्य है, चेतन जीव और अचेतन प्रकृति से विशिष्ट ब्रह्म और अद्वैत से तात्पर्य है, तीनों का अभिन्न सम्बन्ध। 'विशिष्टाद्वैत' इसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादक शब्द है। इस विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का मूल स्रोत आलवार प्रबन्धम् ही है। विशिष्टाद्वैतवाद तमिल आलवार सन्त और संस्कृत के विद्वान् आचार्यों की प्रेममयी अनुभूति और शास्त्रीय चिन्तन का मधुर और सरस अमृत फल है। विशिष्टाद्वैतवाद की मूल आचार्या श्री या लक्ष्मी हैं, अंतः उन्हीं के नाम से यह वैष्णव सम्प्रदाय 'श्री सम्प्रदाय' कहलाता है।

२. 'जय सच्चिदानन्द जग पावन' ('रामचरित मानस', बा० का०, दो० ४६)
चिदानन्द मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ —अ० दो०, १२६

युक्त हैं—'राम अमित गुण सागर, थाह कि पावइ कोई'[१] तथा 'गुनसागर नागर वर बीरा।'[२]
भक्त प्रवर सूरदास के ईश्वर भी :

अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निजलोक विलासी।।[३]

नन्ददास ने भी भंवरगीत में स्पष्ट कह दिया है कि "लीला गुन अवतार ह्वै, धरि आये तन स्याम"[४] श्रीकृष्ण परमात्मा, परब्रह्म, सर्वस्वामी और नारायण भगवान् हैं।[५]

ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों हैं। गोस्वामी जी ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि "अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा" बस, अन्तर यही है कि वह निर्गुण अकल, अनीह, अगुण, अरूप और अलक्ष्य होकर भी भक्त के प्रेम के वश में होकर सगुण हो जाता है। "सो अज प्रेम भगतिवस कौसल्या के गोद।"[६] राम सगुन भये भगत प्रेम-बस।[७] "प्रेम ते प्रभु प्रगटै जिमि आगी।"[८] भक्तवर सूरदास भी मानते हैं— "निर्गुण ब्रह्म सगुण लीलाधर सोई सुत करि मान्यौ।"[९] वस्तुतः वह निर्विकार, निरुपाधि, निरंजन, निर्मम और निर्मोही हैं। अतः अखिल हेय गुण प्रत्यनीक हैं, किन्तु सौगन्ध, वात्सल्य, लावण्य, सौशील्य और कारुण्य इत्यादि अनन्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण हैं। गोस्वामी जी की कतिपय पंक्तियों में ही इन गुणों का परिचय मिल जाता है—

तुलसिदास बहु बास विबस अलि गुंजत,
सुछवि न जाति बखानी।
बिनु कारन करुनाकर रघुबर केहि,
केहि गीत न दई।।" इत्यादि[१०]

इन पंक्तियों में ईश्वर के सौगन्ध, लावण्य और कारुण्य गुणों का विस्तार से वर्णन है।

"धाई धरे गुरु चरन सरोरुह अनुज सहित अति पुलक तनोरुह"[११] और "निदरि गुनी आरद गरीब पर" आदि पंक्तियां उनके सौलभ्य, सौशील्य और वात्सल्य गुणों को प्रकट करती हैं। ईश्वर के मनहरण सौंदर्य का चित्रण भक्त-

१. 'रामचरितमानस', उत्तरकाण्ड, दोहा ९२
२. वही, बालकाण्ड, दोहा २४०
३. 'सूरसारावली', पृ० २
४. नन्ददास—'भंवर गीत', पृ० ११
५. वही—'रासपंचाध्यायी', छन्द ४३
६. 'रामचरितमानस', अ० का०, दोहा २३०
७. वही, अ० का०, दो० २१८
८. वही, बा० का०, दो० १८४
९. 'सूरसागर', १०-२६३
१०. 'गीतावली', २३
११. वही, ५९

कवियों ने तो बहुत ही किया है। सूरदास ने तो श्रीकृष्ण-सौंदर्य को अगाध सागर ही कह दिया है। निर्गुणवादी कबीर तक उस तेज-पुंज की झलक पर उन्मत्त हो उठे हैं—

कबीर देखा एक अंग, महिमा कही न जाय।
तेज पुंज पारस घणी नैनूं रहा समाय।।"[1]

उस अनन्त रूप के प्रभाव स्वरूप जड़ प्रकृति चेतन और चेतन प्राणी जड़वत् हो जाते हैं। उस रूप का अद्‌भुत प्रभाव है—

"अवनि कुरंग विहंग द्रुम डारन, रूप निहारत पलक न प्रेरत।
मगन न डरत निरखि कर कमलिनि, सुभग सरासन सायक फेरत।।[2]

उनकी इस अद्‌भुत शोभा का वर्णन स्वयंभू, सनकादिक ऋषि, शेष और सरस्वती भी नहीं कर सकते।[3] ईश्वर की शोभा ऐसी है मानो सुधा और स्नेह का सार लेकर निर्मित की गई हो।[4] तभी तो मन का भी मन मुग्ध हो जाता है, कवि को उसके लिए १४ लोकों में कहीं उचित उपमान नहीं मिलते। वह तो स्वयं उपमेय और उपमान हैं अथवा अनुपमेय हैं। तभी तो शत्रु भी उस रूप पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। बहिन शूर्पणखा के अंग-भंग का बदला लेने के लिए आए हुए खरदूषण को भी यही कहना पड़ा—

"खग मृग मगन देखि छबि होहीं।
लिये चोरि चित राम सनेही।।
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।।"

विशिष्टाद्वैतवाद में ईश्वर के कारुण्य-गुण का सर्वाधिक गान किया गया है। तुलसीदास, सूरदास, कबीर, मीरा सभी ने उनकी करुणा-वत्सलता का राशिभूत वर्णन किया है। वह अनादि है, अनन्त है और सब प्रकार से अलौकिक है, तभी तो वह बिना पैरों के चलता, बिना कानों के सुनता, बिना हाथों के कार्य करता, विना मुख के सर्व-रस-ग्रहण करता, बिना वाणी के योगियों को भी उपदेश देता, बिना शरीर के स्पर्श करता, बिना नेत्रों के देखता और बिना घ्राणेन्द्रिय के सूंघता है। उसकी अलौकिकता और महिमा का पार न पाकर उसके अनन्त गुणों के गाने में असमर्थ कबीर को यह कहना पड़ता है—

सात समुन्दर की मसि करौं, लेखनि सब वनराय।
धरती सब कागद करौ, हरि गुण लिखा न जाय।।[5]

अनन्त दिव्य-गुण-मण्डित, परम कृपालु, प्रणत-अनुरागी ईश्वर असुर-मर्दन और भक्त-रक्षण के लिए अपनी ही इच्छा से अपने अंशों सहित लीलोपकरण में

१. 'कबीर-ग्रन्थावली', पृ० १५
२. 'गीतावली', अ० का०, पृ० १४
३. 'सिद्धान्त सार-संग्रह', पृ० ७७
४. 'गीतावली', अ० का०, पृ० ३८
५. 'कबीर-ग्रन्थावली', पृ० ६२

सगुण रूप में अवतरित होता है। यह स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता, पर अपने ही अंश से आप प्रकट होता है। वह षड्गुणों को धारण करने वाला सबका आश्रयभूत नारायण ही सर्व समर्थ है।

ईश्वर संसार का स्रष्टा, पालक और संहारक है।[१] ईश्वर जगत् का कारण है। कारण तीन प्रकार के होते हैं। उपादान, निमित्त और सहकारी। तीनों कारण ईश्वर ही हैं।[२] ईश्वर अपने षड्गुणों में से दो-दो गुण ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को बांट देता है और उसी के अनुसार ये तीनों प्रभु की आज्ञा से सृष्टि, पोषण और लय-कार्य करते हैं—

"जाके बल बिरंचि हरि ईसा।
पालत सृजत हरत दस सीसा।।[३]

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र वस्तुतः स्वयं शक्तिशाली नहीं हैं। वह सच्चिदानन्द घन परमात्मा सर्व समर्थ है। उसके भृकुटि-विलासमात्र से कितने ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हो सकते हैं।[४] वस्तुतः सूरदास के शब्दों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि सब उसी परब्रह्म का अंश है।

विष्णु रुद्र विधि एकहि रूप।
इन्हें जान मत भिन्न स्वरूप।
जातै ये परगट भए आइ,
ताकौं तू मन में ध्याइ।।[५]

परमानन्ददास के अनुसार 'ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों श्रीकृष्ण के ही गुणावतार हैं।'[६]

वह ईश्वर सर्व स्वतन्त्र हैं, अन्य सब परतंत्र और शेष हैं। इसलिए 'राम रजाई सीस सबही के' हैं। शिव सनकादिक सभी उसके चरणाश्रित हैं। महात्मा कबीर ने भी स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—

सिव सनकादिक नारदा, ब्रह्म लिया निज कास जी।
कहै कबीर पद पंकज्या, अब नेडा चारण निवासजी।।[७]

विशिष्टाद्वैतवाद में ईश्वर के स्वरूपतः पांच भेद माने जाते हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। पर रूप में श्री नारायण श्री-भू-लीला देवी सहित सिंहासन पर वैकुंठ धाम में निवास करते हैं। गरुड़ और विष्वक सेन तथा असंख्य पार्षद एवं मुक्तात्मा उनकी सेवा में रहते, उनकी आज्ञा का पालन करते और उनकी मुख-छवि निहारते हैं। भक्तिकालीन कवियों ने उनके इस स्वरूप

१. 'उतपति पालन प्रलय समीहा', 'मानस', लं० का०, दो० १४
२. 'रामचरितमानस', सिद्धान्त-भाष्य, पृ० १८
३. 'मानस', अ० का०, दो० १७३
४. वही,
५. 'सूरसागर', ४-५
६. "ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि देवता जाकी करत किवार।
पुरुषोत्तम सबही के ठाकुर यह लीला अवतार।।" —परमानन्द सागर, पद सं० २२
७. 'कबीर-ग्रन्थावली', पदावली ३०, पृ० ६८

का अत्यन्त भक्तिपूर्वक चित्रण किया है। निर्गुणवादी कबीर भी प्रेम के आवेश में अपने निराकार राम के सर्व सामर्थ्य-प्रदर्शन में उनके इस रूप से प्रभावित होते हैं और विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार शेषशायी, सारंगपाणि, नारायण के अनन्त ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए अभयपद की याचना करते हैं। वह परम धाम ऐसा है कि वहां करोड़ों सूर्यों का-सा प्रकाश है, करोड़ों कैलाशों जैसा विलास है, करोड़ों चन्द्र जहां दीपक हैं, समस्त देवगण जहां आश्रित हैं। कोटि-कोटि नवग्रह, धर्मराज, कोटि-कोटि कुबेर, कोटि-कोटि इन्द्र और गन्धर्व आदि इनकी सेवा में रहते हैं और वह स्वयं 'बासिग कोटि सेज बिसतरै' तथा 'लक्ष्मी कोटि करै सिंगार' के अनुसार शेष-शय्या पर विश्राम करते हैं और लक्ष्मी जी उनकी सेवा में हैं। उन्होंने ही रावण का वध किया और सहस्रार्जुन को मारा।[१] नन्ददास के 'रास पंचाध्यायी' में श्री वृन्दावन-वर्णन भी दिव्य विभूति लोक में विराजमान ईश्वर के पर रूप का ही चित्र है। श्री वृन्दावन के खग, मग, लता, कुंज सभी प्रफुल्लित रहते हैं और काल के प्रभाव से रहित हैं। वहां काम, क्रोध नहीं है, सदा वसन्त रहता है, सूर्य का शाश्वत प्रकाश है। लक्ष्मी जी नित्य चरण-सेवा में रहती हैं। इस प्रकार यह शेष और लक्ष्मी सहित ईश्वर ही विशिष्टाद्वैतवाद के चिद्चिद् (चित् और अचित् जीव और प्रकृति) विशिष्ट परब्रह्म हैं, यही कारणावस्थ ब्रह्म हैं। नन्ददास ने स्पष्ट कह दिया है कि यही वैकुण्ठ में रमारमण नारायण हैं और यही वृन्दावन में कृष्ण रूप हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने विशेष रुप से तो पर स्वरूप और दिव्यालोक का संकेत नहीं किया है, किन्तु उनके श्री राम, लक्ष्मण और सीता सहित चिद्चिद् विशिष्ट ईश्वर ही हैं। उन्होंने स्पष्ट रूपेण कहा है—

'स्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीस माया जानकी' और
'जो सहस सीसु अहीसु महिधरु लषन सचराचर धनी' हैं।

इन पंक्तियों के अनुसार सीता जी ही मायाशक्ति अर्थात् लक्ष्मी हैं और लक्ष्मण शेष हैं। श्री राम वास्तव में क्षीर सागर में रहने वाले, शेषशायी, सर्ववासी रमापति ही हैं।

'उरग-नायक सयन तरुन पंकज नयन क्षीर सागर अयन सर्व वासी'[२]
महात्मा सूरदास ने भी दिव्य वैकुण्ठ लोक और लक्ष्मी-नारायण की नित्य क्रीड़ा का वर्णन किया है। वह परम धाम नित्य है। वहां सनकादिक महर्षि शिव, मुनिजन भगवान् की नित्य सेवा में प्रसन्न चित्त रहते हैं और पुण्य कर्मो के फल रूप सायुज्य मुक्ति प्राप्त करते हैं।[३]

भगवान् के विभव रूप के चार रूप हैं—

१. वासुदेव
२. प्रद्युम्न
३. अनिरुद्ध और

---

१. 'रामचरितमानस' अ० का०, दो० १२७
२. 'सूर सारावली', पद १८४
३. 'विनयपत्रिका', ५५

४. संकर्षण

इनमें वासुदेव तो षड्गुणों से सम्पन्न पर रूप ही हैं, शेष तीनों में उनके दो-दो गुण विद्यमान रहते हैं। प्रद्युम्न जगत् का निर्माण-कार्य करते हैं, अनिरुद्ध जगत् की रक्षा और पालन करते हैं और संकर्षण जगत् का विध्वंस करते हैं अर्थात् सृष्टि पोषण और लय के लिए भगवान् के यही तीन स्वरूप कार्यशील होते हैं। वासुदेव स्वरूप भगवान् तो सर्व समर्थ ही हैं। वह अकेले ही तीनों स्वरूपों का कार्य कर लेते हैं—

सुर-नर मुनि करि अभय, दनुज हति, हरहि धरनि गरु आई।
कीरति विमल विस्व अघमोचनि, रहिहि सकल जग छाई॥[1]

इन सब कार्यों के लिए भगवान् को पृथ्वी पर अवतरित होना पड़ता है और उनका अवतार ही विभव रूप है। कबीर निर्गुणवादी थे, फिर भी उन्होंने विभव स्वरूप को बनवारी, गोविन्द, गोपाल और राम आदि नाम से संबंधित किया है। उनकी भक्तवत्सलता का वर्णन करते हुए प्रह्लाद तथा अम्बरीष की रक्षा हेतु उनके सुदर्शन-चक्र और नृसिंह स्वरूप का भी उल्लेख किया है। अतः स्पष्ट है कि वैष्णवाचार्यों के अदम्य उत्साह और वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से निर्गुण-वादी संत भी अप्रभावित नहीं रह सके थे। गोस्वामी तुलसीदास ने पग-पग पर पाठक को याद दिलाई है कि अयोध्या-नरेश श्री राम परब्रह्म परमेश्वर ही हैं, और पृथ्वी पर भक्तों के प्रेम, संतों और देवों की रक्षा, गो-द्विजपालन, दुष्ट-दलन और धर्म-संरक्षण के लिए अवतरित हुए हैं। ये कभी जो अभिन्न रूपा लक्ष्मी, शेष जी और अपने समस्त परिकर-समाज सहित अवतार लेते हैं और कभी कुछ ही अंशों सहित प्रकट होते हैं। इसी भेद से विभव पूर्णावतार और अंशावतार रूप से होते हैं। श्री राम पूर्णावतार हैं। गोस्वामी जी ने स्वयं ही पर ब्रह्म रूप से देवताओं को आश्वासन दिलवाते हुए कहा है—

"अंसन्ह सहित देह धरि ताता।
करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥
आदि शक्ति जेहि जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥[2]

सूरदास ने भी 'अपने अंश आप हरि प्रकट' कहकर विभवावतार का वर्णन किया है। सूरदास ने सूरसागर के द्वितीय स्कन्ध के ३६वें पद में श्रीमद्भागवत के अनु-सार ईश्वर के चौबीस अवतारों का उल्लेख किया है। परमानन्ददास के शब्दों में भी श्रीकृष्ण ईश्वर के अवतार हैं—

"परब्रह्म भेष नराकृत जगमोहन लीला अवतार।"[3]

नन्ददास के अवतार सम्बन्धी तथ्यों में तो विशिष्टाद्वैत का यथातथ्य प्रभाव है, अन्तर केवल यही है कि नारायण विभव और नन्दनन्दन पर वासुदेव हैं। यही

१. 'गीतावली', १६
२. 'रामचरितमानस', बा० का०, दो० १८०
३. 'परमानन्ददास पद-संग्रह', पद १२६

पर वासुदेव लीलावतार में वृन्दावन में प्रकट होते हैं। वस्तुत: लीलोपकरण में राम और कृष्ण एक ही हैं, केवल यत्किंचित् बाह्य अन्तर ही तो है—

"ये अवधेस धनुष कर धारैं, ए ब्रज जीवन माखन चोर।"

ईश्वर का अन्तर्यामी स्वरूप तो निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के भक्तों को मान्य है। कबीर, तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास तथा अष्टछाप के समस्त कवि और अन्य भक्त-कविगण सभी ने भगवान् के अन्तर्यामी स्वरूप का महत्त्व स्वीकार किया है। तुलसीदास जी कहते हैं—

"अन्तरजामी राम सिया"[१] "सबके उर अन्तर बसहु।"[२] "राम उमा सब अन्तरजामी।"[३] "अन्तरजामी प्रभु सब जाना।"[४] तथा 'रघुबर सब उर अन्तर-जामी"[५] कविवर नन्ददास के शब्दों में ईश्वर इस प्रकार अन्तर्यामी हैं :

"निपट निपट घट में जो अन्तरजामी आही।
विषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही ॥[६]

परब्रह्म ईश्वर ही व्याप्य-व्यापक भाव से समस्त चराचर प्रकृति में रमा हुआ है। कस्तूरी के मृग की भांति मानव उसे नहीं जान पाता है, किन्तु वह अगम है, उसकी साधना कठिन है। अत: भक्तजन उस ईश्वर के सौलभ्य गुण-संपन्न सगुण स्वरूप की ही उपासना करते हैं। पर गुण सबसे अधिक अर्चावतार की सेवा में है। तुलसी ने सीता द्वारा जगदम्बा की पूजा कराकर अर्चावतार को पुन: कामनापूर्ति का साधन सिद्ध किया है।

सारांश यह है कि सभी भक्तों के आराध्य राम या कृष्ण संसार के कर्ता, पालक और संहारक हैं। वे अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त दिव्य कल्याण गुणों से पूर्ण हैं। सौंदर्य और अनन्त ज्योति के वे अखण्ड सागर हैं, मन, वाणी से अगम, अगोचर अनादि, अखण्ड, अनन्त, अजर, अमर, शुद्ध, सच्चिदानन्द, आप्तकाम, सुखराशि, निर्विकार, निर्मोही, सर्वज्ञ, भक्तों के रक्षक, शरणागत, हितकारी, परम ऐश्वर्य निधि, इन्दिरापति मायाधीश ये सर्व स्वतन्त्र हैं, उनके संकेत से ही सृष्टि और प्रलय होती है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उन्हीं के अंश हैं और उन्हीं की सेवा में रहते हैं। भक्तों के पारवश्य में उन्हें पृथ्वी पर अवतार लेना पड़ता है। सीता अथवा राधा उनकी अविच्छिन्न पारमेश्वर्य शक्ति हैं।

ईश्वर के गुण और स्वरूप में मूलत: कबीर, तुलसीदास, अष्टछाप के कवि और अन्य सखी संप्रदाय के भक्तों की मान्यता में विशेष अन्तर नहीं है, केवल कबीर की विचारधारा के विरुद्ध ईश्वर का अर्चावतार रूप ही पड़ता है। वैसे वे भी "हरि जननी मैं बालक तोरा" कहकर विशिष्टाद्वैतवाद की तरह ही शरणागत

१. 'मानस', अ० का०, दो० २५६
२. वही, दो० २५७
३. वही, दो० ३८
४. वही, उ० का०, दो० ३५
५. वही, बा० का०, दो० ११८
६. नन्ददास—'रासपंचाध्यायी', १०-५-७२

हुए हैं। वस्तुतः ईश्वर ही माता-पिता, स्वामी, सखा, पति सब कुछ है। तुलसी ने तो एक ही पंक्ति में "पितु मातु सहायक स्वामि सखा" सभी कुछ कहकर भगवान् के प्रति अपने भावों को व्यक्त कर दिया है: "राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबही के"[१], "ब्रह्म जीव इव सहज संघाती"[२] तथा "सेवक हम स्वामी सिय-नाहू[३]"। मीरा भी "जाके सीस मोर मुकुट मेरो पति सोई" कह कर उन्मत्त-सी हो जाती है और शृंगार रसिक व्यास जी व्यास वाणी में "तुमहीं हमरी गति सदा" शब्दों में भगवान् को आत्म-समर्पण कर देते हैं। "तुमही जीवन तुम ही जीव" कहकर नन्ददास श्रीकृष्ण को ही सर्वस्व मान लेते हैं, क्योंकि वही "जगत-जनक-गुरु अरु स्वामी" हैं, फिर तो कोई सम्बन्ध शेष रह नहीं जाता है। परमानन्ददास के स्वामी मनमोहन ही हैं, यह तो अपने स्वामी के चाकर हैं। मीरा को अपने पति की चाकरी ही प्रिय है, तभी तो वे "मनै चाकरि राखो जी" कहकर प्रार्थना करती हैं। यह प्रार्थना और दीनता ही ईश्वर को मुग्ध करती है, फिर तो वात्सल्य-गुणयुक्त ईश्वर भक्ति के किसी भी अवगुण को नहीं देखते। उनका भक्त चाहे ब्राह्मण हो अथवा शूद्र, विद्वान् हो अथवा मूर्ख, राजा हो या रंक, मानव हो अथवा खग-मृग, समान रूप से उनका प्रेम-पात्र हो जाता है। तभी तो सूरदास का मन-मयूर नाचने लगता है—

राम भक्त वत्सल निज बानौं
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं,
रंक होये के रानौं ॥"[४]

वह तो चिन्मय, अविनाशी, सर्वरहित और सर्व-उर-वासी है।

श्री

विशिष्टाद्वैतवाद में नारायण के साथ श्री का अभिन्न सम्बन्ध है। यद्यपि श्री जी जीव कोटि में ही हैं, तो भी वे नित्य हैं, मुक्त जीव हैं। उनको नारायण के साथ विभवावतार में पृथ्वी पर अवतरित होना पड़ता है। परन्तु वह अवतार कर्मफल के अनुसार नहीं होकर ईश्वर की इच्छा से ही है। यह श्री ही राम के विभवावतार में श्री सीता और कृष्णावतार में श्री राधा है। वैसे लक्ष्मी रूप में वे नारायण की नित्य सेवा में रहती हैं। ये भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति हैं, जो उनकी इच्छा से जगत् का उद्भव, स्थिति और संहार करती हैं। तुलसीदास जी ने विशिष्टाद्वैतवाद के श्री जी के इस स्वरूप को प्रणति-भाव से मानकर अपने भक्ति-काव्य में स्थान दिया है, किन्तु अधिक मान्यता नित्य सेवा को दी है। कृष्ण-भक्त कवियों ने लक्ष्मी-नारायण के स्थान पर राधा-कृष्ण के नित्य विहार को अधिक महत्त्व दिया है।

---

१. 'रामचरितमानस', अ० का०, दो० ७३
२. वही, बा० का०, दो० १६
३. वही, अ० का०, दो० २३
४. 'सूरसागर'

गोस्वामी तुलसीदास ने सीता को आदि शक्ति माना है। बालकाण्ड में स्वयं सीता जी के लिए श्री राम ने कहा है—

"आदि शक्ति जेहि जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥"[१]

इससे स्पष्ट है कि सीता परमात्मा की अपनी शक्ति हैं। सूरदास ने भी इसी प्रकार वर्णन किया है :

"द्वै तनु जीव एक, हम तुम दोउ सुख कारण उपजाये।"

अथवा

"राधा हरि आधा आधा तनु एकै द्वै ब्रज में ह्वै अवतारि।"[२]

ये संसार की उत्पत्ति करती हैं। इनके भृकुटि-विलास से ही जगत् की सृष्टि हो जाती है, इनके अंश से अगणित लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी उत्पन्न हो जाती हैं—"भृकुटि-विलास जग होई। राम वाम दिसि सीता सोई।"[३] किन्तु किसी भी कार्य में ये स्वतंत्र नहीं हैं। इन्हें ईश्वर का संकेत और आदेश भी मान्य होता है। जगदम्बा स्वरूपा सीता आचार्य-रूपा हैं। वे जीव का भगवान् के प्रति आभिमुख्य करातीं और क्षमादान कराती हैं तथा सायुज्य मुक्ति को सुलभ बनाती हैं। तभी तो तुलसी जी सीता से अपनी सिफारिश कराते हुए 'विनय पत्रिका' में कहते हैं—

कबहुक अम्ब औसर पाइ।
मेरिऔ सुधि धाइबी कछु करुन कथा चर्चा चलाइ॥[४]

इस प्रकार सूरदास की राधा भी सीता जी की ही भांति जगज्जननी हैं, अनन्त गुणों से संयुक्त हैं, कृष्णवल्लभा हैं और भक्तों की मति हैं। इसी से श्री राधा के प्रति प्रणति अर्पित करते हुए सूर कहते हैं—

"रूप राशि सुखराशि राधिका,
शील महागुण राशी।
कृष्ण चरण ते पावहिं श्यामा,
जे तुव चरण उपासी॥
जग नायक जगदीश पियारी,
जगत जननि जगरानी।
नित बिहार गोपाल लाल,
संग वृन्दावन रज धानी॥
अगनित की गति, भक्तन की
पति श्री राधा पद मंगल दानी।

---

१. 'रामचरितमानस', बा० का०, दो० १८०
२. 'सूरसारावली', २६, ३२
३. 'मानस', बा० का०, दो० १७६
४. 'विनयपत्रिका', पद ४१

अशरन शरनी, भव भयहरनी,
वेद पुराण बखानी ।।[1]

सीता और राधा

तुलसी के अनुसार सीता जी मायाधीश श्री राम की पत्नी हैं और उनका मर्म कोई नहीं जानता। संसार माया-समुदाय उन्हीं के अधीन है। आदि शक्ति रूपा सीता परम सुन्दरी हैं। उनके समस्त उपमान हेय हैं। चन्द्र बिचारा उनके मुख की समता नहीं कर सकता, क्योंकि एक तो उसका खारी सागर से जन्म हुआ, विष उसका वन्धु है और दिन में चन्द्र से श्रीहत हो जाता है। अतः पृथ्वी के गर्भ से उत्पन्न अहर्निश ही समान रूप से कांतिमती सीता की चन्द्र से समानता असंगत है।[2] रति, पार्वती और रमा आदि देवियां भी उनकी समता नहीं कर सकतीं। यदि ऐसा हो—

"जो छवि सुधा पयोनिधि होई।
परम रूपम कच्छप सोई ।।
सोभा रज्जु मन्दरु सिंगारू।
मथै पानि पंकज निज मारू ।।
येहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सँकोच समेत कवि कहहिं सीय सम तूल ।।

तब तो कुछ सीता के लिए उपमान उचित-सा प्रतीत होता है और अधिक क्या कहा जाए, सीता जी का रूप-लावण्य ही ऐसा है कि—

"सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।
छबि गृह दीप सिखा जनु बरई ।।"[3]

कृष्ण-भक्त-कवियों ने राधा रानी के परम सौंदर्य पर सर्वस्व ही न्यौछावर कर दिया है। जिस प्रकार रमा, उमा और रति सीता की समता के लिए उपयुक्त नहीं हैं, उसी प्रकार सूरदास भी राधा की तुलना में रमा को रखते हुए संकोच करते हैं और उन्हें यही कहना पड़ता है—

देखि री देखि शोभा राशि।
काम पटतर कहाँ दीजै रमा जिनकी दासि ।।"[4]

मूल तत्त्व में जाने पर भाव-गांभीर्य में सूर "लक्ष्मी सहित होत नित क्रीडा" कहकर राधा और लक्ष्मी में अन्तर नहीं मानते। वैसे भी राधाकृष्ण, सीताराम और लक्ष्मी-नारायण का सम्बन्ध युग-युग का नित्य और चिरन्तन सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध नवीन नहीं है—

---

१. 'सूरसारावली', ४१
२. 'रामचरितमानस', बा० का०, दो० २७०
३. वही, २८०
४. 'सूरसारावली', ५५

'प्रकृति पुरुष, श्री पति, सीतापति, अनुक्रम कथा सुनाई ॥'[१]

सखी संप्रदाय में तो श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति राधा का श्रीकृष्ण से भी अधिक महत्त्व है। श्री हितहरिवंश जी श्री राधा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कोटि-कोटि चपलाओं की-सी चकाचौंध करने वाली अनन्त ज्योति-पुंज-स्वरूपा अरविन्द-नेत्रा राधा ही भगवान् की आदि शक्ति और भक्त की आचार्या हैं।[२]

चित् तत्त्व जीव

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत में जीव वास्तविक तत्त्व है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप, अणु परिणाम और ईश्वर का अंश और विशेषण है।[३] जीव कर्म-फलानुसार अनेक योनियों में भटकता है और सुकृत फल, सत्संग, गुरु-कृपा तथा ईश्वर-कृपा से परम धाम का अधिकारी होता है। यह अज्ञ, चेतन, पराधीन अणु परिमाणवाला, स्वयं प्रकाश, देह और इन्द्रियों से विलक्षण और भगवान् का शेष है। माया इसको नचाती है। माया के परिवार से घिरा हुआ जीव ईश्वर की कृपा से ही मुक्त होता है। त्रयतापों से सन्तप्त जीव संसार में सदा दुःखी रहता है। यह जीव-विषयक विशिष्टाद्वैत सिद्धांत सभी को मान्य है। जीव के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास तथा अष्टछाप के कवियों की विचारधारा विशिष्टाद्वैत के अनुरूप ही है।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने जीव सम्बन्धी विचार श्री संप्रदाय की मान्यता के अनुसार ही व्यक्त किए हैं। जीव चेतन[४] है और ईश्वर का अंश है।[५] किन्तु दोनों में महान् अन्तर है। ईश्वर स्वतंत्र, निर्मल और आनन्द स्वरूप है और जीव ईश्वर के परतंत्र, मायावश और विकारी है, उसकी गति ईश्वर के अधीन है। मायावश्यता के कारण ही मतिमन्द अभागे जीव के हृदय पर यवनिका पड़ जाती है। एक जीव ही क्या, समस्त सचराचर उसी माया के अधीन हैं और इसी परवश्य के कारण जीव ईश्वर के अखण्ड स्वरूप को देख नहीं पाता। 'जीव करम बस सुख दुख भागी' के अनुसार जीव के कर्म ही उसके बन्धन का और ईश्वर के वैमुख्य का कारण हैं। काल, कर्म, स्वभाव और माया की प्रेरणा से वह नित्य जीव चौरासी योनियों में भ्रमता फिरता है।

"आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनिन भ्रमत जीव अविनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥"[६]

---

१. 'सूरसारावली', ६५
२. 'राधासुधानिधि', ६८
३. 'रामचरितमानस', सिद्धान्त भाष्य, श्रीकान्त शरण, पृ० ८
४. 'चेतन अमल सहज सुखरासी', 'मानस', उ० का०, दो० ११६
५. 'ईश्वर अंस जीव अविनासी', 'मानस', उ० का०, दो० ११६
६. 'रामचरितमानस', उ० का०, दो० ६७

पुन: जल, थल और नभ में यह जीव माया की प्रेरणा से और अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में भटकता फिरता है। शास्त्रीय ज्ञान, योग, कर्म, उपासना ऐसे जीव के लिए व्यर्थ होते हैं। उसको सुख और शांति का तब तक अनुभव नहीं होता जब तक वह श्री राम का भजन नहीं करता। बिना श्री राम-कृपा के स्वप्न में भी सुख के दर्शन नहीं होते। जीव को माया के बन्धन में डालना और उसको मुक्त करने का कार्य ईश्वर का है, क्योंकि इन्हीं की प्रेरणा से माया कार्य करती है। गोस्वामी जी ने स्वयं कहा है—

माया ईसु न आपु कहँ जान कहिय सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्व पर माया प्रेरक जीव॥[1]

मूल रूप में जीव अमल, चेतन और प्रकाशक है। माया से लिप्त होने पर उसका ज्ञान लुप्त नहीं होता, वरन् ढक जाता है, किन्तु स्वरूप ज्ञान होने पर जीव पुन: अपने सहज स्वरूप को पा लेता है। पंचभौतिक शरीर जीव नहीं है। परम सूक्ष्म तो प्रकाश के मणि की भांति हृदय-प्रदेश में रहता है। विकार शरीर का धर्म है, जीव का नहीं। अज्ञानवश जीव षड्विकारों को अपना समझ लेता है। गोस्वामी जी के अनुसार मायावश्य जीव के अनेक धर्म हैं। वे धर्म ही उसे सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं होने देते, वरन् और भी जकड़ देते हैं :

हरष विषाद ग्यान अग्याना।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥[2]

जीव का अज्ञान और अहंकार ममकार का विनाश और ज्ञान का विकास तभी समझना चाहिए जब उसका संसार के विलास-ऐश्वर्य से विराग हो जाए और मन-वचन-कर्म से भगवान् के चरण-कमलों में स्नेह हो।

भक्तशिरोमणि सूरदास ने भी विशिष्टाद्वैत की भांति जीव को सत्य, नित्य, निर्मल, शुद्ध और ईश्वर का ही अंश माना है। माया के बन्धन में उसे सत्य का भान नहीं रहता और शरीर एवं इन्द्रियों के दु:ख-सुख को ही अपना दु:ख-सुख मानता है। शरीर स्थूल हो या सूक्ष्म—एक ही-सा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु परिमाण जीव पिपीलिका से हाथी तक सबके अन्तर में स्थित रहता है। शरीर अनित्य है और जीव नित्य है। शरीर के साथ जीव का नाश नहीं होता। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार सूर ने भी शरीर धारण का कारण कर्मफल को माना है। "जीव कर्म करि बहु तन पावै।" अज्ञान और माया से अभिभूत होकर ही काम, क्रोध, मोह, मद और मात्सर्य आदि के कारण ही जीव के द्वारा ऐसे कर्म किए जाते हैं कि जिनके कारण उसे पुनरावर्तन का कष्ट उठाना पड़ता है। जब तक जीव कारणावस्थ ब्रह्म में मिलित रहता है, जब तक वह ईश्वर रूप रहता है और कार्य रूप जगत् में आते ही वह जीव कहलाने लगता है।

अमल अकल अज भेद बिर्बाजित सुनि विधि विमल विवेक।

× × ×

---

१. 'रामचरितमानस', अरण्य काण्ड
२. वही, बा० का०, दो० ११७

जब ते जग जनम लियौ, जीव है कहायौ ॥"[1]

भक्तप्रवर परमानन्ददास ने भी इसी प्रकार अपने विचार प्रकट किए हैं। उनके मत में भी जीव ईश्वर का अंश है। जब वह अपने अंशी को भूल जाता है तो वह संसारी हो जाता है—

अपने अंसि की सुरति तजी, मांग लियौ संसार।

कबीरदास ने भी जीव को नित्य और ईश्वर का अंश माना है।

विशिष्टाद्वैतवाद में जीवों के मुख्य तीन भेद माने गए हैं—१. बद्ध, २. मुक्त और ३. नित्य। "इन्हीं में कोई पांच प्रकार और कोई छः प्रकार भेद मानते हैं। बद्ध के दो भेद कहे गए हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। मुमुक्षु के दो भेद हैं—कैवल्य-परायण और भगवत्प्राप्ति-रूपी मोक्ष परायण। मुक्त के दो भेद हैं—विदेह मुक्त और जीवन मुक्त।[2] गोस्वामी तुलसीदास ने जीवों का विवेचन इस प्रकार किया है :

विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जगवेद बखाने।
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू ॥[3]

इनमें विषयी जीव बुभुक्षु, साधक जीव मुमुक्षु, सिद्ध जीव मुक्त और राम के स्नेह में सरस मन वाला जीव नित्य है। बुभुक्षु जीव माया के परिवार से परिवृत रहकर सदा दुःखी रहता है। मुमुक्षु जीव के मन में लौकिक आसक्तियों के प्रति वैराग्य हो जाता है और वह भगवच्चरणारविन्द के प्रेम की ओर पग बढ़ाता है। अर्थपंचक-ज्ञान भी इसे साधन-पथ से प्राप्त होता है। सिद्ध जीव ही मुक्त जीव हैं। ये जीव आचार्य-कृपा और भगवत्कृपा से परमपद के अधिकारी होते हैं। और श्री राम के परम स्नेही तो सदा उनके नित्य धाम में रहते हैं।

इस जीव-भेद के अतिरिक्त गोस्वामी ने एक भेद और किया है, जो इस प्रकार है—

सम मम प्रिय सब मम उपजाये।
सबतें अधिक मनुज मोहि भाये।
तिन्ह महं द्विज, द्विज महं स्रुति धारी।
तिन्ह महं निगम-धर्म अनुसारी।
तिन महं प्रिय विरक्त मुनि ज्ञानी।
ज्ञानहिं तें अति प्रिय विज्ञानी।
तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि अति मोरि न दूसरि आसा ॥

मानव सृष्टि में वेद, ज्ञानी, कर्मकाण्डी, ज्ञानी विरक्त, विज्ञानी और दास ये जीवों के मुख्य भेद उपर्युक्त अवतरण में वर्णित हैं। ये भेद मुख्यतः उपासना के अंग कर्म-योग, ज्ञान-योग, और भक्ति-योग और शरणागति के अनुसार हैं।

---

१. 'सूर सागर', स्कन्ध २, पद १
२. 'रामचरितमानस—सिद्धान्त भाष्य', श्रीकान्तशरण, पृ० १०
३. वही, अ० का०, दो० २७७

संसारी जीव शास्त्रीय ज्ञान के आदि बिन्दु से कर्म-मार्ग की साधना करता हुआ वैराग्य और ज्ञान-योग के पथ पर अग्रसर होता हुआ सेवक-सेव्य भाव को प्राप्त होता है। ईश्वर को यह शरणागत सेवक ही परम प्रिय होता है। जो संसार की प्रबल ज्वाला से घबराया हुआ प्रपत्ति के पश्चात् ही मोक्ष की इच्छा रखता है, वह आर्त जीव है।[1] तुलसीदास ने यद्यपि आर्त और प्रपन्न जीव नाम से अभिहित नहीं किए हैं, तो भी उनके काव्य में दोनों ही प्रकार के जीव हैं। सब प्रकार के जीवों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

बद्ध-बुभुक्षु

नाचत ही निसि दिवस गयो।
बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषनोभादि भयो।[2]

मुमुक्षु

जननी जनक बन्धु सुत दारा।
तनु धन भवन सुहृद परिवारा।
सबकै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहिं बांध करि डोरी।।[3]

जीवन-मुक्त

जीवन मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।[4]
× × ×
जीवन मुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन गुनहिं निरन्तर तेऊ।।[5]

कैवल्य

ज्ञान पंथ कृपान के धारा। परत खगेस हीन नहिं बारा।
जो निर्विघ्न पंथ निर्वहई। सो कैवल्य परमपद लहई।।[6]

प्रपन्न-दृप्त

अब गोसाईं मोहि देहु रजाई।
सेवऊं अवध अवध भरि जाई।।[7]

---

१. 'रामचरितमानस—सिद्धान्त भाष्य', पृ० ११
२. 'गीतावली', ३८
३. 'मानस', सु० का०, दो० ४६
४. वही, उ० का०, दो० ४२
५. वही, दो० ५२
६. वही,
७. वही, अ० का०, दो० ३१२

आर्त

राम बिलोकि बन्धु कर जोरे।
देह गेह सब सन तृन तोरे॥ [१]
कृपा सिन्धु अवलोकि बन्धु तन प्रान कृपान बीर सी छोरे। [२]

नित्य

संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।
निज इच्छा प्रभु अवतरई, सुर महिगो द्विज लागि॥
सगुन उपासक संग तहं, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥ [३]

नित्य निरन्तर सगुण ब्रह्म की सेवा में तत्पर और चिरन्तन रूप से भगवद् धाम में रहने वाले जीव ही नित्य जीव हैं। ये मोक्ष, स्वर्ग किसी की चिन्ता न कर भगवान् के नित्य संसर्ग में रहते हैं। आर्त जीव विशिष्टाद्वैत में दो प्रकार के हैं—एक तो कपि किशोरवत् हैं और दूसरे मार्जार किशोरवत्। जो भक्त स्वयं भी उपायशील होता है और भगवान् को भी उपाय मानता है वह कपि किशोरवत् आर्त जीव है।

सूरदास जी ने विशेष रूप से तो जीव-भेद नहीं व्यक्त किए हैं, परन्तु उनके आत्म-बोध, दीनता और शरणागति विषयक पदों में स्वतः ही जीव के अनेक भेद व्यक्त हो जाते हैं। प्रमुख रूप से उनके काव्य में संसारी, ज्ञानी और विज्ञानी तीन ही भेद लक्षित होते हैं। ये विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार बद्ध, मुक्त और नित्य जीव हैं। बद्ध जीव कर्मवशात् जगत् में आकर देह का अभिमानी होकर स्वस्वरूप और परस्वरूप ज्ञान से विमुख रहता है। किन्तु ज्ञानी संसार से अलिप्त रहकर सदा एक रस रहता है—

जीव कर्म करि बहु तन पावि,
अज्ञानी तिहि देख भुलावि।
ज्ञानी सदा एक रस जानै,
तन के भेद भेद नहिं मानै॥

वह जान लेता है कि संसार का कारण करण, कर्ता-धर्ता और हर्ता ईश्वर ही है। फिर तो वह ऐसे लोक का अधिकारी हो जाता है, जहां भगवान् की नित्य सेवा से वह कभी विमुख नहीं होता। उस लोक में सर्वदा प्रकाश रहता है, जहां लक्ष्मी जी और मुक्त जन भगवान् की चरण-सेवा में लीन रहते हैं और जहां जाकर जन्म-मरण से जीव सदा के लिए मुक्त हो जाता है :

चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल-कमला रवि बिना विकसाहिं।

---

१. 'रामचरितमानस', अ० का०, दो० ६६
२. वही, ७१
३. वही, कि० का०, दो० २६

सूर क्यों न उड़ि चलौ जहं बहुरि उडिबो नाहिं ॥[१]

बद्ध और मुक्त जीव तो सभी को मान्य हैं। नन्ददास ने भी काल, कर्म और माया के अधीन रहने वाले जीव का वर्णन किया है, वही जीव जब मुमुक्षु की अवस्था में पहुंच जाता है तो पर स्वरूप को पहचान कर यही कहता है—"अब हौं कहतु कि तुम्हारा चेरौं।" भक्त में भगवद् मिलन की जितनी अधिक आतुरता और आर्ति होती है, उतना ही अधिक उसे भगवान् की सेवा का सुख मिलता है। ब्रज-वनिताओं की इसी प्रकार की आतुरता और परम सुख का नन्ददास ने वर्णन किया है :

परम दुःसह श्रीकृष्ण विरह दुख व्यापो तन में।
कोटि बरस लौं नरक-भोग-अघ, भुगते छन में।
पुनि रंचक धरि ध्यान पयि परि रंभ दियौ जब।
कोटि सरग दुख भोग, छिनक मंगल मुगेत सब ॥[२]

मिलन की त्वरा और आर्ति विशिष्टाद्वैत का अपना विशिष्ट सिद्धान्त है। यह आलवार भक्तों की महती देन है। इस प्रकार की आर्ति और मिलन की त्वरा मीरा के संगीत में चरम सीमा पर पहुंच गई है। वह वियोग की पीड़ा को सह नहीं पाती और अत्यन्त आवेशपूर्ण शब्दों में अपनी व्यथा व्यक्त करती है :

तुम बिनु प्राण दुखी, दुख मोचन, सुधि बुधि सबै बिसारी।
तलफ तलफ उठि उठि मग जोऊं भई व्याकुलता भारी।[३]

इस वियोग दुःख में जीव संसार को और अपने को भूल जाता है। उसकी समस्त वृत्तियां भगवदाधीन हो जाती हैं। छीत स्वामी के शब्दों में सर्वत्र उसे लगता है—

आगे कृष्ण पाछे कृष्ण इत कृष्ण उत कृष्ण।
जित देखौं तित कृष्ण ही मई री ॥

भक्त-कवि व्यास जी भी ऐसे अनन्य प्रेम को आदर्श मानते हैं जैसी अनन्यता मीन को जल से और कमल को सूर्य से होती है, ऐसी ही अनन्यता जीव को ईश्वर के प्रति होनी चाहिए। मार्जार किशोर की-सी पूर्ण शरणागति ही जीव के लिए परम श्रेष्ठ है :

व्यासहिं अंश श्याम श्यामा की,
ज्यों बालक आधार पयस की।[४]

अचित् तत्त्व

अचित् से तात्पर्य है, जड़ प्रकृति। जो विविध विकारों का आश्रय है और

१. 'सूर सागर', प्रथम स्कन्ध, पद ३३८
२. 'मुरली-महिमा', ६४, ६५
३. 'मीरा सुधा सिंधु', विरह के पद, ८०
४. 'व्यासवाणी', पूर्वार्द्ध पद २१५

जिसमें ज्ञान का अभाव है, उसे अचित् (जड़) कहते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य श्री पिल्लै लोकाचार्य ने इसके तीन भेद माने हैं—शुद्ध तत्त्व, मिश्र तत्त्व और सत्व शून्य। रजोगुण और तमोगुण से रहित शुद्ध सत्वात्मक परमधाम ही शुद्ध सत्व अचित् तत्त्व है। इसका अपर नाम नित्य विभूति है। ईश्वर और नित्य मुक्तों के योग्य भोगोपकरण और भोग स्थान को नित्य विभूति कहते हैं। इसी को परम पद, परम धाम, व्योम, अमृत लोक और अप्राकृत लोक भी कहते हैं। इस ऊर्ध्व लोक में अनेक स्वर्ण प्राकार और भवन हैं। फिर एक महाप्राकार में मणि-मंडित महामंडप है। उसमें मंदारवृक्ष के नीचे दिव्य सिंहासन पर श्री-भू-लीला देवी सहित नारायण विश्राम करते हैं, शेष जी अपने शत शत फणों को फैलाकर अमृत-वर्षा करते रहते हैं, और नित्य मुक्त जीव नारायण की सेवा में लीन रहते हैं। सच्चे दास ही इस परमपद के अधिकारी होते हैं। इस लोक में पहुंच कर जीव के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इस लोक में जाकर जीव को कभी दुःख का अनुभव नहीं होता। जहां सच्चिदानन्द भगवान ही मूर्तिमान हों, उनके चरणारविन्दों की नित्य सेवा का सुख उपलब्ध हो, वहां दुख का लेशमात्र भी नहीं रहता।

इस नित्य विभूति का वर्णन अनेक प्रकार से भक्त कवियों ने किया है। निर्गुणोपासक कवि कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में विशिष्टाद्वैतवाद के आदर्श का ही प्रतिपादन प्रतीत होता है :

निसि बासर सुख निधि लह्या, जब अन्तरि प्रगट्या आय।
तन पाया तन बीसरा जब मन धरिया ध्यान॥
तपन गई शीतल भया, जब सुन्नि किया असनान॥[1]

तुलसीदास जी ने मुख्य रूप से नित्य विभूति का वर्णन नहीं किया है, परन्तु बार-बार परम पद, वैकुण्ठ और निज धाम का उल्लेख हुआ है। सूरदास ने तुलसी की अपेक्षा नित्य विभूति का अधिक विस्तार से वर्णन किया है। "निष्कामी वैकुण्ठ सिधावै।" "जन्म मरन तिहि बहुरि न आवै।"[2] कहकर यह तो बता ही दिया है कि वैकुण्ठ परम धाम है। वहां जाकर जीव मुक्त होकर जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। उस वैकुण्ठ धाम का वर्णन सूर ने चकवी, मृगी और सुवा आदि की अन्योक्तियों द्वारा विशिष्टाद्वैतवाद के अनुरूप ही चित्रित किया है—

चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल-कमला रवि बिना विकसाहिं।
हंस उज्जल पंख निर्मल, अंग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहां चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं।
पदुम-बास सुगंध-सीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुल्लित रहैं, जल बिनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं॥...
सूर क्यों नहिं चलै उड़ि तहं, बहुरि उड़िबौ नाहिं॥

१. 'कबीर-ग्रन्थावली', पृ० १५
२. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद ३३८

नन्ददास का श्री वृन्दावन वर्णन नित्य विभूति का ही स्वरूप है। यहां काम, क्रोध, मद, लोभ का नाम भी नहीं है। सर्वदा वसन्त ऋतु ही रहती है। सर्वत्र पीयूस वर्षा होती रहती है। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। वहां के लता, फल, वृक्ष सभी काल के प्रभुत्व से रहित अपरिवर्तनशील और अविकारी हैं। इस नित्य धाम वृन्दावन में परब्रह्म परमात्मा बाल कुमार, नित्य किशोर सर्व काल बसते हैं। इसी से भक्तों के वैकुण्ठ का वैभव भी वृन्दावन की तुलना में तुच्छ प्रतीत होता है। यह नन्दनन्दन का नित्य सदन है, वृन्दावन की रज बड़े पुण्यों से किसी बिरले को ही मिलती है। यहां नित्य यमुना प्रेम से तरंगित रहती है। यहां के गुणों का अन्त नहीं है।[1] तभी तो भक्त प्रवर सूरदास यहां के संतों की जूठन का भी महत्त्व मानते हैं और रसखान यहां का पशु-पक्षी बनने में भी गौरव समझते हैं। इस वृन्दावन धाम का अधिकारी ऐसा व्यक्ति नहीं हो सकता जिसकी इन्द्रियां विषय-वासना में लिप्त हों, जिसका हृदय अशुद्ध हो और जिसके मन में अनेक विकार हों। इसके लिए दिव्य दृष्टि, अनुरागपूर्ण हृदय और ईश्वर की कृपा की अपेक्षा रहती है।

श्री रूप रसिक देवाचार्य ने गोलोक से भी ऊपर परम धाम को वृन्दावन कहा है। यह वृन्दावन विशिष्टाद्वैतवाद की नित्य विभूति ही है। यह धाम सदा सनातन एक रस है, राधा-कृष्ण की यहां नित्य क्रीड़ा होती रहती है, इनके मुख चन्द्र की शुभ्र ज्योत्स्ना से वहां सर्वदा प्रकाश रहता है।

वृन्दावन के द्रुमलता, सदा सनातन जाति।
युगल चन्द आनन्द उर, दिपति रहै दिनराति॥
वृन्दावन अनुराग कौ फूलौ कमल सुरंग।
निशिदिन भटकत रहत जहँ रसिकन के मन भृंग॥[2]

सत्व शून्य काल

काल अर्थात् समय सब का शासक है और नित्य है, इसका विशद वर्णन तुलसी ने नहीं किया है। सूरदास जी ने भी प्रसंगवश एक स्थान पर उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है कि यह संसार बार-बार उत्पन्न होता है और बार-बार नष्ट होता है। संसार के संहार का नाम ही प्रलय है। काल ही जड़-चेतन प्रकृति और अखिल ब्रह्माण्ड का नियामक है। यह भी नित्य है। काल के विषय में श्री हरिदास जी का मत है—

तिनुका बयार के वश।
ज्यौं भावै त्यों उड़ाय लै जाय अपने रस।
ब्रह्म लोक शिवलोक और लोक अस॥[3]

काल की ऐसी महिमा और अमोघ शक्ति है कि यह ब्रह्मलोक, शिवलोक और मर्त्यलोक इत्यादि को इतनी सरलता से नियंत्रित करता है जैसे वायु तिनके

१. 'रासपंचाध्यायी', वृन्दावन-वर्णन
२. 'वृन्दावन-माधुरी', ५४
३. 'अष्टादश सिद्धान्त के पद', पद ८

को। मृत्यु इसकी क्रीड़ा है। समस्त लोक काल ही अभिभूत हैं। अतः जहां भी जो कुछ है, इसका कभी न कभी विलय अवश्य ही होता है, पुण्य प्रभाव से प्राप्त होने वाले जितने भी प्रकार के लोक हैं, वे सभी काल के वश में हैं। नित्य विभूति, वहां के नित्य मुक्त जीव और नित्य पार्षद काल के अधीन नहीं हैं। वहां का स्वामी काल का भी प्रेरक है। काल तीनों गुण रूप, आकार और वर्ण से रहित है और इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, इसका अनुभव मात्र होता है।

मिश्र सत्व : प्रकृति और जगत्

शुद्ध सत्व, दिव्य विभूति सत्व मृण्मयी है। सत्व शून्य काल निर्गुण है अर्थात् यह सत्, रज, तम किसी भी गुण की अपेक्षा नहीं रखता और मिश्र तीनों गुणों का समान रूप से सम्मिश्रण है और यही प्रकृति है। तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। यही चराचर सृष्टि का कारण है। अथवा यह कहा जा सकता है कि प्रकृति का विकार ही जगत् है। विशिष्टाद्वैतवाद में प्रकृति दो प्रकार की बताई गई है। विद्या और अविद्या अथवा परा और अपरा। अपरा प्रकृति शरीर है, परा प्रकृति शरीरी है और परम प्रभु इन दोनों का नियामक भी है और अन्तर्यामी भी है। जब परमेश्वर एक से बहुत होने की इच्छा करता है तो प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है और ईश्वर की प्रेरणा से उसकी महाशक्ति परा या जीवा प्रकृति अपरा प्रकृति द्वारा सृष्टि की रचना करती है।

अपरा प्रकृति के ही नाम माया या अविद्या हैं। विशिष्टाद्वैतवाद में किसी भी वस्तु का नाश नहीं होता वरन् स्थूल का सूक्ष्म में विलय होता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति सृष्टि का निमित्त कारण तो किसी भी प्रकार कही नहीं जा सकती, उपादान कारण भी अल्पांश में है। वस्तुतः कारण तो ब्रह्म ही है। वही संकल्प करता है, अतः निमित्त कारण है और वही स्थूल चिद्चिद् विशिष्ट जगत् रूप में अनेक रूपात्मक होकर व्यक्त होता है। अतः उपादान कारण भी है।

जड़ प्रकृति या अपरा प्रकृति के दो कार्य हैं—स्थूल, जड़ जगत् की सृष्टि और जीव का बन्धन। व्यावहारिक रूप से स्थूल जड़ जगत् विधायिनी प्रकृति को प्रकृति और जीव को नचानेवाली प्रकृति को माया कहा जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने विधात्री विद्या शक्ति का सीता के स्वरूप में वर्णन किया है। वही जगज्जननी हैं, वह अपने भृकुटि-विलासमात्र से ही लय और सृष्टि कर सकती हैं, किन्तु जड़ शक्ति का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है, वहां इसकी मोहिनी शक्ति माया का बाधक तत्त्व के रूप में बहुत अधिक वर्णन है।

सचराचर जगत् की सृष्टि का विकास ईश्वर के नाभिकमल से प्रादुर्भूत ब्रह्मा द्वारा-तुलसीदास तथा सूरदास आदि ने मानी है। महतत्व और अहंकारादि का वर्णन भी नन्ददास ने किया है :

दस इन्द्रिय अरु अहंकार महतत्व त्रिगुन मन।
यह सब माया का विकार हैं परमहंस गन॥

श्री भगवत रसिक ने माया (प्रकृति) से महतत्व, महतत्व से अहंकार की

उत्पत्ति कही है। त्रिगुणात्मक अहंकार (सात्विक, राजस, तामस) से ही ब्रह्मा, विष्णु और शंकर की उत्पत्ति हुई है, इन सबका तत्त्व बीज नित्य विहारी ईश्वर ही हैं।[१] इसी पुस्तक में सातवें पद की टीका में सृष्टि क्रम का विस्तार विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार किया गया है :

जल थल पवन अनल आकाशा। पंच तत्व मिलि सृष्टि प्रकाशा॥
शब्द स्पर्श रूप रस गंधा। इन ते जीव सकल दृढ़ बंधा॥
मन बुधि चित अहंकार विचारा। अन्तःकरण करत निर्द्धारा॥
कर्ण चक्षु नासा मुख अंगा। इन्द्री पांच रहत नित संगा॥
रज सत तम की उठत तरंगा॥[२]

वस्तुतः यह जगत् और जीव सब उसी ईश्वर के अंश हैं। विशिष्टाद्वैतवाद में प्रत्येक पदार्थ नित्य है क्योंकि इस मत में किसी भी पदार्थ का विनाश नहीं होता, "जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास" के अनुसार कण-कण में वह ईश्वर अन्तर्यामितया बसा हुआ है, उसके और अपने स्वरूप के ज्ञान के विस्तृत हो जाने से ही अन्तर की विभाजनरेखा बन जाती है। किन्तु विशिष्टाद्वैत की निधि सेवा-सुख का अवसर भी जीव को जगत् रूप में आने पर ही प्राप्त होता है।

माया

विशिष्टाद्वैतवाद में माया भी नित्य है। श्रीभाष्य में श्री रामानुजाचार्य ने माया के दो भेद माने हैं—विद्या और अविद्या। विद्या पारमेश्वर्य शक्ति है जो जगत् का सृजन, पालन और संहरण करती है और अविद्या शक्ति जीव को बन्धन में डालती है। विद्या शक्ति को विशिष्टाद्वैत में लक्ष्मी और सीता तथा कृष्ण भक्तों ने श्री राधा नाम से अभिहित किया है। वे विद्या शक्ति ही जगज्जननी हैं, यही जीव के अपराधों का मार्जन करा जीव को भगवदाभिमुख कराती हैं और भगवान् की नित्य सेवा का शुभ अवसर प्रदान करती हैं। इसी पर मुग्ध जीव नाना योनियों में भटकता है और इसी से विनिर्मुक्त होकर जीव स्व-स्वरूप और पर स्वरूप के ज्ञान द्वारा भगवत् प्राप्ति करता है। इस माया का अनन्त विस्तार है, वस्तुतः अखिल ब्रह्माण्ड में कहीं कोई ऐसा इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ नहीं है, जहां माया की पहुंच न हो। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस तथ्य का ज्यों का त्यों पालन किया है। वे कहते हैं :

गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम दोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचई जग गुन सब जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥[३]

१. 'अष्टादश सिद्धान्त के पद,' पृ० १०१
२. वही, पृ० ५२
३. 'मानस', उ० का०, दो० ८४

यह माया त्रिगुणात्मिका (सत्, राजस् और तमस्) है। इसकी अमोघ शक्ति है, अनन्त प्रभाव है, अद्भुत आकर्षण है। इसके आकर्षण से सुर, नर, ऋषि और मुनि कोई भी नहीं बच पाते। यह ज्ञानी से ज्ञानी, पंडित से पंडित, कवि कोविद, आबालवृद्ध, भक्त, सेवक सभी को मुग्ध कर लेती है। उसका ऐसा अमित प्रभाव है कि शिव और चतुरानन भी इससे डरते हैं, किन्तु यही माया जो चराचर जगत् को मर्कट की भांति नचाती है, वही माया ईश्वर से भयभीय रहती है और हाथ जोड़े उनके सम्मुख खड़ी रहती है।

देव, दनुज, मुनि, नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे।[1]
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं, अपर जीव केहि लेखे माहीं।।[2]
जीव चराचर बस कै राखे, सो माया प्रभु सों भय भाखे।।[3]

जगत् में संयोग-वियोग, हित-अनहित, धन, पुर, परिवार, स्वर्ग, नरक, शत्रु, मित्र, मोर-तोर का व्यवहार माया के कारण ही होता है। आशा, इच्छा, वासना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, दम्भ, कपट, पाखण्ड, सब माया का ही परिवार है। जीव में जब मुमुक्षुत्व की इच्छा जाग्रत् होती है तो इस परिवार से मुक्त होकर भगवत् कृपा से भगवत्प्राप्ति कर पाता है। इसी का अपर नाम अविद्या या अज्ञान है। विशिष्टाद्वैतवाद में बाधक तत्त्वों के अन्तर्गत माया का ही महत्त्व है। मायापति भगवान् ही जीव को इसके पाश से मुक्त करने में समर्थ हैं। मनुष्य के सकल साधन और सकल उपाय बिना मायाधीश के व्यर्थ ही रहते हैं। तुलसी दास जी ने स्वयं ही कहा है:

माधव ! असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया।।[4]

यह माया ईश्वर के सेवकों के पास भी नहीं फटकती। विद्या माया सृष्टि-कारिणी है। भगवान् की आज्ञा से लवनिमेष में ही यह ब्रह्माण्डों की रचना कर देती है। गगन, समीर, अनल, जल और पृथ्वी यद्यपि जड़ पदार्थ हैं, तो भी माया ईश्वर की प्रेरणा से इन्हीं पंच भूतों द्वारा सृष्टि का निर्माण करती है।[5] यह मूला प्रकृति है।

सूरदास ने भी माया की व्यापकता "माधव जू मैं हट को गई।" पद में स्वीकार की है। इस माया के कारण वेद, शास्त्र, पुराण, दर्शन आदि का सब ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। यह व्योम, नद, धरिणी, पर्वत, वन, सर्वत्र व्याप्त है। यह "नील खुर निमि अरुण लोचन श्वेत सींग सुहाई" के अनुसार त्रिगुणात्मिका है, और नारद एवं शुक्रादि सबके मन को हरण कर लेती है, यह बड़ी छवीली है।[6]

---

१. 'विनयपत्रिका', १०१
२. मानस', उ० का०, दो० १०२
३. वही, अ० का०, दो० २३२
४. 'विनयपत्रिका', ११६
५. 'मानस', अ० का०, दो० २५६
६. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद ५६

सूरदास जी ने "जड़ स्वरूप सब माया जानौं"[१] कहकर माया को जड़ कहा है। यह माया मन में अनेक अभिलाषाएं उत्पन्न करती है, स्वरूप ज्ञान को भुलाती है, भगवान् से कपट कराकर कुमार्ग पर इसी प्रकार ले जाती है जिस प्रकार कोई दूती किसी सती को पर पुरुष के पास ले जाए। इसी माया ने नारद को मुग्ध किया, शंकर के चित्त को हरा। इस माया का आकर्षण अद्भुत है। इसकी अकथ कथा—कहीं नहीं जा सकती।[२] शुक, मित्र, मध्यस्थ आदि सम्बन्ध भी सब माया के ही कारण हैं। विशिष्टाद्वैतवाद की भांति सूरदास ने भी माया को नित्य और भगवान् की ही शक्ति माना है:

माया हरि पद मांहि समावै।
परम पुरुष अवतार माया जिनकी है दासी।

भगवान् की विद्या माया संसार का निर्माण करती है और अविद्या माया जीव के पीछे लकुट (लाठी) लेकर घूमती है और उसे राग-द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, तृष्णा आदि से अभिभूत कर ईश्वर से विमुख करती है। जब जीव यह जान लेता है:

मेरे तो तुम ही पति, तुम गति तुम समान को पावै।
सूरदास प्रभु तुमरी कृपा बिनु, कौ मो दुख बिसरावै।।[३]

तब वह भली भांति समझ जाता है कि इस भुजंगिनी माया के विषम प्रभाव से भगवान् ही जीव की रक्षा कर सकते हैं। जीव के जन्म-मरण का कारण भी यही है। सूरदास जी भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वह अपनी माया को हटा लें जिससे उन्हें बद्ध योनि से मुक्ति मिल सके—

सुख सोऊ सुनि बचन तुम्हारे देहु कृपा करि बांहि।
निधरक रहौं सूर के स्वामी, जनम न पाऊं फेर।
मैं ममता रुचि सौं रघुराई पहिले लेउ निबेर।।[४]

नन्ददास ने विद्या और अविद्या दोनों प्रकार की माया का अस्तित्व स्वीकार किया है। "विद्या माया ईश्वरीय प्रेरणा से विश्व की रचना, स्थिति और विनाश करती है, अविद्या माया ईश्वर का विरोध करती है। यह व्यवधान रूपा है।"

"संसार की सारी माया 'मोहनलाल' की है। जीव स्वयं किसी भी कार्य का कर्ता नहीं है, किन्तु अविद्या के कारण वह स्वयं को कर्ता मान लेता है।" भगवत रसिक जी अविद्या का ऐसा ही प्रभाव मानते हैं:

कर्ता कृत जाने नहीं, माने निज करतूत
तै प्राणी दुःख पावहीं, लग्यौ अविद्या भूत।।[५]

इनके मत में भी माया सर्पिणी है, जिसके डर से सुर, नर, मुनि, सब कंपित रहते हैं, यह फन निकाले हुए फूत्कार करती रहती है और जीव को विषयों की

१. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद ४२
२. वही, पद ४४
३. वही, पद १६६
४. वही,
५. 'अष्टादश सिद्धान्त के पद,' पृ० ४५

ओर प्रेरित करती है।[१] भक्त प्रवर हरिदास जी भी सर्वत्र माया का ही प्रसार देखते हैं और इस माया से मुक्त करने में ईश्वर को ही समर्थ मानते हैं।

भगवान् जीव के सहायक होते हैं। हरिदास जी भी इसी भगवत-रक्षण की ओर संकेत करते हुए कहते हैं:

यद्यपि हौं अपनौ मन भायौ कियौ चाहौं तौ,
कैसे करि सकौं जो तुम राखौ पकरि।
कवि श्री हरिदास पिंजरा के जानवर लौं,
तरफ राय रह्यौ उड़िबे कौं कितौ करि ॥[२]

विद्या और अविद्या माया के अतिरिक्त समस्त कृष्ण-भक्त कवियों ने श्री कृष्ण की शक्ति स्वरूपा योग माया शक्ति को भी माना है जो जीव को आकर्षित कर भगवदाभिमुख करा परमानन्द लाभ कराती है। श्री कृष्ण की मुरली ही यह योग माया है।

श्री संप्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों का हिन्दी भक्ति-काव्य पर प्रभाव

श्री संप्रदाय में भगवत्प्राप्ति के साधनों में भक्ति को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। यद्यपि श्री संप्रदाय में कर्म एवं ज्ञान का महत्त्व है, तो भी कर्म फल ससीम है, ज्ञान की गरिमा कभी भी दूषित हो सकती है, ज्ञानी के मन में कभी भी चंचलता आ सकती है, अतः भक्ति ही इन दोनों से श्रेष्ठ है। राम की कृपा भी भक्ति द्वारा ही प्राप्त है और राम-कृपा ही साध्य है। भक्ति तो केवल साधनमात्र है। भक्ति के प्रभाव से, बिना यत्नों के, बिना श्रम के सृष्टि की मूल अविद्या का नाश हो जाता हैं। यह चिन्तामणि के समान है, जीव की समस्त कामनाएं इसके द्वारा पूर्ण हो जाती हैं। भक्त को लौकिक वासनाओं की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो निष्काम हो जाता है। भक्ति के प्रभाव से जीव के मोह, दरिद्रता, लोभ, असन्तोष, काम, क्रोधादि सब नष्ट हो जाते हैं। यह ऐसी अखण्ड छवि प्रभा है जिसके समीप में आने वाले समस्त कालुष्य भस्मीभूत हो जाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग को कठिन बताते हुए भक्ति-मार्ग को सर्वोपरि महत्त्व दिया है।

भक्तिरूपी चिन्तामणि के लिए किन्हीं साधनों की आवश्यकता नहीं होती। अविद्या का अनन्त अंधकार इस भक्ति चिन्तामणि की ज्योति से स्वयं ही नष्ट हो जाता है, यह सुलभ है। भक्ति द्वारा सुलझी जड़-चेतन की ग्रंथि फिर नहीं बंधती। जो मनुष्य भाव सहित भक्ति की खोज करता है, वह इसे पा लेता है। यह भक्ति—

कहत, सुगम, करत अगम, सुनति मीठी लगति।

---

१. 'अष्टादश सिद्धान्त के पद', पृ० ३२
२. वही, पद १

लहत सकृत, चहत सकृत, जुग जुग जगमगति।
राम प्रेम पथ में कबहुं डोलति नहिं डगमगति ॥[1]

के अनुसार अविचल रूप से भक्त के हृदय में निवास करती है। यह भक्ति-रूपी मणि यद्यपि सबके लिए सुलभ है, व्यक्त है, किन्तु जिन पर भगवत्कृपा होती है वे ही इसे पाते हैं।

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।
राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ॥[2]

भक्ति राम को भी परम प्रिय है, अतः माया भी इससे डरती है, इसी से मुनि और ज्ञानी भक्ति को ही चाहते हैं। भक्ति की प्राप्ति के अनन्तर जीव सदा प्रसन्न रहता है, माया का परिवार उसे भ्रम और अज्ञान में नहीं डाल सकता और भगवत् चरणारविन्द की प्राप्ति होती है। जब तक जीव भक्ति के इस गूढ़ रहस्य को नहीं जानता तब तक ही वह दुःखी रहता है। ईश्वर को तो प्रेम ही प्रिय है—

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननि हारा।[3]

प्रेम के वशीभूत होकर ही तो उन्हें निर्गुण निराकार से सगुण और साकार होना पड़ता है :

राम सगुन भए भक्त प्रेम बस, रघुपति भगत भगतिबस कहहीं॥

भक्ति और प्रेम के ही कारण उन्हें भक्ति का पारवश्य स्वीकार करना पड़ता है।

भगवान् राग-द्वैषादि विकारों से रहित हैं और सबको समभाव से देखते हैं। भक्त की मान-मर्यादा उनकी मान-मर्यादा है। जो उनके शरणागत होता है उसकी वह ऐसी ही रक्षा करते हैं, जैसे पलक आंख की पुतली की। भक्त-रक्षण ईश्वर का स्वभाव है—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ।
जो अपराध भरत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।[4]

जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे।
पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥[5]

सूरदास ने भी कर्म-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग को भगवत् प्राप्ति का साधन माना है। कर्म-योगी वर्णाश्रम धर्म और शास्त्रीय विधानों का पालन करता हुआ अधम मार्ग से विमुख रहकर भगवान् को प्राप्त करता है। ज्ञान-योगी 'सर्वमिदं ब्रह्म' के भाव की प्राप्ति कर सबको ब्रह्मस्वरूप मानकर सबसे प्रेम करता हुआ ईश्वर को पाता है और भक्ति-योगी भगवत् स्मरण, पूजा एवं भगवच्चरणारविन्द की सेवा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार कर परम आनन्द प्राप्त

---

१. 'मानस', उ० का०, २९८-३०३
२. वही, २०६
३. वही, अ० का०, दो० २३८
४. वही, दो० २२०
५. वही, दो० १४३

करता है।[१] कर्म और ज्ञान को भी विशिष्टाद्वैतवाद की भांति सूर ने साधक माना है, उपाय नहीं। इनके मत में व्यक्ति क्रम-पूर्वक, कर्म और ज्ञान से अंग, यज्ञ और यज्ञादि को करता हुआ भक्ति का अधिकारी होता है—

भक्ति पथ कौं जो अनुसरे। सो अष्टांग जोग कौं करै।
यम, नियमासन, प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम।
प्रत्याहार धारना ध्यान। करै जु छांडि बासना आन।
क्रम-क्रम सौं पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि॥[२]

ज्ञान-योग के साधन निष्काम भाव के उदित होने पर ही सफल होते हैं, ज्ञान की ज्योति के उपलब्ध हो जाने पर काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्य से जीव मुक्त हो जाता है, अविद्या का नाश हो जाता है, जो जीव भक्ति-मार्ग पर अग्रसर होता है वह स्त्री, पुत्र और धाम इत्यादि के मोह में नहीं पड़ता। वह तो यह समझ लेता है कि "हरि बिनु कोऊ काम न आयौ।" जब मनुष्य को स्वरूप ज्ञान हो जाता है तो उसके हृदय के समस्त विकार धुल जाते हैं और वह निर्मल अन्त:करण वाला होकर भगवत् सेवा-सुख में लीन रहता है। भगवद् भक्ति प्रेम के ही द्वारा प्राप्य है। प्रेम के द्वारा भगवान् स्वयं भक्त के वश्य हो जाते हैं। स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने विदुर पत्नी से कहा था—"हम प्रेम प्रीति के गाहक, भाजी साक छकहये।"[३] इसी से तो प्रीति के वश्य "नटवर भेष धार्यो, प्रीति बह गिरि-राज धारी।" यह प्रेम या परानुरक्ति ही भक्ति है। "भक्ति बिंदु भगवंत दुर्लभ, कहत निगम पुकारि।"[४]

भक्ति के प्रभाव से और भगवान् की प्रीति से चौरासी लाख योनि में भटकना नहीं पड़ता, काम, क्रोधादि सब स्वयं दूर हो जाते हैं। भक्ति वाणिज्य में कभी हानि की संभावना नहीं, सदा लाभ ही लाभ है। सकल जीवों के निवास ईश्वर में प्रेम ही जीव का श्रेय है। ईश्वर अपने भक्त का अहित किसी प्रकार भी नहीं सहन कर सकते। उनका तो नियम और व्रत यही है—

हम भक्तनि के, भक्त हमारे।
जो भक्तन सौं बैर करत हैं सो बैरी निज मेरौ॥[५]

प्रेम का महत्त्व सभी ने माना है। नन्ददास के शब्दों में स्वयं श्री कृष्ण गोपियों से कहते हैं—

सकल विस्व आप बस करि,
मो माया सोहति है।
प्रेम-मई तुम्हरी माया, मो मन मोहति है॥[६]

---

१. 'सूरसागर', तृतीय स्कन्ध, पद १३
२. वही, द्वितीय स्कन्ध, पद २१
३. 'सूरसागर', द्वितीय स्कन्ध, पद २८९
४. वही, पद ३०९
५. वही, प्रथम स्कन्ध, पद २७२
६. 'रास पंचाध्यायी', च० अ०, २६

क्या आश्चर्य है ! जिसकी माया संसार को मुग्ध करती है वह मायापति ईश्वर स्वयं ही भक्त की प्रेम-मोहिनी में बंध जाता है। इस प्रेम की महिमा अद्भुत है, इस प्रेम और मिलन का अलौकिक प्रभाव जड़ जगत् को भी द्रवित कर देता है। भक्त और भगवान् के मिलन का मोहक रहस्य देखिए :

अद्भुत रस रह्यो रास, गीति धुनि सुनि मोहे मुनि ।
सिला सलिल ह्वै गई, सलिल ह्वै गयौ सिला पुनि ।।[1]

सूर्य और चन्द्र की गति, इस प्रेम के महामिलन को देखकर रुक जाती है। इसके पश्चात् भक्त के लिए कुछ भी शेष रह नहीं जाता। जब संसार के समस्त कार्य पथ लौकिक व्यवहार, पारिवारिक और लौकिक सम्बन्ध व्यर्थ हो जाते हैं तो "कृष्ण प्रेम तैं कृष्ण होइ" के अनुसार सारा जगत् ईश्वरमय ही हो जाता है। श्री हित ध्रुवदास ने भी ज्ञान और कर्म को बिना नमक के व्यंजन के समान स्वादहीन कहा है। ज्ञान, कर्म, भजन, प्रेम के बिना नहीं सोहते, प्रेम-छटा के बिना सब नीरस हैं। प्रेम की आंच लगते ही काम-क्रोधादि सब बह जाते हैं। प्रेम-दशा की तो गति ही विचित्र है—प्रेमी की गति का दृश्य देखिए—

हियो छकै तन पुलकि ह्वै, भरि भरि ढारै नैन ।।[2]

प्रेमी भक्त ही भगवान् को प्रिय होता है, ऐसा भक्त भगवान् का प्राण भी होता है।

वास्तव में जिनके मन-मीन प्रेम रत्नाकर में निमग्न रहते हैं, उन्हें किसी भी बन्धन की आवश्यकता नहीं, सच्चे प्रेमियों को तो अपने शरीर का बन्धन भी सहन नहीं होता। प्रीति की रीति को न जानने वाले अज्ञ ही अन्य साधनों को उपाय मानते हैं। प्रेमी भक्त के हृदय में प्रेम-वृक्ष सदा हरा-भरा रहता है। भक्त के प्रेम के पारवश्य में तो भगवान् को भी संकुचित होना पड़ता है।

प्रेम के पथ में कष्ट भी होता है तो प्रेमी उन्हें सहर्ष सहन कर लेता है, फिर तो उसे चिन्ता, माया, भ्रम सबसे मुक्ति मिल जाती है, तब उसको यही कहना पड़ता है :

चारि पदारथ हूं तें न्यारौं व्यास भक्ति सुख आगरौ ।।[3]

इस प्रकार के प्रेम में अनन्यता स्वयं ही आ जाती है। यदि किसी अन्य रूप का भी कभी नाम आ जाता है तो अन्य प्रेमी को यही कहना पड़ता है :

कबीर प्रीतडी तौ तुझसौं, बहु गुणियाले कन्त ।
जै हंसि बोलौं और सौं, तो नील रंगाऊं दन्त ।।[4]

भक्ति के साधन

यह जड़-चेतन गुण दोषमय है, त्रिगुणात्मिका प्रकृति का माया-जाल सर्वत्र

१. 'रास पंचाध्यायी', प० अ०, ४५
२. 'श्री ब्याल हुलास लीला', पृ० २५
३. 'व्यास वाणी', पूर्वार्द्ध, पृ० ६६
४. 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १८

फैला हुआ है, इसमें जो जितना अधिक माया का दास होता जाता है, उतना ही वह भगवान् से दूर होता है और माया का वैमुख्य ईश्वर सामीप्य का सुख देता है। इसी से संत जन संसार के विकारों से दूर रहकर गुणों को ग्रहण करने का प्रयास करते हैं और असन्त जन—जिनके मन मलीन हैं वे जीव लौकिक सुखों को ही आधार मान लेते हैं, जिन्हें भगवत् प्राप्ति की कामना होती है, वे भक्ति द्वारा भगवान् को प्राप्त कर पाते हैं और भक्ति मन के अनेक विकारों को दूर करने से उपलब्ध हो पाती है। भक्ति के आन्तरिक और बाह्य अनेक साधन हैं, उन साधनों को सभी निर्गुण और सगुण भक्तों ने माना है। कुछ मुख्य साधन इस प्रकार हैं—निष्कपटता, अनन्यता, उदासीनता, सत्संग, भगवत् सेवा और नवधा भक्ति को विशिष्टाद्वैतवाद में विशेष महत्त्व दिया है। सगुणोपासक गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास के अतिरिक्त कबीर और जायसी ने भी उन्हें भगवत् प्राप्ति का साधन माना है। कबीर अर्चावतार की सेवा को तो आडम्बर मानते थे, किन्तु उन्होंने हृदय की पवित्रता, निश्छलता और प्रेम को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उनका यही विश्वास है :

चतुराई हरि ना मिलैं, ए बांतां की बात।
एक निसप्रेही निराधार का, गाहक गोपीनाथ।।[1]

भगवान् तो निष्कपट और निस्पृह व्यक्ति को चाहते ही हैं। गोस्वामी जी के मानस में श्री राम ने भी "मोहि कपट छल छिदन भावा" कहकर सरल हृदय को ही अपना स्थान कहा है।

शबरी को उपदेश देते हुए श्री राम के मुख से गोस्वामी जी ने भक्ति के नव साधनों का उल्लेख कराया है। वे साधन श्रीमद्भागवत की नवधा भक्ति से भिन्न नहीं है, अथवा कहना चाहिए कि नवधा भक्ति का ही रूपान्तर है। वे साधन इस प्रकार हैं :

१. सत्संग
२. राम-कथा में प्रेम
३. गुरु सेवा
४. प्रभु का निष्कपट गुणगान और मंत्र जाप तथा प्रभु में दृढ़ विश्वास
५. वेद-वेदांग का प्रकाश
६. दम, शील, विराग और निरन्तर सत्कर्म
७. भगवान् से भी अधिक संत की मान्यता
८. यथालाभ सन्तोष और दूसरे के दोषों को स्वप्न में भी न देखना
९. सरल स्वभाव, निश्छल व्यवहार, भगवान् का विश्वास और सर्वदा नवोल्लास का अनुभव।[2]

इन सब साधनों में समस्त ऊपर लिखे साधनों का समावेश हो जाता है। ये सभी साधन भक्ति-पथ पर अग्रसर करने वाले प्रकाश-स्तम्भ हैं। प्रेम की अनन्यता

---
१. 'कबीर-ग्रन्थावली'
२. 'मानस', अरण्य काण्ड, दोहा ४५

में चातक तुलसीदास जी का आदर्श है। यह अनन्यता मन को वश में करने पर ही आती है। मनुष्य जितना अधिक इन्द्रियों पर और कामनाओं पर विजय पाता है, उतना ही शीघ्र उसको ईश्वर-ज्ञान होता है। कबीर का भी यही मत है :

मैं मंता मन मारि रे, नान्हां करि करि पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीस ॥[1]

इनके अतिरिक्त माया, तृष्णा, आशा और काम-क्रोधादि सभीको कबीर ने भक्ति-मार्ग में बाधक माना है। ये विकार जीव की देह का विनाश हो जाने पर भी उसे नहीं छोड़ते। इनको जीव जितना अधिक मानता है उतने ही विकार बढ़ते हैं, किन्तु भगवत्प्रेमामृत के सिंचन से जवासे की भांति झुलस जाते हैं। संसार के समस्त बन्धन व्यर्थ हैं। इस प्रकार का ज्ञान ही जीव को भगवत्प्रेम की ओर उन्मुख करता है—

कबीर इस संसार का झूठा पाया मोह।
जिहि घर जिता बंधावरण, तिहि घर तिता अंदोह ॥[2]

हरिजन अर्थात् हरिभक्तों की सेवा और संगति से भी जीव को भगवत् स्वरूप का ज्ञान होता है, अपने स्वरूप को वह समझ पाता है और विरोधी स्वरूप और उपाय स्वरूप की बुद्धि जाग्रत् होती है। जो मनुष्य हरिभक्तों से रूठकर सांसारिक व्यक्तियों से प्रेम करता है, वह ऊसर भूमि के समान है। उसके हृदय में भगवद्भक्ति के अंकुर कभी भी नहीं जमने पाते। सत्संगति की महिमा का वर्णन और उसके फल का उल्लेख कबीर ने इस प्रकार किया है :

कबीर संगति साधु की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गंवाइसी, देसी सुमति बताइ।
मेरे संगी दोउ जणां, एक वैष्णो एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम ॥

वस्तुतः ईश्वर चरणानुराग की अनुभूति तो वैष्णव अर्थात् हरिभक्त द्वारा ही होती है। इसी प्रकार के सत्संग के प्रभाव का वर्णन सूरदास जी ने भी किया है।

सूरदास जी ने एक पद में साधुसंगति को मुक्ति का क्षेत्र कहा है :

सुवा चलि ता बन कौ रस पीजै।
जा बन राम-नाम अमित-रस, स्रवन पात्र भरि लीजै।
बन बारानसि मुक्ति क्षेत्र है, चलि तोकौं दिखराऊं।
सूरदास साधुनि की संगति, बड़े भाग्य जो पाऊं ॥[3]

हित हरिवंश जी ने भी सत्संग की महिमा स्वीकार की है :

तनहिं राख सतसंग में मनहिं राख रस मेव।
सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण कल्पतरु सेव ॥[4]

---

१. 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० २९
२. वही, पृ० ३५
३. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद सं० ३४०, ना० प्र० सभा, काशी
४. 'श्री हित स्फुट वाणी जी', पृ० ३३

हरिराम व्यास सत्संग को महत्त्व देते हुए कहते हैं :

करौ भैया साधुन ही सों संग ।
मति गति जाय असाधु संग ते काम करत चित भंग ।
हरि ते हरिदासनि की सेवा परम भक्ति हो अंग ।।[1]

और—

साधु सरसीरुह को सो फूल ।
जिनकी संगति भक्ति देति, हरि हरत सकल भ्रममूल ।।[2]

परम सत्य का ज्ञान होने पर ही जीव को ईश्वर के अन्तर्यामित्व का ज्ञान होता है। भेद-बुद्धि दूर होती है और वह ईश्वर के विराट् स्वरूप के दर्शन करता है :

नैननि निरखि स्याम स्वरूप ।
रह्यौ घट-घट व्यापि सोई, जोति रूप अनूप ।
चरन सप्त पाताल जाके, सीस है आकास ।
सूर चन्द्र नछत्र पावक, सर्व तासु प्रकास ।।[3]

यह सत्संग अनन्य प्रेम, गुरु की कृपा और ईश्वर-कृपा से प्राप्त होता है।

प्रेम

आलवार भक्तों ने भक्ति और प्रेम को एक ही माना है, किन्तु मूलतः भक्ति और प्रेम में यत्किंचित् अन्तर है। प्रेम कहने से दाम्पत्य, वात्सल्य और सख्य किसी भी प्रकार के प्रेम का अर्थ लगाया जा सकता है। किन्तु भक्ति शब्द सब लौकिक सम्बन्धों से दूर भक्त और भगवान् के ही एकमात्र सम्बन्ध का परिचायक है। इस भक्ति का अन्तर्भूत भाव प्रेम ही है। इस प्रेम में जितनी अधिक गंभीरता, अनन्यता और गहनता होगी, उतनी ही भक्ति दृढ़ होगी। विशिष्टाद्वैतवाद में श्री शठकोप स्वामी ने कहा है कि भगवान् के प्रति भक्त में ऐसी तीव्रता और सबलता होनी चाहिए जैसी कामी को नारी के प्रति प्रेम में होती है। तुलसी ने इस सिद्धान्त का ज्यों का त्यों अपने काव्य में प्रतिपादन किया है। अत्यन्त प्रीतिमान् चेतन के हृदय में भगवान् को विवश होकर रहना पड़ता है। उनका स्वातन्त्र्य गुण भक्त के वश में समाप्त हो जाता है। वह दासों के भी दास हो जाते हैं।

प्रेम संसार के समस्त मलों को दूर करने वाला है। यदि कोई व्यक्ति लौकिक साधनों द्वारा अभ्यन्तर के विकारों को दूर करना चाहे तो असम्भव है। भला कहीं मल से मल धोया जा सकता है? भगवान् के चरणों में प्रेम-भाव का प्रादुर्भाव ही सर्व साधनों का एकमात्र फल है। वैसे भी प्रेम का मार्ग अति सरल है। न इसमें योग की कठिनता है; न यज्ञ, जप, तप और उपवास आदि की दुष्करता। कर्म और ज्ञान, वेद और शास्त्र सभी मुक्ति मार्ग की ओर जीव को अग्रसर

१. 'श्री व्यासवाणी', पृ० ६४
२. वही, पृ० ६५
३. 'सूरसागर', द्वितीय स्कन्ध, पद २७

करते हैं, और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को सुगम बनाते हैं, किन्तु बिना प्रेम के तो प्रत्येक साधन व्यर्थ है :

बेद विहित साधन सबै, सुनि दायक फल चारि।
राम प्रेम बिनु जानिबो, जसि सरिता बिनु बारि ॥[१]

इस प्रकार बिना प्रेम के कर्म, ज्ञान और भक्ति निर्जीव शरीर के समान हैं। प्रेम ही वह अद्भुत चेतना है जो जीव को भगवत्प्राप्ति के आनन्द का सुख प्रदान करता है। यह प्रेम सकाम भी हो सकता है और निष्काम भी। सकाम प्रेम अधम कोटि का होता है। यह भक्ति की श्रेणी में आ नहीं सकता। जब प्रेम में स्वार्थ और कामना का लेश भी नहीं रहता, केवल भक्ति के ही लिए प्रेम किया जाता है, तब वह प्रेम सच्चा प्रेम होता है। उस प्रेम का रंग जितना गहरा होता जाएगा, जितनी प्रेम-धारा तेल-धारा के समान अविच्छिन्न होगी उतनी ही जीव की भक्ति में दृढ़ता आएगी, विश्वास बढ़ेगा। भक्ति का मार्ग सुलभ होगा और शरणागति के मुक्त द्वार में इसका प्रवेश होगा। उसके प्रेम का प्रभाव ऐसा होगा :

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को, नित नूतन रुचि रंग ॥[२]
हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।

प्रेम और भक्ति का द्वार सबके लिए उन्मुक्त है। जाति, वर्ग और लिंग भक्ति में बाधक नहीं होते। वहां का तो एक ही नियम है :

हरि को भजै सो हरि का होई ॥

मानस में राम ने कहा है :

पुरुष नपुंसक नारि नर, जीव चराचर कोइ।
भगत भाव भजि कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ ॥[३]

सूरदास ने भी अपने विचार इसी प्रकार प्रकट किए हैं :

जाति पांति कुल-कानि न मानत,
वेद पुराननि साखै ॥[४]

भगवान् सबकी प्रीति को मानते हैं। गुह्राज, शबरी और गणिका इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। तभी तो व्यास जी ने भी कहा है—"भक्ति में कहां जनेऊ जाति।"

जब भक्त के प्रेम में अभिसारिका की-सी तीव्रता और पतिव्रता की-सी अनन्यता होती है तभी वह प्रेम सच्चा होता है तभी आत्म-समर्पण और परम विश्वास की भावना उदित होती है, तभी एकाधिपत्य की प्रवृत्ति जाग उठती है, ऐसी ही दशा में कबीर की आत्मा पुकार उठी थी :

नां हौं देखूं और कूं, नां तुझ देखन देऊं।

---

१. 'विनयपत्रिका', पद १६२
२. 'दोहावली', २८०
३. 'मानस', उ० का०, दोहा १३२
४. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद १५

ऐसी ही प्रेमातिशयता और पतिव्रता की अनन्यता का वर्णन स्वामी हरिदास जी के शिष्य भक्त प्रवर बिहारीदास जी ने भी इस प्रकार किया है :

पतिव्रता तन में बसै सदा पियारौ पीव।
पति उपमा चितवै नहीं, मिलै घनेरे जीव ।।[१]

सदाचार्य

विभिन्न द्वैतवाद में सदाचार्याभिमान का अधिक महत्त्व है। पथ-प्रदर्शक गुरु है, यह माता की भांति स्वयं कष्ट सहकर भी जीव को ईश्वरोन्मुख करता है। गुरु का महत्त्व निर्गुणोपासक और सगुणोपासक सभी संतों और भक्तों ने स्वीकार किया है। जायसी ने तो स्पष्ट ही कह दिया है :

गुरु सुआ जो पंथ दिखावा।

कबीर ने भी गुरु-गोविन्द दोनों को एक साथ खड़े देखकर संभ्रम सहित कहा है :

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय ।।

अतएव "गुरु रूठे नहिं ठौर" के अनुसार गुरु के अभक्त के लिए कहीं भी स्थान नहीं।

तुलसीदास जी ने विशिष्टाद्वैतवाद के इसी तथ्य के अनुसार गुरु का महत्त्व माना है। मानस में वाल्मीकि स्वयं श्रीराम से कहते हैं :

तुम्ह तें अधिक गुरहिं जिय जानी।
सकल भाय सेवहिं मन मानी ।।[२]

विभवावतार श्रीराम स्वयं गुरु का रुख देखकर कार्य संपादन करते हैं।

सदाचार की कृपा से संसार का संशय, अज्ञान और भ्रम मिट जाता है। बिना गुरु-कृपा के इस संसार-सागर से पार जाने में शिव, विरंचि और ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं :

भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद ऋतु पाइ।
सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय-भ्रम समुदाइ ।।[३]
गुरु बिनु भव निधि तरिय न कोई।
जो बिरंचि शंकर सम होई।[४]

जीव के हृदय में निर्मल ज्ञान और विवेक को उत्पन्न करने में गुरु ही समर्थ हैं, वास्तव में जिनका गुरु के श्री चरणों में सच्चा अनुराग है, वे ही सौभाग्यशाली हैं। गुरु के साथ ईर्ष्या और छल सबसे भयंकर पाप हैं। भक्त प्रवर सूरदास ने भी गुरु को सर्व समर्थ बताया है—

---

१. 'अष्टादश सिद्धान्त के पद', पृ० १११
२. 'मानस', अयोध्याकाण्ड
३. वही, कि० का०, दोहा २०
४. वही, उत्तर काण्ड, दोहा १४४

गुरु बिनु ऐसी कौन करै ।
माला तिलक मनोहर बाना, ले सिर छत्र धरै ।
भव सागर तें बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै ।
सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ, छिन में लै उधरै ।।

गुरु का महत्त्व क्यों माना जाए ? गुरु ही वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित करता है, वही गुरु-मंत्र देकर रहस्य-ज्ञान बताता है, वही संसार के मोहाब्धि में डूबते मानव के लिए प्रकाश-स्तम्भ होकर रक्षा करता है और वही उसका उद्धार करता है ।

मीरा ने भी उसे सर्वसमर्थ माना है । जीव और ब्रह्म का भेद बताने वाला स्वरूप और पर स्वरूप का ज्ञान कराने वाला गुरु ही होता है, वही ज्ञान के अंधकार को हटाकर ज्ञान का आलोक विकीर्ण करता है :

सत गुरु भेद बताइया, खोली मरम किंवारी हो ।
सब घट दीसै आतमा, सबही सूं न्यारी हो ।।
सद गुरु औषध ऐसी दीन्हीं, रूम रूम भइ चैना ।
सद गुरु जस्या वेद नहिं, पूछो वेद पुराना ।।[1]

नवधा भक्ति

आलवार भक्तों की भक्ति-पद्धति में दर्शित नवधा भक्ति ही श्रीमद्भागवत में शास्त्रीय ढंग से प्रस्तुत हुई । अतः भागवत में विस्तार से वर्णित नवधा भक्ति श्री संप्रदाय की मान्यता के अनुसार ही है । श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं सख्यं तथाऽऽत्मनिवेदनम् ।।

—श्रीमद्भागवत (सप्तम स्कंध) अध्याय ५, श्लोक २३

इस प्रकार की नवधा भक्ति की प्रेरणा गुरु द्वारा ही मिलती है । नवधा भक्ति के ये प्रकार अधिकतर सगुणोपासक अर्थात् अर्चावतार की सेवा के रूप में हैं, फिर भी निर्गुणोपासक संत स्वयं को विशिष्टाद्वैतवाद और श्री वैष्णव आचार्यों की इस नवधा भक्ति के प्रभाव से और उनकी सर्वव्यापकता से अछूता नहीं रख पाए । गोस्वामी तुलसीदास ने नवधा भक्ति को, राम की भक्ति को, श्री राम की अनुकूलता का साधन बताया है । सूरदास-नन्ददास जैसे सभी कृष्णभक्त कवियों ने तो नवधा भक्ति की विशेष चर्चा की है । यहां विस्तार-भय से केवल इन भक्त कवियों के काव्यों से नवधा भक्ति के उदाहरण मात्र दिए जाते हैं :

श्रवण

श्रवण भक्ति का प्रभाव सूर के शब्दों में सुनिए :

१. जो यह लीला सुनै सुनावै, सो हरि भक्ति पाइ सुख पावै ।।[2]

---

१. 'मीरा-सुधा-सिंधु', पृ० ८४३
२. 'सूर सागर', नवम स्कन्ध, ना० प्र० सभा, काशी

२. जो पद स्तुति सुनै सुनावै, सूर सो ज्ञान-भक्ति को पावै ।।[१]
३. सूर कह्यौ श्री मुख उच्चार, कहै सुनै सो तरे भवपार ।।[२]

रासपंचाध्यायी की समाप्ति में श्रवण-भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए नन्ददास जी लिखते हैं :

जो यह लीला गावै चित्त दै सुनै सुनावै ।
प्रेम भक्ति सो पावै अरु सबके जिय भावै ।।
श्रवण कीर्तन सार-सार सुमिरन को है पुनि ।
ग्यान सार हरि ध्यान सार श्रुतिसार गुथी गुनि ।।[३]

परमानन्ददास कहते हैं :

स्रवनन कथा स्यामसुन्दर की राम कृष्ण रसना नहिं फूरति ।
मानुस जनम कहां पावेंगे ध्यान धरे श्रीस्याम चतुर मति ।।
जो यह लोक परम सुख राखत अरु परलोक करत प्रतिपाल ।
परमानन्दधाम कौ ठाकुर अति गंभीर दीनानाथ दयाल ।।[४]

मीराबाई के काव्य में भी श्रवण भक्ति की महिमा अनेक स्थलों पर बताई गई है :

राम नाम रस पीजै मनुआ, राम नाम रस पीजै ।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित हरि चर्चा सुन लीजै ।।[५]

कीर्तन

सूर आदि अष्टछाप भक्तों का सम्पूर्ण काव्य भी भक्ति के कीर्तन साधन और उसका बड़ा अंश प्रेम-भक्ति के 'पद' रूप में ही लिखा गया है। अष्टछाप-भक्त पद-रचयिता ही नहीं थे, बल्कि उच्चकोटि के गायक भी थे। अतः उनकी कीर्तन-भक्ति का नमूना उनका सम्पूर्ण काव्य ही है। कीर्तन की महिमा और उनके प्रभाव का वर्णन सूरदास इस प्रकार करते हैं :

"गोपाल के गुण-गान से जो आनन्द मिलता है, उसके आगे जप, तप तथा तीर्थाटन क्या चीज़ है ? हरि-कीर्तन से पुरुषार्थ मिलेगा और तीन लोक का सुख तुच्छ प्रतीत होगा।"[६]

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कन्ध, ना० प्र० काशी, सभा
२. वही,
३. 'नन्ददास-ग्रन्थावली', 'रास पंचाध्यायी', पृ० २४, ना० प्र० सभा, काशी
४. 'परमानन्द सागर', सं० डा० गो० नाथ शुक्ल, पद सं० २६१
५. 'मीरा की पदावली', सं० परशुराम चतुर्वेदी, पद सं० १६६
६. "जो सुख होत गुपालहिं गाये ।
सो नहिं होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये ।
दिये लेत नहिं चारि पदारथ चरण कमल चित लाये ।
तीन लोक तृण सम करि लेखत नन्दनन्दन उर आये ।
वंशी वट वृन्दावन यमुना तजि बैकुण्ठ को जाये ।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव जल आये ।"
—'सूरसागर', सं० सूर समिति, पद सं० ३४१

परमानन्ददास के मत में भगवान् कृष्ण की कथा का श्रवण, गुणों का कीर्तन आदि भक्ति के साधन मंगलदायक हैं।[1]

मीराबाई ने कहा है—"भगवान् के नाम लेने से और गुणगान करने से पाप कट जाएंगे और जन्म सफल होगा।"[2]

स्मरण

हरि-स्मरण-भक्ति के विषय में सूरदास जी का कहना है : "सबको हरि भगवान् का स्मरण करना चाहिए। हरि-स्मरण से सब सुख प्राप्त होते हैं। श्रुति और स्मृति सबका मत है कि भगवान् के चरणों में चित्त लगाओ। हरि-स्मरण के बिना मुक्ति नहीं है। दिन-रात उसीका स्मरण करो। मेरे विचार में सौ बातों की बात यह है कि हरि का स्मरण करो।"[3]

परमानन्ददास जी ने अपनी स्मरण-भक्ति का परिचय देते हुए कहा है कि में सदैव यशोदानन्दन का ही चिन्तन करता हूं।[4] परमानन्ददास जी का एक और प्रसिद्ध पद है जिसमें कवि ने कहा है, "हे हरि, मुझे तुम्हारी लीला की याद आती है। तुम्हारी मोहिनी मूर्ति मेरे मन के भीतर ही भीतर अनेक चित्र उपस्थित कर रही है। तुम्हीं बताओ जिसको तुम एक बार अपना संयोग दे देते हो, वह तुम्हारी बंक अवलोकन और मृदु मुस्कान को कैसे भूल सकता है? तुम्हारी याद कभी प्रगाढ़ आलिंगन का सुख देती है तो कभी तुम्हारे मधुर स्वर में मिलकर गाने लगती है। जब तुम छिप जाते हो तो याद में मेरी चेतना 'कहां हो, कहां हो' कहकर इधर-उधर दौड़ने लगती है। कभी मेरी अन्तरात्मा नेत्र मूंदकर तुम्हें सर्वस्व अर्पण करती हुई वनमाला पहनाती है। इसी प्रकार मैं श्याम के ध्यान में विरह की घड़ियों को बिता रही हूं।"[5]

---

१. "मंगल माधौ नाम उचार।
मंगल बदन कमल करमंगल मंगल जन को सदा संभार॥"

२. "मेरा मन रामहि राम रटै रे।
राम नाम जप लीजै प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।"
—'मीरा की पदावली', सं० परशुराम चतुर्वेदी, पद सं० २००

३. "हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई, हरि सुमिरत सब सुख होई।
हरि समान द्वितीय नहिं कोई, हरि चरणनि राखौ चित गोई।
श्रुति स्मृति सब देखो जोई, हरि सुमिरत होई सो होई।
हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई, बिन हरि सुमिरन मुक्ति न होई॥"
—'सूरसागर', द्वितीय स्कन्ध, पद सं० ४६२३, ना० प्रा० सभा, काशी

४. "जहिं जहिं चरन कमल माधौ तहीं तहीं मन मोर।"
• •
"चिंतन करौ जसोदा नन्दन मुदित सांझ अरु भोर।"
• •
"परमानन्ददास की जीवनि गोपिनि पट झकझोर॥"
—परमानन्दसागर, सं० डा० गो० नाथ शुक्ल, पद सं० ८४६

५. "हरि तेरी लीला की सुधि आवति।
कमल नैन मन मोहनी मुरति मन-मन चित्र बनावति।
एक बार जाय मिलत मयाकरि सो कैसे बिसरावति।

पाद-सेवन

सूरदास जी ने कई पदों में दास्य भाव से भगवान् के पाद-सेवक होने का उपदेश दिया है। जिन चरणों की पाद-सेवा सूरदास जी अपने मन-मन्दिर में करते थे उनके विषय में कहते हैं :

भजि मन नन्द नन्दन चरन।
परम पंकज अति मनोहर सकल सुख के करन।
सनक शंकर ध्यान ध्यावत निगम अवरन वरन।
शेष शारद ऋषि सुनारद सन्त चिंतत चरन।
पद पराग प्रताप दुर्लभ रमा लोहित करन।
परसि गंगा भई पावन तिहूंपुर घर घटन।।

▭ ▭

सूर भज चरणारविंदनि, मिटें न जनम मरन।।[१]

परमानन्ददास पाद-सेवा की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं—"मदन गोपाल की सेवा मुक्ति से भी अधिक मीठी है। भक्ति के रसिक इस सेवा के रस को जानते हैं। उन्होंने भगवान् की चरण-सेवा के सम्मुख सब धर्मों को बहा दिया और वे श्रवण, कथन, स्मरण तथा ईश्वर गुण-गान का साधन करते रहे हैं।"—इन रसिक भक्तों के दृष्टान्त से प्रेरित होकर परमानन्ददास ने भी भगवान् के चरणों में तथा उनकी लीला में प्रेम बढ़ाया है।[२]

मीराबाई का निम्नलिखित प्रसिद्ध पद पाद-सेवा की ओर संकेत करता है :

मन रे परस हरि के चरण।
सुभग शीतल कंवल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रहलाद करसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी सरण।

मृदु मुसकानि बंक अवलोकनि चली मनोहर भावति।
कबहुक निबड तिमर आलिंगति कबहुक पिक स्वर गावति।
कबहुक संभ्रम 'क्वासि-क्वासि' करि संगहीन उठि धावति।
कबहुक नयन मूंदि अन्तरगति बनमाला पहिरावति।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गंवावति।।"

—'परमानन्दसागर', सं० डा० गो० नाथ शुक्ल, पद सं० ५६४

कहा जाता है कि इस स्मरणासक्ति वाले पद को सुनकर आचार्य वल्लभ अपना देहानुसंधान खो बैठे थे। —लेखक

१. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद सं० ३०८, ना० प्र० सभा, काशी

२. सेवा मदन गोपाल की मुक्ति हू तै मीठी।
जाने रसिक उपासिका शुक मुख निज दीठी।।
चरण कमल रज मन बसी धर्म बहाए।
श्रवण, कथन, चिन्तन बढ्यो पावन गुन गाए।।
वेद पुरान निरुपि के रस लियो निचोई।
O O O
"रामकृष्ण पद प्रेम बाढ्यो लीला रस बाध्यौ।" —'परमानन्दसागर', पद सं० ८५३

जिण चरण ब्रह्माण्ड मेट्यो नखसिखां सिरी धरण।
जिण चरण प्रभु परस लीने, तरी गौतम धरण।
जिण चरण काली नाग नाथ्यो, गोपलीला करण।
जिण चरण गोबरधन धारयो, इन्द्र पदवी हरण।
दासि मीरा लाल गिरधर, अगम तारण तरण॥[1]

अर्चन

कतिपय हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने अर्चन-भक्ति का महत्त्व दिखलाया है। सूरदास जी ने सूरसागर के नवम स्कन्ध में अम्बरीष की कथा में अर्चन-भक्ति का उल्लेख किया है। परमानन्ददास गोपी रूप में अपने इष्टदेव को छाक (कलेऊ) अर्पण करने के लिए उनका आह्वान करते हैं और कहते हैं :

"हे मोहन ! मैं तुम्हारी छाक लेकर आई हूं। तुम्हें बुलाते-बुलाते हार गई। तुम कहां हो ? मैं राह भूल गई थी, बड़ी कठिनाई से तुम्हें खोज पाई और पूछते-पूछते यहां तक आ पाई हूं। उसी समय तुम्हारी वंशी का मधुर नाद मेरे कानों में पड़ा। देखो, मेरे अंगों में पसीना आ गया है, और मेरा आंचल भीग गया है।"[2] इस गोपी-वन्दना में परमानन्ददास का ही हृदय मानसिक जगत् में अन्योक्ति रूप से अपने इष्ट देव को अर्चन-भक्ति भेंट कर रहा है।

नन्ददास ने भी 'दशम स्कन्ध भाषा' में जहां वरुण से कृष्ण की पूजा कराई है, और 'रूपमंजरी' में रूपमंजरी के हृदय मंदिर के आराध्य देव कृष्ण की इन्दुमती द्वारा पूजा करने का उल्लेख किया है, वहां उन्होंने अर्चन-भक्ति का रूप दर्शाया है।

वन्दन

हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों ने भी वन्दन-भक्ति की महिमा का वर्णन किया है। सूर के काव्य का एक अंश उनकी वन्दन-भक्ति के भाव को प्रकट करता है। विनय, प्रार्थना तथा स्तुति के भावों को प्रकट करने वाले उनके पद वन्दन-भक्ति के उदाहरण हैं। सूर ने निम्नलिखित पद में भगवान् की कृपा की याचना कर उनके चरणों की वन्दना की है :

चरण कमल बंदौ हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अंधे कौं सब कुछ दरसाइ।
बहिरौ सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बन्दौं तिहिं पाइ॥[3]

---

१. 'मीरा की पदावली', पद-संख्या १

२. "तुमको टेर टेर मैं हारी।
कहां जो रहे अबलौं मन मोहन लैहौ न छाक तुम्हारी।
भूल परी आवत मारग में क्यों हूं में न पेड़ों पायो।
बूझत बूझत यहां लौं आई तब तुम बैनु बजायो।
देखो मेरे अंग कौ पसीना उर कौ अंचल भीनो।
परमानन्द प्रभु प्रीति जान कै धाय आलिंगन दीनो॥"
—'परमानन्दसागर', सं० डा० गोवर्धननाथ शुक्ल, पद सं० ६४०

३. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद सं० १, ना० प्र० सभा, काशी

नन्ददास ने भी अपने कई ग्रन्थों को कृष्ण की वन्दना और स्तुति के साथ प्रारम्भ किया है। रसमंजरी, मानमंजरी, अनेकार्थमंजरी, रूपमंजरी, सिद्धान्त पंचाध्यायी, दशम स्कन्ध भाषा आदि ग्रन्थों के प्रारम्भ में कवि ने कृष्ण की वन्दना की है।

परमानन्ददास कहते हैं—"मैं जगदीश के उन चरण कमलों की वन्दना करता हूं, जो गायों के पीछे दौड़ते थे, जिन धूल से भरे पदों को गोपियों ने हृदय से लगा रखा है और शम्भु चतुरानन ने हृदय कमल में स्थिर कर रखा है। जो पद-कमल रमा के हृदय के भूषण हैं जो तीन लोक पावन कर्ता हैं, उन चरण कमलों की वन्दना करता हूं।"[१]

मीराबाई ने भी अपने अनेक पदों में गिरिधर की वन्दना की है :

हमारौ प्रणाम बांके बिहारी को।
मोर मुकुट माथे तिलक विराजै कुण्डल अलकाकारी को।
अधर मधुर वर वंशी बजावै, रीझ रिझावै राधा प्यारी को।
यह छवि देख मगन भई मीरा मोहन गिरिवरधारी को॥"[२]

भक्ति के विविध भाव

श्री संप्रदाय की भक्ति-पद्धति में भक्ति के शान्त, वात्सल्य, सख्य, दास्य और माधुर्य सभी रूप मान्य हैं। 'भावस्य भगवान्' यही उनका मूल मन्त्र है। किन्तु सबसे अधिक महत्त्व दास्य भाव को दिया गया है। दास्य भाव में निरभिमानता और दीनता स्वतः ही आ जाती है और इच्छाओं का शमन भी दास्य भाव के ही अपर अंग हैं। अतः शान्त और दास्य भाव अन्योन्याश्रित हैं। श्री संप्रदाय में इन्हीं दोनों भावों को भक्ति का अनिवार्य अंग माना गया है। गोस्वामी तुलसी-दास के काव्य में शान्त और दास्य भाव आदि से अंत तक इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। बीच-बीच में वात्सल्य की सरस्वती की-सी महिमामयी इनकी वाणी भक्त समुदाय को अद्यावधि रस-सिक्त करती रहती है। सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों ने शान्त, वात्सल्य, दास्य और सख्य एवं माधुर्य सभी भावों को भक्ति में स्थान दिया है। सखी संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय में माधुर्य भाव की भक्ति ही मुख्य है।

दास्य भाव

कहा जा चुका है कि श्री संप्रदाय में दास्य भाव की भक्ति का ही विशेष महत्त्व है। वैसे तो विशिष्टाद्वैतवाद सभी भावों के प्रति उदार है। किन्तु दास्य भाव का समर्पण-भाव भक्त को भगवान् की अधिकाधिक दया और करुणा का

---

१. "चरन कमल बन्दौं जगदीस के जे गोधन संग धाए।
जे पद कमल धूरि लपटाने कर गहि गोपिन उर लाए।"
• •
"सो पद कमल दास परमानन्द गावत प्रेम पीयूष भरे॥"
—'परमानन्दसागर', सं० डा० गो० ना० शुक्ल, पद सं० १

२. 'मीरा की पदावली', पद सं० २

पात्र बना देता है। यही समर्पण इस मत के चरमादर्श प्रपत्ति या शरणागति का प्रमुख साधन है। सख्य भाव भी दास्य भाव का ही अंग विशेष है। सेवक में कुछ अहंकार अवशिष्ट रहता है। किन्तु दास्य भाव में भक्त पूर्ण रूप से निरभिमानी होकर भगवान् का शरणागत होता है। तुलसी ने सख्य और दास्य दोनों ही भावों को भक्ति में स्थान दिया है। किन्तु दास्य भाव की अपेक्षाकृत श्रेष्ठता व्यक्त की है। तुलसी के मत में सर्वश्रेष्ठ भक्त विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार दास ही है। तभी तो मीरा भी भगवान् से चरणों की दासी बनने की प्रार्थना करती हैं। सूर भगवान् से इसी प्रकार की प्रार्थना करते हैं :

सोई कछु कीजै दीन दयाल।
जातैं जन छन-चरनन छांडै करुना-सागर भक्त रसाल।
उचित अपनो कृपा करिहौ तबै तो बनि जाइ।
सोई करहु जिहिं चरन सेवै सूर जूठनि खाइ॥[1]

माधुर्य भाव

भक्त और भगवान् के बीच में दाम्पत्य भाव को माधुर्य भाव कहते हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार भगवान् की पतिरूप में उपासना मान्य है। जब जीव पत्नी रूप में पति परमात्मा को पूर्ण समर्पण कर देता है, तभी माधुर्योपासना का भाव बन जाता है। निर्गुण भक्त कवियों ने भी इस माधुर्य भाव को भक्ति में स्थान दिया है। तुलसी ने माधुर्य भाव की भक्ति को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया। परन्तु अधिकांश कृष्ण-भक्त कवियों ने माधुर्य भाव को ही अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया है।

माधुर्य भाव में भक्ति दो प्रकार की होती है—पति-पत्नी विषयक और प्रेमी-प्रेमिका विषयक। जहां माधुर्य भाव में जीव स्वयं पत्नी रूप होता है तो उसमें निष्ठा और मर्यादा का निर्वाह रहता है और जब जीव भगवान् को प्रियतम या प्रेमी मान लेता है तो उसमें तीव्रता, स्वच्छन्दता और आतुरता अधिक होती है। तुलसीदास की भक्ति पहले प्रकार की और सूरदास की भक्ति दूसरे प्रकार की है, तभी तो सीता अपनी निष्ठा में सहनशीला दासी बन जाती हैं और श्रीराम की आज्ञा एवं कृपा पर निर्भर रहकर अनेक दुःख सहती हैं, किन्तु सूर की ब्रज बालाएं आर्य-पथ और लोक-मर्यादा का तनिक भी ध्यान न कर आतुर भाव से मिलन को दौड़ पड़ती हैं। सूर की गोपिकाएं परकीया प्रेमिका नहीं हैं।

सखी संप्रदाय और गौड़ीय संप्रदाय में इस प्रकार के स्वकीया-परकीया भाव के माधुर्य भाव विषयक विद्वानों के अनेक मत-मतान्तर हैं।

सूर तथा अन्य अष्टछापी कवियों ने मधुर भाव के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में राशिभूत चित्रण किया है।

प्रपत्ति

भगवान् की शरणागति या किंकरता ही प्रपत्ति है। श्री संप्रदाय में (विशिष्टाद्वैतवाद में) शरणागति या प्रपत्ति ही मुख्य धर्म है। सर्व धर्मों का परित्याग कर

१. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद १२६-२७

एक धर्म भगवत् शरणागति ही मुख्य कर्तव्य है। यही जीवों की सुख-शान्ति का उपाय है। कर्मफल सीमित है, ज्ञान में कभी भी चंचलता आ सकती है, किन्तु प्रपत्ति ऐसी अजेय शक्ति है, जिस शक्ति के सम्मुख भगवान् को भी झुकना पड़ता है। अर्थ पंचक में मुमुक्षु जीवों के अन्तर्गत दो भेद किए गए हैं : भक्त और प्रपन्न। भक्ति को भगवत्प्राप्ति का साधन मानने वाला जीव भक्त और प्रपत्ति को ही मुख्य साधन मानने वाला जीव प्रपन्न कहलाता है। नवधा भक्ति और आसक्तियां भक्त के अन्तर्बाह्य साधन पथ की सरणियां हैं। प्रपन्न के हृदय में एक ही साधन अवस्थित रहता है—वह है शरणागति, फिर भी जिन छः भावों का सर्वदा उसके हृदय में अवस्थान रहता है, वे निम्नलिखित हैं :

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपमकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः॥

विशिष्टाद्वैतवाद या श्री सम्प्रदाय के अनुसार तुलसीदास, सूरदास, मीरा, नन्ददास सभी कवियों ने प्रपन्न के इन षड्गुणों को महत्त्व दिया है। विशिष्टा-द्वैतवाद में प्रपत्ति के दो भेद हैं :

दृप्ता और आर्ता।

दृप्ता

प्रपन्न कर्मोपलब्धि के उपरान्त भगवत्प्राप्ति का अभिलाषी होता है और आर्त प्रपन्न इस स्थूल शरीर से शीघ्र मुक्ति पाना चाहता है। तुलसीदास जी ने यद्यपि शरणागति को दृप्त और आर्त संज्ञा तो नहीं दी है, तो भी सेवक और दास दो प्रकार के शरणागत माने हैं। सेवक के लक्षण और सेवा द्वारा भगवान् की प्रसन्नता का तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। सेवक सर्व छल त्याग कर भगवान् की सेवा करता है, उसकी अनन्य गति रहती है और उसे सदा यही अभिमान रहता है कि प्रभु मेरे हैं :

सेवक सुतपति मातु भरोसे, रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥[1]

ऐसा सेवक सब कार्य स्वामी के चरणों में अर्पित करके ही करता है। उसे स्वामी के चरणों का ही विश्वास रहता है। सभी प्रकार के सेवक की श्रेष्ठता बताने पर भी तुलसीदास ने दास को सेवक से अधिक गौरव दिया है। दास वही तो है जो देह, गेह, परिवार, स्नेही, भवन और सुख सब भगवान् के हेतु त्याग दे। यह सब त्यागकर ही वानरगण श्रीराम के शरणागत हुए।

प्रपत्ति के विषय में विशिष्टाद्वैतवाद में दो मत हैं—एक मत जीव के यत्किं-चित् प्रयास को भी प्रपत्ति में सहायक मानता है और दूसरा परमात्मा-निर्भरत्व की प्रपत्ति को सर्वश्रेष्ठ मानता है। अबोध मार्जार किशोर की-सी निर्भरता ही विशिष्टाद्वैतवाद की आदर्श प्रपत्ति है

यद्यपि सूरदास ने दृप्त या आर्त इस प्रकार प्रपन्न का विभाजन नहीं किया है, तो भी उनके काव्य में वर्णित अनन्य भाव से, मन-वचन-कर्म से सेवा करने वाला

१. 'रामचरितमानस', कि० का०, दोहा ५

कभी कुछ न मांगने वाला भक्त प्रपन्न ही है। शरणागत के तो सूर के अनेक पद हैं :

अब हौं हरि, सरनागत आयौ।
कृपानिधान, सुदृष्टि, जिहिं पतितनि अपनायौ ॥[1]

उन्हें पूर्ण विश्वास है कि "सरन गये प्रभु काढि देत नहिं, करत कृपा के कोट।"[2] किन्तु यह प्रपत्ति विशिष्टाद्वैतवाद के आदर्श मार्जार किशोर की प्रपत्ति नहीं है। जहां प्रपन्न ने यह कहा—"सूरदास हम दृढ़ करि पकरे, अब ये चरन सहाइक" वहीं पर कवि किशोरवत् शरणागत हो जाता है। बस यही विशिष्टाद्वैतवाद की विशेषता है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" यही श्री संप्रदाय की प्रपत्ति का मूल मंत्र है। मीरा के पदों में भी शरणागति और अनन्यता है। माधुर्य भाव में शरणागति की प्रेरणा संभवतः मीरा को विशिष्टाद्वैतवाद से ही मिली।

ईश्वर-कृपा

श्री संप्रदाय की भक्ति-प्रपत्ति में ईश्वर-कृपा की विशेष महत्ता बताई गई है। विशिष्टाद्वैत की साधन-स्वरूपा भगवत्कृपा का प्रभाव सूरदास पर भी पड़ा है। उन्होंने भी सांसारिक त्रयताप से रक्षा का उपाय भगवत्कृपा को ही माना है। अत्यन्त व्याकुल होकर वे भगवान् से निवेदन करते हैं, जिसपर दीनानाथ कृपा करते हैं, वह कुरूप होकर भी स्वरूपवान्, दुःशील होकर भी सुशील और रंक होकर भी राजा है। उसका कोई बिगाड़ नहीं सकता। कोई शक्ति उसे पराजित नहीं कर सकती :

जापर कृपा करे करुनामय, ता दिसि कौन निहारे।
जो जो जन निस्चै करि सेवै, हरि निज बिरद संभारे।
सूरदास प्रभु अपने जन कौं, उर तें नैकु न टारै ॥[3]

उक्त समस्त साधनों का प्रेरणा-सूत्र भगवान् की कृपा है। भगवत्कृपा से ही भगवान् को प्राप्त किया जाता है। अतः उपाय और उपेय दोनों भगवान् ही हैं। वही साधन हैं, वही साध्य हैं।

मुक्ति

लौकिक जगत् में देखा जाता है कि मनुष्य प्रत्येक कार्य किसी न किसी उद्देश्य से ही करता है, उस उद्देश्य की पूर्ति ही उसका लक्ष्य होता है। लक्ष्य सिद्धि की सफलता में बाधाएं भी आती हैं, किन्तु वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है और अन्ततः सफल होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जीव का बाधक तत्त्वों को विजित कर साधन-प्रवृत्त रहना और अन्ततोगत्वा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेना ही मुक्ति है। विशिष्टाद्वैतवाद में अर्थपंचककार ने सर्वसाधनों के परिणामस्वरूप फलोपलब्धि पांच प्रकार की बताई है—धर्म, अर्थ, काम, कैवल्य (मोक्ष या मुक्ति) और भगवत्प्राप्ति। इनमें से शरणागत को धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष

१. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद २०५
२. वही, पद २३२
३. वही, प्रथम स्कन्ध, पद २५७

किसीकी कामना नहीं होती, वह तो भगवान् की मुख-छवि का अनवरत सुधापान करने का अभिलाषी रहता है। इस सुख की प्राप्ति के लिए जितनी अधिक त्वरा होती है उतने ही शीघ्र वह ईश्वर-कृपा से ईश्वर-शरणागति का सुख प्राप्त करता है।

श्री संप्रदाय में और परवर्ती समस्त वैष्णव संप्रदायों में पांच प्रकार की मुक्ति बताई गई है :

१. सालोक्य
२. सारूप्य
३. सामीप्य
४. सायुज्य और
५. कैवल्य

सालोक्य मुक्ति कर्मयोगी को, कैवल्य मुक्ति ज्ञान योगी को और सारूप्य एवं सामीप्य मुक्ति भक्त को इष्ट होती है। किन्तु सच्चा वैष्णव श्री संप्रदाय की मान्यता के अनुसार भगवान् की मुख-छवि का अवलोकन करता हुआ उनके दासत्व को ही स्वीकार करता है। नित्य निरन्तर शरणागति ही उसे प्रिय है और यही सायुज्य मुक्ति है।

तुलसी और सूर ने इसी सायुज्य मुक्ति को इष्ट माना है। यह मुक्ति भक्ति और फलतः शरणागति से ही प्राप्त होती है। गोस्वामी जी ने स्पष्टतया कहा है—"सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुं राम भगति निज देहीं।"[१] भक्त तो यही कहता है—"अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू।"[२] सूरदास ने भी इसी प्रकार भगवान् के कृपा-कटाक्ष का वर्णन किया है—

चितवन कृपा कटाच्छ तुम्हारे, मिटि गयौ तम अज्ञान।
मोह निसा का लेस रह्यो नहिं, भयौ विवेक विहान॥[३]

भगवान् की कृपा के इस सुपरिणाम के ही कारण भक्त निर्गुण मुक्ति ही नहीं चाहता :

निर्गुन मुक्तिहुं कौं नहिं चहै, मम दरसन ही तै सुख लहै।
ऐसो भक्त सुमुक्त कहावै। सौ बहुर्यौ भव-जल नहिं आवै॥[४]

ऐसा भक्त भवजाल से मुक्त होकर आवागमन से छूटकर, नित्य मुक्त होकर भगवान् की चरण-सेवा में रहता है। उसका तो एक ही व्रत है। सूरदास जी जीव को उस परम धाम की ओर उन्मुख करते हैं :

'चकई री, चलि चरन-सरोवर,
जहां न प्रेम वियोग॥
जहां भ्रम-निसा होति नहिं कबहू,

---

१. 'रामचरितमानस', लं० का०
२. वही, अ० का०, दो० १०८
३. 'सूरसागर', द्वितीय स्कन्ध, पद ३३
४. वही, तृतीय स्कन्ध, पद १३

सोई सागर सुख जोग ॥

× ×

लक्ष्मी सहित होति नित क्रीड़ा,
सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विषय रस छीलर,
वा समुद्र की आस ॥[1]

श्री संप्रदाय की मान्यता के अनुसार उक्त चरण-सरोवर ही वैकुण्ठधाम अर्थात् नित्य विभूति है, जहां नित्य मुक्त अविरल सेवा में रहते हैं। भगवत्सेवा का यह सुख ही मुक्ति है।

---

१. 'सूरसागर', प्रथम स्कन्ध, पद ३३७

दशम अध्याय

उपसंहार

भारतीय भक्ति-आन्दोलन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण विस्तृत इतिहास है। भारतीय भाषाओं में मध्ययुग में जो विपुल भक्ति-साहित्य निर्मित हुआ है, वह भक्ति-आन्दोलन की महती देन है। वैष्णव भक्ति-भावना उद्भव की स्थिति से लेकर विकास के विभिन्न सोपानों एवं अवस्थाओं को पार कर वर्तमान रूप को प्राप्त कर सकी है। कुछ विद्वान् वैष्णव भक्ति-भावना का उद्भव वेदों से मानते हैं, परन्तु जिस भावमूलक भक्ति-भावना का स्वरूप हमारे सम्मुख है, उसके दर्शन वेदों में नहीं होते। प्रधान रूप से वैदिक युग यज्ञीय कर्म काण्ड का युग था। उपनिषत्-काल में आकर ही हमें भक्ति-भावना का स्पष्ट रूप मिलता है। भक्ति-भावना के विकास में उपनिषदों का बहुत ही उल्लेखनीय योगदान रहा है। सभी परवर्ती चिन्तकों ने उपनिषदों से ही अपना कदम बढ़ाया है। फिर रामायण, महाभारत और गीता के युग तक वैष्णव भक्ति-भावना का क्रमिक रूप से पर्याप्त विकास हो जाता है। धर्म-साधना के क्षेत्र में वैदिक युग के कर्म-मार्ग की अनुपयुक्तता तथा उपनिषद् युग के ज्ञान-मार्ग की दुरूहता के समक्ष परवर्ती युग के भक्ति-मार्ग की उपयुक्तता और सरलता ने भक्ति-साधना को और भी सुलभ बना दिया। इस प्रकार वेद, उपनिषद्, महाकाव्य तथा गीता वैष्णव भक्ति-भावना के विकास के विभिन्न प्रारम्भिक सोपान हैं।

वैष्णव भक्ति-भावना के क्रमिक विकास के इतिहास में श्रीमद्भगवद्गीता के पश्चात् आलवार भक्तों के 'प्रबन्धम्' का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'प्रबन्धम्' की स्थिति 'गीता' और 'भागवत' के बीच की है। वास्तव में बदली हुई नई परिस्थितियों में धर्म-साधना के क्षेत्र में वैदिक युग के कर्म-मार्ग की अनुपयुक्तता और उपनिषद्-युग के ज्ञान-मार्ग की दुरूहता के स्थान पर भक्ति-मार्ग को सर्व सुलभ और आकर्षक नवीन रूप देने का श्रेय तमिल-प्रदेश के उन वैष्णव भक्त आलवारों को है, जिनका समय ईसा की पांचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक है। आलवार भक्तों ने वैष्णव भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया और उसे केवल भावानुभूति की वस्तु घोषित कर जनसाधारण तक को साध्य बना दिया। वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में पहली बार जन-भाषा का प्रयोग और संगीत का समावेश करके आलवार भक्तों ने ऐसे भक्तिमय वातावरण को सर्जित किया था, जिसमें वैष्णव

भक्ति-आन्दोलन व्यापक लोकप्रिय जन-आन्दोलन बन सका। 'आन्दोलन' शब्द की यथार्थता की दृष्टि से वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का प्रारंभ यहीं से माना जाएगा। आज वैष्णव भक्ति का जो स्वरूप है, वह बहुत-कुछ उस वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का परिणाम है, जिसका नेतृत्व आलवार भक्तों ने किया था। 'प्रबन्धम्' के आकर्षक तत्त्वों ने ही वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को व्यापक जन-आन्दोलन का लोकप्रिय रूप दिया। इस प्रकार वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का मूल ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' ही ठहरता है।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को आलवारोत्तर काल में अर्थात् मध्य युग में तमिल-प्रदेश में जीवन्त बनाए रखने में श्री वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आलवारों की विचारधारा को दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान कर रामानुज जैसे प्रभावशाली वैष्णव आचार्यों ने शंकराचार्य के देशव्यापी प्रभाव को चुनौती देते हुए मध्य युग में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को देशव्यापी बना दिया। इस प्रकार तमिल-प्रदेश में प्रारंभ होने वाला वैष्णव भक्ति-आन्दोलन परवर्ती युग में देश के विविध भागों में प्रसारित हुआ। उत्तर भारत की १४वीं-१५वीं शताब्दियों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों ने दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को हिन्दी-प्रदेश में पनपने का अभीप्सित वातावरण सृजित किया। उत्तर के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के उन्नायक स्वामी रामानंद ने दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के सभी आकर्षक तत्त्वों का समावेश युगानुकूल रूप में करके वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को बहुत अधिक लोकप्रिय बना दिया। दक्षिण और उत्तर के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के बीच रामानंद ने सेतु का कार्य किया है।

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित करने वाले दो प्रमुख प्रेरणा-स्रोत हैं—'प्रबन्धम्' और 'भागवत'। भागवत अपने वर्तमान रूप में प्रबन्धम् से प्रभावित प्रतीत होता है। 'प्रबन्धम्' और 'भागवत' की विचारधारा में परिलक्षित होने वाली अद्भुत समानता विचारणीय और महत्त्वपूर्ण है। प्रबन्धम् और भागवत की सर्वाधिक मान्यता का प्रमाण यह है कि इन दोनों महान् ग्रन्थों पर परवर्ती युग में जितने अधिक भाष्य और व्याख्या-ग्रंथ लिखे गए, उतने समस्त वैष्णव भक्ति-वाङ्मय में किसी भी अन्य ग्रंथ के नहीं। वास्तव में प्रबन्धम् और भागवत मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के दो महान् आधार-स्तम्भ हैं। प्रबन्धम् और भागवत को आधार मानकर ही अनेक वैष्णव संप्रदायों ने वैष्णव भक्ति के आकर्षक तत्त्वों का प्रतिपादन किया और वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को सुदृढ़ आधारभूमि प्रदान कर उसे देशव्यापी और जीवन्त बनाए रखा।

हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य को दृष्टिपथ में रखते हुए हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के तीन सोपान दर्शित होते हैं। राजनीतिक दबाव और मुसलमान शासकों की कट्टर धार्मिक नीति से निराश होकर, स्वयं धर्म की पतित अवस्था में पड़ी हिन्दू जनता का उद्धार कर उसे दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन

का आशावादी सन्देश देकर स्वामी रामानंद के द्वारा जो व्यापक जन-आन्दोलन चलाया गया, वह हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का प्रथम सोपान है। मुसलमान शासकों और कट्टर मुल्लाओं की धार्मिक असहिष्णुता की इस्लामी प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दू-समाज के प्रति पूर्ण सहानुभूति और उदार दृष्टिकोण रखते हुए सांस्कृतिक समन्वय के लिए वैष्णव भक्ति के आकर्षक तत्त्वों का भी समावेश कर एक नवीन पृष्ठभूमि तैयार करने वाले सूफी संतों और समाज सुधार-वादी निर्गुण पंथी संतों का योगदान दूसरे सोपान में पड़ता है। सांस्कृतिक समन्वय के प्रयत्नों के बीच के अपेक्षाकृत अनुकूल वातावरण में मधुरोपासना की ओर अग्रसर होने वाले वैष्णव संप्रदायों का योगदान, वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का तीसरा सोपान है। उपलब्ध नवीन ऐतिहासिक सामग्री के प्रकाश में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की तीन अवस्थाएं स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। वैष्णव भक्ति-भावना के क्रमिक विकास में इन विकास-अवस्थाओं की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन देशव्यापी रहा है। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के परिणाम स्वरूप सृजित भक्तिमय वातावरण ने ही मध्ययुगीन सभी भारतीय भाषाओं के वैष्णव भक्ति-साहित्य के निर्माण की आधारभूमि प्रस्तुत की थी। एक प्रकार से वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने ही इन विविध भारतीय भाषाओं को पनपने का अवसर दिया। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने प्रदेश-विशेष की जन-भाषा को विशेष प्रोत्साहन दिया। परिणामतः प्रादेशिक भाषाओं में विपुल मात्रा में वैष्णव भक्ति-साहित्य का सर्जन हुआ, जिसके माध्यम से प्रादेशिक भाषाओं को उत्तरोत्तर विकसित होने का अवसर प्राप्त हो सका। भारतीय भाषाओं का मध्य-युगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक रूप की ओर संकेत करता है। मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं के साहित्य में जो भावात्मक एकता परिलक्षित होती है, उसका प्रमुख माध्यम वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ही है।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने भारतीय जन-जीवन को जितना अधिक प्रभावित किया है, उतना कोई दूसरा स्रोत नहीं कर सका। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव बहुमुखी रहा है। इसने भारतीय जनता के सामाजिक और धार्मिक जीवन को तो बहुत ही प्रभावित किया है। इसने भक्ति के माध्यम से सामाजिक धरा-तल पर समानता और एकता स्थापित करने का महान् कार्य किया। भारत के सामाजिक इतिहास में यह बहुत बड़ा सुधार माना जाएगा। धार्मिक उदारता और मानवीय मूल्यों की स्थापना करने में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने भारतीय संस्कृति के आदर्शपूर्ण रूप को दर्शाया है। इसने विभिन्न प्रदेशों में दर्शित सांस्कृतिक अनेकता में एकता की स्थापना कर भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है।

विविध कलाओं को विकास की चरम सीमा पर पहुंचाने का सफलतम स्रोत वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ही सिद्ध हुआ है। काव्य-कला, संगीतकला, चित्रकला और

मूर्तिकला आदि को आज की विकसित अवस्था में पहुंचाने का प्रेरणा-स्रोत दीर्घ-कालीन देशव्यापी वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ही रहा है। देश के नाना भागों में जो वैष्णव मन्दिर हैं, जो वैष्णव केन्द्र हैं, ये सब वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक प्रभाव के प्रमाण हैं। संगीतकला को जीवन्त रखने में, उसमें स्फूर्ति का संचार निरन्तर करते रहने का श्रेय वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को ही है। भक्ति-काव्य में संगीत का समावेश करके संगीतकला को उत्तरोत्तर विकसित होने की उर्वरा भूमि वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने उपस्थित की है। काव्य-कला के विस्तार और उसकी प्रगति का दायित्व वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने ही अधिक संभाला है। भक्ति को रस की कोटि तक पहुंचाकर उसे काव्य का अविभाज्य अंग बनाने का श्रेय वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को ही है। चित्रकला और मूर्तिकला के क्षेत्रों में भी वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की देन श्लाघनीय है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने भारतीय जन-जीवन को जितना और जिस रूप में प्रभावित किया है, वैसा अन्य किसी स्रोत ने किसी भी युग में देश के साहित्य, कला, समाज और धर्म को नहीं प्रभावित किया। प्रारंभ से वर्तमान युग तक सर्वदा समन्वयात्मक प्रवृत्ति को लेकर चलने वाले वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की चतुर्मुखी देनों का प्रतिफल आज का वर्तमान भारतीय समाज है और मस्तिष्क से चाहे जो कुछ भी हो, भारत की अधिकांश जनता हृदय से वैष्णव है।

मध्ययुग में विकास की पराकाष्ठा पर पहुंचने वाला वैष्णव भक्ति-आन्दोलन परवर्ती युग में भी भारतीय समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाला सशक्त स्रोत बना रहा। भारतीय इतिहास के आधुनिक युग में भी वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का नवीन रूप प्रकाश में आया है। बदलती परिस्थितियों के अनुसार मूल को बनाए रखकर परिवर्तन और परिवर्द्धन का निर्वाह करके नवीन रूप धारण करना वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की विशेषता है। मध्ययुग में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को देश-व्यापी बनाने वाले विभिन्न संप्रदायों ने—श्री संप्रदाय, मध्व संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, वल्लभ संप्रदाय आदि ने—आधुनिक युग में भी अपने प्रभाव के क्षेत्र को जीवन्त बनाए रखा है। देश-विदेश में वैष्णव भक्ति के आक-र्षक रूप को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रदर्शित करने के लिए आधुनिक युग में भी स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द जैसे मनीषियों का सहारा वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को प्राप्त हुआ है। आधुनिक युग की राष्ट्रीय एकता के स्वर में स्वर मिलाते हुए इन विभिन्न वैष्णव संप्रदायों ने अपने बीच में अधिकाधिक निकटता और एकता का सम्बन्ध बनाए रखने का जो महान् कार्य किया है, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार आधुनिक युग में भी वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का स्पष्ट रूप देखा जा सकता है।

भारतीय वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के इतिहास की झांकी को व्यापक पटल पर सर्वाधिक स्पष्ट रूप में प्रदर्शित करने का सशक्त माध्यम तमिल और हिन्दी का वैष्णव-भक्ति-साहित्य है। तमिल-प्रदेश में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने जन्म लिया और उसने विकास की चरम सीमा को हिन्दी-प्रदेश के व्यापक क्षेत्र में प्राप्त

किया। तमिल और हिन्दी-प्रदेशों में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के परिणाम स्वरूप निर्मित वैष्णव भक्ति-साहित्य में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का व्यापक रूप प्रतिबिंबित हुआ है। अतः दक्षिण की प्रमुख भाषा तमिल और उत्तर की प्रमुख भाषा हिन्दी के वैष्णव भक्ति-साहित्यों के माध्यम से भारतीय वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक रूप को यथासाध्य रूप में उपस्थित किया जा सका है।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

हिन्दी

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल
२. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—डा० रामनरेश वर्मा
३. मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४. भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय
५. भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन—डा० रतिभानु सिंह 'नाहर'
६. हिन्दी निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा० गोविन्द त्रिगुणायत
७. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त
८. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा
९. मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी
१०. उत्तर भारत की संत-परंपरा—परशुराम चतुर्वेदी
११. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा
१२. भागवत दर्शन—डा० हरवंशलाल शर्मा
१३. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
१४. राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक
१५. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
१६. सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१७. सूर-साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१८. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी
१९. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल
२०. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां—डा० सावित्री सिन्हा
२१. हिन्दी भक्ति शृंगार का स्वरूप—डा० मिथिलेश कांति
२२. संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव—डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
२३. मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास—डा० रामरतन भटनागर

२४. राम-भक्ति में रसिक संप्रदाय—डा० भगवतीप्रसाद सिंह
२५. तुलसी-पूर्व राम साहित्य—डा० अमरपाल सिंह
२६. भक्ति-काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप—डा० जयनाथ नलिन
२७. राम-कथा—रेवरेंड फादर कामिल बुल्के
२८. हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव—डा० विश्वनाथ शुक्ल
२९. मध्यकालीन हिन्दी संत : विचार और साधना—डा० केशनीप्रसाद चौरसिया
३०. जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि—डा० प्रेमसागर जैन
३१. हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु—भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर
३२. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन—डा० रामकृष्ण आचार्य
३३. हिन्दी कृष्ण-काव्य में माधुर्योपासना—डा० श्यामनारायण पाण्डेय
३४. कबीर और कबीर-पंथ—डा० केदारनाथ द्विवेदी
३५. श्री रामचरितमानस—सिद्धान्त भाष्य (विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त समेत)—भाष्यकार श्री श्रीकान्त शरण
३६. कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखी भाव—डा० शरण बिहारी गोस्वामी
३७. निर्गुण साहित्य—सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—डा० मोती सिंह
३८. मध्यकालीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति—उमाशंकर मेहरा
३९. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—डा० कपिलदेव पांडेय
४०. गोरखनाथ और उनका युग—डा० रांगेय राघव
४१. तुलसीदास—जीवनी और विचारधारा—डा० राजाराम रस्तोगी
४२. हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव—डा० शशि अग्रवाल
४३. भक्ति का विकास—डा० मुंशीराम शर्मा
४४. अष्ठछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन—डा० मायारानी टण्डन
४५. कृष्ण-भक्ति कालीन साहित्य में संगीत—डा० उषा गुप्ता
४६. राधा का क्रम-विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्ता
४७. अष्टछाप—डा० धीरेन्द्र वर्मा
४८. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय
४९. भारतीय संस्कृति—प्रो० देवदत्त ज्ञानी
५०. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० बेनी प्रसाद
५१. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर
५२. रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव—डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव
५३. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना—भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'
५४. मीरा स्मृति-ग्रन्थावली—बंगीय हिन्दी परिषद्
५५. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ
५६. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—डा० जगदीश गुप्त

५७. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय
५८. १६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि—डा० रत्नकुमारी
५९. हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दर दास
६०. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
६१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
६२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
६३. मराठी-हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—डा० र० श० केलकर
६४. प्रपत्ति रहस्य—श्री श्रीकान्त शरण
६५. श्रीमद्भागवत रहस्य—स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती
६६. निम्बार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिन्दी कवि—डा० नारायण दत्त शर्मा
६७. संत काव्य का दार्शनिक विश्लेषण—डा० मनमोहन सहगल
६८. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
६९. आलवार भक्तों का तमिल-प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य—डा० मलिक मोहम्मद
७०. रामकृष्ण काव्येतर हिन्दी सगुण भक्ति-काव्य—डा० छोटेलाल दीक्षित
७१. रामानन्द की हिन्दी रचनाएं—डा० बड्थ्वाल
७२. शैवमत—डा० यदुवंशी
७३. रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतिक भक्ति-दर्शन—डा० सरनाम सिंह शर्मा
७४. हिन्दू देव-परिवार का विकास—डा० संपूर्णानन्द
७५. देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप—(प्रथम भाग : विष्णु रहस्य) डा० चमन लाल गौतम
७६. सर्वात्म दर्शन—(देवरहा तत्त्व चिंतन) डा० हर वंशलाल शर्मा
७७. ब्रजमाधुरी सार—सं० वियोगी हरि
७८. निम्बार्क माधुरी—सं० बिहारी शरण वृन्दावन
७९. श्रीहित स्फुटवाणी
८०. भक्तमाल—नाभादास
८१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता
८२. चौरासी वैष्णवन की वार्ता
८३. ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास—प्रभुदयाल मीतल
८४. चैतन्य मत और ब्रज-साहित्य—प्रभुदयाल मीतल

संस्कृत

१. नारद भक्ति-सूत्र
२. श्रीमद्भागवत—गीता प्रेस, गोरखपुर
३. मुकुन्दमाला—कुलशेखरालवार

४. हरिभक्तिरसामृत सिन्धु—श्री रूप गोस्वामी
५. दिव्य प्रबन्ध कथामृतं—श्री अण्णंकराचार्य

तमिल

१. नालायिर दिव्य प्रबन्धम्—सं० कृष्णमाचारियार
२. ,, —सं० अण्णंकराचार्य
३. आलवारकल चरित्तिरम—सी० आर० श्रीनिवास अय्यंगार
४. आलवारकल वरलारु—के० आर० गोविन्दराज मुदालियार
५. आलवारकल वलिक्कुरवर वरलारु—के० आर० गोविन्दराज मुदालियार
६. आलवारकल कालनिलै—एम० राघवय्यंगार
७. श्री भगवत विषयम—ए० रंगनाथ मुदालियार
८. भक्ति-पूंका—जीं एतिराजुलु नायडू
९. श्री रामानुजर—पी० श्री० आचार्य
१०. आचार्य हृदयम—(मूल व व्याख्या)—व्याख्याकार—श्री बी० आर० पुरुषोत्तम नायडू (प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय)
११. श्रीरंगमुम आलवार आचार्यरकलुम—श्री एस० आर० राजन
१२. श्रीवैष्णवम—सं० ए० रंगनाथ मुदालियार
१३. ईट्टिन तमिलाक्कम (तिरुवायमोली) दस भाग—श्री पुरुषोत्तम नायडू (प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय)
१४. तिराविड़ मुनिवरकल—एम० राध-कृष्ण पिल्लै
१५. मूवर एट्रिय मोलि विलक्कु—पी० श्री० आचार्य
१६. तोंडक्कुलमे तोलुकुलम—पी० श्री० आचार्य
१७. भगवानै वलर्तभक्तर—पी० श्री० आचार्य
१८. कुलशेखर—टी० पी० मीनाक्षाचुन्दरनार
१९. तमिलुम वैणवमुम—एम० राधाकृष्ण पिल्लै
२०. पेरियालवार पिल्लै तमिल—टी० पदुमावती अम्माल
२१. विल्लिपुतुर विलक्कु—एस० कृष्णावेणी अम्मैयार
२२. तिरुवायमोली विलक्कम—पूर्वरागम पिल्लै
२३. आण्डालअरुलिय तिरुप्पावै—पी० के० शण्मुखनाथन
२४. भक्तिनेरी—श्री राजगोपालाचारी
२५. आलवारकल अरुमोली—चामी चितंपरनार
२६. दिव्य प्रबन्ध सारम्—पी० श्री० आचार्य
२७. पेरियालवार पेण्कोडी—कृष्णवेणी अम्मैयार
२८. दिव्य प्रबन्ध उरै—श्री अण्णंकराचार्य
२९. कंबन कण्ट तमिलकम—चामी चितंपरनार
३०. कंबन कावियम्—एस० वैयापुरी पिल्लै
३१. मोली वरलारु—डा० मु० वरदराजनार

३२. पल्लवर वरलारु—डा० एम० राजमाणिक्कनार
३३. तमिल इलक्किय वरलारु–(२ भाग)—के० सुब्रह्मण्य पिल्लै
३४. तमिल चरित्तिरम्—एन० एस० कन्तैया पिल्लै
३५. तमिऴ इलक्किय वरलारु—ई० एस० वरदराज अय्यंगार
३६. तमिलर साल्पू—डा० विद्यानन्दन
३७. इलक्किय उदयम—एस० वैयापुरी पिल्लै
३८. अकप्पोरुलुम अरुलिचेयलुम—टी० डी० रामस्वामी नायडू
३९. आलवारकलुम आचार्यकलुम—पी० श्री० आचार्य
४०. तमिलर पण्पाडु—वैयापुरी पिल्लै
४१. तमिलर वलर्त्त अलकु कलैकल—मयिलै चीनी वेंकटचामी

पत्र-पत्रिकाएं

हिन्दी

१. आलोचना
२. भारतीय साहित्य
३. अभिनव भारती
४. साहित्य सन्देश
५. कल्याण (भक्ति-अंक)

तमिल

१. चेंतमिल
२. तमिल पोलिल
३. तिरुक्कोइल
४. श्रीरामकृष्ण विजयम

BOOKS IN ENGLISH

1. Alvar Saints—Swami Shudhananda Bharati
2. The Divine Wisdom of Dravida Saints—A. Govindacharya
3. The life and Teachings of Ramanujacharya—C. R. Srinivasa Aiyengar
4. A Metaphysique of Mysticism—A. Govindacharya Swamin
5. Grains of Gold—R. S. Desikan
6. The Holy Lives of Alvars or Dravida Saints—A. Govindacharya
7. Hymns of Alvars—J. S. M. Hooper
8. Tiruppavai (Eng. Translation)—D. Ramaswamy Aiyengar
9. Sri Mukundamala (with notes)—K. Ramapisharotty

(Annamalai University Publication)

10. The Glory of Tamil Prabandha—(Annangaracharya) English Translation by M. V. V. K. Rangachari
11. History of Srivaishnavas—T. A. Gopinatha Rao (Sri Subramonia Iyer Lectures)
12. Early History of Vaishnavism in South India—Dr. S. Krishnaswami Aiyengar
13. History of Tirupathi (Two Volumes)—Dr. S. Krishnaswami Aiyengar
14. Ancient India—Dr. S. Krishnaswami Aiyengar
15. Tamil Studies—M. Srinivasa Aiyengar
16. Origin and Early History of Saivism in South India—C. V. Narayana Iyer
17. The Development of Saivism in South India—Dr. M. Rajamanickam
18. The Philosophy of Srimad Bhagvat (2 volumes)—Dr. Siddheswara Bhattacharya
19. Bhakti Renaissance—A. K. Majumdar
20. History of Tirupati (Vol. I)—T. K. T. Viraragavacharya
21. Development of Religion in South India—Prof. K. A. Nilakanta Sastri
22. Some Aspects of Religion as revealed by Early Monuments and Literature of the South—K.R. Srinivasam (Madras University Publication)
23. The Sri Vaishnava Brahmans—K. Rangachari (Bulletin of Madras Govt. Museum)
24. Koil Olugu—Dr. V. N. Hari Rao
25. Sources of the Ecstatic Devotional Aspects of Gaudiya Vaisnavism—Dr. Sambidananda Das
26. The Bhagvata—Its Philosophy, Ethics and Theology—Takur Bhaktivinode
27. The Socio-Religious Condition of North India—Dr. Vasudeva Upadhyaya
28. The Abhiras—Their History and Culture—Bhagwan Singh Suryavanshi
29. Sri Chaitanya Mahaprabhu—Dr. Sambidananda Das
30. Studies in Tamil Literature and History—V. R. Rama-

chandra Dikshitar
31. Tamil India—M. S. Purnalingam Pillai
32. History of the Tamils—P. T. Srinivasa Aiyengar
33. Some Contributions of South India to Indian Culture—Dr. S. Krishnaswami Aiyengar
34. Tamils Eighteen Hundred Years Ago—K. Kanakasabai
35. Dr. S. Krishnaswami Aiyengar—Commemoration Volume
36. Tamilnad through Ages—M. Paramasivanandam
37. Essays on the Origin of South Indian Temple—Dr. Venkita Rammayya
38. A History of South India—K. A. Nilkanta Sastri
39. South Indian Inscriptions (Vol. I & II)
40. History of Tamil Language and Literature—S. Vaiyapuri Pillai
41. A History of Tamil Literature—Prof. T. P. Meenakshi—Sundaram
42. Philosophy of Vishistadvaita—P. N. Srinivasachari
43. Mystics and Mysticism—P. N. Srinivasachari
44. Aspects of Bhakti—Dr. K. C. Vardachari
45. Idea of God—Dr. K. C. Vardachari
46. Vaisnavism, Saivism and other Minor Religious Sects—Dr. R. G. Bhandharkar
47. A History of Indian Philosophy (Vol. III)—Dr. S. N. Das Gupta
48. Bhakti Cult in Ancient India—Dr. Bhagat Kumar Goswami
49. The Cultural Heritage of India Series (Volumes III & IV) Sri Rama Krishna Mission—Calcutta
50. Materials for the Study of the Early History of the Vaishanava Sect—Hemachandra Ray Choudhuri
51. Vaishnuite Myths (in Folk-lore setting)—Dr. Banikant Kakati
52. Indian Philosophy (2 parts)—Dr. Radhakrishnan
53. Obscure Religious Cults—Dr. Shashibhushan Das Gupta
54. Monography on the Religious Sects of India—D.A. Pai
55. Vaishnavite Reformers of India—T. Rajagopalachari
56. Theism in Medieval India—Dr. J. P. Carpenter
57. Vedanta Desika—His Life, Works and Philosophy—Dr.

Satyavrata Singh
58. Muslim Revivalist Movements in Northern India—Dr. S. A. Abbas Rizvi
59. Sri Vedanta Desika—7th Centenary Commemoration Volume, Madras 1968
60. Vallabhacharya—Life and Movement—C. Parekh
61. Post-Chaitanya Sahjuya Cult of Bengal—Manindra Mohan Bose
62. Life of Ramanuja—Swami Radhakrishnadas
63. Ramanuja's Teachings in his own words—M. Yamunacharya
64. The Chaitanya Movement—T. Kennedy
65. Village Gods of South India—Whitehead
66. Survey of Indian History—Sardar K. M. Panicker
67. Glimpses of Medieval Indian Culture—Dr. Yusuf Husain
68. Some Aspects of Religion and Politics in India during 13th Century—K. A. Nizami
69. Path-way to God in Hindi Literature—R. D. Ranade
70. Influence of Islam on Indian Culture—Dr. Tarachand
71. An Outline of the Religious Literature in India—J. N. Farquhar
72. Souvenir, All India Vaishnava Conference, Madras, 1961

JOURNALS

1. Journal of the Annamalai University
2. Annals of Oriental Research, Madras
3. Tamil Culture, Madras
4. Indian Antiquary
5. Journal of the Sri Venkiteswara Oriental Research Institute, Tirupati
6. Vedanta Kesari, Madras
7. Journal of Royal Asiatic Society
8. Prabuddha Bharata

ooo